डा० निरूपण विद्यालङ्कार अभिनन्दन-ग्रन्थ

प्रधान सम्पादक :
डा० उमाकान्त शुक्ल

सम्पादक :
डा० विजेन्द्रकुमार शर्मा

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्, मेरठ।
२० मई, १९८४

R
75.7

डा० निरूपण विद्यालङ्कार अभिनन्दन-ग्रन्थ

प्रधान सम्पादक :
डा० उमाकान्त शुक्ल

सम्पादक :
डा० विजेन्द्रकुमार शर्मा

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्, मेरठ।
२० मई, १९८४

परामर्शदातृ-परिषद्

डा० केशवरामपाल
डा० कर्णसिंह
डा० महेशचन्द्र भारतीय
डा० विशनलाल गौड़
डा० देवीचन्द्र शर्मा

१९८४ ई०

मूल्य : एक सौ इक्यावन रुपये मात्र ।

प्राप्ति स्थान :
डा० विजेन्द्रकुमार शर्मा
सह-संयोजक
मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्
२३२, पुर्वा जदीद, शाहपीर, मेरठ–२

मुद्रक :
राजकिशोर शर्मा
साहित्यकार प्रेस, मेरठ ।

सम्पादकीयम्

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृताध्यापक परिषद् द्वारा सेवा निवृत्ति के अवसर पर उनके अभिनन्दन की स्वस्थ परम्परा डॉ० निरूपण जी विद्यालङ्कार द्वारा उस समय डाली गयी थी, जिस समय प्रो० कुन्दनलाल शर्मा सेवा निवृत्त हुये थे। इसी परम्परा में आज स्वयं डॉ० निरूपण जी विद्यालङ्कार अपना सुदीर्घ एवं गौरवशाली अध्यापन कार्यकाल पूरा कर सेवा निवृत्त हो रहे है। अतः ऐसे महान् पूजनीय व्यक्ति का अभिनन्दन न हो यह कैसे सम्भव है।

जब मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृताध्यापक परिषद् की कार्यकारणी में यह निश्चय किया गया कि डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार का अभिनन्दन होना है तो उसमें डॉ० उमाकान्त शुक्ल संयोजक तथा मुझे सह-संयोजक नियुक्त किया गया, तत्पश्चात् यह कार्य अपनी शिथिल गति से चल पड़ा। इसके प्रथम चरण में सभी के पास यह परिपत्र भेजा गया कि मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृताध्यापक परिषद् ने २६ मार्च १९८४ को लाजपतराय कालिज साहिबाबाद में दशम अधिवेशन के समय डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार को उनकी सेवा निवृत्ति के अवसर पर एक उच्चस्तरीय अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का दृढ संकल्प किया है, उसके लिए आपका सब प्रकार का सहयोग अपेक्षित है। परन्तु अपेक्षित सहयोग न मिल पाने के कारण यह ग्रन्थ समय पर पूरा न हो सका और अभिनन्दन समारोह निर्धारित तिथि २६ मार्च को सम्पन्न न हो सका। अस्तु—

तत्पश्चात् कार्यकारिणी की एक अन्य आवश्यक मिटिंग डॉ० केशवरामपाल जी अध्यक्ष मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृताध्यापक परिषद् मेरठ के निवास स्थान पर हुई जिसमें यह निर्णय लिया गया कि डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार का अभिनन्दन **मेरठ कालिज मेरठ** में सुविधानुसार किया जाये। सम्प्रति यह अभिनन्दन आज २० मई १९८४ को हो रहा है, और यह अभिनन्दन ग्रन्थ आप विद्वज्जनों के हाथों में है। यह ग्रन्थ कैसा है? इसका निर्णय तो आप विद्वज्जन स्वयं करेंगे।

यह अभिनन्दन ग्रन्थ मूलरूप से तीन भागों में विभज्य है। सर्वप्रथम मान्य विद्वानों के शुभ-कामना सन्देश, तत्पश्चात् संस्मरण रखे गये है, इसके दो खण्ड है—(क) गीतकुसुमाञ्जलि, (ख) भाव कुसुमाञ्जलि। प्रस्तुत ग्रन्थ में दिये गये संस्मरण, डॉ० विद्यालङ्कार जी के जीवन के विभिन्न पहलुओं से आपका परिचय कराकर आपका मन मोह लेंगे, ऐसी मुझे आशा है। तदनन्तर **मेरे पति मेरे देवता** तथा मेरी सारस्वत यात्रा ये दो लेख रखे गये है। ये दोनों ही लेख डॉ० निरूपण जी के पारिवारिक जीवन पर तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा पर प्रकाश डालते हैं। इन दोनों लेखों के लिये मैं पूज्या माता जी (श्रीमती यतीन्द्रा देवी) व डॉ० निरूपणजी विद्यालङ्कार का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे आग्रह को

स्वीकार कर ये लेख लिखकर इस अभिनन्दन ग्रन्थ की गरिमा को बढ़ाया है। तत्पश्चात् शोध लेखमाला शोधार्थी के लिये विभिन्न विषयों में मार्ग दर्शन का कार्य करेगें, इसमें मुझे यत्किञ्चित् सन्देह नहीं है।

मुझे यह कहते हुए महती प्रसन्नता हो रही है कि इस अभिनन्दन ग्रन्थ के लिये विद्वानों तथा डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार के शोध छात्रों तथा उनके आत्मीयजनों ने पूर्ण सहयोग दिया है, एतदर्थ मैं उन सभी का आभार व्यक्त करता हूँ। **डॉ० कृष्णकुमार** जी अध्यक्ष संस्कृत विभाग गढ़वाल विश्वविद्यालय श्रीनगर व **डॉ० ए० पी० सारस्वत**, अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग नानक चन्द कालिज मेरठ को भी मैं विस्मृत नहीं कर सकता जिन्होंने प्रूफ निरीक्षण में मुझे सहयोग दिया है, इन दोनों का सहयोग अनुभूति का विषय है, शब्दाडम्बर का नहीं। इस अभिनन्दन ग्रन्थ को आपके हाथों तक पहुँचाने का एकमात्र श्रेय श्री रतिराम जी शास्त्री व उनके दोनों पुत्रों श्री राजकिशोर जी शर्मा व श्री सतीशचन्द्र कौशिक को हैं, जिनके अहर्निश प्रयत्न से ही यह कार्य सम्भव हो सका है। इस अवसर पर यदि मैं अपने अनुज प्रिय **सुरेन्द्र** को स्मरण न करूँ तो यह कृतघ्नता ही होगी, जिसने मुझे हरप्रकार की सहायता पहुँचाई है। तथा जिन मान्य विद्वानों के लेख इस अभिनन्दन ग्रन्थ में सम्मलित नहीं हो सके हैं उनसे यही क्षमा याचना करता हूँ कि वे इसे अन्यथा न ले समय पर लेख न आ पाने के कारण ही ऐसा हुआ है।

अन्त में केवल यही कह सकता हूँ कि इसमें जो कोई भी त्रुटि है, वे मेरी है, विनयावनत भाव से मैं उनकी क्षमा याचना करता हूँ। मान्य विद्वान् डॉ० निरूपण जी विद्यालङ्कार के अभिनन्दन के साथ-साथ हमारी इस संस्कृत परिषद् की मधुर स्मृति को भी सदैव अपने हृदय में संजोकर रखेगें, ऐसी मुझे आशा है।

इत्यलमतिविस्तरेण

आपका ही
विजेन्द्र कुमार शर्मा

किञ्चित्प्रास्ताविकम्

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् सर्वात्मना **डॉ० निरूपणविद्यालङ्कार**, अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, मेरठ कॉलिज, मेरठ के प्रयत्नों से सन् १९७२ में अपने अस्तित्व में आई है। उस समय डा० जे० एन० कपूर मेरठ विश्वविद्यालय के कुलपति थे। उन्हीं की प्रेरणा से और डा० निरूपणविद्यालङ्कार के मन्त्रित्व में इस संस्कृत अध्यापक परिषद् का गठन हुआ था और तब से निरन्तर यह मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् प्रत्येक वर्ष अपने वार्षिक अधिवेशनों में विभिन्न संगोष्ठियों एवं विचार गोष्ठियों के माध्यम से प्रगति कर रही है। इसके विभिन्न स्थानों पर अधिवेशन होते रहे हैं। अभी तक इस संस्कृत अध्यापक परिषद् के मेरठ, देहरादून, रुड़की, मुजफ्फरनगर, मवाना, गाजियाबाद में अधिवेश होते रहे हैं। इसी परम्परा में इस मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् के दशम अधिवेशन का पूर्वार्द्ध २४ एवं २५ मार्च १९८४ को लाजपतराय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, साहिबाबाद में हो चुका है। सम्प्रति इस दशम अधिवेशन का उत्तरार्द्ध डा० निरूपणविद्यालङ्कार के अभिनन्दन के रूप में मेरठ कालिज के संस्कृत विभाग में हो रहा है।

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् के द्वारा किये जाने वाले अभिनन्दन-समारोह परम्परा की अपनी पृष्ठभूमि है और अपनी कहानी है सन् १९७६ में डा० निरूपणविद्यालङ्कार ने मेरठ विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् के खतौली में सम्पन्न हुये अधिवेशन में मेरठ कॉलिज, मेरठ के स्वर्गीय प्रोफेसर डा० कृष्णचन्द्र शर्मा के अवकाश ग्रहण करने पर उनकी मेरठ मण्डल में की गई हिन्दी भाषा एवं साहित्य की सेवा के लिये किये गये अभिनन्दन से प्रेरणा लेकर प्रो० कुन्दनलाल जी शर्मा के अवकाश ग्रहण करने के अवसर पर उनके अभिनन्दन की योजना बनाई थी। इस योजना को मूर्त रूप देने के लिये डा० निरूपणविद्यालङ्कार को डा० विष्णुशरण "इन्दु", डा० रमेश कुमार लौ, डा० (कु०) सुषमा अरोड़ा और मेरा क्रियात्मक सहयोग प्राप्त हुआ। मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत शोध पत्रिका" के सम्पादक डा० महेशचन्द भारतीय, अध्यक्ष-संस्कृतविभाग, महानन्द मिशन हरिजन कालिज, गाजियाबाद के परामर्श से संस्कृत शोध पत्रिका का समावेश प्रो० कुन्दनलाल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ में अपने आप में अद्वितीय साहित्य है। इस ग्रन्थ को पाँच भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में शुभकामना सन्देश हैं, द्वितीय भाग में प्रो० कुन्दन लाल शर्मा से सम्बन्धित संस्मरण हैं, तीसरे भाग में प्रो० कुन्दनलाल शर्मा द्वारा अपने आप लिखी हुई "मेरी सारस्वत यात्रा" नाम से उनकी अपनी जीवनी है। चतुर्थ भाग में उनकी कृतियाँ हैं और पाँचवें भाग में मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् द्वारा निकाली जाने वाली शोध पत्रिका है। मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् का पञ्चम अधिवेशन मेरठ विश्वविद्यालय परिसर में २७–२८ फरवरी एवं १ मार्च १९७७ को हुआ था। इसी अधिवेशन में १ मार्च १९७७ को, जो प्रो० कुन्दनलाल शर्मा की जन्मतिथि है, इस अभिनन्दनग्रन्थ का विमोचन और समर्पण किया गया था। अस्तु

मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ के चतुर्थ कुलपति के रूप में संस्कृत जगत् के लब्धप्रतिष्ठ यशस्वी विद्वान् एवं नानकचन्द कॉलिज के सफल प्रिंसीपल डा० दीपचन्द्र जी शर्मा के पदभार ग्रहण करने के उपलक्ष्य में उनका अभिनन्दन किया गया था। आप इस परिषद् के निरन्तर पाँच वर्षों तक अर्थात् कुलपति पद पर नियुक्त होने से पूर्व तक प्रधान रहे थे। अतः आपके सम्मान में "डा० दीपचन्द्र शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ" प्रकाशित किया गया और १०.९.१९७८ रविवार को एन० ए० एस० कॉलिज में संस्कृत अध्यापक

परिषद् की ओर से आपका अभिनन्दन किया गया गया। इस अभिनन्दन स्मारिका को पाँच खण्डों में विभाजित किया गया है—(१) शुभकामना-सन्देश। (२) स्वागताभिनन्दन-गीति। (३) जीवन-परिचय। (४) संस्मरण और (५) लेखमाला। इस अभिनन्दन स्मारिका में **डा० निरूपणविद्यालङ्कार** का एक तथ्य-पूर्ण लेख है, जिसका शीर्षक है—**"मेरठ विश्वविद्यालय के कुलपति और संस्कृत"**। यह लेख मेरठ विश्व-विद्यालय में संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार की यथार्थ स्थिति से पाठकों को परिचित कराने वाला है। इस समय **डा० निरूपणविद्यालङ्कार** मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् के **प्रधान** तथा **डा० गणेशदत्त शर्मा** इस परिषद् के **मन्त्री** थे।

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् का सप्तम अधिवेशन कृषक डिग्री कॉलिज, मवाना (मेरठ) में २३, २४, २५ फरवरी १९८० को सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में पुनः कृषक डिग्री कॉलिज, मवाना के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष **प्रो० रामकृपालु शास्त्री** का दीर्घकाल तक संस्कृत की सेवा करते हुये सेवानिवृत्त होने पर **संस्कृत अध्यापक परिषद्** की ओर से अभिनन्दन को चिरस्थायी बनाने के लिये उनको **अभिनन्दन-पत्रम्** और एक दुशाला भेंट किया गया था। इस समय **डा० निरूपणविद्यालङ्कार** मेरठ विश्व-विद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् के प्रधान थे।

इस प्रकार मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् की ओर से की जाने वाली अभिनन्दन परम्परा को डालने का एकमात्र श्रेय **डा० निरूपण विद्यालंकार** को है। इस समय **संस्कृत अध्यापक परिषद्** का जो स्वरूप है, उसकी जो गतिविधियाँ हैं, उन सबके मूल में **डा० निरूपण विद्यालंकार** की क्रियात्मक रूप से समर्पित भावना है। उन्होंने एक स्वप्न देखा था जिसको मूर्त्त रूप देने के लिये उन्होंने सतत एक साधना की है, जिसका परिणाम है कि यह **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** आज एक सजीव संस्था के रूप में संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रचार तथा प्रसार में संलग्न है। डा० निरूपण विद्यालंकार इस परिषद् के प्रारम्भ में अनेक वर्षों तक मन्त्री और तदनन्तर अनेक वर्षों तक इसके प्रधान रहे हैं। इस समय भी वे इस परिषद् **संरक्षक-प्रधान** हैं।

हम मेरठ विश्वविद्यालय **संस्कृत** अध्यापक परिषद् का दशम अधिवेशन का पूर्वार्द्ध लाजपतराय स्नात-कोत्तर महाविद्यालय, साहिबाबाद में २४ तथा २५ मार्च १९८४ को मना चुके हैं। **संस्कृत अध्यापक परिषद्** की **कार्यकारिणी** ने अपनी साहिबाबाद तथा मेरठ में हुई दो विशेष बैठकों में सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया था कि अपनी साठ वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात् ३० जून १९८४ को मेरठ कॉलिज के सस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद से सेवा निवृत्त होने वाले **डा० निरूपण विद्यालंकार** का परिषद् की ओर से अभिनन्दन किया जाये और उनको एक उच्चस्तरीय **अभिनन्दन ग्रन्थ** भी समर्पित किया जाये। उसी कार्यकारिणी के सर्वसम्मत निर्णय के अनुसार आज **२० मई १९८४ रविवार** को हम **डा० निरूपण विद्यालंकार**, अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, मेरठ कॉलिज, मेरठ का अभिनन्दन कर रहे हैं। **डा० निरूपण विद्यालंकार अभिनन्दन ग्रन्थ** प्रकाशित होकर आपके हाथों में है। इस अभिनन्दनग्रन्थ को हम प्रमुख रूप से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। तद्यथा—(१) शुभकामनासन्देश। (२) संस्मरण और (३) उच्चस्तरीय संस्कृत वाङ्मय से सम्बन्धित शोध लेख। इस अभिनन्दन ग्रन्थ के अन्दर **श्रीमती यतीन्द्रा देवी जी** का लेख **"मेरे पति मेरे देवता"** निबद्ध है। इससे डा० साहब के पारिवारिक जीवन की एक झाँकी देखने को हमको मिलती है इसी प्रकार **डा० निरूपण विद्यालंकार** द्वारा लिखा हुआ **"मेरी सारस्वत यात्रा"** लेख उनकी अध्ययन अध्यापन की यात्रा पर स्वतः ही प्रकाश डालने वाली उनकी अपनी विद्या-जीवनी है। यह अभिनन्दन ग्रन्थ कैसा है, इसा निर्णय तो आप करेंगे पर इसको इस रूप में लाने का श्रेय

यदि किसी एक व्यक्ति को देना हो तो मैं बड़े गर्व के साथ कह सकता हूँ कि वह एक व्यक्ति हैं **डा० विजेन्द्र कुमार शर्मा**, प्रवक्ता-संस्कृत विभाग, मेरठ कॉलिज, मेरठ जिन्होंने सर्वात्मना अपने आपको इस कार्य में लगा दिया। मैं किन शब्दों में उनको धन्यवाद दूँ ? इस ग्रन्थ के प्रूफ का अवलोकन करने से लेकर इसके मार्ग में आने वाली सभी प्रकार की समस्याओं के समाधान करने तक प्रत्येक कार्य बड़े मनोयोग पूर्वक आपने किया है। इनके इस योगदान को भुलाया नहीं जा सकता है। यह **डा० निरूपण विद्यालंकार अभिनन्दन ग्रन्थ** प्रकाश में आ गया इसके लिये साहित्य भण्डार के अध्यक्ष **श्री रतिराम शास्त्री** का किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ जिनके ज्येष्ठ पुत्र श्री राजकिशोर शर्मा एम० ए० ने निरन्तर प्रयत्न करते हुये इसको इस पूर्णता तक पहुँचाया है, जिनके कनिष्ठ पुत्र **श्री सतीशचन्द्र कौशिक** ने अपनी अनुपम सहायता से इसको यह रूप दिया है। मैं शास्त्री जी के सम्पूर्ण परिवार को धन्यवाद देता हूँ, जिनकी संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार में निष्ठा है और जो निरन्तर संस्कृत भाषा की सेवा में रत हैं।

अन्त में, मैं पुनः उन सभी आत्मीय बन्धुओं का आभार प्रकट करते हुये उस परमपिता परमेश्वर से **डा० निरूपण विद्यालंकार** के दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ जिससे वे संस्कृत वाङ्मय और मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् की दीर्घकाल तक अनन्य भाव से सेवा करते रहें।

इत्यलमतिविस्तेरेण

डा० उमाकान्त शुक्ल
मन्त्री
मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्
मेरठ।

२० मई १९८४

विषयानुक्रमणिका

भाव कुसुमाञ्जलि

शोध लेखमाला

डा० निरूपण विद्यालङ्कार



अपने अध्ययन कक्ष में

मेरठ विश्वविद्यालय

डा० श्रीनाथदास लोईवाल
कुलपति

दिनांक १७-२-८४

प्रिय महोदय,

यह जानकर अत्यन्त हार्दिक प्रसन्नता हुई कि मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् ने डा० निरूपण विद्यालङ्कार के सम्मान में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करने का संकल्प लिया है।

वस्तुतः डा० निरूपण विद्यालङ्कार संस्कृत क्षेत्र में सफल, सुदीर्घ एवं गौरवशाली अध्यापन कार्यकाल पूरा कर अवकाश प्राप्त कर रहे हैं। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाये, अपर्याप्त होगा। मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् द्वारा इस शुभावसर पर भेंट किये गये इस बहुमूल्य अभिनन्दन-ग्रन्थ द्वारा इस समारोह की स्मृति को अक्षुण्ण रखा जा सकता है। यह सम्मान केवल डा० निरूपण विद्यालङ्कार का ही नहीं अपितु उनके पदचिह्नों पर चलने वाले समस्त अध्यापक-गणों का भी है।

मैं डा० निरूपण विद्यालङ्कार अभिनन्दन-ग्रन्थ समिति को अपनी शुभकामनायें भेजता हूँ। और आशा करता हूँ कि यह अभिनन्दन-ग्रन्थ उनको भविष्य में और भी ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध होगा।

डा० केशवरामपाल
अध्यक्ष
मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्
मेरठ

भवदीय
श्रीनाथदास लोईवाल
कुलपति

INDIAN INSTITUTE OF TECHNOLOGY KANPUR

DEPARTMENT OF MATHEMATICS

I I T POST OFFICE
KANPUR-208016, U. P. (INDIA)
04-02-1984

J. N. Kapur
F. N. S. Sc., F. A. Sc., F. N. A., FIMA
Professor of Mathematics and
Former Vice-chancellor
Meerut University, Meerut

Dear Dr. Sharma,

I am very happy to know that you are publishing an Abhinandan Granth to be presented to Dr Nirupan Vidyalankar on his 60th birthday.

I am aware of the great services rendered by Dr. Vidyalankar to the cause of Sanskrit education and research in India in general and in Meerut University in particular. I am very happy that his collagues, students and admirers are honouring him in a truly academic manner.

A society ennobles itself by honouring those who serve it with dedication and devotion. Such occasions also inspire the younger generation to dedicate it-self to great causes. We need a great intellectual revolution in our country. We are worried about the fifty percent of our population which is below the economic poverty line. We have to be even more worried about more than eighty percent of our population which is below the intellectual poverty line.

I hope and trust the example of Dr. Vidyalankar will inspire others to add more golden bricks to the shining edifice of our great intellecture heritage.

Wishing the function all succes.

Yours sincerely
(J. N. Kapur)

Dr. Vijendra Kumar Sharma,
249, Purvajadid Shahpeer Gate, Meerut-2

—:o:—

दीपचन्द्र शर्मा,
भूतपूर्व कुलपति
मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ

३–बुढ़ाना गेट, मेरठ।
२४/१/१९८४

प्रिय महोदय,

मेरठ कालिज, मेरठ के संस्कृत-विभागाध्यक्ष डॉ० निरूपण जी विद्यालङ्कार के अपने पद से निवर्तमान होने के अवसर पर मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत-अध्यापक परिषद् ने उनके सम्मान में अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का निर्णय किया है, यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ।

आजीवन संस्कृत की सेवा में रत डॉ० निरूपण जी के दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन की कामना के साथ मैं अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिये परिषद् को हार्दिक बधाई प्रेषित करता हूँ।

भवदीय
दीपचन्द्र शर्मा

डॉ० केशवरामपाल,
अध्यक्ष,
मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्,
मेरठ।

D. P. Vidyalankar
Former Administrator
Gurukul Kangri University

Bdaun
Dated 8/2/1984

श्री विजेन्द्रकुमार शर्मा,
२४६, पुर्वाजदीद शाहपीर गेट, मेरठ–२
प्रिय विजेन्द्रकुमार शर्मा जी,

नमस्ते,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् में डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार का अभिनन्दन करने का निश्चय हुआ है। पं० निरूपण विद्यालङ्कार गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के उन श्रेष्ठ स्नातकों में हैं कि जिन्होंने अध्ययन, अध्यापन में तथा देववाणी संस्कृत के प्रचार में सच्चे ब्राह्मणों के समान अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया है।

सन् १९४२ में २१ वर्ष की आयु में आप प्रतिष्ठापूर्वक विद्यालङ्कार की उपाधि प्राप्त कर स्नातक हुये थे। तदनन्तर संस्कृत में ही एम० ए०, शास्त्री, पी०–एच० डी० आदि करके योग्यता सम्पादन करते रहे। इसी काल में आप बदायूं, अजमेर, जालन्धर तथा मेरठ कालिज में बहुत समय तक संस्कृत का अध्यापन करते रहे। संस्कृत साहित्य में 'अभिज्ञान शाकुन्तल, मुद्राराक्षस, साहित्यदर्पण' आदि-आदि ग्रन्थों पर अनुसन्धान कर उल्लेखनीय कार्य किया है।

संस्कृत साहित्य के लिये समर्पित महानुभाव के लिये भी यदि अभिनन्दन न किया जावे तो संस्कृत के प्रसार-प्रचार में कैसे लगेगा।

प्रभु कृपा करे कि भारत की विश्वजनीन मौलिक संस्कृत की रक्षा व उत्थान में पं० निरूपण जी योगदान देते रहें।

—:o:—

धर्मपाल विद्यालङ्कार

V. Puri, D. Sc., F. A. Sc., F. N. A.
Professor Emeritus
Meerut University

TEL. No. 73255
13, Tilak Road,
Meerut, India

Feb. 20, 1984

Dr. Vijendra Kumar Sharma
Sah-Sanyojak
Dr. Nirupan Vidyalankar
Abhinandan Granth Committee
Meerut College, Meerut.

Dear Dr. Vijendra Kumar,

From your letter, as well as that of Dr. Umakant Shukla, I am happy to learn that the Meerut University Sanskrit Adhyapak Parishad has decided to present an Abhinandan Granth to Dr. Nirupan Vidyalankar on his retirement from service in the Meerut College. It is good that one having played his 'innings' so well should get some recognition, at least from one's students, colleagues and admirers.

I came in more intimate contact with Dr. Vidyalankar when I took over as Principal of the Meerut College in 1965. All along he has been an ardent exponent of the cause of Sanskrit. His simplicity, humility and academic interests have earned for him the love and admiration of all those who came in contact with him.

Even though he is retiring from service in the College, I do hope he will have more time now to follow up his academic pursuits more vigorously than ever before.

I wish Dr. Nirupan Vidyalankar good health and happiness all through his retired life.

Thanking you for offering me this opportunity,

Yours sincerely,
V. Puri

———

प्रो० आर० सी० मित्तल
भूतपूर्व प्राचार्य
मेरठ कालिज
मेरठ ।

१, प्रोफेसर्स क्वार्टर्स
मेरठ कालिज
मेरठ

प्रिय डॉ० विजेन्द्र जी,

डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार मेरठ कॉलिज से सेवा निवृत्त हो अवकाश ग्रहण कर रहे हैं, यह बात जब मेरे सामने आती है तब एक सहयोगी के रूप में उनके साथ व्यतीत हुये दिनों की स्मृति स्वाभाविक रूप से आ जाती है । डॉ० विद्यालङ्कार को मैंने अनेक रूपों में देखा, परखा और सराहा है । वे एक सफल अध्यापक, जिज्ञासु शोधकर्ता, कुशल विभागाध्यक्ष, कर्मठ कार्यकर्ता तथा जीवन्त व्यक्तित्व के उदाहरण हैं—एक मुस्कराता व्यक्तित्व जो हर परिस्थिति में अडिग और आश्वस्त है ।

डॉ० विद्यालङ्कार ने विभागाध्यक्ष के रूप में कुछ मान्यताओं और परम्पराओं को जन्म दिया है । मुझे विश्वास है कि ये मान्यतायें ही भविष्य में डॉ० विद्यालङ्कार को संस्कृत विभाग से जोड़े रखेंगी । मेरा यह भी विश्वास है कि डॉ० विद्यालङ्कार जैसा कर्मठ साहित्य तथा समाज सेवी व्यक्ति कभी सेवा निवृत्त नहीं होता । उसके ज्ञान और अनुभव का प्रकाश आने वाली पीढ़ियों का मार्गदर्शन करता हुआ उन्हें कुछ करने के लिये जीवन पर्यन्त प्रेरित करता है । मेरठ कॉलिज के संस्कृत विभाग से जुड़े रहकर उसके उत्थान के लिये उन्होंने जो कुछ किया है वह सदा स्मरणीय रहेगा ।

मैं ईश्वर से उनके दीर्घ और सुखी सम्पन्न जीवन के लिये प्रार्थना करता हुआ अपनी हार्दिक शुभकामनायें सप्रेम समर्पित करता हूँ ।

आर० सी० मित्तल

—:०:—

डा० वी० बी०चौहान
एम. ए. पी-एच. डी.
प्राचार्य

फोन : ७२५८३
मेरठ कालिज,
मेरठ

दिनांक १२–३–१९८४

प्रिय डा० विजेन्द्र शर्मा,

आपका पत्र मिला। मुझे यह जानकर महती प्रसन्नता हुई कि डा० निरूपण विद्यालङ्कार के सुदीर्घ, सक्रिय एवं गौरवशाली अध्यापन कार्यकाल पूरा करने के अवसर पर मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् उनके सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने जा रही है। उसके लिये आप बधाई के पात्र हैं।

वस्तुतः डा० निरूपण विद्यालङ्कार का जीवन त्याग, तपस्या एवं परोपकार से युक्त है। आज भी उनके शिष्य न केवल देश में ही अपितु विदेशों में भी उच्च पदों पर कार्य करते हुये संस्कृत के प्रचार व प्रसार में संलग्न हैं। इनके इस अवकाश ग्रहण करने पर मैं कामना करता हूँ कि डा० निरूपण विद्यालङ्कार दीर्घायु हों तथा चिरकाल तक भारतीय संस्कृति, संस्कृत एवं समाज की सेवा करते रहें।

शुभकामनाओं सहित,

भवदीय
डा० वी० बी० चौहान
प्राचार्य

डा० विजेन्द्रकुमार शर्मा,
२४९, पूर्वा जदीद शाहपीर गेट, मेरठ–२

डा० विश्वनाथ शुक्ल
एम. ए., पी-एच. डी.
प्राचार्य

भारतीय संस्कृति महाविद्यालय,
रुड़की (उ० प्र०)

अ० शा० पत्र सं० ५४

दिनांक १–२–८४

सेवा में,

डा० उमाकान्त शुक्ल
५९, पटेलनगर, नयी मण्डी,
मुजफ्फरनगर—२५१००१

प्रिय शुक्ल जी

आपका २५–१–८४ का पत्र प्राप्त कर हार्दिक हर्ष हुआ।
डा० निरूपण के सम्मान में अभिनन्दन ग्रन्थ की योजना सराहनीय एवं स्तुत्य है।
मेरी हार्दिक शुभकामनायें स्वीकार करें।

शुभैषी
विश्वनाथ शुक्ल
प्राचार्य

———

॥ ओ३म् ॥

फोन : २७४७७१

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्दभवन, रामलीला मैदान,
नई दिल्ली–११०००२

रामगोपाल शालवाले
प्रधान
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

दिनांक १–२–८४

प्रिय विजेन्द्र जी,

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् ने डा० निरूपण विद्यालङ्कार के सम्मान में अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करने का सराहनीय निर्णय किया है। अध्यापक परिषद् के अधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं।

डा० निरूपण विद्यालङ्कार गुरुकुल कांगड़ी के उन योग्यतम स्नातकों में हैं जिन पर गुरुकुल माता उचित रूप से गर्व कर सकती है। धुन के धनी, विद्याव्यसनी, कुशल अध्यापक, उच्च कोटि के साहित्यकार, एवं संस्कृत हिन्दी भाषाओं के प्रौढ़ वक्ता के रूप में डा० निरूपण ने देश, धर्म और समाज की सेवा की है उसे शब्दों द्वारा आंका नहीं जा सकता।

गुरुकुल कांगड़ी में विद्याध्ययन करते हुये उन्होंने जो स्वप्न संजोये थे, उन्हें साकार करने में बड़ी से बड़ी हानि उठाकर भी श्री निरूपण जी अडिग रहे, यही उनकी महानता है।

अपने सहयोगी मित्रों के साथ उनका सरल व्यवहार और हंसमुख चेहरा निष्कपट आचरण देखकर कोई अनुमान नहीं लगा सकता कि वे इतने उच्च कोटि के विद्वान् हैं। अभिमान उन्हें छू तक नहीं गया किन्तु सिद्धान्तों पर अटल रहते हुये वे इतने स्वाभिमानी हैं कि बहुत से लोग यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि सीधे सादे निरूपण विद्यालङ्कार बाहर से नरम और अन्दर से इतने गरम और सिद्धान्त रक्षा के लिये कठोर भी हो सकते हैं। अपने इस स्वाभाविक गुण के कारण वे कई बार अनेक प्रकार के कष्टों का शिकार भी हुये किन्तु हंसते-हंसते दुःख को टाल देना, यही उनका बहुत बड़ा गुण है। महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त एवं विचारक तथा प्रचारक श्री निरूपण विद्यालङ्कार शतायु हों, मेरी परमपिता परमात्मा से यही प्रार्थना है।

रामगोपाल शालवाले
प्रधान
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

स्थापित १६०८
रजिस्टर्ड १६१४

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान,
नई दिल्ली-११०००२

दिनांक ३१-१-८४

संख्या———

ओ३मप्रकाश त्यागी
मन्त्री

प्रिय विजेन्द्रकुमार शर्मा जी,

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मेरे पुराने साथी डा० निरूपण विद्यालङ्कार का अभिनन्दन समारोह का आयोजन कर उनके सम्मान में अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है।

सार्वदेशिक सभा के भू० पू० प्रधान पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति के कहने पर गुरुकुल कांगड़ी में आर्यवीर-दल का कैंप लगाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। मुझे प्रसन्नता है कि इस कैंप के सहयोगियों के रूप में डा० निरूपण प्रमुख थे।

डा० निरूपण विद्यार्थियों में अपनी गतिविधियों के लिये बहुत लोकप्रिय और प्रसिद्ध थे। कोई भी काम हो, उसमें अपने को आगे रखते थे। हंसमुख स्वभाव और विशेष चहल-पहल के स्वभावी व्यक्ति थे। स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से नहर के किनारे प्रातः भ्रमण करते समय उनके दर्शन होते रहते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि वे मेरे बहुत घनिष्ठ मित्र हैं।

इनकी सफलता, योग्यता, लेखनशक्ति, विद्वत्ता, वाक्पटुता पर मुझे गर्व है। डा० निरूपण गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के भी आचार्य रहे। इनका आचरण सराहनीय था। यह सद्भावना, श्रद्धा व उदार दृष्टि के धनी व्यक्ति थे। दुर्भाग्यवश अधिकारियों का गुरुकुल के विषयों पर ही इनके साथ संघर्ष हुआ। यदि ईमानदारी के साथ इन्हें वहाँ रहने दिया जाता तो यह गुरुकुल के लिये एक बहुत बड़ी सम्पत्ति होते किन्तु इनके महत्व को नहीं समझा गया।

डा० निरूपण विद्यालङ्कार शिक्षा एवं धार्मिक दृष्टि से कितने ऊँचे हैं, यह उन्होंने अपनी योग्यता से प्रमाणित कर दिया है। मुझे प्रसन्नता है कि मेरठ विश्वविद्यालय में आज उन्हें अच्छा स्थान प्राप्त है।

मैं मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् को हार्दिक बधाई देता हूँ कि उसने डा० निरूपण जी के सम्मान में अभिनन्दन समारोह व ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया है।

परम पिता परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि डा० निरूपण अवकाश ग्रहण के उपरान्त भी सामाजिक क्षेत्र में भी वही क्रान्ति व वर्चस्व कायम करेंगे, जो उन्होंने शिक्षा-क्षेत्र में किया है।

परमात्मा उन्हें शतायु करे।

ओ३म्प्रकाश त्यागी
मन्त्री

———

ओ३म्

एस० डी० शर्मा एण्ड कम्पनी

S. D. SHARMA & CO 58, Shradhanand Marg, Delhi–110006

सत्यदेव शर्मा

५८, श्रद्धानन्द मार्ग, दिल्ली-६
दिनांक २०—२–१९८४

प्रिय डॉ० विजेन्द्र जी,

आपका पत्र मिला। यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृताध्यापक परिषद्** डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार का अभिनन्दन कर रही है। इस अवसर पर अभिनन्दनग्रन्थ के प्रकाशन का आपका प्रयास स्तुत्य है।

डा० निरूपणजी ने पुरुषार्थ और सतत प्रयत्न से शिक्षाविदों में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इतना ही नहीं, अपितु सुदूर ग्राम में जन्म लेकर उच्चतम विद्या प्राप्त कर यहाँ तक पहुँचना सभी विद्यार्थियों के लिये अनुकरणीय है।

डा० निरूपण जी की संस्कृत व सामाजिक सेवाओं से मैं सुपरिचित हूँ, उनका सौजन्य वैदुष्य के साथ मिलकर सुगन्ध संयोग की सृष्टि करता है। मैं उनके चिरायु होने की कामना करता हूँ।

आपका
सत्यदेव

डा० विजेन्द्रकुमार शर्मा
सह-संयोजक
२४६ पुर्वाजदीद शाहपीर,
मेरठ—२

डॉ० हरिप्रकाश आयुर्वेदालङ्कार
व्यवसायाध्यक्ष
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार

फोन : कार्यालय ७३
निवास २३०
डाकघर : गुरुकुल कांगड़ी-२४९४०४
जिला : सहारनपुर, उ० प्र०
दि० २०—२—८४

प्रिय डॉ० विजेन्द्र शर्मा,

आपका २६ जनवरी ८४ का पत्र प्राप्त हुआ। यह प्रसन्नता का विषय है कि आप डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार का अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं। वस्तुतः यह प्रयास प्रशंसनीय है, क्योंकि उन जैसे विद्वान्, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं निःस्वार्थ सेवी व्यक्ति कम ही होते हैं।

आर्यसमाजी संस्कारों के पालने में झूलकर देववाणी का स्तन्यपान कर तथा ऋषि-कल्प आचार्यों के अन्तवासित्व में तपकर डॉ० निरूपण का जो रूप निखरा है, वह न केवल दर्शनीय व अवलोकनीय है अपितु अनुकरणीय और अभिलषणीय भी है।

डॉ० निरूपण के स्वभाव की सरलता फूल बरसाती हँसी और व्यवहार की अनुपम सादगी उनके सम्पर्क में आने वाले किस व्यक्ति पर संमोहिनी नहीं फेर देती।

मेरी शुभ कामना है कि डॉ० निरूपण के कटीले व पथरीले पथ निरापद हों।

भवदीय
हरिप्रकाश

डा० विजेन्द्रकुमार शर्मा
२४६ पूर्वा जदीद शाहपीर,
मेरठ—२

सदाशिव अम्बादास डांगे
"गिरनार", गोखले मार्ग
मुलुंड पूर्व, बम्बई--७१

वन्देमातरम्
दि०-११-२-७४

प्रिय उमाकान्त शुक्ल जी,

डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार अभिनन्दन-ग्रन्थ संबन्धी आपका परिपत्रक प्राप्त हुआ। मान्यवर विद्वानों का सही आदर सरस्वतीप्रसादीकृत पुष्पों से ही होना सयुक्तिक है। आपका यह प्रयास स्तुत्य है।

मुझे खेद है कि कार्य बहुलना के कारण मैं लेख भेजने में असमर्थ हूँ। आप क्षमा करेंगे। इस शुभ कार्य के लिये शुभेच्छा भेज रहा हूँ।

डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार से मेरा सस्नेह प्रणाम कह दें।

आपका स्नेहजित
सदाशिव

धर्मेन्द्रदेव
पी० सी० एस०
बी—१४, ए० डी० एम० कम्पाउण्ड,
मेरठ

दिनांक २६--२--८४

प्रियमहोदया :,

योऽपि जनः लोकसेवायामायातः तस्य सेवायाः निवृत्तिरपि ध्रुवैव। निवृत्तिकाले निवर्तमानाय जनाय प्रायशः विचित्रा चित्तवृत्तिः सञ्जायते। तस्य कृते तु इदं क्षणं क्रान्तिक्षणमिव। इयं वेला तं युगपत् स्मारयति वर्षाणि अभ्यस्तायाः क्रियावत्तायाः अन्तः आयातः अहमपि यौवनावस्थायाः अपरं तटं वार्धकस्य च देहलीं आयात इति। जीवस्य संसारचक्रमिव लोकसेवकस्य सेवाचक्रम्। तथापि केचिज्जनाः अस्मिन् क्षणेऽपि अविक्षुब्धमानसाः निवृत्तिं गृह्णन्ति अनुवर्त्तिजीवनञ्च प्रति नित्यनवीनोत्साहाशे धारयन्ति। विद्वद्वरीयाः डॉ० निरूपणविद्यालङ्कारमहोदयाः एतामेवासामान्यकोटिं सम्बध्नन्ति। सेवनिवृत्तिः तेषामुपरि कञ्चिदपि प्रभावममुञ्चन्ती पादयोः पतिता कस्यैचित् सेवायै उद्यता इव प्रतीयते।

वयं तेषां सम्पर्के अचिरकालादेव आस्म। अल्पावधौ एवं वयं व्यवहरन्तः शीघ्रमेव परस्परं सुज्ञातिं प्राप्ताः। तेन एषां महोदयानां गुणान् प्रति अहमपि किञ्चित् वक्तुकामोऽस्मि। विद्यालङ्कारेणालङ्कृताः निरूपणमहोदयाः प्रचुरविनयधनसम्पन्नाः प्रभूतसौहार्दगुणोपेताः व्यवहारमाधुर्यमापन्नाः विपदि सिद्ध-मित्रताः संपदि च दत्तसत्परामर्शाः सन्ति। आत्मगौरवस्य पताकां ते उच्चैः धारयन्ति सर्वदा। कर्म एव धर्ममिव पालयन्त. ते स्वकीयेनाचारेण धर्मस्य व्यवहारक्षमत्वं साधयन्ति सदा। विद्यार्थिनां ते न केवलं शिक्षकत्वेन प्रत्युत सुहृत्वेनापि प्रसिद्धिमाप्ताः। तेषु गुरुत्वगंगायाः मित्रत्वयमुनया सह मिलितः प्रयागः सुस्पष्ट-मेव प्रतिभाति। एवं विद्यास्थानप्रयागाः यथाविधिकृतनित्यनैमित्तिकयागाः मानवीयगुणसमृद्धानुरागाः एते महाभागाः अस्माकं नित्यविवर्धमानां वर्धापनां अर्हन्ति। अहं परमात्मानं प्रार्थये स तेभ्यः स्वास्थ्यं, दीर्घा-युष्यं, चिरनूतनोत्साहं च प्रदद्यात् येन ते संस्कृतसाहित्यस्य संस्कृतलोकस्य समाजस्य चाधिकतमां सेवां सम्पादयितुं पारयेयुरिति।

भवदीयः
धर्मेन्द्रदेवः,

क्षेमचन्द्र 'सुमन'

अजय निवास, दिलशाद कालोनी,
शाहदरा, दिल्ली--११००३२
८ फरवरी ८४

प्रिय बन्धु,

आपके कृपा पत्र से मुझे यह जानकर परम प्रसन्नता हुई कि आप डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार का भव्य अभिनन्दन करने का आयोजन कर रहे हैं। आपके इस सत्प्रयास की मैं अपने अन्तर्मन से सफलता का आकांक्षी हूँ।

श्री निरूपण जी ने अपने कर्ममय जीवन में संस्कृत वाङ्मय की जो सेवा अक्षुण्ण भाव से की है वह सर्वविदित है। वे जहाँ एक कुशल अध्यापक के रूप में सर्वत्र समादृत रहे हैं वहाँ समाज-सेवा के क्षेत्र में भी उनकी देन अनुपम एवं अभिनन्दनीय रही है। अपने मित्रों और समर्थकों में अपने निश्छल तथा उदार व्यवहार के कारण वे अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं। ऐसे मनीषी मानव का अभिनन्दन करना सर्वथा उचित एवं अनिवार्य है। आपने यह पहल करके उनके मित्रों, समर्थकों और हितैषियों की भावनाओं का समादर किया है।

मैं आपके इस आयोजन में एकनिष्ठ भाव से सम्मिलित होकर कृतार्थता का ही अनुभव करूंगा।

सस्नेह
क्षेमचन्द्र सुमन

धर्मेन्द्रकुमार गुप्त

संस्कृत विभाग
पंजाबी विश्वविद्यालय
पटियाला—१४७००२
३. २. १९८४

प्रिय डॉ० शुक्ल,

सप्रेम नमस्कार। आपका २१ जनवरी ८४ का पत्र प्राप्त हुआ। यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि आप डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार के सम्मान में अभिनन्दनग्रन्थ का प्रकाशन कर रहे हैं एवं उन्हें समर्पित कर रहे हैं।

डा० निरूपण विद्यालंकार संस्कृत-विद्या के क्षेत्र में लब्धास्पद विद्वान् हैं। उनकी कृतियाँ—सम्पादनात्मक एवं शोधपरक—संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। उनकी शिष्यमण्डली उत्तरभारत के विभिन्न भागों में उनकी कीर्तिपताका लहरा रही है। उनके सहयोगी सारस्वतसमाज द्वारा, ऐसी स्थिति में, उनका अभिनन्दन करना सर्वथा स्वाभाविक एवं उचित है। प्रकाश्यमान अभिनन्दन-ग्रन्थ में मैं अपना लेख अवश्य देता, परन्तु समयाभाव के कारण मेरी असमर्थता है। यदि दो मास का समय मुझे मिल पाता तो मैं इस सारस्वत यज्ञ में अपनी ओर से आहुति अवश्य डाल पाता। लेख के अभाव में शुभ-कामनाएँ ही भेज पा रहा हूँ। आदरणीय विद्यालंकार जी के प्रति सबहुमान सम्मान-सुमन भेजता हूँ।

सिद्धि : साध्ये सतामस्तु

भवदीय
धर्मेन्द्रकुमार गुप्त

Phone 22722

Dr. D. D. Sharma
M.A., ph.D. (Skt. & Lings.),
Sahityacharya, Dip. in French,
German & Persian

Department of Sanskrit,
Panjab University,
CHANDIGARH.

Dated 27. 1. 84

प्रियानुज उमाकान्त !

सम्प्राप्तं त्वदीयं कृपादलम् । मयराष्ट्रविश्वविद्यालयेन सह सम्बद्धानां विदुषां सेवानिवृत्तिकाले तेषामभिनन्दनस्य या स्वस्थपरम्परा तत्रत्यैः प्राध्यापकैः प्रवर्तिता सा हि नितरां प्रशंसनीया वर्तते । तामेव परिपालयन् सम्प्रति डा० निरूपणविद्यालंकारमहोदयमभिनन्दयितुं भवद्भिः यः संकल्पः कृतोऽस्ति तस्य कृते समायोजकमण्डलस्य सर्वेऽपि सदस्याः भूरि-भूरि साधुवादार्हाः । तत्रभवतः विद्यालंकारमहोदयस्याभिनन्दनसमारोहस्य साफल्याय मत्तः या मंगलकामना वांछिताऽस्ति तथा चाभिनन्दनग्रन्थस्य कृते यः लेखः प्रार्थितोऽस्ति तस्य कृतेऽहमात्मानं कृत्यकृत्यं मन्ये । डा० विद्यालंकारमहोदयः मम चिरपरिचितः सुहृदस्ति । मित्रं हि प्रियसुहृदः कृते यत् किंचिदपि मंगलतमं संकल्पयितुं शक्नोति तदेवाहं स्वप्रियसुहृदे श्रीं विद्यालंकारमहोदयाय कामये । मयराष्ट्रविश्वविद्यालये प्राध्यापकपदमलंकुर्वतानेन या सारस्वत-साधना कृता, तथा च संस्कृताध्ययनाध्यापनस्य या स्वस्थपरम्परा प्रतिष्ठापिता सा हि सुपर्याप्ता तस्य यशःपताकामुत्तोलयितुम् । सामान्यलोकव्यवहारे तस्य सौजन्यपूर्णं व्यक्तित्वमपि सुविदितमेव । नहि तत्र किमपि सविशेषेण निरूपणीयं वर्तते । साम्प्रतं तु वयमिदमेव प्रार्थयामः यत् स हि वर्षशतं यावत् निरामयः सन् सारस्वतसेवानिरतो भूयात्, तथा च युष्माकमयं सारस्वतः यज्ञः सुसम्पन्नो भूयात् । लेखं तु लब्धावकाशः यथासमयं प्रेषयिष्यामि । बन्धुवर्याय डा० विद्यालंकारमहोदयाय मम नमस्कारो वाच्यः ।

पुनरप्यभिनन्दनसमारोहस्य सर्वविधं साफल्यं कामयन् विरमामि ।

विदुषां विधेयः
देवीदत्तः शर्मा

ओ३म्

विद्ययाऽमृतमश्नुते

गुरुकुल प्रभात आश्रम (टोकरी)

डाक० भोलाझाल (मेरठ) उ० प्र०

दिनांक वसन्तपंचमी
२०४०

माननीय श्री शुक्ल जी

सादर सप्रेम नमस्ते ।

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि डॉ० श्री निरूपण जी विद्यालंकार के सम्मान में मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद ने एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इस कार्य के द्वारा जहाँ डॉ० महोदय का सम्मान होगा वहीं परिषद् की गुणग्राहकता का परिचय भी मिलेगा। उनका सम्मान व्यक्ति का सम्मान नहीं अपितु समाज का सम्मान है, क्योंकि डॉ० महोदय अपने कार्यों के कारण व्यक्ति न्यून समाज अधिक हैं। आपके अभिनन्दन-ग्रन्थ की सफलता के लिये एवं डॉ० महोदय के प्रति अनेकानेक मंगल-भावनाओं के साथ।

विवेकानन्द सरस्वती
प्रभात आश्रम

॥श्रीहरिः॥

डॉ० कृष्णकान्त शुक्ल
एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी), पी– एच० डी०
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न
(सदस्य, संस्कृत-शोध-समिति,
रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय)

अध्यक्ष,
संस्कृत-विभाग,
बरेली कालिज, बरेली-२४३०००१
(दूरभाष ५०४२)

क्रमाङ्क······

दिनाङ्क—१६–२–१९८४

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत-अध्यापक-परिषद् सम्माननीय डॉ० निरूपण जी विद्यालङ्कार की सेवा-निवृत्ति के अवसर पर उनकी दीर्घकालिक संस्कृत-सेवा का सम्मान करते हुये उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित कर रही है।

डॉ० विद्यालङ्कार व्यक्ति नहीं, संस्था हैं। उनकी निरभिमानिता, विद्वत्ता, समन्वयक्षमता, व्यवहार-पटुता एवं अनन्य आत्मीयता विलक्षण है। एक सफल अध्यापक तथा लेखक के रूप में उनकी विशिष्ट ख्याति है। मेरठ कालेज का संस्कृत-विभाग उनकी सारस्वतसाधना से गौरवान्वित हुआ है।

ऐसे पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त, भीतर-बाहर से एक से, असाधारण सहयोगी, अद्भुत संगठनकर्ता, लोकाराधनपटु विद्वान् एवं सहृदय मित्र को अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने के शुभ सङ्कल्प से मेरठ विश्वविद्यालय–संस्कृत–अध्यापक-परिषद् भी, आज के स्वार्थ प्रधान युग में दुर्लभ, कृतज्ञता के कारण, सभाजनीय है।

कामना है कि डॉ० विद्यालङ्कार चिरायु हों और अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से संस्कृत-जगत् को आलोकित करते रहें। उनका हार्दिक अभिनन्दन है।

कृष्णकान्त शुक्ल

शिव बालक द्विवेदी

१२८/७६ बी ब्लाक
किदवईनगर, कानपुर
२७–१–८४

आदरणीय डॉ० शुक्ल जी
सादरं नमः।

डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार अभिनन्दन-ग्रन्थ से सम्बन्धित आपका पत्र प्राप्त हुआ। डॉ० निरूपण के व्यक्तित्व, विद्वत्ता एवं सरल स्वभाव से मैं निकट से परिचित हूँ। मुझे उनके अभिनन्दनग्रन्थ के प्रकाशित होने से अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। मेरे योग्य जो भी सहयोग हो उसके लिये अवश्य लिखें। योग्य सेवा सदा लिखें।

भवदीय
शिव बालक द्विवेदी

डॉ प्रेमचन्द्र गुप्त आयुर्वेदालंकार
विधूना (इटावा)

दिनांक २३-६ ८४

प्रिय शुक्ल जी

आपका पत्र अभी मिला कि आप निरूपण विद्यालंकार अभिनन्दन-ग्रंथ निकालने जा रहे हैं। इस पुण्य कार्य के लिये मेरी शुभ कामनायें पूर्णरूपेण स्वीकारें।

इतनी दूर गुरुकुल में हम दोनों पास के ही रहने वाले थे। इसलिये एक दूसरे के प्रति अपनत्व का भाव कुछ ज्यादा ही था। वैसे पहिले हम इनका नाम शान्तिस्वरूप ही समझते थे। यह तो ८वीं श्रेणी में पता चला कि इनका नाम शान्तिनिरूपण है। तब हमें यह शब्द बड़ा ही कर्णकटु, अटपटा सा लगा था इसलिये हमने इसे कभी नहीं स्वीकारा। और शान्ति ही कहकर बुलाने के बाद में तो यह शान्ति शब्द भी हट गया और निरूपण ही रह गया।

गुरुकुल में निरूपण जी हमेशा मित्रों से घिरे रहते थे। खुश रहना-खिलखिलाते रहना इनका तब स्वभाव था। यदि कहीं दूर कमरे से जोरों के कहकहे लगते हम लोग सुनते थे तो आपस में कहने लगते थे कि निरूपण ही होगा। कभी-कभी तो इनकी हँसी अट्टहास को भी पीछे छोड़ जाती थी। मस्त रहना तब इनकी प्रकृति में था।

गुरुकुल के प्रति अगाध श्रद्धा-प्रेम इनके अन्दर शुरू से ही रहा है। इसीलिये आर्थिक नुकसान सहकर भी गुरुकुल की राजनीति में सक्रिय भाग लेते रहे हैं। और उसे उचित सही दिशा देने में भी सफल रहे हैं। कठिनाइयों से हार कर बैठ रहना तब इनके लिये असंभव था। उसीका यह परिणाम है कि आप अभिनन्दन-ग्रंथ निकाल रहे हैं। मेरी पुनः शुभकामना।

प्रेमचन्द्र

वेनीप्रकाश सिंहल
भूतपूर्व प्रवक्ता, भौतिकशास्त्र विभाग
मेरठ कालिज, मेरठ

प्रिय विजेन्द्रकुमार जी,

भारत के गौरव का प्रतीक संस्कृत साहित्य है, उसकी सभ्यता एवं ज्ञान का स्रोत इस देवभाषा का वाङ्मय है। डॉ निरूपण का अभिनन्दन करके हम भारतीय दर्शन गंगोत्री-संस्कृत को अपना आभार ही प्रगट कर रहे हैं। ऐसे प्रकाशनों से भारतीय मातृभाषा के पुनः उत्थान को बल मिलेगा।

डॉ निरूपण देवभाषा के आचार्य ही नहीं वरन् शोधकर्ता तथा सफल शिक्षकं भी रहे हैं। आर्य-समाज के मंच पर तो वे वेदालंकार और विद्यालंकार दोनों ही उपाधियों में दक्ष सिद्ध हुये हैं।

इस अभिनन्दनग्रन्थ के प्रकाशन के लिये मेरी परिषद् को बधाई है।

वेनीप्रकाश सिंहल

वेणीप्रसाद आर्य
आर्यसमाज सदर,
मेरठ

प्रिय विजेन्द्र जी,

यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि डॉ निरूपण जी विद्यालंकार को मेरठ महाविद्यालय से सेवा-निवृत्त होने पर उनको एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय हुआ है।

डॉ निरूपण जी एक उच्च कोटि के विद्वान् कर्त्तव्यनिष्ठ प्राध्यापक, अपने सिद्धान्तों में अटल, आर्यसमाज एवं ऋषि दयानन्द के सच्चे भक्त हैं। मुझे उनके निकट आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आप इतने ही गुणों के धनी नहीं कुछ और दुर्लभ और विशेष गुणों के भण्डार भी हैं। अपना हो या पराया बिना भेद भाव के सबकी सेवा के लिये तत्पर रहते हैं। आज के युग में जब कि मनुष्य स्वार्थ में अन्धा हो गया है, बिना मतलब किसी से बात करना पसन्द नहीं करता, आज तो दशा यह है कि लिये दिये बिना कोई काम ही नहीं करता, परन्तु डॉ० निरूपण ऋषि दयानन्द के सच्चे अनुयायी, बिना भेदभाव के सबके काम आते हैं यह है उनका विशेष गुण जिसने उनको समाज में लोकप्रिय बनाया है।

मैं अपने आदरणीय मित्र के लिये भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वह चिरकाल तक अपने उच्च गुणों से इस संसार रूपी उद्यान की शोभा बढ़ाते रहें।

वेणीप्रसाद आर्य

वेदप्रकाश वेदालङ्कार

१५/२बी संकारी पाड़ा रोड
भवानीपुर
कलकत्ता—७००००७
दिनांक ७–२–८४

श्रीयुत उमाकान्त जी शुक्ल,

सादर नमस्ते। आपका पत्र मिला। यह जानकर आन्तरिक प्रसन्नता हुई कि निरूपण जी विद्यालंकार को उनके कार्यावकाश पर आप एक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित कर रहे हैं। मेरा परिचय निरूपण जी से छात्र जीवन का है। आज वे उस जीवन से अनेक आगे प्रगति कर चुके हैं। मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् द्वारा अभिनन्दन-ग्रन्थ का समर्पण इस प्रगति का स्वयं माप है। अपने जीवन में एक उच्च स्थिति को प्राप्त करना जीवन की एक उल्लेखनीय उपलब्धि होती है जो कि निरूपण जी ने प्राप्त की है। अपने अध्यापन के कार्य-क्रम को प्रशंसा के साथ पूर्ण करने के लिये वे अभिनन्दन के पात्र हैं। आपके साथ मैं भी इस शुभ अवसर पर उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। साथ ही मेरी हार्दिक शुभकामनायें हैं कि वे भावी जीवन में नवीन उपलब्धियों से सुशोभित हों।

आपका विनीत
वेदप्रकाश वेदालंकार

———

ओ३म्
कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

आर्यसमाज, शास्त्रीनगर

तेजगढ़ी, मेरठ।

राजेन्द्रप्रकाश
मंत्री

क्रमांक

दिनांक————————

श्रीयुत डॉ० विजेन्द्र जी,

आर्यसमाज (शास्त्रीनगर) मेरठ को यह जानकर अत्यन्त हर्ष तथा गौरव का अनुभव हुआ है कि माननीय डॉ निरूपण जी विद्यालंकार, संस्कृत विभागाध्यक्ष, मेरठ कालिज, मेरठ अपना सक्रिय एवं गौरवशाली अध्यापन कार्यकाल पूरा कर जून १९८४ में कालिज से अवकाश ग्रहण कर रहे हैं। इस अवसर पर मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् ने एक उच्चस्तरीय अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशित करके डॉ० निरूपण जी को सम्मानित करने का भी संकल्प किया है।

डॉ विद्यालंकार जी की कालिज तथा उसके बाहर वैदिक विचारधारा के प्रचार और प्रसार में की गई सेवायें अत्यन्त सराहनीय हैं। आर्यसमाज शास्त्रीनगर, जिसके उत्सवों और साप्ताहिक अधिवेशनों में उनके वेदोपदेश तथा उच्च विचार हमें मिले हैं, उनके लिये हम हृदय से आभारी हैं। आर्यसमाज शास्त्रीनगर पूर्ण श्रद्धा से उनके समक्ष नत मस्तक है तथा ईश्वर से उनके कुशल दीर्घ आयु और सुखों की कामना करता है।

राजेन्द्रप्रकाश

पुष्पा शर्मा
ई–१५०, साकेत
नई दिल्ली—११००१७

प्रिय शुक्ल जी,

आपके पत्र से यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद डा० निरूपण विद्यालङ्कार के अवकाश ग्रहण करने के अवसर पर उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट कर रही है। डा० विद्यालङ्कार का मेरे पतिदेव –स्व० प्रो० कुन्दनलाल जी शर्मा से बहुत निकट का सम्बन्ध था। उनकी यही इच्छा थी कि डा० निरूपण जी का अभिनन्दन-ग्रन्थ उनके व्यक्तित्व के अनुरूप हो। डा० निरूपणजी एक सरल और निष्कपट व्यक्तित्व के धनी हैं। उनके साथ अनेक संस्मरण जुड़े हैं। आप उनकी सारस्वत सपर्या कर रहे हैं—यह एक शुभ संकल्प है। कृपया इस अवसर पर मेरी बधाई स्वीकारें।

भवदीय
पुष्पा शर्मा

———

☐ डा० सुभाष वेदालंकार

संस्कृत-गीतम्

श्रीमन्निरूपण-भ्राता धन्यो जयतु सदा

विद्याभूषण—श्रीमन्निरूपण-भ्राता धन्यो जयतु सदा।
आबालवृद्धामुदिता वदन्ति तद्गीतकानि सततं मुदा।।
यः पारदृश्वा वेद-स्मृतीनां यः कोविदानां चूड़ामणिः
यः शास्त्रवेत्ता ग्रन्थ प्रणेता साहित्य सिन्धोरमरो मणिः
चित्तं तदीयं वित्तं तदीयं संस्कृत-पोषण-लग्नं सदा।।
विद्याभूषण–श्रीमन्निरूपण-भ्राता धन्यो जयतु सदा

यः कर्मवीरो यो धर्मवीरो हृदयेन धीरो विप्रुधो रतः
यः सत्यवक्ता सन्मार्गवक्ता यः क्रोधजित् निजवर्गेश्रुतः
कीतिस्तदीया त्रैलोक्यमेतु मोदं ददातु च मह्यं सदा।।
विद्याभूषण-श्रीमन्निरूपण-भ्राता धन्यो जयतु सदा

यो भाष्यकारः सम्पादकश्च नैककृतीं मिह विश्रुतः
वाचा गरीययान् रत्नसा रहीमान् हास्ये विनोदे कुशलो रतः
कथं न भवेत्सः लोकाभिवन्द्यो जनरञ्जश्चाविरतं सदा।।
विद्याभूषण–श्रीमन्निरूपण-भ्राता धन्यो जयतु सदा

———

सहायक प्रोफेसर
संस्कृत-विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर।

डा० रामकिशोर मिश्र

निरूपणश्रीः

(१)

वसन्तवर्षाणाकत्र षष्टिः,
पूर्णीकृता हसता येन लोके ।
निर्देशकः संस्कृतशोधपथिको
विराजतेऽयं विद्वान्निरूपणः ।।

(२)

यः शोधच्छात्राणामत्र जगति
हिताय जननं धृतवान् हि मन्ये ।
तादृशस्वनिर्देशकशोधविषये
समक्षमास्ते तेषां समस्या ।।

(३)

तद्गृहमह गुरुकुलमेव मन्ये
यत्रास्ति छात्रस्य समप्रबन्धः ।
स्वाध्यायहितसाधनकर्मक्षेत्रे
स्वतन्त्रतायामपि नास्ति बन्धः ।।

(४)

एतादृशो गुरुवर्यस्य कीर्ति-
विद्यार्थिकथनैः सह वृद्धिमेति ।
विदुषां समाजे प्रतिदिनमतो हि
विद्वत्तया सह तस्यैधतां श्रीः ।।

———

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
एम. एम. कालिज
खेकड़ा (मेरठ) ।

□ मङ्गलदेव शर्मा

भास्करोऽयं निरूपणः

वेद-ज्ञान-निरूपयन्निरूपमो विद्यावतां भूषणम्,
विद्याया वपुषः सुरूपणचणोऽलंकार भूतोमणिः
धर्माधर्म विनिर्णयेऽतिनिपुणः प्रज्ञावतामग्रणीः
जीव्यात्सैष निरूपणो गुणनिधिः साक्षाद्धि वाचस्पतिः ॥१॥

येनादौ तु सुसेविताः गुरुकुले सन्तोमहान्तो द्विजाः,
आचार्य-प्रवराः समस्त-विषय-प्रज्ञान-संवर्धनाः,
प्राप्तं ज्ञानमशेषमार्षमखिला विद्याश्चिता लौकिकाः,
जीव्यात्सैष निरूपणो गुणनिधिः साक्षाद्धि वाचस्पतिः ॥२॥

योऽर्थानर्थ-विवेचने विवदतां विज्ञैः प्रमाण मतम्,
छात्राणां परिषत्सु लब्ध-सुयशाः जिज्ञासुनांबोधकः,
शास्त्राणां जटिले वने च भ्रमतां सन्मार्ग-संदर्शकः
जीव्यात्सैष निरूपणो गुणनिधिः साक्षाद्धि वाचस्पतिः ॥३॥

येनात्मापि समर्पितः सुरगिरां सेवा-समृद्धयोः कृते,
सेवन्ते कवयो विलक्षण-धियो रात्रिंदिवं यद्गृहम्,
विद्या-वारि-पिपासतां खलु नृणां पीयूष-वर्षी घनः,
जीव्यात्सैष निरूपणो गुणनिधिः साक्षाद्धि वाचस्पतिः ॥४॥

अज्ञानान्ध-धियाममोघनयनं जाड्याज्जडानां रविः
दीनानां परिरक्षिता हरिजनानां बान्धवोऽस्पृश्यता-
रोगस्यौषधमासवः प्रियजनानामातुराणां सुहृत्,
जीव्यात्सैष निरूपणो गुणनिधिः साक्षाद्धि वाचस्पतिः ॥५॥

विद्यालङ्कार-पदवीकः विलक्षण-विचक्षणः ।
जयतु लोकानलंकुर्वन् भास्करोऽयंनिरूपणः ॥६॥

———

बेहट
सहारनपुर

श्रीशिवशङ्कर निगमालङ्कार

प्रास्थानिकमङ्गलगीतिका

हे आचार्य ते संगमम्, प्राप्य धन्याः स्मो विश्वे वयम् ।
खेदमादध्महे भेदमीहामहे विदधाना न प्रत्युद्गमम् ।।
ज्ञानविद्यामरीच्छाकरम्, आश्रितानाञ्च बुधभास्करम् ।
अपयातं हि नः अज्ञानन्तमः, आगतानां च पदशंकरम्
स्नेहसम्पाठिताः स्मो वयं, कृपया ते गता गौरवम् ।।१।।
खेदमादध्महे भेदमीहामहे विदधाना न प्रत्युद्गमम् ।।

पुत्रवत्स्नेहसम्पालिताः, शिष्यकास्ते वयं लालिताः ।
केन कृत्येन ते त्वय्यतोनिर्गते, उपकारित्वमप्यागताः ।
भवितास्मो न वस्तुपरं, येन नः स्यान्यनोनन्दनम् ।।२।।
खेदमादध्महे भेदमीहामहे विदधाना न प्रत्युद्गमम् ।।

नोपमा ते कदा भानुना न च तेनापि पूर्णेन्दुना ।
पुष्करं कैरवं भजते नो मुदम, अन्तरेणोभयोरशुना ।
आत्मभासा हि नो मोदितम्, सर्वदा त्वद्गमानन्तरम् ।।३।।
खेदमादध्महे भेदमीहामहे विदधाना न प्रत्युद्गमम् ।।

गुरुकुल प्रभात आश्रम
भोला झाल
मेरठ।

☐ **प्रो० रामकृपालु शास्त्री**

तत्रभवतां श्रीनिरूपण विद्यालङ्कारमहाभागानाम् अभिनन्दनार्थम्,
समर्प्यन्ते कतिचित् भाव सुमनांसि ।

सौम्यभावांस्त्वदीयान् स्मरामो वयम् ।
दीर्घमायुस्तवास्तां जपामो वयम् ॥
संस्कृताध्यक्ष पदवीमलंकुर्वता
स्नेहसिन्धो, त्वया जीवनं यापितम् ।
आर्यसंस्कृति विदामग्रगण्योऽस्ति यद्
भावपूतं त्वया जीवनं साधितम् ।
सद्धितं, तन्मितं, वाचि सत्य यतः,
त्वद्यशोगीयमाना मुदा ते वयम् ॥१॥
सौम्यभावांस्त्वदीयान्———

देववाणी पुनीता त्वयाऽऽराधिता,
त्यागभावेन सा सर्वदा पूजिता ।
नैव गणितं कदाचित् स्वकीयं हितं
छात्रवर्गाय किं वा त्वया नो कृतम् ।
विस्मरिष्यन्ति नोऽस्मानिति प्रार्थना
नैव विस्मृतिपथं क्वापि नेया त्वियम् ॥२॥
सौम्यभावांस्त्वदीयान्———

देववाणीं समुन्नेतुकामेन यत् -
सर्वदा स्वः कुटुम्बोऽपि नापेक्षितः ।
दिव्यभावान्वितो दैवदुर्दैवतां
निर्भयस्त्वं विनिन्दिन् सदैव स्थितः ।
धन्यधन्योऽसि मान्योऽसि विद्वद्वर,
त्वद्यशो भातुतत्कामयामो वयम् ॥३॥
सौम्यभावांस्त्वदीयान्———

परिषदोऽध्यक्षपदवीमलंकुर्वता
योगदानं महद् यत्त्वया साधितम् ।
परिषदो जीवनं त्वां विना कीदृशं
नैव ज्ञातुं समर्था वयं सांप्रतम् ।
विस्मृतिं नैव नेयाऽस्ति परिषद् यतः
वरदहस्तस्तवास्तां जपामो वयम् ॥४॥
सौम्यभावांस्त्वदीयान्———

।———

–साकेत
–मवाना, मेरठ ।

—डॉ० मानसिंह वर्मा

मैंने देखा है उसे

मैंने देखा है उसे
शोक के गहरे सागर की
भयावह भँवरों के बीच
डुबकियाँ खाते हुए
इससे पहले कि
कोई नौका आए, साँस दिलाए
उसे किनारे खडे मुस्काते पाया है
मैंने देखा है उसे
घने, बेतरतीब, नुकीले
काँटों की झाडियों में
लहू लुहान होते हुए
इससे पहले कि
कोई मरहम लगाए, अस्पताल पहुँचाए
उसे सड़क पर काँटे झाड़ जलाते पाया है।
मैंने देखा है उसे
बदबूदार कीचड़ में घिनौने दलदल में भी
आकण्ठ धँसते हुए
इससे पहले कि
कोई नाक चढांए, तरस खाए
उसे कमल का फूल तोड़कर लाते पाया है।

———

हिन्दी विभाग
मेरठ कालेज, मेरठ

□ प्रो० गिरिजा शंकर त्रिवेदी

तुम एक निष्ठा, तुम एक आस्था

जब-जब हमने शब्दों को गुब्बारों की तरह उड़ाया
दूर आसमान में
तुम सदैव अर्थ की गरिमा
बीज की तरह धरती में बोते रहे,
हम मधुवन में फूल
फूल में मधु, पराग
और उन पर थिरकती तितलियों पर
दृष्टि टिकाये रहे
मगर तुमको
मालाकार की तरह
पौधे-पौधे की जड़ की प्यास की चिन्ता रही,
बहुत कठिन होता है निष्पादप रेत के पसार में
एक हरी छाया को जन्म देना
साजिश की छड़ी पकड़ कर हर सभ्य चलता है
निन्दा की नींद में कृतित्व सो जाता है
कृष्णपक्षी खोज में
अपनी मुट्ठी का भी उजाला खो जाता है,
मगर तुम—एक दुर्लभ, निष्कलुष अट्टहास
मूल्यों के पतझर के लिये
मानवता के मुग्ध, नधुर मधुमास
कवि के मूर्त्त भावोच्छवास,
हमने सिर्फ जिस निर्जीव मुहावरे को सुना भर था
कि कोई-कोई व्यक्ति संस्था होता है
तुम में नजदीक से सजीव होते देखा उसे पहली बार
और भी कई निराकार आदर्शों को साकार,
याद है,
हाँ, हमें याद है
जब जब उन्होंने किसी को चक्रव्यूह रचना के गुर सिखाये
तुम एक-न-एक अभिमन्यु को भेदन का मन्त्र देते रहे
अँधेरे के सैलाव में
निडर मल्लाह-से
उजाले की तरी खेते रहे

तुम सूत्र बनकर बोले
और भाष्य बनकर जिये
सचमुच
तुमको विद्या ने अलंकार-सा पाया
साधना ने तुम्हें लोक गीत-सा गाया
तुम एक निष्ठा
तुम एक आस्था
तुम एक चेतना
अविराम, अविराम;
शारदा के मंदिर के उपासक
उधर देखो तो
यात्रा की लम्बी तुम्हारी पगडंडी पर
क्रमशः चालीस
नहीं,
शायद उनसे भी अधिक
शरद बालाएँ खड़ी हैं
हाथों में कुन्द इन्दु तुषार हार लिये
जीवन का प्यार लिये।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
डी. ए. वी. कालिज
देहरादून, उ० प्र०।

□ प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार

अजब कहानी

तुमरी निरूपण अजब कहानी ।
हमसे कैसे जाय बखानी ॥१॥

शबरी, केवट, गुह, कुब्जा को राम कृष्ण अपनाते आये ।
उन शूद्रों की खोज में तुमने जाने कितने जनम लगाये ।
उनकी गरिमा तुमने जानी ॥२॥

कष्टों के भीतर भी तुमने हंसते-हंसते जीना सीखा ।
विष को अमृत मान सदा ही सहज भाव से पीना सीखा ।
तुमरा जीवन है लासानी ॥३॥

छोटे बड़े ऊँच नीचों को कैसे तुम अपनाया करते ।
आँधी तूफानों में कैसे हँसते और हँसाया करते ।
गुर सिखलाओ जीवन ज्ञानी ॥४॥

ओजस्वी सुत तुमसा पाकर गुरुकुल माता धन्य हुई है ।
गुणी पुत्र पा मेरठ नगरी भारत भर में गण्य हुई है ।
अपना मान तुम्हीं से मानी ॥५॥

छूटे साथ बड़ों का जिस पल बोलो छोटे कहाँ पें जायें ।
गहरी चोट लगी तन मन में अब रोयें या अब मुस्कायें ।
तुमने है जाने की ठानी ॥६॥

———

संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय

☐ प्रो० देवेन्द्र स्नेही

[मेरे साथ पंडित जी का निकट सम्पर्क और साथ रहा है और जिस प्रकार के संस्मरणों, संभारों तथा घटनाओं की भीड़ से मेरा मन और मस्तिष्क अटा पड़ा है—उन्हें कविता के माध्यम से ही अभिव्यक्त कर सकता हूँ, क्योंकि कविता ही वह माध्यम है जो बहुत कम कहकर भी बहुत कुछ कह जाती है।]

भाव-सुमन

कुछ ऐसे अनुभव होते हैं
कुछ ऐसी छवियाँ होती हैं
जिन्हें न कोई कवि
दुनियाँ का कोई लेखक
कोई व्यक्ति—
दे पाता है नहीं पूर्णता से अभिव्यक्ति
लगता तो ऐसा है
जैसे लिख पायेगा
लेकिन जब लिखने बैठे तो—
संभारों की इतनी भीढ़ उमड़कर आए
नहीं कुछ भी लिखने पाए
कलम हो कुंठित जाये
जब भी मैं लिखने बैठा हे बन्धु !
तुम्हारी कोई झाँकी
मानस-नभ में उमड़ घुमड़
आये हैं सुधियों के
कितने ही घन
एक साथ मैं किसको पकड़ूं
किसको छोड़ूं
इस दुविधा में चक्रित और विभ्रमित
हो जाता मेरा मन
पंख लगाकर उड़ जाते
सुधियों के वाहन
पारा जो मुट्ठी से फिसले
बिखरे भू पर
इसी तरह जाते हैं मेरे शब्द बिखर

(२)

तुमने मेरी भरी धुंध से
और उखड़ती क्षीण श्वांस को

नई प्रेरणा देने वाली
किरन चेतना की पकड़ाई
मेरे मन की बाँझ भूमि में
तुमने ही थी गुलाब की कलम लगाई,
मैं निकला इतना श्लथ
इतना कर्दमवाहक
उस गुलाब को यथारीति
मैं सींच न पाया
लेकिन मेरा दोष नहीं है
मुझको तो संतोष यही है
वह जीवित पल्लवित रहा है
सूख न पाया
तुम ऊषा बन कर आए थे
मन्त्र जागरण का लाये थे
मेरे मन के वातायन के
सभी अँधेरे कोने तुमने
निज प्रकाश की रेखाओं से
चमकाये थे,

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
नरवाना, हरियाणा।

डा० राजेश्वर प्रसाद शर्मा

डा० निरूपण विद्यालंकार

संस्कृति से, संस्कृत से जिसको,
बचपन से पूर्ण लगाव रहा ।
पीड़ित, अछूत, शोषित जन की,
पीड़ा सुनने का चाव रहा ।।

दुर्दशा देख कर मानव की
जिसकी आँखें भर आती हैं ।
दुखते समाज के घावों को
जिसकी उंगली सहलाती हैं ।।

जिसने जीवन को अर्थ दिया,
गति दी, लय दी, समरसता दी ।
अपने हाथों रखी जिसने,
आधार शिला कर्मठता की ।।

जो एक बार आगे बढ़ कर,
दोबारा पीछे मुड़ा नहीं ।
जो केवल मन बहलाने को,
कल्पना लोक में उड़ा नहीं ।।

यह संस्कृत अध्यापक परिषद,
जिसके यत्नों का ही फल है ।
जिसकी भाषा में साहस है,
इंगित में, शैली में बल है ।।

मूर्धन्य मनीषी संस्कृत के,
विद्यालंकार निरूपण हैं ।
उनके सुधांशु से चरणों में,
अर्पित ये श्रद्धा के कण हैं ।।

ईश्वर दीर्घायु प्रदान करे,
संस्कृत के ध्वज संवाहक को ।
अमृतकण बरसाने वाले,
वाणी के इस आराधक को ।।

हिन्दी अनुवादक
डाक-तार प्रशिक्षण केन्द्र
सहारनपुर ।

☐ डा० योगेन्द्रनाथ शर्मा "अरुण"

"ज्ञान के आगार! लो मेरा नमन"

ज्ञान के आगार ! लो मेरा नमन !
दिव्यता साकार ! स्वीकारो नमन !!
मिट गईं सब ग्रन्थियाँ,
मानस-कमल भी खिल गया !
छू लिया तुमने मुझे,
अमृत प्रभा का मिल गया !!
बाँटते नित प्यार ! लो मेरा नमन !
दिव्यता साकार ! स्वीकारो नमन !!
ज्ञान-सिंधु बन सदा ही,
जगत को ज्योतित किया !
विषपान करके मुस्कराए,
जगत को अमृत दिया !!
संस्कृति के सार ! लो मेरा नमन !
ज्ञान के आगार ! स्वीकारो नमन !!
जग के लिये सब जी सकें,
तुम ऐसी बुद्धि दो हमें !
अर्पण हमारा प्रेय हो
यह भाव शुद्धि दो हमें !!
भावना अविकार ! लो मेरा नमन !
दिव्यता साकार ! स्वीकारो नमन !!

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
बी० एस० एम० कालिज
रूड़की

☐ श्री चमनलाल "चमन"

मान्य श्री डा० निरूपणविद्यालंकार, रीडर, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ के अवकाश ग्रहण की बेला में

● स्नेह-शीलता-सदाचार,
मानव-ममता के सागर,
सौम्य-सरल-स्वभाव,
विहसता मुख पर तेज दिवाकर ।।

● आर्य-जगत के लिये समपर्ण,
जिनका तन-मन-धन है,
वेद-ऋचा सा अलंकृत,
जिनका जीवन दर्शन है ।।

● अध्यापक परिषद के प्राण,
समन्वित करते जनगणमन को,
श्रद्धा-भाव समर्पित करते,
हम श्रद्धेय "निरुपण" को ।।

● काव्य-शास्त्र के सम्बल,
हे सरस्वती के नन्दन,
इस हर्ष-विषाद बेला मे,
स्वागतमय है अभिनन्दन ।।

———

सहारनपुर, उ० प्र० ।

☐ वेदमार्तण्ड ग्राचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति

संस्कृत के उपासक डा० निरूपण विद्यालङ्कार

देववाणी संस्कृत भाषा भारतीय संस्कृति, सभ्यता और धर्म की निर्झरिणी का उद्‌गम स्रोत है। समग्र भारतीय चिन्तन संस्कृत भाषा के साहित्य में आबद्ध और ओतप्रोत है। प्राचीन भारतीय आर्य ऋषि-मुनियों और आचार्यों ने मानव के सर्वाङ्गीण अभ्युदय, विकास और कल्याण को दृष्टि में रख कर जो ऊँचे, महनीय और अद्वितीय विचार दिये हैं वे संस्कृत भाषा के साहित्य में ही संनिबद्ध हैं। इन प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने मानव-जीवन के सभी पहलुओं पर सूक्ष्मता से गम्भीर विचार किया है और उनके उज्ज्वल और परिपूर्ण विकास के लिये निराले विचार-माणिक्य और अमूल्य विचार-मुक्तायें प्रस्तुत की हैं। भारतीयों की वेद-संहितायें, उनके ब्राह्मण-ग्रन्थ, उनकी उपनिषदें और आरण्यक ग्रन्थ, उनके दर्शन-शास्त्र, उनके धर्मशास्त्र और राजनीतिशास्त्र, उनके गणित और ज्योतिष के ग्रन्थ, उनके रसायनशास्त्र और आयुर्वेद के ग्रन्थ, उनके विज्ञान और कला-यन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ, उनके इतिहास और पुराण, उनका संगीतशास्त्र, उनके उपन्यास, काव्य और नाटक, सभी संस्कृत भाषा में ही लिखे गये हैं। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों और आचार्यों ने किसी भी विद्या-विज्ञान के क्षेत्र में जो कुछ भी सोचा और विचारा है वह संस्कृत भाषा में ही उपलब्ध होता है। हमारे इन प्राचीन विचारकों ने अपने ग्रन्थों में जो कुछ कहा है वह मनुष्य के समग्र विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक उपायों का वर्णन करता है। यदि मानव ने अपने समग्र विकास के ऊँचे शिखर तक पहुँचना है तो उसे इन प्राचीन भारतीय विचारकों के विचारों को जानना होगा, उनका चिन्तन और मन्थन करना होगा तथा उन्हें अपने जीवन में ढालना होगा। संस्कृत भाषा के इन ग्रन्थों में जो विचार दिये गये हैं वे मनुष्य-जीवन के सब प्रकार के रोगों की महोषध है! यदि मनुष्य ने अपने व्यक्तिगत जीवन के, अपने कोटुम्बिक जीवन के, अपने सामाजिक जीवन और राजनैतिक जीवन के कष्टों से बचना है तो उसे भारत के इन प्राचीन मनीषियों के विचारों को अपनाना होगा। यदि मानव ने सच्चा मानव बनना है, यदि उसने सच्ची और आदर्श उन्नति प्राप्त करनी है, यदि उसने सच्ची समृद्धि, सच्चा सुख, और सच्चा कल्याण-मंगल प्राप्त करना है तो उसे भारतीय मनीषा की इस चिन्तना को अपनाना होगा। और यदि मानव ने अपनी इस धरती को स्वर्ग बनाना है और उसमें जीते जी देवता बनकर रहना है तो उसे प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियों और आचार्यों के महनीय विचारों को स्वीकार करना होगा और उनके अनुसार अपना जीवन-यापन करना होगा। और यह तभी हो सकता है जब संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार और पठन-पाठन की व्यवस्था की जाये और लोगों को संस्कृत में उपलब्ध वाङ्मय को पढ़ सकने में समर्थ बनाया जाये। इस दृष्टि से संस्कृत के पठन-पाठन और प्रचार-प्रसार के लिये प्रयत्न किया जाना एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य है।

एक और दृष्टि से भी संस्कृत के पठन-पाठन और प्रचार-प्रसार के लिये प्रयत्न किया जाना बड़ा महत्वपूर्ण कार्य हैं। वह है भारत की एकता और अखण्डता को सुरक्षित रखना। संस्कृत भारत के किसी एक राज्य या प्रदेश की भाषा नहीं है। भारत के सभी राज्यों और प्रदेशों में संस्कृत के विद्वान् और विद्यार्थी तथा संस्कृत से प्रेम करने वाले लोग बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। आज दौर्भाग्य से भारत में यह स्थिति बनी हुई है कि जब हिन्दी को देश की सम्पर्क भाषा या राज-भाषा बनाने की बात चलती है तो कुछ प्रदेशों के लोग उसका इस कारण विरोध करते हैं क्योंकि वह उनके अपने प्रदेश से भिन्न-प्रदेशों की भाषा है। हिन्दी के इस विरोध्र ने राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से बड़ी अवांछनीय और और विकट स्थिति पैदाकर रखी है। देश की सभी प्रान्तीय भाषायें संस्कृत के शब्द-कोष से बहुत कुछ उधार लेती है। संस्कृत के पठन-पाठन और प्रसार से यह प्रवृत्ति और अधिक बढ़ेगी। इससे सभी प्रान्तीय भाषायें एक-दूसरे के अधिकाधिक निकट जायेंगी तथा परस्पर के प्रति विरोध भावना कम होगी और राष्ट्रीय एकता की भावना को बल मिलेगा। इसके अतिरिक्त जब सभी प्रान्तों के लोग अधिक संख्या में संस्कृत जानने वाले हो जायेंगे और वे संस्कृत साहित्य का अवगाहन करने लगेंगे तथा उस साहित्य के सौन्दर्य और उसमें आबद्ध और ओत-प्रोत सांस्कृतिक निधि से प्रेम करने लगेंगे तो उनमें और भी अधिक पारस्परिक स्नेह और एकता की भावना बलवती और दृढ़ होगी। इसप्रकार संस्कृत का पठन-पाठन और प्रचार-प्रसार देश की एकता और अखण्डता के लिये भी बड़ा भारी सहायक होगा।

जो महानुभाव इन लक्ष्यों को सम्मुख रख कर देववाणी संस्कृत के पठन-पाठन के पवित्र काम में जुटे हुये हैं वे अभिनन्दनीय हैं। ऐसे महानुभावों में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, के सुयोग्य स्नातक डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार प्रमुख स्थान रखते हैं। आपने गुरुकुल विश्वविद्यालय के अपने दीर्घ-कालीन अध्ययनकाल में संस्कृत वाङ्मय की अनेक शाखाओं का गहरा अध्ययन किया है। गुरुकुल में रह कर आपने आंग्लभाषा और साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया है। संस्कृत भाषा में आप अधिकारपूर्ण पाण्डित्य रखते हैं। इस क्षेत्र में अपने अनुसंधानात्मक कार्य के परिणामस्वरूप आपने डाक्टरेट की उच्च उपाधि प्राप्त की है। अपनी योग्यता के आधार पर मेरठ विश्वविद्यालय से सम्बद्ध प्रमुख कालेज मेरठ कालेज में आप दीर्घकाल तक संस्कृत विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष रहे हैं। इस कालेज के अपने अध्यापन काल में आपने छात्रों की एक बहुत भारी संख्या को संस्कृत की उच्च शिक्षा दी है। अपने देश के ही नहीं, विदेशों के भी अनेक छात्र आप से शिक्षा ग्रहण करते रहे हैं। आपकी शिष्य-मण्डली बहुत बड़ी है। आपके शिष्यों की एक बड़ी संख्या आपकी भाँति ही विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में संस्कृत के अध्यापन का प्रशंसनीय कार्य कर रही है, और आपके शिष्यों की एक बड़ी संख्या प्रशासन तन्त्र में उच्च पदों पर आसीन होकर देश सेवा के कार्य में संलग्न है। अनेक वर्षों तक संस्कृत अध्यापक परिषद् के मन्त्री और अध्यक्ष भी आप रहे हैं। आपने अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना करके लेखक के रूप में भी साहित्य सेवा का महान् कार्य किया है। इसप्रकार आप निरन्तर संस्कृत भारती के श्रद्धालु उपासक रहे हैं। और अपने अध्यापन तथा ग्रन्थों के द्वारा संस्कृत भारती के गरिमा-गौरव को बढ़ाते रहे हैं।

डॉ० निरुपण विद्यालङ्कार मेरे अपने शिष्यों में अन्यतम शिष्य हैं। अपने छात्र-काल में वे एक मेधावी, परिश्रमी और कर्मठ छात्र थे। उनका छात्र-काल जैसा उज्ज्वल था वैसा ही उज्ज्वल उनका

मेरठ विश्वविद्यालय में अध्यापक का काल भी रहा है यह देख कर मुझे भारी प्रसन्नता होती है। यह जानकर मुझे और भी अधिक प्रसन्नता होती है कि मेरठ विश्वविद्यालय की संस्कृत-अध्यापक परिषद् डॉ० निरूपण के मेरठ कालेज की दीर्घकालीन सेवा से अवकाश ग्रहण के अवसर पर उनका अभिनन्दन करने जा रही है और उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का आयोजन कर रही है। इसके लिये मैं संस्कृत परिषद् की प्रशंसा करता हूँ और उसे बधाई देता हूँ। तथा संस्कृत परिषद् के इस प्रशंसनीय आयोजन के अवसर पर मैं भी डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ और संस्कृत भारती की सेवा का अपना काल सफलतापूर्वक समाप्त करने पर उन्हें बधाई देता हूँ। परमात्मा उन्हें चिरायु करें और स्वस्थ रखें जिससे वे भविष्य में देववाणी की सेवा का और भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य करते रह सकें।

———

भूतपूर्व आचार्य एवं कुलपति,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
यश निवास, आर्यनगर,
ज्वालापुर, सहारनपुर।
उ० प्र०

□ श्री मनोहर विद्यालङ्कार

निरूपण विद्यालङ्कार और वैदिक रूप

श्री निरूपण विद्यालङ्कार

पितर अर्थात् माता-और आचार्य अपने पुत्र या शिष्य का नामकरण अपने किसी आदर्श की पूर्ति के लिये किया करते हैं। पितरों के मन में कोई आदर्श होता है, उनकी उसे पूरा करने अथवा क्रिया रूप में परिणत करने की इच्छा होती है, लेकिन वे अपने को उसे पूरा करने में असमर्थ पाते हैं। यदि वह इच्छा सतत और आन्तरिक हो, तो वे अपने पुत्र का ऐसा नाम रख देते हैं, जिससे वह पूरी होती दिखाई दे। इस नाम को लेने से उन्हें अनजाने में सन्तोष मिलता है, क्योंकि उन्हें ऐसा लगता है कि हमारा यह पुत्र अपने नाम को सार्थक बनाकर, अधूरे काम को पूरा करेगा।

इसीप्रकार इस जातक का नाम निरूपण रक्खा गया, और उस इच्छा को पूरा करने के लिये, इसे गुरुकुल में प्रविष्ट कराया गया। वहाँ की विद्या समाप्त होने के बाद इसे विद्यालङ्कार की उपाधि मिली किन्तु संसार के जीवन प्रवाह में प्रवेश करते हुये, इसने अपना नाम ही निरूपण विद्यालङ्कार रख लिया है।

अपने नाम को सार्थक करने वाले मनुष्य ही जीवन में सफल माने जाते हैं, क्योंकि वे अपने परिश्रम और कर्तव्य पालन द्वारा अपने पितरों की इच्छा को पूरा करके, उनका सच्चे अर्थों में श्राद्ध सम्पन्न करते हैं।

श्री निरूपण विद्यालङ्कार ने अपने नाम को सार्थक किया है। निरूपण का अर्थ है नि अर्थात् निराकार वस्तु (आत्मा) के नि (सहस्रार चक्र) में रूपण—रूप को साकार रूप में प्रत्यक्ष करना। और विद्यालङ्कार का अर्थ है—स्वयं प्राप्त की हुई विद्या से पहले अपने को और बाद में अपने शिष्यों को अलंकृत करने वाला।

श्री निरूपण जी ने अपने सारे कार्यकाल में निराकर ज्ञान को निरूपित करने का प्रयत्न किया है, यह उनके लिये सहज और स्वाभाविक था, क्योंकि वे संस्कृत साहित्य के प्राध्यापक रहे। वैसे तो सारा ज्ञान ही निराकार होता है, लेकिन संस्कृत साहित्य के अध्यापन में यह अधिक सम्भव है, क्योंकि संस्कृत साहित्य के मूल वैदिक वाङ्मय का मुख्य रूप से अन्तिम प्रतिपाद्य निराकार भगवान् का निरूपण ही है।

श्री निरूपण जी ने अपने अध्ययन काल में जो जाना, और अनुभव किया; उसके द्वारा अपने शिष्यों को बड़े परिश्रम से अलंकृत करने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि उनके अनेक शिष्य उच्च पदों को अलंकृत किये हुये, उनका बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं।

वे स्वयं भी जगत् के चकाचौंधमय प्रलोभनों से बिना प्रभावित हुये अपने कर्तव्यों को करते हुये बड़े से बड़े कष्टों को सहकर भी अन्याय से लड़ने के लिये सदा उद्यत रहते हैं। जीविकार्जन के वर्तमान पद से निवृत्त होने के बाद मैं उनकी सफलता और निरूपण वृत्ति में प्रतिक्षण अग्रसर होने की कामना करता हूँ।

—:०:—

५२२, ईश्वर भवन, खारी बावड़ी, दिल्ली–६१

☐ डा० कर्णसिंह

डा० निरूपण विद्यालंकार : व्यक्तित्व और कृतित्व

मध्यम आकृति, पुष्ट शरीर, गौर वर्ण, घने घुंवराले बाल, सब मिलाकर सुन्दर नखशिख वाले डाक्टर निरूपण विद्यालंकार को छोटे-छोटे डंगो और सधी हुई चाल से आता हुआ देखकर दूर से ही कोई भी व्यक्ति पहचान सकता है। समीप आने पर एक लघु अट्टाहास के साथ वे सभी का स्वागत करते है। प्रथम भेंट में ही अपरिचित व्यक्ति को भी घनिष्ठ मित्र बना लेना उनकी लोकप्रियता का परिचायक है। किसी भी व्यक्ति की आवश्यकता को जानकर उसका सहायक बन जाना उनकी उदारता का प्रमाण है। उनका घर जिस सहजता से सबका घर है, उसी सहज भाव से सबके घर को अपना घर समझ लेने में भी वे कभी संकोच नहीं करते हैं।

ग्रीष्म ऋतु में सफेद या हलके रंग की पैन्ट-बुशशर्ट और शीत ऋतु में गहरे रंग का गर्म सूट तथा दोनों ही ऋतुओं में पेशावरी चप्पल उनकी वेशभूषा है। विशेष अवसरों पर काली अचकन के साथ सफेद चौड़ा पायजामा उन्हें विशेष प्रिय है।

भोजन में डा० निरूपण जी को मिष्ठान अत्यधिक रुचिकर है, और सम्भव हो तो वे मात्र मिष्ठान से ही उदरपूर्ति में विश्वास करते हैं।

डाक्टर विद्यालंकार सतत यात्रा में विश्वास करते हैं, यात्रा के लिए कोई न कोई अवसर जुटा लेना उनका स्वभाव है। इसके लिए दिन में या रात में रेल में या बस में उन्हें कहीं कोई असुविधा नहीं होती।

पिकनिक, पार्टी तथा फंक्शन डाक्टर साहब को बहुत प्रिय है और गीत संगीत उन्हें सदैव मुग्ध कर लेता है।

'साहब' शब्द का प्रयोग डाक्टर निरूपण विद्यालंकार शायद ही कभी करते हो।

भाई साहब, डाक्टर साहब तथा प्रोफेसर साहब के स्थान पर सदैव भाई जी डाक्टर जी, तथा प्रोफेसर जी ही कहते सुने जाते हैं।

सम्बन्धवाची सम्बोधनों में डाक्टर विद्यालंकार जी को दो ही सम्बोधन सर्वाधिक प्रिय है, जो सम्भवतः अपनी कुलभूमि गुरुकुल कांगडी से ही उन्हें परम्परा के रूप में प्राप्त हुए है, वे दो सम्बोधन है—'भाभी जी, और भाई जी,'।

ऊपर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का प्रसंग आ चुका है। यह यहाँ संकेत कर देना भी उचित होगा कि इसी संस्था में डाक्टर साहब की शिक्षा प्रमुख रुप से हुई है। अविद्या अन्धकार को दूर करके विद्या का अलंकार वे यहीं बने है। पहले वे वहाँ के स्नातक-मण्डल के मन्त्री के रूप में और आजकल वहाँ की प्रबन्ध चिन्ता में वे गुरुकुल से सदैव जुड़े रहे है। गुरुकुल उनके लिए आकर्षण का प्रमुख केन्द्र है। उनकी दुर्दशा उनकी चिन्ता का सबसे बड़ा विषय होता है और उसको सुदशा में लाना उनका सबसे सुखद, स्वप्न है। वे गुरुकुल के लिए सब कुछ छोड़कर किसी भी समय जाने को प्रस्तुत और उसकी सेवा के लिये सदैव तत्पर रहते हैं।

'मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् के डाक्टर विद्यालंकार जी संस्थापक, अध्यक्ष रह चुके है। और उसके संचालन में वे सदैव बड़े सक्रिय रहें है।

अपने साथियों की सफलता पर उनका अभिनन्दन-प्रोत्साहन उनके लिए किसी धार्मिक अनुष्ठान जैसा ही महत्व रखता है।

संक्षेप में, डाक्टर निरूपण विद्यालंकार एक अति उत्साही तथा कर्मठ और सहृदय व्यक्ति है। उदारता उनका स्वभाव है और परोपकार उनका धर्म है। किसी के भी किसी भी काम के लिए 'ना' न कहना उनकी बहुत बड़ी विशेषता है। ऐसे महान व्यक्ति का जितना भी अभिनन्सन किया जाये, वह थोड़ा ही रहेगा।

व्यक्तित्व की भाँति ही डाक्टर निरूपण विद्यालंकार जी का कृतित्व भी बहुत महत्वपूर्ण है। वैसे तो न जाने उन्होंने कितना लिखा है, किन्तु यहाँ हम उनकी जिन चार प्रमुख कृतियों पर अपनी दृष्टि केन्द्रीत करना चाहते हैं, वे है—१. भारतीय धर्मशास्त्रों में शूद्रों की स्थिति, २. साहित्यदर्पण, ३. मुद्राराक्षस तथा ४. अभिज्ञानशाकुन्तल। ये सभी रचनाएँ साहित्य-भण्डार मेरठ से ही प्रकाशित हुई है। आगे हम इन्हीं पर क्रमशः विचार करेंगे।

१. भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति

डाक्टर निरूपण विद्यालंकार जी द्वारा लिखित यह शोध-प्रबन्ध पी-एच. डी. उपाधि के लिए आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत है। सन् १९७१ ई० में यह प्रकाशित हुआ है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की रचना में मूलकारण, डाक्टर विद्यालंकार जी की धर्मशास्त्र साहित्य के अध्ययन की रूचि ही है। अन्य प्रकार के संस्कृत-साहित्य का पर्याप्त मात्रा में अध्ययन कर लेने के उपरान्त भी जब इनकी ज्ञान पिपासा शान्त नहीं हुई तो उन्होंने धर्मशास्त्र के अध्ययन के लिए विशेष-रूप से इस विषय को चुना "संस्कृत-साहित्य के अथाह समुन्द्र में कोई रत्न अज्ञात ही रह जाये, यह संस्कृत के विद्यार्थी के लिए बड़ी ही लज्जा की बात है। ऐसा सोचकर धर्मशास्त्र के ग्रन्थों का स्वतः अध्ययन एवं मनन करना प्रारम्भ किया है। अध्ययन करते हुए मैंने यह पाया कि इसके अन्तराल में शोध करने के लिए प्रचुर भण्डार सुरक्षित है। परिणामतः मेरा लक्ष्य इस धर्मशास्त्र साहित्य में शोध करना हो गया"। (किञ्चित्प्रास्ताविकम पृष्ठ I भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति।)

प्रायः देखने में आता है कि आजकल किये जाने वाले शोधकार्य में गम्भीरता का प्रायः अभाव ही रहता है। इधर-उधर से सामग्री जुटाकर किसी प्रकार पी-एच० डी० उपाधि ले लेना ही शोध-कर्ताओं का उद्देश्य बन जाता है। किन्तु डाक्टर निरूपण विद्यालंकार जी ने अपने शोध विषय का अध्ययन बड़ी गहराई से किया है—'मैं यह कह सकता हूँ कि मैंने सम्पूर्ण धर्मशास्त्र साहित्य को उसके मूल में पढ़ा और देखा है। और सचमुच उस सम्पूर्ण साहित्य को पढ़ लेने के उपरान्त उन पर लिखीं हुई पुस्तकों को पढ़ने पर अनेक बार ऐसा अनुभव हुआ है कि मेरा समय नष्ट हो रहा है—

[दे० किञ्चाप्रस्त्ताविकम् पृष्ठ II भा० धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति] विषय का गहराई से अध्ययन किया जाय, केवल इतने से भी विद्वान् शोधकर्त्ता को सन्तोष नहीं हुआ है। अपने विषय के लिए उपलब्ध सामग्री में से कुछ भी छूटने न पाये इसका भी उन्होंने पूरा ध्यान रक्खा है—"मैंने इस शोध-प्रबन्ध को लिखते हुए ऐसा प्रयत्न किया है कि कुछ वैसा छूटने न पाये, जो शूद्रों की स्थिति को प्रकाश में लाने वाला हो।"—[वही पृष्ठ II]

प्रस्तुत ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय यहाँ आवश्यक है। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय है। प्रारम्भ में विषय प्रवेश के पश्चात् द्वितीय अध्याय में शूद्र वर्ण की उपत्ति का निर्धारण करने के लिए ऋग्वेद में वर्णित आर्य, दस्यु और दास के विवेचन को मुख्य आधार मानकर उसके अनिवार्य अंग 'वर्ण' का अर्थ वर्ण

और जाति में अन्तर तथा शूद्रों की वैदिक एवं पाश्चात्य उत्पत्ति का विवेचन दिया गया है। यहीं पर ऋग्वेद में प्रयुक्त 'वर्ण पद के 'रंग' अर्थ के आधार पर 'रंगभेद' पर भी विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। आर्य और दस्यु अथवा दासों का यह भेद काले और गोरे रंग के आधार पर जातीय भेद था अथवा 'वृञ्' वरणें से निष्पन्न 'वर्ण, के 'वरण करना' अर्थ के आधार पर गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित गुणकृत-भेद था—इसका भी विवेचन वहीं कर दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में धर्मशास्त्र साहित्य में ऊपलब्ध होने वाली १०० से ऊपर जातियों का उल्लेख किया गया है। यहीं पर धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले जात्युत्कर्ष एवं जात्यपकर्ष के सिद्धान्त का प्रतिवादन किया गया है।

चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ अध्याय में क्रमशः शूद्रों की धार्मिक, सामजिक एवं राजनीतिक स्थिति का निर्धारण किया गया है। सप्तम अध्याय में शूद्रों की कानूनी स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। धर्मशास्त्रों में यह विषय 'व्यवहाराध्याय' नाम से आता है। इसमें १८ प्रकार के व्यवहार-पदों का वर्णन किया गया है। इन्हें अर्थमूलक व्यवहारपद [Civil Laws] और दण्डमूलक व्यवहारपद [Crimnal Laws] इस प्रकार दो भागों में विभक्त किया गया है। यहीं पर व्यवहार किसे कहते हैं ? साक्षी कौन हो सकता है ? इत्यादि विषयों का विवेचन किया गया है। यहीं पर साक्षियों के लिए निर्धारित शपथ और उनमें 'दिव्य शपथ' पर भी विचार किया गया है। ग्रन्थ का यह अंश जहाँ ज्ञानवर्धक है वही मनोरंजक भी हैं। इसी अध्याय में दायभाग और अधिकारी पुत्रों पर भी विचार किया गया है। ग्रन्थ का यह अध्याय सबसे बडा है। अन्त में, अन्तिम और उसके आठवें अध्याय में विषय का उपसंहार किया गया है। यहाँ प्रस्तुत निष्कर्ष इसप्रकार हैः—

१—वैदिक समाज व्यवस्था में वर्ण चार ही है, तीन या पाँच नहीं है। प्रारम्भ में शूद्र एक वर्ण ही था, जाति नहीं। बाद में वर्ण और जाति शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची रूप में होने लगा। और भी बाद में, वर्ण के स्थान पर केवल जाति शब्द का ही प्रयोग होने लगा। आजकल तो शूद्र वर्ण या शूद्र जाति से किसी भी वर्ग को नहीं कहा जाता, अपितु इनके जैसी अनेक जातियाँ अपने-अपने विशेष नामों से ही जानी जाती है।

२—सम्पूर्ण धर्मशास्त्र वाङमय से प्रकट होता है कि धर्मशास्त्रकारों ने नैतिक गुणों को ही सर्वाधिक महत्व दिया है। अतः धर्मशास्त्रों में वर्णाश्रम धर्म का विशद वर्णन हुआ है।

३—वैदिक काल में शूद्र चतुर्थ वर्ण के रूप में समाज के प्रत्येक क्षेत्र में समान रूप से अन्य वर्णों के समान ही सभी अधिकारों का उपयोग करता था।

४—ऐतिहासिक क्रम में ब्राह्मणकाल में शूद्रों की स्थिति में ह्रास हुआ है। इस काल में शूद्र केवल सेवक का कार्य ही कर सकता था।

५—धर्मसूत्रों और स्मृतियों में प्रतिपादित जात्युत्कर्ष के सिद्धान्त से स्पष्ट होता है कि शूद्र भी अपने गुण कर्म-स्वभाव से उच्च वर्ण की स्थिति में आ सकता है।

अन्त में इस ग्रन्थ के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत ग्रन्थ में डाक्टर निरूपण विद्यालंकार जी ने एक सच्चे शोध कर्ता के उत्तरदायित्व का पूर्णरूपेण पालन किया है। उन्होने पूर्वाग्रह रहित होकर शूद्रों की स्थिति का ठीक उसी रूप में उल्लेख किया है, जैसी कि वह धर्मशास्त्र ग्रन्थों में उपलब्ध है।

२. साहित्यदर्पण :

अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों में 'साहित्यदर्पण' का महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी अनेक टीकाओं एवं

व्याख्याओं के होते हुये किसी नये व्याख्या ग्रन्थ की रचना करना कोई सरल कार्य नहीं है। डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार जी ने साहस जुटाकर बड़े परिश्रम से इस ग्रन्थ की नयी व्याख्या की है। इस व्याख्या को लिखने में दो ही उद्देश्य लेखक के सम्मुख रहे हैं—

(१) छात्रों को साहित्यदर्पण के गूढ स्थलों को हृदयङ्गम कराना और (२) अपनी मनस्तुष्टि (दे० प्राक्कथन, पृष्ठ i) निस्संदेह इन दोनों ही उद्देश्यों में व्याख्याकार डॉक्टर निरूपण विद्यालङ्कार जी को पूरी सफलता मिली है।

साहित्यदर्पण की प्रस्तुत व्याख्या में मूलपाठ का हिन्दी अनुवाद सरल तथा प्रवाहमयी भाषा में हुआ हैं। इस व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्रकरण को स्पष्ट करने के लिये प्रत्येक मूल अवतरण के साथ अवतरणिका दी गई है। प्रत्येक अंश को स्पष्ट करने के लिये अवतरणिका, हिन्दी अनुवाद और बाद में आवश्यक टिप्पणियाँ दे दी गई हैं।

इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका भी इसकी बहुत बड़ी विशेषता है। इसमें लेखक ने साहित्यदर्पण के सम्पूर्ण विषय को सारगभित रूप में इसप्रकार स्पष्ट किया है कि वह पाठकों के लिये बहुत ही उपयोगी बन गया है।

संक्षेप में, डॉक्टर निरूपण विद्यालङ्कार जी ने इस व्याख्या को लिखकर 'साहित्यदर्पण' के अध्येताओं का जो उपकार किया है, उसके लिये वे सदैव पाठकों के साधुवाद के पात्र रहेंगे।

३. मुद्राराक्षसम्ः

संस्कृत नाट्य साहित्य में विशाखदत्तप्रणीत 'मुद्राराक्षसम्' नाटक का अपना विशिष्ट स्थान है। यह नाटक पाठकों तथा समीक्षकों के लिये सदैव आकर्षण का केन्द्र रहा है। इस पर टीकायें और व्याख्यायें भी अनेक लिखी गई हैं, किन्तु डॉक्टर निरूपण विद्यालङ्कार जी द्वारा लिखी गई व्याख्या हिन्दी माध्यम से लिखी गई ऐसी सर्वप्रथम व्याख्या है, जिसकी भूमिका में कवि-परिचय और नाट्यकला परिचय के साथ ही नाटक की अन्य अनेक विशेषताओं का भी विस्तृत परिचय दिया गया है।

मूलपाठ का हिन्दी अनुवाद करते हुये यह ध्यान रक्खा गया है कि अनुवाद शब्दशः हो जाय। भाषाप्रवाह बनाये रखने के लिये अनुवाद में जो अतिरिक्त शब्द आ गये है, उन्हें कोष्ठक में रक्खा गया है, जिससे पाठकों को मूलपाठ तथा अनुवाद को साथ-साथ रखकर समझने में सुविधा हो गई है।

'मुद्राराक्षसम्' की प्रस्तुत व्याख्या की विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। प्रख्यात संस्कृत विद्वान् डॉ० हरिदत्त जी शास्त्री की यह टिप्पणी इस दृष्टि से यहाँ द्रष्टव्य है। उनके अनुसार "टीकाकार ने टीका को सर्वाङ्गीण बनाने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी है।" (दे० मुद्राराक्षसम्, भूमिका, पृष्ठ घ)

इसी भूमिका में एक अन्य स्थल पर इसी टीका की प्रशंसा करते हुई डॉ० हरिदत्त जी ने लिखा है कि—

"सबसे बड़ी विशेषता जो मुझे इस टीका में लगती है, वह है—गद्य या पद्य में आये हुये विशेषणों का सार्थक्य–निरूपण। इसप्रकार श्री निरूपण जी ने 'परिकर' का निरूपण करते हुये निरूपण नाम को भी सार्थक कर दिखाया है।" (वही, भूमिका, पृ० घ)

अब, अन्त में इस ग्रन्थ के विषय में मुझे यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं है कि 'मुद्राराक्षम्' की यह व्याख्या संस्कृत जगत् के लिये डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार जी की एक बहुत बड़ी देन सिद्ध हुई है। आदरणीय डॉ० हरिदत्त जी शास्त्री जी के ही शब्दों में—

"विशाखदत्तहृदयं विशाखो वेत्ति वा न वा।
एतन्निरूपणे शक्तः व्याख्याकृच्छ्री निरूपणः" ॥

(मुद्राराक्षसम्, भूमिका, पृष्ठ घ)

४. अभिज्ञानशाकुन्तलम् :

कालिदासकृत 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक से सभी संस्कृत प्रेमी परिचित है। इस नाटक की टीकाओं, अनुवादों, व्याख्याओं तथा समीक्षाओं की संख्या भी बहुत अधिक है। तथापि, डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार महोदय ने, विशेष रूप से बी० ए० के छात्रों को ध्यान में रखकर अपनी इस नवीन व्याख्या की रचना की है। टीका में उन्होंने जो नवीन प्रयोग किये हैं, वे इसप्रकार हैं—

(१) संस्कृत-टीका और हिन्दी व्याख्या करने के साथ-साथ वहीं पर पद्यों में आये हुये अलङ्कारों का विशद विवेचन इसप्रकार किया है कि छात्रों को अलङ्कार विशेष का लक्षण और उदाहरण भी स्पष्ट हो जाता है।

(२) मूलपाठ में, छात्रों की सुविधा को ध्यान में रखते हुये, पात्रों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत भाषा के स्थान पर उसकी संस्कृत छाया को रक्खा गया है। मूल प्राकृत को मूलपाठ के नीचे रेखा डालकर पृथक् रूप से रखा गया है।

(३) भूमिका में, कालिदास-काल-निर्णय को छोड़कर सभी विषयों का विवेच्य विषय अभिज्ञान-शाकुन्तलम् ही रहा है। इससे छात्र विषयान्तर के अनावश्यक भार से बच गये हैं और उन्हें शाकुन्तलम् से बाहर कोई भी उद्धरण स्मरण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

कालिदास-काल-निर्णय में लेखक की मौलिकता स्पष्ट है। यहाँ लेखक का धर्मशास्त्रों का ज्ञान भी सहायक हुआ है। धर्मशास्त्रों की दायभाग की व्यवस्था और स्तेय के लिये दण्ड की व्यवस्था के आधार पर लेखक ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में आये इन प्रसंगों की चर्चा करके, धर्मशास्त्रों की व्यवस्था से तुलना करते हुये जा निष्कर्ष निकाला है, वह निश्चितरूपेण स्वीकार्य होना चाहिये।

संक्षेप में, डॉ० निरूपण विद्यालंकार जी की प्रस्तुत व्याख्या से 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' जैसे सर्वप्रिय नाटक को समझने में पाठकों को बहुत ही सुविधा हो गई है।

इसप्रकार डाक्टर निरूपण विद्यालंकार जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर दृष्टि डालने से यह बात पूर्णरूपेण दृष्टिगोचर होती है कि वे एक परिश्रमी और विद्वान् संस्कृत अध्यापक होने के साथ ही साथ बहुत ही उदार, सहृदय और सज्जन हैं। उनके कृतित्व में भी उनके व्यक्तित्व की झलक स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ती है। उन्होंने जो भी लिखा है वह विद्वानों और छात्रों तथा अध्यापकों के लिये समान रूप से उपयोगी है। अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व के कारण डाक्टर निरूपण विद्यालंकार जी को संस्कृत-जगत में सदैव महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहेगा।

———

संस्कृत विभाग,

मेरठ कालिज, मेरठ

□ डा० कृष्णकुमार

एक संस्मरण

डॉ० निरूपण विद्यालंकार से मेरा सम्बन्ध उस समय से है, जब हम बहुत छोटे-छोटे सात-आठ वर्ष की आयु के गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में पढ़ा करते थे। सन् १९४५ में गुरुकुल के स्नातक होने तक हमारे आपस के सम्बन्ध अत्यधिक प्रगाढ़ व प्रेमपूर्ण बने रहे। उसके बाद भी अब तक हमारे सम्बन्ध अधिक और अधिक घनिष्ठ हुये हैं, अब जबकि निरूपण जी का अभिनन्दन हो रहा है और वे ६० वर्ष की आयु के होकर सेवानिवृत्त हो रहे हैं, उनके साथ की सारी घटनायें चित्रपट के समान आँखों के आगे अवतरित हो रही हैं। इतने संस्मरण हैं और सभी इतने विचारोत्तेजक हैं कि उनको क्रमबद्ध करना भी कठिन ही है। तथापि उनके सम्बन्ध की घटना जो क्रीड़ा के सम्बन्ध की है, बहुत अधिक याद आती है।

बहुत कम को विदित होगा कि निरूपण जी का पूरा नाम शान्तिनिरूपण है। शान्ति नाम से हम इनको पुकारते थे। गुरुकुल के महाविद्यालय जीवन में ये बहुत उत्साही, तीव्र-धावक और अच्छे खिलाड़ी रहे, मेरा और इनका इस खिलाड़ीपन में भी बहुत साथ रहा, हॉकी में जहाँ मैं राइट-हॉफ खेलता था वहाँ ये राइट-आउट फारवर्ड खेलते थे। गुरुकुल की परम्परा थी कि स्नातक होते समय नव-स्नातक और महाविद्यालय के अन्य छात्रों का हॉकी व वॉलीबाल मैच हुआ करता था। उस समय हम नवस्नातकों में खेलने वाले कम ही थे और हमें डर था न जाने कितनी बुरी तरह हमारी टीम हारेगी। पहले हॉकी का मैच हुआ आधे समय में ही हमारी टीम पर पाँच गोल हो गये, आधे समय के विश्राम में हमारी टीम मायूस होकर बैठी थी कि शान्ति ने हंसकर मुझे बांह पकड़कर उठाया और कहा मायूस क्यों होते हो? और वे जोरों से हंसने लगे। फिर हम दोनों में कुछ बात हुई, खेल प्रारम्भ होते ही मेरे पास जो गेंद आयी मैंने हाफ लाइन से ठीक डी के पास गेंद फैंकी, शान्ति ने लगभग एक कदम आगे बढ़कर डी में से जो हिट की तो गेंद दोनों बल्लियों के बीच में से टकराकर गोल के तख्ते से टकरायी। लगभग एक हजार दर्शक थे, चारों ओर शोर हो गया। फिर जो हमारा उत्साह बढ़ा तो सभी गोल उतार दिये। इन पाँचों गोलों में से चार गोल मेरे द्वारा फैंके गये पास पर शान्ति ने ही किये। हजारों दर्शकों की तुमुल हर्षध्वनी के साथ बराबर मैंच छूटा। यह सब शान्ति निरूपण के प्रोत्साहन, जिन्दादिली और खिलाड़ीपन की भावना का ही परिणाम था।

उसके बाद बॉलीबाल का मैच था, इसमें तो हमारी टीम और भी कमजोर थी। केवल तीन ही कुछ खेलना जानते थे—मैं, शान्तिनिरूपण और वेदभूषण। दूसरी ओर राजेश्वर, बृजनन्दन, अमरनाथ आदि दिग्गज खिलाड़ी हमें धमकाते से लग रहे थे। शान्तिनिरूपण से प्रोत्सासाहन पाकर हमने खेलना शुरू किया तो पहली ही पारी में चार पन्द्रह से हमारी हार हुयी। दूसरी पारी में शान्ति-निरूपण ने वेदभूषण और मुझको धमकाया—ठीक खेलो। अब जो वेदभूषण ने शान्तिनिरूपण को बॉल की और शान्तिनिरूपण ने मुझे बॉली की ओर मैंने स्मैश किया तो सब देखते ही रह गये और हमको प्वाइण्ट मिला। फिर तो हमारा उत्साह खूब बढ़ा और हमने बाकी दोनों पारी जीत ली।

निरूपण जी के साथ अन्य न जाने कितनी स्मृतियां हैं जिनमें इनकी खिलाड़ीपन की भावनायें सदा ही व्यञ्जित होती रही हैं।

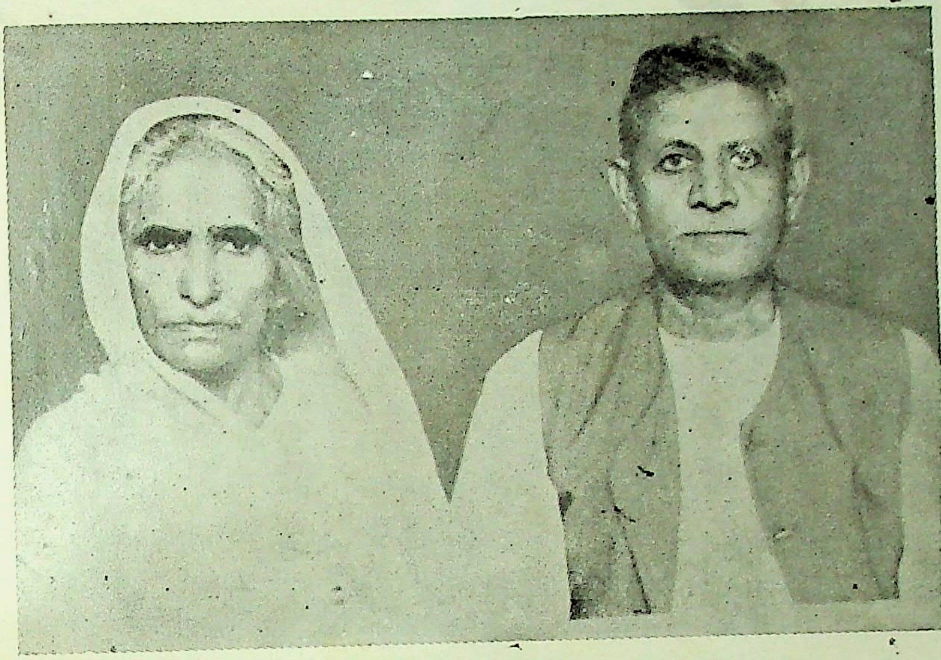
आज भी डॉ० निरूपण में वही उत्साह और आगे बढ़ने की प्रवृत्ति है और अपने साथ सबको ले चलने का भाव दृष्टिगोचर होता है।

———

अध्यक्ष संस्कृत विभाग
गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर, गढ़वाल।

(डा० निरूपण विद्यालङ्कार के माता-पिता)

श्रीमती कलावती एवं चौधरी बाबूसिंह



डा० निरूपण विद्यालङ्कार और उनकी सहधर्मिणी श्रीमती यतीन्द्रा देवी



☐ डॉ० विष्णुशरण "इन्दु"

मेरे अभिन्न मित्र डॉ० निरूपण विद्यालंकार

सृष्टि में वे पहले आये, मैं बाद में। मेरठ कालिज में मैं पहले आया, वे बाद में। वे संस्कृत में हैं, मैं हिन्दी में। वे अध्यक्ष हैं, मैं प्रवक्ता। वे विचारक हैं, मैं भावुक। वे परम्पराओं को तोड़ते हैं, में परम्पराओं का अनुगामी हूँ। वे डरते नहीं, मैं डरता हूँ। व द्वैतवादी हैं, मैं विशिष्टाद्वैतवादी। वे आर्य समाजी हैं, मैं सनातनी। वे माधुर्य-प्रिय हैं, मैं लावण्य-प्रिय। वे ज्ञान में विश्वास रखते हैं, मैं भक्ति में। वे तुरन्त करते हैं, मैं विचारकर करता हूँ। वे सेनापति हैं, मैं मंत्री। वे ब्रह्म हैं, मैं जगत् हूँ, वे मुक्त हैं. मैं बन्धन में हूँ। वे निर्द्वन्द्व हैं, मैं द्वन्द्वों से पूर्ण। वे पारिवारिक उत्तरदायित्व पूर्ण कर चुके, मेरे शेष है। यात्रा उनका जीवन है, मेरा मनोरंजन। जीवन उनके लिये खेल है, मेरे लिये संघर्ष। उनके मित्र अधिक हैं, मेरे शत्रु। उनके मित्र स्पष्ट हैं, मेरे अस्पष्ट। वे मित्र और शत्रु को समान दृष्टि से देखते हैं, मैं मित्र को मित्र और शत्रु को शत्रु मानता हूँ। मैं मित्रता का गुण त्याग और प्रेम मानता हूँ, वे मित्रता का गुण मित्रता ही मानते हैं। वे शिव हैं, मैं विष्णु। वे समय की चिन्ता नहीं करते, मैं समय का ध्यान रखता हूँ। वे जितेन्द्रिय हैं, मैं इन्द्रिय-विजित। मैं शारदापति हूँ, वे यतीन्द्रा पति।

इतने विरोधों के बाद भी हम दोनों अभिन्न हैं। हमारे विचारों में समानता और सामंजस्य हैं। बड़ों के प्रति, पिता माता-गुरुजनों के प्रति हमारा श्रद्धास्पद प्रेमभाव समान है। पारिवारिक आदर्शों की उपलब्धि की कामना भी समान है। विद्यार्थियों के अध्यापन, निर्देशन तथा उनकी समस्याओं के सुलझाने में हम दोनों ही पूर्ण सहयोग प्रदान करते हैं। शिष्यों के प्रति स्नेह और वत्सलता का भी हममें समान भाव है। शान्ति, सहिष्णुता और मानवता तथा पारस्परिक विचार-विनिमय के समर्थक हैं। हम दोनों ही ३० जून १९८४ को कालिज के शिक्षण कार्य से अवकाश ग्रहण कर रहे हैं।

डा० निरूपण जी के कुछ विशिष्ट-गुण हैं, जो सराहनीय और अनुकरणीय हैं। जीवन के भयंकर संघर्षों से वे विचलित नहीं हुये। आपत्ति-काल में उनका धैर्य और धर्म कसौटी पर खरे उतरे हैं। उनमें अपार साहस और अक्षय कार्यक्षमता है। उनकी उदारता और शिष्य-वत्सलता तथा मित्रता के आदर्श के अनेक यथार्थ और प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वे अपने और अपने परिवार के लिये इतने समर्पित नहीं हैं, जितने मित्रों, साथियों और शिष्यों के प्रति सहज भाव से सर्वस्व समर्पण करने को तत्पर रहते हैं। यदि निरूपण जी का पर्याय, आर्य-समाज, गुरुकुल या भ्रमण कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी **'परोपकाराय सतां विभूतयः'** उनके लिये सार्थक है।

डा० निरूपण जी का अभिनन्दन संस्कृत परिषद् का अभिनन्दन है। वस्तुतः वे परिषद् की आत्मा हैं। उनकी कर्मठता, संगठन-शक्ति ने उसे बीज से वृक्ष बना दिया है। उसका सिंचन, संवर्द्धन सभी का पुनीत कर्त्तव्य है। इस मांगलिक अवसर पर मैं अपने स्नेही मित्र डा० निरूपण जी की स्वस्थता और शतायु-प्राप्ति की शुभाकांक्षा और प्रार्थना करता हूँ। वे चिरंतन भाव से साहित्य और समाज की सेवा में निरन्तर जुटे रहें तथा दूसरों के प्रेरणा-स्रोत बने रहें।

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग,
मेरठ कालिज, मेरठ

———

□ डॉ० विजेन्द्रकुमार शर्मा

डॉ० निरूपणजी विद्यालङ्कार: संस्कृत को समर्पित एक व्यक्तित्व:

आज से दस वर्ष पूर्व फरवरी १९७४ में बसन्तपञ्चमी का दिन। हापुड़ का राजकीय विद्यालय। तभी गौरवर्ण, आकर्षक व्यक्तित्व से युक्त दो व्यक्तियों का आगमन हुआ। एक डा० विष्णुशरण जी, इन्दु तथा दूसरे डा० निरूपण जी विद्यालङ्कार। मैं उन दिनों बी० ए० द्वितीय वर्ष का छात्र था तथा एम० एस० वी० कालिज हापुड की संस्कृत परिषद् का अध्यक्ष। मैंने जब डा० निरूपण जी को सुना तो इतना प्रभावित हुआ कि उन्हें अपनी परिषद् का उद्घाटन करने का निमन्त्रण दे दिया। कुछ समय पश्चात् जब परिषद् का उद्घाटन हुआ तो वहीं बात करते-करते डा० निरूपण जी ने मुझे मेरठ कालिज से ही एम० ए० संस्कृत में करने को कहा। जब डा० साहब मेरठ के लिये चलने लगे तो मैंने बड़े उत्साह से उन्हें एक लिफाफा भेंट करना चाहा। तो उन्होंने बड़ी विनम्रता से मुझसे कहा—संस्कृत की सेवा करना मेरा प्रथम कर्त्तव्य है, और यहाँ आकर मैंने अपना कर्त्तव्य ही पूरा किया है, फिर यह सब किसलिये ? यह वाक्य सुनकर मैं इतना साहस न कर सका कि उनसे पुनः आग्रह करता। जब उन्हें बस में बैठाकर मैंने टिकट खरीद कर देना चाहा तो उन्होंने कण्डक्टर से कहा कि—इनसे पैसे मत लेना पैसे मैं स्वयं दूंगा, और यदि इनसे पैसे लिये तो मैं बस से उतर जाता हूँ। संस्कृत के प्रति उनका अनुराग देखने का मेरा यह प्रथम अवसर था। अस्तु –

बी० ए० करने के पश्चात् मैं एम० ए० बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, से करना चाहता था, परन्तु जब मैं बनारस गया तो वहाँ जयप्रकाश आन्दोलन के कारण परीक्षायें नहीं हुई थीं तब सत्र बहुत पिछड़ा हुआ था, और मैं पुनः वापिस लौट आया। जब दूसरे दिन प्रवेश की अन्तिम तिथि का पता करने मेरठ कालिज गया तो वहाँ डा० निरूपणजी मुझे दिखायी दिये, परन्तु मैं स्वयं उनसे मिलना नहीं चाह रहा था, क्योंकि मैं एम० ए० मेरठ कालिज से नहीं करना चाहता था, परन्तु तभी उन्होंने मुझे देख लिया और मेरे पास आकर बोले कि तुमने एडमीशन लिया या नहीं ? मेरे मना करने पर उन्होंने मुझे फार्म भरकर जमा करने को कहा, परन्तु मैंने कहा कि आज मैं घर से पैसे लेकर नहीं आया हूँ, तो उन्होंने तभी मेरा फार्म भराकर जमा कर दिया तथा कहा कि पैसे कल जमा कर देना। तुम्हें यहीं से एम० ए० करना है। यह सब कहने का उनमें कितना अपनत्व था तथा कितना संस्कृत के प्रति मोह। यह मेरा दूसरा अवसर था जब मैंने उन्हें संस्कृत के प्रति इतना समर्पित पाया।

तत्पश्चात् तो मैं उनके साथ इतना जुड़ गया कि अपने को उस परिवार से एक क्षण के लिये भी अलग नहीं कर पाता हूँ। विगत दस वर्षों में मैंने एम० ए० किया, फिर उन्हीं के निर्देशन में शोध-कार्य। इस बीच मैंने उन्हें अनेकों बार संस्कृत की साधना में लीन पाया है। परन्तु एक समय तो मैंने उन्हें इस साधना के चर्मोत्कर्ष पर भी देखा है। यह एक ऐसी घटना है जिसे मैं चाहकर भी नहीं भुला पाता हूँ, और जो प्रायः मुझे आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करती रहती है। २० दिसम्बर १९७५ का दिन था। मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृताध्यापक परिषद् का चतुर्थ अधिवेशन बी० एस० एम० कालिज रूड़की में २०, २१, २२ दिसम्बर को होने जा रहा था। डा० निरूपण जी उस समय संस्कृताध्यापक परिषद् के मन्त्री थे। उस चतुर्थ अधिवेशन में एक स्मारिका का प्रकाशन भी हो रहा था, जिसको लेकर १२ बजे तक रूड़की पहुँचना था, क्योंकि तीन बजे से परिषद् का उद्घाटन होना था। परन्तु दुर्भाग्यवश डा० साहब

का अनुजपुत्र प्रिय हिमाक (गुड्डू) अस्वस्थ होने के कारण मेरठ मैडिकल कालिज में भर्ती था। अतः डा० साहब का निश्चय था कि एक बार सुबह उसे मैडिकल कालिज देखकर रूड़की चलेंगे। तभी इधर से मैं और आदरणीय श्री रतिराम जी शास्त्री भी मेडिकल कालिज पहुँच गये। लगभग दस बजे का समय था, तभी डा० निरूपण जी वहाँ दिखायी दिये। उन्होंने देखते ही कहा—शास्त्री जी आप यहाँ, वहाँ रूड़की में क्या हो रहा होगा ? न तो मैं ही जा पा रहा हूँ और न आप ही वहाँ गये हो ? आप अभी इसी समय चले जाइये, नहीं तो स्मारिका यहीं रह जायेगी, बच्चा अब ठीक है। आप भी यदि न गये तो वहाँ पता नहीं वे सब क्या सोचेंगे ? मैंने पहली बार डा० निरूपण जी को इतना उत्तेजित होते देखा था, वह भी संस्कृत के लिये।

शास्त्री जी तो किसी न किसीप्रकार चले गये, परन्तु मैं वहीं उनके साथ मैडिकल कालिज में ही रह गया, क्योंकि अभी तो मेरा संस्कृतानुरागी का चरमोत्कर्ष देखना शेष था। उधर हिमाक का स्वास्थ्य गिरता जा रहा था, ग्लूकोज चढ़ रहा था, इधर डा० साहब की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी कि पता नहीं रुड़की में क्या हो रहा होगा ? शास्त्री जी समय पर पहुँचे होंगे या नहीं ? मुख्यातिथि समय पर आये होंगे या नहीं। प्रत्येक १०–१०, ५–५, मिनट बाद मुझसे बात करते जाते कि इस समय रूड़की में यह हो रहा होगा, अब यह हो रहा होगा। ठीक दो बजे तो उनकी व्याकुलता सीमा का भी अतिक्रमण कर गयी और मुझसे बोले—व्रिजेन्द्र! तुम जरा बीरबाला (उस समय उनकी शोधच्छात्रा) को फोन करो और कहो कि कार लेकर ड्राइवर को भेज दें। हम दोनों रूड़की चलते हैं और वहाँ उद्घाटन कराते ही भाग आयेंगे। उस समय मुझे जो अनुभूति हुई उसे लिखने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। जिस व्यक्ति का युवा पुत्र मृत्यु से संघष कर रहा हो, और वह व्यक्ति संस्कृत परिषद् में जाने के लिये लालाहित हो। इसे क्या कहेंगे यह आप स्वयं सोच सकते हैं। यह संस्कृत के प्रति अनुराग का चरमोत्कर्ष था। इसे मैंने उनमें साकार रूप से देखा है। परन्तु जब मैंने उनसे कह दिया कि आप ही चले जाइये, मैं तो तब तक यहाँ से नहीं जाऊंगा जब तक कि डाक्टर खतरे से बाहर न घोषित कर दे। उस समय मैंने उनको अपना मन मारते हुये देखा है, उन्हें उदास होते हुये पाया है, संस्कृत की चिन्ता करते हुये देखा है।

२१ दिसम्बर की प्रातः जब वे रूड़की जाने के लिये तैयार हो गये तो मैंने उनसे आग्रह किया कि एक बार मैडिकल कालिज होकर रूड़की चलेंगे, परन्तु वे घर से ही रूड़की जाने को तैयार थे और बोले कि यहीं से सीधे चलते हैं, सवेरे की गोष्ठी भी सुनने को मिल जायेगी। परन्तु मेरे अधिक आग्रह करने पर जब वे मैडिकल पहुँचे तो वहाँ का दृश्य ही भिन्न था। प्रिय हिमांक हमसे बिछुड़ रहा था, और डा० निरूपण जी को दुःख था तो अपने संस्कृत परिषद् में न पहुँचने का। जब २२ दिसम्बर को व्यक्ति सीधे उनके घर आ रहे थे कि क्या बात हुई जो डा० साहब नहीं आये, तो वे अपना दुःख भूलकर परिषद् के अधिवेशन के विषय में पूछते कि अधिवेशन कैसा रहा ? कौन-कौन व्यक्ति आये ? हर व्यक्ति बस मौन होकर ही रह जाता।

संस्कृत के प्रति अनुराग तो मैंने बहुतों में देखा है, परन्तु इस सीमा तक नहीं, जितना कि डा० निरूपण जी में। अन्त में परमेश्वर से केवल यही प्रार्थना करते हैं कि परमेश्वर ऐसे महान् व्यक्ति को दीर्घायु करे दे ताकि वे संस्कृत की अधिक से अधिक सेवा कर सकें।

प्रवक्ता, संस्कृत विभाग,
मेरठ कालिज, मेरठ।

□ श्रीमती इन्दु

ये 'श्री' भइया:-मेरे प्रेरणा स्रोत।

बात उन दिनों की है जब में आठवीं कक्षा उत्तीर्ण कर नवीं कक्षा में प्रवेश करने की कामना को सजाती, सवांरती अपने भविष्य के ताने बाने बुन रही थी। जिस गाँव (गुढ़-मैंनपुरी) में मैं रहती थी, वहां आठवीं कक्षा के बाद कोई स्कूल अथवा कॉलिज नहीं था। छः से आठवीं तक की कक्षाएँ भी पूज्य पिता जी ने पहले अपनी बैठक में और फिर बाद में पर्याप्त जोड़-तोड़ के बाद जू० हा० स्कूल बोर्ड से मान्यता प्राप्त कराकर, खुलबाई थीं। अतः अब इसके बाद अगली कक्षाएं गाँव में ही खुलने की कोई सम्भावना नहीं थी। यद्यपि पूज्य पिताजी पढ़ने और पढ़ाने के बेहद शौकीन थे तथापि मुझे बाहर शहर में रखकर पढ़ाने की तो कल्पना से भी वे दूर थे।

हम कुल मिलाकर तीन भाई और चार बहनें थीं। तीनों भाइयों को पूज्य पिताजी ने अपनी इच्छानुकूल पढ़ाया था बड़े भाई **श्री सत्यनिरूपण** एम० ए० हिन्दी और संस्कृत तथा एल० टी० हैं और इण्टर कॉलिज फर्रुखाबाद में प्रधानाचार्य थे। मँझले भाई **डा० निरूपण विद्यालंकार** एम० ए० हिन्दी, संस्कृत, पी-एच० डी० है और मेरठ कॉलिज मेरठ में प्रोफेसर हैं। छोटे भाई **स्व० डा० स्वतन्त्र निरूपण** गुरुकुल काँगड़ी से आयुर्वेदालंकार थे, जो वहाँ डा० साहब के नाम से जाने जाते थे। बहनों को पूज्य पिताजी ने परिस्थितिवश पढ़ा तो कम था परन्तु विवाह रईस घरानों में किया था। पढ़ाई में विशेष रूचि होने के कारण मैं सोचती, अब मेरा क्या होगा? घर में मेरी पढ़ाई की कोई चर्चा नहीं चलती, मुझे दुःख होता। कभी जब पूज्य पिता जी बड़े भाई के साथ भेजकर पढ़ाने का जिक्र करते तो माँ नाराज होकर कहतीं, **"हमें शहर में रखकर शहरी लड़कियों की तरह तितली नहीं बनाना। लड़की सुशील हो, गृह कार्य में दक्ष हो, बस और क्या चाहिए हमें कोई सर्विस थोड़े ही करानी है।"** इस तर्क के समक्ष पूज्य पिताजी मानों अपने हथियार डालकर पराजित हो जाते।

विद्यालयों का ग्रीष्मावकाश तो चल ही रहा था मेरे छोटे भइया डा० साहब उन दिनों घर पर ही थे, वे मुझे सबसे छोटा होने के कारण बहुत प्यार करते थे। मैंने अपनी समस्या का समाधान उनसे चाहा, वे कहने लगे, "**पंडितजी** को आ जाने दो, तभी कुछ हो सकेगा, प्रतीक्षा करो।" **डा० निरूपणजी** जो मेरे मँझले भाई है, उन्हें अधिकांश लोग "**पंडितजी**" कहते हैं क्योंकि उनके नियमित विद्याध्ययन एवं निश्चित समयी प्रवृत्ति ने उन्हें इस पद पर पहुँचा दिया था। अब मेरी जून मास की लम्बी दोपहरियाँ और उमस भरी रात्रियां आंखों में ही कटने लगी। मैं सोचती, **'श्री'** भइया के आने से सम्भवतः मेरी समस्या सुलझ जाये। **'श्री'** उनका घर का नाम था। घर और गाँव के सभी लोग उन्हें इसी नाम से पुकारते थे। मैं जानती थी कि श्री पूज्य पिताजी उनकी दृढ़ता के कायल हैं। इससे पहले जब कभी **'श्री'** भइया आते-घर में चहल-पहल मच जाती उनके लिये दूध की रोटी अथवा खीर तैयार कर दी जाती क्योंकि यह उनका प्रिय भोजन है, रबड़ी, दूध, दही और मक्खन के वे बेहद शौकीन रहे हैं, अतः उनके आने पर इन चीजो का विशेष ध्यान रखा जाता। टोले की बड़ी बूढ़ी और लड़कियाँ देखने आ जातीं। हम सभी भाई बहनें इकट्टे होते काफी चहल-पहल हो जाती। मुझे स्मरण है एक बार जब मैं छोटी थी "**श्री**" भइया घर आये हुए थे, दहलीज के दरवाजे में बैठे हुए थे, सम्भवतः नहाने जा रहे थे, मैं बाहर से खेलकर आई और उसी दरवाजे से एक ओर से निकलने का प्रयत्न करने लगीं, "**श्री**" भइया ने चुपके से बड़ी तत्परता

से अपनी एक टाँग अड़ा दी (वे हॉकी के माने हुये खिलाड़ी रहे हैं) मैं उछलकर उन्हीं की गोदी में गिर गई– **"श्री"** भइया मुस्करा दिये और मुझे उठाकर आँगन में रख दिया। मां अन्दर से देख रही थी, बड़ी नाराज हुई, **"देखकर नहीं चलती, अंधी है ?"** मैं क्या करती ? डरी नहीं क्योंकि **"श्री"** भइया का सहारा जो था। ऐसे ही जब **श्री** भइया घर से विदा होते तो उनके जाने के समय से बहुत पहले ही गाँव के बुजुर्ग और उनके साथी भीड़ लगा लेते जिनमें उनका एक खिलाड़ी साथी हरिजन **"मोदल"** भी होता जो **"श्री"** भइया को अति प्यारा था। घर में टीले की बड़ी-बूढ़ियाँ और लड़कियाँ जमा हो जाती। भाभी (श्रीमती यतीन्द्रा देवी) से नाना मनोविनोद करती। जब **श्री** भइया जाने लगते तो दादी और मां उनको दहलीज तक छोड़ने जाती और बड़ी बूढ़ियां तथा लड़कियाँ सभी चौपाल के फाटक तक। जब **श्री** भइया बड़ी बूढ़ियों के धूल भरे पैर छूने वे परस्पर मुहं देखने लगती और गद्‌गद हो जाती, आंखों में आंसू छलक आते मानों उन्हें स्वर्ग का वैभव सौंप दिया गया हो वे शत्‌शत् आशीर्वाद देने लगती। **श्री** भइया की आदर-भावना ओर विनम्रता की भूरि-भूरि प्रशंसा करती। जब लड़कियों के पैर छूते तो कुछ की आंखों में आंसू भर आते, कुछ **"फिर कब आओगे"** पूछती जो वहाँ उपस्थित न होती, उनके बदले के पैर **श्री** भइया चौपाल की दीवार के छू लेते। सब लोग ठहाका मार-मार हंस पड़ती जो बहुएं पर्दा होने के कारण हमारे घर न आ सकतीं वे अपने दरवाजों पर खड़ी होकर उन्हें जाता हुआ देख लेतीं। फिर पूज्य पिताजी अन्य गाँव के लोगों के साथ उन्हें गाँव के बाहर झरने तक छोड़कर आते। घर के नौकर स्टेशन दूर होने के कारण, उनका सामान स्टेशन तक रखकर लौटते और उनकी विनम्रता की प्रशंसा करते न थकते। गाँव के जिन लोगों के साथ हमारे घर की अनबन अथवा लड़ाई होती वे **श्री** भइया की दबंगता के कारण उन्हें **'जिन्दा दिल'** अथवा **'शेर'** कहते। बड़ी बहन **'भाई भरत'** कहतीं। गाँव के वृद्ध लोग उनकी प्रशंसा करते न अघाते। एक बार गाँव के एक वृद्ध जो हमारे 'बाबा जी' लगते थे **श्री** भइया के पास किसी कार्यवश गये। उन दिनों **श्री** भइया 'बदायू' में थे। **श्री** भइया ने उन्हें बड़े आदर के साथ ठहराया स्नान करने के बाद उनके कपड़े धोये, उनका कार्य किया और अपने पास से किराया देकर (जिसकी बाबा जी को कल्पना भी नहीं थी) घर भेज दिया। तब से वे बाबा जी गाँव में जहाँ बैठते और जहां गाँव के नवयुवकों की चर्चा छिड़ती तो सबसे पहले वे बड़े दुलार से **श्री** भइया की सभ्यता और विनम्रता का बखान करते। इसप्रकार विद्वत् समाज के अतिरिक्त **श्री** भइया ने ग्रामीण समाज में भी अपना विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था। अभिप्राय यह है कि **श्री** भइया घर और गाँव दोनों के लिये ही विशिष्ट महत्वपूर्ण व्यक्ति थे, फिर भला मेरी समस्या का समाधान क्यों सम्भव न था ?

अन्ततोगत्वा पर्याप्त प्रतीक्षा के बाद वह दिन भी आया जिसकी मुझे प्रतीक्षा थी। **श्री** भइया भाभीजी को लेने आ गये। मेरे मन में दुविधा, चित्त में व्यग्रता थी कि मैं अपनी बात इनसे कैसे कहूँ ? यदि कहूँ, तो क्या ये पूज्य माँ और पिता जी की दृढ़ता का सामना कर सकेंगें ? यदि नहीं तो फिर मेरे भविष्य का क्या होगा ? एकान्त में इसी ऊहापोह में थी कि **श्री** भइया आ गये। कहने लये, **"अरे ! मेरी बहन यहाँ अकेले में क्या कर रही है ?"** मुझे ढ़ाँढ़स बँधाया और मैंने छोटे भइया डा० साहब की कही हुई बात दोहरा दी। सुनकर **श्री** भइया कहने लगे, **"तो इसमें परेशान होने की क्या बात है ? जब मैं तुम्हारी भाभी को लेकर मेरठ चलने लगूँ, तू रो पड़ना–बस, मैं तुझे लेता चलूँगा फिर अम्मा पिताजी कैसे रोकेंगे ?"** इतना कहकर **श्री** भइया निर्विकार भाव से बाहर चौपाल पर चले गये। मैं अवाक् उन्हें जाता हुआ देखती रही और मन में सोचती रही कि क्या जिस सरलता से इन्होने मेरे भविष्य को नया मोड़ दिया है क्या यह सम्भव है ? मेरा नन्हा मन जिस व्यग्रता और आशंका से घनीभूत था भला इतनी ही

सरलता और निर्मलता से उस दुविधा से कैसे निकल सकता है ? खैर, किसी प्रकार **श्री** भइया के जाने का समय हुआ। मैंने पूर्वनिश्चयानुसार रोना आरम्भ कर दिया। मुझे रोता देखकर सारा घर पूछने दौड़ पड़ा, क्या हुआ ? कोई कहता , भाभी जा रहीं हैं इसलिये रो रही है, कोई कहता साथ जाने को रो रही है ? इसी प्रकार कोई कुछ और कोई कुछ। थोड़ी देर में ही **श्री** भइया आ गये और माँ से पूछने लगे अम्मा ? इन्दु क्यों रो रही हैं ? और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये हुये ही मुझसे कहने लगे, **"अरे ! रो रही है ? चल मेरे साथ ले आ अपने कपड़े और रख ले मेरे सूटकेस में।"** मैं दौड़कर अपने कपड़े ले आँई रोती जाती और कपड़े रखती जाती। थोड़ी देर बाद पूज्य पिताजी सामान नौकरों के द्वारा बस स्टेशन के लिए भिजवाकर अन्दर आये कि अब चलने में देर क्या है ? जब उन्होंने मुझे तैयार हुआ भाभीजी के साथ देखा तो **श्री** भइया से पूछने लगे कि इन्दु कहाँ जा रही है ? **श्री** भइया तपाक से बोले **"कुछ नहीं, रो रही थी, मैंने सोचा क्यों न इसे अपने साथ ही लेता चलूं"**। अब पिताजी क्या कहते ? निरुत्तर थे। मैं रोते हुये मुस्करा रही थी और सोच रही थी **श्री** भइया की महानता, शालीनता और बुद्धिमत्ता को। और **श्री** भइया ? वे पूर्ववत्, निर्विकार। सम्भवतः पूज्य पिताजी की गरिमा को बनाये रखने के लिये उन्होंने मुस्कराना भी उचित न समझा था।

आज अनन्त स्मृतियो के साथ मैं इतनी बड़ी हो गयी। मैंने अनन्त समय से **श्री** भइया के साथ रहते हुये इनके तपोमय और आदर्शमय जीवन से न जाने क्या-क्या सीखने का प्रयत्न किया ? परन्तु क्या सीख पाई ? वे मां सरस्वती के प्रिय पुत्र हैं ऐसी पुण्यात्मा और महान् विभूति को सहोदर के रूप में पाकर सचमुच मैं धन्य हूँ। उस परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करती हूँ कि युग-युग में इस महात्मा के साथ मेरा यही पावन-बन्धन बना रहे। आज **श्री** भइया के इस पावन '**अभिनन्दन-दिवस**' पर उनकी सहस्त्रायु कामना के साथ ये अल्प मधुर-स्मृति सुमन उन्हीं को समर्पित हैं।

प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग
म्युनिसिपल गर्ल्स इण्टर कालिज
मुजफ्फरनगर।

□ श्री रतिराम शास्त्री

डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार का धीरता-गम्भीरता-उदारता, समन्वित जीवन

आदरणीय श्री बालमुकुन्द अनुरागी जी के निर्देशन में साहित्य भण्डार की स्थापना सन्मित्रों के सहयोग से बड़े ही हर्षोल्लास के साथ १-१-४६ को हुई थी। आरम्भ में जूनियर हाईस्कूल, हाईस्कूल, इण्टरमीडिएट की पाठ्य तथा सहायक पुस्तकों, और कुञ्जियों का प्रकाशन आरम्भ किया गया। भगवान् की असीम कृपा से साथियों के सहयोग से प्रकाशन का कार्य बड़ी तीव्र गति मे बढ रहा था। इसी क्रम में मेरठ कालेज मेरठ के तत्कालीन संस्कृतविभागाध्यक्ष डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के निर्देशन में तथा डॉ० शिवराज शास्त्री जी के संयोजकत्व में अभिनवभारतीप्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशनार्थ अतिरंजित शृंगारांशवर्जित अभिज्ञानशाकुन्तलम् का डॉ० श्रीनिवास शास्त्री, डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार, तथा डॉ० केशवरामपाल द्वारा सम्पादन किया गया। इतको उत्तम और उपयोगी समझ कर आगरा विश्वविद्यालय की पाठचक्रम समिति ने इसको पाठचक्रम में अनिवार्य रूप से निर्धारित किया। पुस्तक वास्तव में छात्रोपयोगी सरल सुगम सुबोध भाषामयी थी। इसको अध्यापकों, छात्रों तथा पाठकों में अच्छा सम्मान मिला। देवयोग से मुझे भी इसे पढ़ने का सौभाग्य मिला, और आद्योपान्त इसका बड़ी गहनता से अध्ययन किया तो पुस्तक मन में घर कर गई, सौभाग्य से छापने को साहित्यभण्डार को ही दी गई, इसके अध्ययन से सम्पादकों के प्रति मन में आस्था बढ़ी कि इनमें पुस्तकसम्पादन तथा लेखन की असीम प्रतिभा एवं क्षमता है। इनसे पुस्तकसम्पादन कराने की उत्कट अभिलाषा बढ़ी। अतः सम्पर्क किया और पुस्तक सम्पादन करने का आग्रह किया। उत्तर बड़ा ही अनुकूल मिला, प्रसन्नता होनी स्वाभाविक थी। सम्बन्ध जुड़ गया और जुड़ गया अटूट जो आज भी यथावत् है।

डॉ० हरिदत्त शास्त्री से **ऋक्सूक्त संग्रह**, आचार्य ब्रह्मानन्द शुक्ल से उत्तररामचरित, डॉ० श्रीनिवास शास्त्री जी से **काव्यप्रकाश** डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार से **साहित्यदर्पण**, डा० कृष्णकुमार से अलंकार शास्त्र का इतिहास, डा० कर्णसिंह से भाषाविज्ञान, डा० महेशचन्द भारतीय से कादम्बरी पूर्णभाग, डा० कृष्णकान्त शुक्ल से संस्कृत निबन्धिनी, डा० सत्यप्रकाश शर्मा से प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, डा० कृष्णकान्त त्रिपाठी से प्राचीन भारतीय सभ्यता को लिखने का आग्रह किया, अत्यल्प समय में पुस्तकें छपी और छात्रों के हाथों में पहुँची तो आशातीत प्रचार-प्रसार हो गया क्योंकि सभी पुस्तकें छात्र हितकारिणी थीं, फिर तो पुस्तकों के प्रकाशन का तांता ही बन्ध गया और साहित्य भण्डार अपने उज्जवल भविष्य की ओर बढ़चला। अनेक पुस्तकें संस्कृत हिन्दी और इंगलिश में छपी तथा काम तीव्र गति से बढ़ा। चलती गाड़ी में रोड़ा अटकता ही है। विधि विडम्बना। मेरे सुख-दुःख के साथी डा० निरूपण जी पर एक बड़ा ही हृदय विदारक अनभ्र वज्रपात हो गया। उनके कनिष्ठ भ्राता डा० स्वतन्त्र निरूपण आयुर्वेदालङ्कार अप्रत्याशित रोग से आक्रान्त हो गये। अनेक प्रतिष्ठितवैद्यों डाक्टरों की चिकित्सा करने पर भी रोग प्रतिक्षण बढ़ता ही गया। रोग क्या था विकराल काल ही था। रोग नहीं था काल और जीव का भयंकर महायुद्ध था, अन्ततोगत्वा काल की ही विजय हुई, स्वतन्त्र निरूपण अनेक और अथक प्रयास करने पर भी हाथों से निकल गये। साथियों पर इसका इतना बड़ा दुष्प्रभाव पड़ा कि सब एकदम विचलित हो गये। इसका

प्रभाव डा० निरूपण पर कितना हृदय दहलाने वाला हुआ होगा यह तो वही जान सकते हैं। हम लोगों के लिये तो केवल अनुभव की ही बात है। इस दुर्घटना को सहकर भी पथ विचलित न हुए, अपने दैनिक कार्य में नित्यप्रति की तरह लगे रहे और स्वयं सम्भले तथा सबको सम्भाला। **धीरता की पराकाष्ठा थी।**

मेरठ विश्वविद्यालय अध्यापक परिषद् का वार्षिक अधिवेशन था जो कि बी० एस० एम० कालेज रूड़की में होना निश्चित किया गया। स्मारिका का प्रकाशन भी निश्चित किया, इसके प्रकाशन-सम्पादन का भार मन्त्री के नाते डा० निरूपण जी पर छोड़ा गया। काम चल रहा था **विधि का विधान** अपना प्रभाव अलग ही रखता है, यहाँ भी प्रकृति-प्रकोप बीच में आकर अटक गया, इनका छोटा पुत्र हिमांककुमार को एक ऐसे भयंकर रोग ने जकड़ लिया कि अहर्निश दबता ही चला गया। अन्ततः मेडिकल जाना पड़ा। सब देखने गये, मैं भी गया देखकर दिल दहल गया, बिना कुछ कहे चला आया स्मारिका का काम बन्द कर दिया। रुका नहीं गया, दुबारा जाकर देखा तो बच्चा छट पटा रहा था, रुक न सका चला आया। थोड़ी ही देर पीछे निरूपण जी आये और बड़ी गम्भीरता से आराम बताकर पुनः कार्य करने को बाध्य कर दिया। स्मारिका छप गई, बन भी गई। विमोचनार्थ लेकर रूड़की जाने को विवश किया। आदेश दे दिया। न चाहते भी जाना पड़ा, चलते-चलते दुर्घटना का पता लग गया था, परन्तु निरूपण जी छिपा रहे थे और जाने को बाध्य कर रहे थे **गम्भीरता की चरम सीमा** थी होनी हो गई किसी से भी रुक न सकी।

प्रिय पुत्री श्रद्धा के विवाह की चिन्ता सताने लगी, समय पर घर वर दोनों अच्छे मिल गये। सब काम बड़ी सरलता से पूर्ण हो गये। समस्यायें आती रहीं और स्वयं हल होती गईं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी का निर्वाणशताब्दीसमारोह। अजमेर में बड़ी धूम-धाम से मनाया जा रहा था। महाराष्ट्र प्रान्तान्तर्गत लातूर से कुछ महर्षिभक्तों की एक टोली अजमेर आई और निवृत्त होकर उत्तराखण्ड की यात्रा के लिये चली। देवयोग से मोदीपुरम के पास कार से टकरा कर एक व्यक्ति का पैर टूट गया। कार का मालिक अच्छा था कार में मेरठ लाकर किसी डाक्टर से प्लास्तर चढ़वाया। बड़े अनुनय विनय के साथ कुछ रुपया देकर नम्रता से विदा ली। किसी व्यक्ति ने प्रेम दिखाया और वैत्तिक सहायता की, परन्तु बीच में रुक गये। पैर किसी विद्यालङ्कार के भाई का टूटा था। डा० निरूपण जी को पता चल गया। स्वयं ही पहुँच गये और सारा भार अपने ऊपर ले लिया। रोगी के पास रुपया समाप्त था डाक्टर को भी रुपया देना पड़ा और आवश्यकतानुसार खर्च भी करना पड़ा। विदा करते समय सभी हिसाब पूरे करने थे। पास में केवल २०० रुपया मात्र था। किसी व्यक्ति से मंगाकर सब हिसाब करा दिये। रोगी ने चलते समय अश्रुधारा बहाते हुए मोनमुद्रा में विदा ली और चले गये। एक मास बाद धन्यवाद का पत्र आया, जिसे पढ़कर निरूपण जी बड़े प्रसन्न हो रहे थे मानो कोई राष्ट्रीय पुरस्कार मिला हो, यह था **उदारता का साक्षात् स्वरूप।**

यह प्रवृत्ति पति-पत्नी दोनों में ही समान रूप से कूट-कूट कर भरी है। प्रतीत होता है कि जैसे यह प्रवृत्ति वैवाहिक सूत्र बन्धन के साथ बन्धकर साथ आई हो। इसका प्रभाव पास में बैठने वालों पर हुये बिना नहीं रह सकता। इनके प्रिय शिष्य दक्षिण अफ्रीका निवासी विश्राम रामविलास के यहाँ प्रसव होने वाला था, यतीन्द्राजी श्रीमति निरूपण विद्यालङ्कार जी सपरिवार बड़ी मगल कामना से कार्य में जुट गई। प्रकृति-प्रकोप यहाँ भी न रुक सका। बच्चा आया और चला गया **विधि विडम्बना** जो ठहरी। सब काम यथावत् पूरे हो गये। बचा केवल बच्चे के विछोह का दुःख।

परमेश्वर से यही हार्दिक प्रार्थना है कि सुखी परिवार के साथ इनकी यह धीरता, गम्भीरता तथा उदारता जीवन-पथ की पाथेय बनी रहे। इसी प्रकार अपने स्नेहिल हृदय से जन-जन की सेवा में तत्पर रहकर अपना भविष्य उज्जवल बनाते रहें। शुभम्

अध्यक्ष
साहित्य भण्डार, मेरठ।

□ प्रा० भगवद्दत्त वेदालंकार,

डा० निरूपणविद्यालंकार : मेरी दृष्टि में

शायद सन् ४१. ४२ की बात है मैं लाहोर से गुरूकुल कांगड़ी पहुँचा उस समय गुरूकुल जन्मोत्सव मनाया जा रहा था । इस अवसर पर गुरूकुल के पदाधिकारी, उपाध्याय तथा छोटे बड़े छात्र सभी सम्मिलित होते थे । इसमें वर्ष भर की गुरूकुल की गतिविधि, उन्नति व अवनति का लेखा जोखा रक्खा जाता था एक प्रकार से आत्म निरीक्षण का वह दिन होता था । उस सम्मेलन में कई उपाध्याय तथा विद्यार्थी बोले । प्रत्येक ने अपने अन्दर छिपी कड़वी मीठी भावनाओं का प्रकाशन किया । उसमें एक विद्यार्थी बहुत बोला, मैंने पूछा यह कौन है क्या नाम है ? बगल में बैठे एक सज्जन ने कहा कि यह शान्ति निरूपण है, यह स्नातक हो रहा है, इसके स्वभाव में तेजी है । मैंने कहा कि यदि मन सुस्थिर है बुद्धि डावाडोल नहीं है तो तेजी तेजी नहीं रहती वह तेजस्विता हो जाती है ऐसा व्यक्ति कार्य क्षेत्र में सफल होता है । उस समय मन ने यह कहा कि यदि यह स्नातक होकर राजनीति के क्षेत्र में जाये तो अच्छा रहे गुरूकुल का भी नाम होगा । राजनीति में रूचि न हो तो आर्य समाज के क्षेत्र में जाये । बात आयी गयी हुई । शान्ति निरूपण स्नातक बनकर बाहर आ गया । कुछ काल पश्चात् सुना कि शान्ति निरूपण मेरठ कालिज में लेक्चरार बनकर आ गये हैं और वे शान्ति निरूपण से केवल निरूपण बन गये हैं । ठीक है उस समय के इम्प्रेशन के अनुसार मन ने कहा कि उस विद्यार्थी को शान्ति कहां प्रिय थी। मैं मेरठ जिले का रहने वाला हूँ मेरठ जाने पर निरूपण जी से मुलाकात हो ही जाती थी । निरूपण जी सर्वजगत् के सर्जनहार भगवान् के पास पहुँचे और बोले कि मुझे भी आप कृपा कर हंसी खुशी अमोद प्रमोद का कुछ माद्दा दे दो भगवान् बोले कि स्मित या मुस्कान तो समाप्त है ही अट्टहास शेष है वह लेना हो तो हाजिर है निरूपणजी बोले यही दे दो तब से ये खूब जोर से अट्टहास करते हैं और दूर से ही अपनी उपस्थिति करा देते हैं । दूसरे इनके स्वभाव में मैंने सदा आशा ही देखी, निराशा व अवसाद कभी नहीं पाया । मैंने कहा कि निरूपणजी आप स्नातक पार्टी के नेताओं में है अमुक संस्था ने मेरा रूपया अभी तक नहीं दिया निरूपणजी झट बोले पंडितजी अवश्य मिलेगा, मुझे अभी तक सदा आशा में ही रक्खा हुआ है । यह भी नहीं कि ये मुझे ऊपर से दिखावे के लिये आशा बंधाते हों क्योंकि समय-समय पर इन्होंने मेरी सहायता की है । इसलिये मैं यह कैसे मान लूं कि मुझे ये ऊपरी आश्वासन दे रहे हैं ।

मनु महाराज ने कहा है कि—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।

इनके जीवन में मैंने अवसाद के क्षण कम ही देखे हैं । क्षणिक अवसाद को समाप्त कर ये अपनी प्रवृत्ति में आ जाते थे, हमारी तो परमपिता परमात्मा से यही पार्थना है कि मेरठ कालिज की सेवा से निवृत्त होकर निरूपण जी समाज में अपने जीवन द्वारा आशा, नवस्फूर्ति तथा सच्चरित्रता आदि सद्गुणों का प्रचार प्रसार करें । भगवान् इन्हें चिरायु बनाये ।

———

भूतपूर्व वेदोपाध्याय
गुरूकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार ।

☐ डा० सत्यकाम वर्मा

निरूपण व्यक्तित्व

आज के डा० निरूपण विद्यालङ्कार और मेरा सम्बन्ध उस जमाने से है, जब हम सभी बाल-विद्यालय में ही पढ़ते थे। वे चौथी कक्षा में थे और मैं द्वितीय श्रेणी में प्रविष्ट हुआ था। गुरुकुल काँगड़ी के उस समय के वातावरण में एक वर्ष भी बड़ा होने पर 'भाई जी' ही कहने का रिवाज़ था। अतः उस समय हम उन्हें 'भाई जी' कहते थे। आज भी हम उन्हें इसी नाम से बुलाते हैं, पर लोकाचारवश अब यह 'निरूपण जी' के रूप में भी परिवर्तित हो जाता है। एक बात यह भी कि उस समय हम उन्हें 'शान्ति भाईजी' के नाम से अधिक जानते थे, क्योंकि उनका पूरा नाम 'शान्ति निरूपण' है, और गुरुकुल में प्रायः नाम का पूर्वार्द्ध ही पुकारने का रिवाज़ था। और अपनी सारी कक्षा में सर्वाधिक लोकप्रिय होने का श्रेय इन्हें उस समय भी इसलिये नहीं मिला था कि इनके मुख पर सदा ही मुसकान थिरकती रहती थी, अथवा इसलिये कि भाषण, अध्ययनादि में ये तीव्र एवं कुशाग्र थे, बल्कि इसलिये कि तैराकी, हाकी आदि क्षेत्रों में भी इनकी कुशलता की चर्चा इनके पाँचवीं कक्षा में पहुँचने तक फैल गई थी। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ जाकर तो ये बालीबौल और हाँकी के मानों विशेषज्ञ ही बन गये थे। परन्तु इनकी संस्कृत वक्तृता एवं श्लोकपाठ आज भी भूले नहीं भूलता। मुसकान की प्रवृत्ति तो वहाँ जाकर कुछ बढ़ ही गई थी।

तब हमने महाविद्यालय में प्रवेश करने पर पाया कि केवल ये ही ऐसे 'भाई जी' थे जो आश्रम के एक परले सिरे से हमारे खण्ड में आकर पहले ही दिन से हाल-चाल पूछने में संकोच नहीं करते थे। मेरा इनसे व्यक्तिगत परिचय भले ही इस कारण हुआ कि इनके एक अन्य मित्र और मैं एक ही कमरे में रहते थे, किन्तु तब से आज तक जितना स्नेह इनका मैंने पाया है, मुझे नहीं पता कि उन दिवंगत मित्र ने भी इनका उतना स्नेह पाया था या नहीं। उसी वर्ष ये वहाँ के 'कुलमन्त्री' बने। छात्रों का ऐसा सर्वप्रिय नेता उस युग में हमने कोई और नहीं देखा। परन्तु इससे बढ़कर आश्चर्य की बात यह थी कि इनकी रुचि क्रीडा और साहित्यसृजन में इससे भी कहीं अधिक थी। मेरी आँखों के आगे अब भी महाविद्यालय के क्रीडांगन में इनका हॉकी और बौलीबाल खेलते समय का दृश्य घूम जाता है। एक दिन ये अपना अध्ययन समाप्त कर चले गये। हमने सोचा गुरुकुलीय परिचय का भी अन्त हुआ। किन्तु वास्तविकता यह निकली कि तब से आज तक ये तो वर्ष में एक या दो बार गुरुकुल निरन्तर जाते रहे, यद्यपि अपना अध्ययनकाल पूरा करने के बाद मेरा जाना ही बहुत कम हो पाया। परिणामतः उसके बाद हमारा मिलन बहुत वर्षों के बाद ही सम्भव हुआ।

बात सन् १९६५ की है—सन् १९४८ के सत्रह वर्ष बाद। एक विवाह के अवसर पर हमारी मुलाकात हुई। परन्तु इनके प्रेम ने यह छाया भी न पड़ने दी कि हमारा मिलन इतने व्यवधान के बाद हो रहा है। लगता था कि जैसे कल ही तो मिलकर चुके थे। रत्तीभर भी तो अन्तर नहीं था, व्यवहार में। हाँ तब दुनिया इन्हें 'डाक्टर' के रूप में बुलाने लगी थी, यद्यपि इनके नाम के साथ यह उपाधि जोड़कर पुकारने का साहस मैं आज तक भी इस डर से नहीं कर सका, कि कहीं इसे आत्मीयता की कमी न समझा जाये। सच्ची आत्मीयता तो निरुपाधिक होती है। हाँ, तब यह बात नई अवश्य ज्ञात

हुई कि कल तक हमारे 'शान्ति भाई जी' अब 'डा० निरूपण विद्यालङ्कार' के नाम से पुकारे जाने लगे हैं। तब से ही कोशिश तो करता हूँ कि इस नये नाम से बुलाऊँ, किन्तु आत्मीयता के क्षणों में अब भी पुराना सम्बोधन ही मुँह से निकल जाता है, और पास खड़े लोग समझते हैं कि मैं किसी और के भ्रम में इनसे बात कर रहा हूँ।

साहित्यकार एवं आलोचक—इतने लम्बे व्यवधान के बीच के इनके कृतित्व से परिचित होकर तो मैं चकित ही रह गया। साहित्यदर्पण के मर्मज्ञ व्याख्याकार के अतिरिक्त भी ये कई कृतियों के टीकाकार एवं व्याख्याकार के रूप में तब तक प्रसिद्धि पा चुके थे। और मैं तो इस दिशा में चलना ही सीख रहा था। इससे भी अधिक साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में इनका योगदान इस बात में था कि इन्होंने शिक्षकों एवं शिक्षा के क्षेत्र में कई अत्यन्त महत्वपूर्ण परम्पराओं का सूत्रपात किया। संस्कृत शिक्षकों संघ की ओर से प्रतिवर्ष आयोज्यमान संगोष्ठी की नींव डालने एवं उसमें प्रस्तुत पत्रों के प्रकाशन के विषय में इनके प्रयत्न अन्य विश्वविद्यालयों के लिये भी अनुकरणीय हैं। इससे भी बढ़कर यह कि अनुसंधान के लिये प्रोत्साहन देने के क्षेत्र में भी इस अकेले व्यक्ति ने जितना योगदान दिया है और छात्रों के प्रति सहृदय लगाव को जो परिचय दिया है, वह गुरुकुलीय वातावरण में पाये जाने वाले गुरु-शिष्य स्नेह की याद दिला देता है।

इसके साथ ही इनका एक वैशिष्ट्य यह सामने आया कि स्वयं उच्चकोटि के विद्वान् होकर भी अन्य किसी में विद्वत्ता का थोड़ा सा आभास पाते ही उसे प्रोत्साहन देने एवं उसकी सबके सामने प्रतिष्ठा करने-कराने में सदा अग्रणी होकर तत्पर रहते हैं। मुझे तो इनके इस स्नेहातिरेक का अनेक बार भाजन बनना पड़ा है। मेरठ कालेज में और मेरठ विश्वविद्यालय में तो इन्होंने मुझे अत्यधिक आदर देकर अत्यधिक उपकृत किया ही, जब गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में आचार्य बनकर गये, तब भी मेरा नाम अन्य बहुत से साथी विद्वानों के बीच रखना नहीं भूले। अपने से छोटों पर स्नेह का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा ?

गुरुकुल से मोह—इतने अच्छे विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष बनने पर भी इनका ध्यान सदा गुरुकुल काँगड़ी को फिर से पुराने गौरव पर पहुँचाने की ओर निरन्तर लगा ही रहा। वहाँ के शिक्षा पटल एवं वहाँ की महासमिति के सदस्य तो ये किसी न किसी रूप में बने ही रहें, किन्तु जब-जब भी गुरुकुल को कठिन परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा तब उसके लिये होने वाले संघर्ष में भी ये अग्रणी रहे। इसीलिये जब सन् १९८० में गुरुकुल का अधिकार फिर से विधिसम्मत अधिकारियों के हाथ में आया, तब सर्वसम्मत्ति से इन्हें वहाँ के आचार्य पद पर नियुक्त किया गया। नियुक्त होते ही इन्होंने इतनी तीव्रता से वहाँ के पाठ्यक्रम में सुधार आरम्भ किया और विश्वविद्यालय के स्वरूप को पुनः स्थापित करने की दिशा में कदम उठाने आरम्भ किये कि इन नए अधिकारियों के कान खड़े हो गये। उन्हें भय हो गया था कि कहीं अत्यधिक लोकप्रिय होकर ये स्वयं ही वहाँ के सर्वोच्च अधिकारी न बन जायें। सम्भवतः ऐसा होते ही उनमें से अनेक के गर्हित स्वार्थों पर बुरा प्रभाव पड़ता। शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ते भ्रष्टाचार को यदि सही रूप से मिटाना लक्ष्य हो तब तो ऐसे अधिकारियों को टिका रहने दिया जा सकता है, अन्यथा स्वार्थपूर्ति में सबसे बड़ी रुकावट बन जाने के कारण ऐसे अधिकारियों को सहन नहीं किया जाता। परिणामतः अधिकारलिप्सु उन तथाकथित उच्चाधिकारियों ने इनके विरुद्ध षड्यन्त्र करने आरम्भ कर दिये। परिणामतः ऐसा मनस्वी व्यक्ति, जिसकी पोर पोर भारतीय संस्कृति और साहित्य के गौरव की भावना में सराबोर है, वहाँ अधिक देर टिका न रह सका। मैं तो इसे गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का दुर्भाग्य ही कहूँगा।

अब भी यदि वहाँ के अधिकारी चेत सकें, तो उन्हें चाहिये कि सेवा से निवर्तमान होने वाले इस सरलचित्त महान् विद्वान् की सेवाओं से पूरा लाभ उठायें। भले ही ये आई. ए. एस. न रहे हों, किन्तु कई ऐसे प्रशासकों को द्वितीय जन्म देने का कारण तो रहे हैं।

व्यक्तिगत प्रार्थना और निवेदन—निरूपण जी आज षष्टिपूर्ति करके अपने विश्वविद्यालय से अवकाश तो प्राप्त कर रहे हैं, किन्तु सक्रिय जीवन से भी कहीं अवकाश प्राप्त करके, पुनः ग्राम जीवन में लौट जाने की कभी-कभी हृदय में उठने वाली लहर के कभी वश में न आजायें, मैं तो प्रभु से यही प्रार्थना करता हूँ ऐसे उत्तम और सुलझे विचारक को अपनी भावनायें अपने से छोटे भाइयों और शिष्यों के हृदय में भरते रहने के दायित्व से मुख मोड़ने की दिशा में सोचना भी नहीं चाहिये। अन्यथा जब भावी पीढ़ी गलत ढंग से पनपेगी, तब लोग दोष भले ही किसी अन्य को दें, किन्तु समाज में अपने दायित्व से मुख चुराने वालों का दोष तो सर्वोपरि रहेगा ही।

अतः जहाँ मेरी प्रभु से प्रार्थना है कि वह इन्हें मंगलभरी दर्घायु प्रदान करे, वहाँ इनसे भी प्रार्थना है कि अपने कर्तव्य को भली-भाँति पहचानें और न तो गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के उद्धार की चिन्ता से ही मुँह मोड़ें और न ही विद्यार्थी जगत् के सम्पर्क से अलग होकर एकान्त में जा बैठें। कर्म में व्याप्त रहकर ही शतायु होने का वेद का भी उपदेश है। भगवान् इस सच्चे कर्मयोगी को कर्म से परिपूर्ण आयु दे और इसे अपने उपकारों को सहस्र हस्त से विकीर्ण करने का शुभ अवसर दे।

शुभं भूयात्

———

प्रोफेसर संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

□ डा० जयदेव विद्यालंकार

DR. NIRUPAN : A TEACHER PAR EXCELLENCE

I have known Dr. Nirupan since our school days. To all of us class-fellows he was not originally Nirupan; he was 'Shanti' and later on, following the universal law of fancy and popularity, he became Nirupan—'An observer,' of course not necessarily, of peace. It's not known to many that his full name is Shanti Nirupan. Though, by name, an observer of peace, in fact, he was never an observer of peace. There was not a single activity—extra curricular and extra-mural activity–in which he did not participate. He was a member of the first 11 of our Hockey and Volley–Ball Teams. He was a first rate gymnast. To our contemporaries the picture of Dr. Nirupan is of Shanti playing on the fields or practising in the gymnasium. This observer of peace, as I have said already, only by name, become a politician in our College-days. By politician, I do not mean, the politician of present time. In those days, we used to have a representative of the students, elected by popular acclaim who would represent their interests to the authorities. The representative was known by the designation of 'Kula Sachiva'. 'Shanti Nirupan' as 'Kula-Sachiva' of Gurukula Kangri Vishvayidvalya was the most popular figure on the Campus in the year 1944–45.

The subject of his special study in the college days was the Gandhian Economics. He conducted survey of the villages to study the economic conditions of the inhabitants of the rural areas. He must have been struck by the poverty of the lowliest classes and the social injustice which was their fate-which probably, prompted him to choose the subject of his P-h.D. Thesis 'The condition of the Sudras in the Dharma-Sastras'

But he could not have done full justice to the topic, had he not made a deep study of the Dharma-Sastras for which a sound knowledge of Sanskrit was essential.

As a Teacher, he must have realised the manifold difficulties of the students at D.A.V. College, Jullundar and Meerut College, Meerut, in understanding the text of the Classical Sanskrit works. Inspite of the many commentaries and translations available, our students find it difficult to understand them. Dr. Nirupan brought out the editions of three important Sanskrit works which are most commonly prescribed in the syllabi of the North Indian Universities. They are:

1. The Abhijnanasakuntalam of Kalidasa.
2. The Mudraraksasam of Visakhadatta &
3. The Sahityadarpana of Visvanatha.

The preference for his editions, shown by the students of-not only the U.P. Universities but of the Universities of Punjab, Haryana, Delhi and Rajasthan and their commendation by the teachers and colleagues brings out one single fact that Dr. Nirupan has done an excellent job. In the following words of Kalidasa he should have a feeling of satisfaction of a job well done:

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।

This could not have happened if he did not possess a sound knowledge of language and literature of Sanrkrit. Only a person wno has imbibed deeply the knowledge can impart and transmit it to the students in a lucid and easily intelligible style. These are the two qualities-the self-possession of knowledge and the ability to transmit it which have been highly commended and spoken of by the great poet Kalidasa in the following stanza:

शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था,
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ।।

And therefore, I regard Dr. Nirupana a teacher par excellence.

Prof. & Head
Deptt. of Sanskrit, Pali & Prakrit
M D. University, Rohtak ।

□ डॉ० कान्तिकृष्ण आयुर्वेदालङ्कार

धन्य धन्य निरूपण विद्यालङ्कार
हो आपका अभिनन्दन सौ बार ।

श्रीयुत डाक्टर निरूपण विद्यालङ्कार को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण करने की विचारधारा गौरवमयी है । डाक्टर निरूपण विद्यालङ्कार का महत्त्व संस्कृत विभागाध्यक्ष की अपेक्षा कहीं ज्यादा है । डाक्टर निरूपण विद्यालङ्कार का महत्त्व उनके द्वारा अनूदित मुद्राराक्षस में आभासित होता है । डाक्टर निरूपण विद्यालङ्कार को संस्कृत का विद्वान्, प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण ही अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है । शूद्र की महत्ता को, गौरव को प्रतिपादित करने, प्रतिस्थापित करने के कारण डाक्टर निरूपण विद्यालङ्कार का गौरव और भी ज्यादा निखरा है । शूद्र किसी भी कारण से हेय नहीं है, अस्पृश्य नहीं है, बहिष्कृत नहीं है, कलंकित नहीं है । आज अस्पृश्यता, शूद्र को बहिष्कृत करना भारत के पिछड़ापन का कारण है । भारत में शूद्र के नाम पर जिनकों कुँओं से पानी नहीं लेने दिया गया, और जिनकों मन्दिरों में पूजा के लिए-कर्मकाण्ड के लिये घुसने नहीं दिया गया, और शादी विवाह के उत्सवों में भोज के अवसरों पर पंक्ति में नहीं बैठने दिया गया-चौपाल में खाट पर नहीं बैठने दिया, और जिन्दगी भर अछूत रहने को बाध्या किया गया यदि ऐसे दलित शोषित जनों ने धर्म परिवर्त्तन कर लिया तो यह कसूर शूद्रजनों का नहीं है । शूद्र के नाम पर जिनकों जूठन खाने के लिए बाध्य होना पड़ रहा हैं, शास्त्रों-स्मृतियों में उनको भी वर्णव्यवस्था में आदर का स्थान है—समाज में समान अधिकार प्राप्त हैं । सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भारत में फैले अन्धविश्वासों पाखण्डों का खण्डन पाखण्ड खण्डिनी पताका फहरा कर किया । 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' जैसे पाखण्डियो द्वारा शास्त्रों में, स्मृतियों में किये गये मिश्रण या प्रक्षेप के खिलाफ आवाज उठायी और शूद्रों को भी विद्या ग्रहण, शास्त्र-अध्ययन और शिक्षा प्राप्त करके समाज में आदर पूर्वक रहने का अधिकार दिलाया । ढोल-शूद्र गंवार पशु और नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी होते हैं—यहाँ केवल कटु वचन पशु व्यंग्य और हास्यास्पद है । शद्र और नारी दोनों को पशु की कोटि में रखना या मानना भारतीय समाज व्यवस्था को अवनत करना है । शूद्रों के प्रति इतना ज्यादा घृणा का व्यवहार, अछूत का व्यवहार जो अब तक किया जा रहा है —उसके परिणामस्वरूप ही भारत से टूट कर अलग पकिस्तान और बंगलादेश स्त्रीकार करने को बाध्य होना पड़ा है, जो भारत के लिये मित्र देश की तरह हैं या नहीं यह सदा शंकास्पद है । गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार को शिक्षा-दीक्षा में जातिवाद की भावना का उदय होता ही नहीं है । गुरुकुल के निवास काल में कभी भी किसी एक दूसरे को यह ज्ञात नहीं हुआ कि वह किस जाति का है । सबके लिये समान भोजन, समान शिक्षा के अवसर, समान शिक्षा की सुविधा, समान दिनचर्या रात्रिचर्या के कारण बन्धुत्व की भावना का उदय गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में होता है । हर छात्र की शारीरिक-मानसिक-वैदिक उन्नति की अलग-अलग समीक्षा गुरुकुल शिक्षा प्रणाशी में होती है । भाषावाद, प्रदेशवाद की जो राजनीति भारतीय अखण्डता को खण्ड-खण्ड किये दे रही है, इसकी बदबू या सड़ॉद तक भी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्रणाली में नहीं पैदा होती है । डाक्टर निरूपण विद्यालङ्कार उसी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार शिक्षाप्रणाली के स्नातक हैं, जिस कारण उनका जीवन गौरवमय बना है । महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन आदर्शों से उनका जीवन संस्कारित और अनुप्राणित हुआ है। डाक्टर निरूषण विद्यालङ्कार का जीवन सदा आमोद, आनन्द-उल्लास, सरलता और सादगी में कटा है ।

भारतीय समाज का संगठन वर्णव्यवस्था से होता है। देखने में तो वर्णव्यवस्था से समाज में वर्ण भेद या वर्ण विद्वेष या सवर्ण-अवर्ण में घृणा भावना की प्रतीति होती है, लेकिन, यदि वर्णव्यवस्था समाज में गुण-कर्मों के अनुसार है तो वर्ण व्यवस्था से घृणा भावना का प्रचार कदापि नहीं हो सकता है। वर्णव्यवस्था से तात्पर्य जातिवाद नहीं हैं। जातिवाद एक प्रकार से समाज का प्रदूषण है। जातिवाद कट्टर भावना—कटुतर भावना का ऊँच नीच भावना का-परिचायक है। वर्णव्यस्था को जातिव्यवस्था समझना भूल है। वर्णव्यवस्था का विकृत रूप जातिव्यवस्था है। वर्णव्यवस्था की खण्डहर जातिव्यवस्था है। जातिव्यवस्था में छुआछूत की भावना-घृणा की भावना का उदय होता है, जबकि वर्णव्यवस्था मे सब वर्णों के प्रति आदर की भावना है। किसी को वर्णरहित–संस्कार शून्य नहीं मानना चाहिए। किसी को अवर्ण मानने, संस्कार शून्य मानने से तो सारी सभ्यता संस्कृति ही रूग्ण हो जायगी, सारा समाज रुग्ण हो जायगा समाज में घृणा-विद्वष-विषमता का विष व्याप जायेगा, जैसा कि आजकल वातावरण रुग्ण विषाक्त होता ही जा रहा है।

भारतीय संस्कृति की विशेषता, गौरव उसकी आश्रम व्यवस्था है। बाल्य काल में विद्याओं का अभ्यास करना, यौवन काल में विषयो का भोग करना, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति से रहना और अन्तिम काल में योग द्वारा शरीर को त्यागना—ये आश्रम व्यवस्था के उच्च आदर्श हैं। वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति से रहना-विषयों से निवृत्त होना यहीं **'रिटायर्ड लाइफ'** है। जब पुत्र को पुत्र हो जाये तब वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लेना चाहिए। भोगों से निवृत्त होने को ही **'रिटायर्डलाइफ'** या रिटायर होना कहना चाहिए। वृद्धावस्था में निवृत्ति मार्ग का ग्रहण करना चाहिये। यौवन काल में प्रवृत्ति मार्ग-भोगों में लिप्त होना आश्रम व्यवस्था का धर्म है। नौकरी से यानि इन्द्रियों की गुलामी से निवृत्त होने का भी काल वृद्धावस्था-वानप्रस्थ धर्म संन्यास धर्म है। भोगों से, विषयों से अवकाश ग्रहण तो हो सकता है। लेकिन, सेवा से —जन सेवा से-जन कल्याण से कभी अवकाश ग्रहण नहीं हो सकता। **चरथ भिक्खव बहुजन हिताय बहुजन सुखाय।** लोक कल्याण में सदा लगे रहो। यही शिक्षा का, और शिक्षक का मूल धर्म हैं। दीर्घायुष्य की कामना भोगों को भोगने के लिये या विषयों में लिप्त रहने के लिए नहीं की जाती है। दीर्घायुष्य की कामना तो परोपकार करने के लिये की जाती है। परिग्रह से अपरिग्रह की ओर संग्रह से दान की ओर अथवा **'इदं न मम'** यह सब कुछ मेरा नहीं है, समाज का है––इसी भवना के लिये दीर्घायुष्य की कामना करें। **'केवलाघो भवती केवलादी'** अकेला खाने वाला अकेला पाप का भागी होता है। इसीलिए कहा है—**तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विम् धनत्**––इसलिए दान करके धन का भोग करो, पराये धन की लालच से मत देखों।

हे ! निरूपण विद्यालङ्कार ! आप सौ-सौ बरस जी ओ। आप आंखों से सौ-सौ बरस देखों। आप कानों से सौ-सौ बरस सुनो। आप पैरों से सौ बरस चलते रहो। आप हाथों से सौ बरस कर्म करते रहो। सौ बरस तक आपको ज्ञानेन्द्रियाँ संज्ञाग्रहण में समर्थ हों। सौ बरसों तक आपकी कर्मेन्द्रियाँ कर्मो को करने में समर्थ हों। सौ बरसों तक आप ज्ञान मार्ग के पथिक बने रहें। सौ बरसों तक आप कर्म मार्ग के अथक पथिक बने रहें। आपका सौ-सौ बार अभिनन्दन।

भूतपूर्व प्रिन्सिपल,
आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

☐ डॉ० ओम प्रकाश गुप्त आयुर्वेदालंकार

संस्मरण

निरूपण विद्यालङ्कार से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ, ये मेरे साथ सन् १९३१ से गुरुकुल विश्व-विद्यालय कांगड़ी, हरिद्वार में प्राथमिक कक्षा में प्रविष्ठ हुए और निरन्तर १४ वर्ष छात्रावास, एवं महाविद्यालय में साथ-साथ रहे और शिक्षा प्राप्त की; यह बाल्यकाल से ही बड़े हास्य विनोद प्रिय हैं। उक्त संस्था में बहुत बड़ी विशेषतायें थीं, जिनका अनुभव अपने जीवन के तीसरे आश्रम में पहुँच कर होता है। सबसे बड़ी विशेषता यह अनुभव हुई कि संस्था में जाति पाति का भेद-भाव भी बिल्कुल नहीं थी विद्यार्थी आपस में इतने घुलमिलकर रहते कि उन्हें यह भी ज्ञान नहीं हो पाता इतने वर्षों साथ रहने पर भी कि मेरा अत्यन्त निकट का सहपाठी किस जाति का है। इसी के परिणामस्वरूप विद्यालङ्कार जी ने अपने जीवन में शोध का विषय भी "प्राचीन भारतीय धर्म शास्त्र साहित्य में शूद्रों की स्थिति" ही चयन किया, जिस पर उन्होंने इतना गवेषणा पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया कि उत्तर प्रदेश शासन ने उनकी कृति पर पुरस्कार दिया।

विद्यालङ्कार जी का सारा जीवन जहाँ अध्ययन में बीता वहाँ उन्होंने आर्य समाज के माध्यम से अपने क्षेत्र में सामाजिक उत्थान का कार्य भी बहुत बड़ा किया, साथ-साथ वो हाँकी के बहुत अच्छे कुशल खिलाड़ी है।

में उनके भावी जीवन की शुभ कामना करता हूँ।

---

५६ सदर बाजार मथुरा, उ० प्र०,

□ डॉ० सुभाष वेदालङ्कार

एक संस्मरण

विनोद-प्रिय-भाई जी

भाई निरूपण जी न केवल सिद्धहस्त लेखक बहुमुखी प्रतिभा के धनी विद्वान और कुशल खिलाड़ी ही हैं, अपितु हास परिहास में भी पूर्णतः सिद्ध हैं। गुस्सा तो मानो उनका शत्रु ही है। अपने विनोद-प्रिय स्वभाव, मृदु व्यवहार एवं सहृदयता के कारण वे सदा सब के स्नेह भाजन रहे हैं।

यों तो भाई जी के विनोद-प्रिय स्वभाव की अनेक घटनाएँ मुझे याद आ रही हैं परन्तु एक घटना तो में कभी भूल ही नहीं पाता।

बात १९६० की है। अप्रेल का महीना था, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के वार्षिकोत्सव में भाई जी आये हुए थे मैं उन दिनों १३ वीं कक्षा का छात्र था। भाई जी सदा की भाँति इस बार भी हमारे छात्रावास में ही ठहरे हुए थे।

१४ अप्रेल की रात को उत्सव सम्पन्न हुआ। हम लोग देर रात तक भाई जी के साथ मनोविनोद करने के बाद सो गये।

आगले दिन प्रातः एक कोने से आवाज सुनाई दी —

"ब्रह्मचारियों आज निरूपण विद्यालङ्कार जा रहा है।

छात्र दौडे आये भाई जी से अपने वचनानुसार दो चार दिन रुकने का अग्रह किया। भाई जी न माने। रूस मनोस कर सब ने उन्हें स्नेह व आदर के साथ बिदा किया। और भाई जी मेरठ चले गये।

अगले दिन प्रातः फिर एक दूसरे कोने से आवाज सुनाई दी

ब्रह्मचारियों निरूपण विद्यालङ्कार आज फिर जा रहा है।

हम सब हक्के बक्के, रहे गये। वे बहर आये तो देखा भाई जी औटेंची उठा कर पुनः मेरठ जा रहे थे। हमें देख कर वे हंसने लगे। हुआ यह था, कि पहले दिन जब भाई जी बस स्टैन्ड पहुँचे तो पहली बस जा चुकी थी और दूसरी बस कई घंटे बाद जाने वाली थी।

भाई निरूपण जी ने मेरठ जाने का इरादा बदला और दिन भर हरिद्वार में ही बिता कर रात को चुप चाप छात्रावास में आकर सो गये।

यह घटना मुझे ऐसी याद है मानों कल ही घटी हो।

———

सहायक प्रोफेसर
संस्कृत-विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर।

☐ प्रो० ब्रजेश विद्यालंकार

"गुणाः पूजास्थानम्"

किसी व्यक्ति के सम्मुख बहुत से हीरे जवाहरात बिखरे हों तो उनमें से वह प्रथम किसको ग्रहण करे, स्वयं को जैसे असमञ्जस की स्थिति में अनुभव करता है, ठीक वैसे ही मैं भी गुणागार पूज्य भाई निरूपण जी के सम्बन्ध में अपनी लेखनी चलाने में अनुभव करता हूँ। अपने वर्ण्य को कहाँ से प्रारम्भ करूँ अपने आपको अनिश्चिय की स्थिति में पाता हूँ। सम्भवतः मेरी लेखनी "**उद्बाहुरिव वामन**" सिद्ध हो।

शीर्षक की सूक्ति का व्यवहारपक्ष जगत् सिद्ध है। कहते हैं ऋषि अष्टावक्र शारीरिक दृष्टया बेडौल थे, मनीषि कौटिल्य चाणक्य एवं अरस्तू बदसूरत थे, लेकिन गुणों से वह आज भी विश्व वन्द्य हैं। इसके विपरीत विभिन्न देशों में मनायी जाने वाली सौन्दर्य प्रतियोगिताओं में प्रथम स्थान प्राप्त करने पर भी कतिपय कालान्तर से उनका नाम लेने वाला भी नहीं मिलता अर्थात् किसी का नखशिख सौन्दर्य लिंगादि पूजाधार नहीं बनता। गुणान्वित ही पूज्य एवं श्रद्धास्पद होते हैं। श्रद्धेय एवं वरेण्य भाई निरूपण जी तदनुरूप ही हैं।

मेरा उससे व्यावहारिक सम्बन्ध सन् १६५७ से प्रारम्भ हुआ, यद्यपि परिचय इससे पूर्व का ही है। अपने विद्यार्थी जीवन में "**मानमन्दिर**" नामक नाटक में मैं **शक्तिसिंह** का पात्र बना था। उससे पूर्व **शक्तिसिंह** के रोल को देखकर वर्षों तक वह मुझे **शक्तिसिंह** नाम से ही पुकारते रहे, तबसे अविरल मैं भाई जी के सम्पर्क में हूँ। उनकी दी गई प्रेरणाओं एवं प्रश्रय के फलस्वरूप ही मैं आज अपने आपको वर्तमान स्थिति में पाता हूँ। मेरठ कॉलेज में मुझे भाई जी का शिष्यत्व भी प्राप्त है। अतः उनका दीर्घकालीन सान्निध्य मेरे जीवनसागर में प्रकाशस्तम्भ के समान विषम परिस्थितियों में सदैव मार्गदर्शक रहा है, और है।

मुझे ध्यान है सन् १६६३ का वह वर्ष जब भाई जी का सबसे कनिष्ठ पुत्र हिमाङ्क (जो कालान्तर में दिवङ्गत हो गया), खैरनगर के तत्कालीन आवास के तृतीय खण्ड से, पतङ्ग उठाते हुए नीचे गिर पड़ा था। मैं उस समय मेरठ कॉलेज के "**बृजनाथ मित्तल हॉस्टल**" में रहता था। भाई जी सहजभाव से इस भीषण घटना के घटने के पश्चात् भी मेरे पास रात्रि के नौ बजे के लगभग आये, यद्यपि असमय में उनकी उपस्थिति से मैं स्वतः भयाक्रान्त हो गया था और किसी संभावित विषम परिस्थिति को सुनने के लिए सन्नद्ध भी। उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के प्राकृतिक स्वर में यही कहा कि "**तुझे तेरी भाभी ने बुलाया है, वह हॉस्पिटल में है।**" जिज्ञासावश मैंने प्रश्न किया "**क्या हो गया भाभी जी को**" उन्होंने उत्तर दिया कि "**गुड्डू** (स्वर्गीय हिमाङ्क का घर का प्यार का नाम गुड्डू था) **गिर पड़ा है, जिसके पास वह हॉस्पिटल में है।**" भयान्वित एवं विषाद से बोझिल मैं बिना किसी प्रश्नोत्तर किये उनके साथ हॉस्पिटल चल दिया। वहाँ जाकर गुड्डू की जर्जरित शारीरिक स्थिति देखकर मैं अपने आपको, पूज्या भाभी जी को दिलासा एवं सान्त्वना दिलाने की अपेक्षा, बेबश, अनुभव करने लगा। बगल में रोती एवं बिखलती भाभी जी का करुण स्वर, श्रवण कर तो मैं कर्तव्यविमूढ हो गया। **गुड्डू का कोई अङ्ग ऐसा नहीं था जो भग्न न हो चुका हो। जबड़ा, हाथ, जांघ इत्यादि की हड्डियाँ टूट चुकी थीं। गुड्डू तो बेहोशी में था ही मैं भी बेहोशी अनुभव करने लगा था, लेकिन स्वयं को विवेक की लगाम लगाकर अपने मन को दृढ किया**

कि यदि लेशमात्रा भी कर्तव्यच्युत हुआ तो काम बनाने की अपेक्षा पवित्रात्माओं को कष्ट देने का भागी ही बनूंगा। किसी प्रकार अपने आपको संभाल पाया था, लेकिन पूज्य भाभी जी का मातृत्व तो मेरे से लिपट-लिपट कर, बिलख-बिलख कर फूट रहा था, जो मेरी आत्मा को दहला रहा था। इस विषम स्थिति में भी भाई जी का, हँसकर जबाब देना, स्वयं का विचलित न होना, दैनन्दिन का सहजभाव का सागर, पूर्णतः मर्यादित था। साक्षात् द्रष्टा मेरे लिये वह उसी दिन से प्रतीक बन गये।

केवल यही नहीं, आदरणीय भाई जी के लघु भ्राता डा० स्वतन्त्र, जो शारीरिक दृष्टचा बहुधा अस्वस्थ रहते थे, किसी भी विपरीत स्थिति में उन्होंने उनकी चिकित्सा में किसी प्रकार कोई कमी नहीं आने दी। कभी कर्तव्यच्युत होते नहीं देखा और ना ही कभी चिड़चिड़ाते एवं स्वयं को कोसते भी पाया। धन्य है भ्रातृत्व भाई जी का। मैंने तो राम और लक्ष्मण का ही भाव सदैव देखा। लेकिन विधि की विडम्बना कुछ और ही थी। सन् १९७० में बीमारी से उनका दिवङ्गत हो जाना भाई जी के व्यक्तित्व को और भी विशुद्ध सिद्ध करता है। लक्ष्मण को रावण के बाणों से आहत एवं बेसुध देखकर राम तो बिलख-बिलख कर रोते सुने जाते हैं, लेकिन यह तो भ्रातृत्व विद्रोह के शोक को भी पी गये। क्या उनकी गम्भीरता आदर्श पुरुष राम का स्मरण नहीं कराती ?

इतना ही नहीं १९७५ का वह मनहूस वर्ष सदैव अविस्मरणीय रहेगा जिस वर्ष आदरणीय भाई जी का चिरञ्जीव, १९६३ का घटना ग्रस्त, खण्डखण्डित शरीर के हो जाने पर भी पूर्ण स्वस्थ हो चुके हुए, पूर्ण यौवन का चुम्बन कर चुके गुड्डू भी अपना देह त्याग कर चला गया। क्या कोई ऐसा पिता है जिसका पितृत्व मर्यादा का त्याग न कर दे, उसे विक्षिप्त न कर दे, कर्तव्य विमुख न कर दे, दूरदर्शित्वहीन न बना दे ? वह भी उस स्थिति में जब मातृत्व मर्यादा का परित्याग कर दें, उसमें विक्षिप्तता स्थान बना ले, कर्तव्यहीन कर दे और पुत्रविषाद उसके अन्तःस्थल को मथ दे, यह दोहरे विषाद के भार भी पूज्य भाई जी के धैर्यसागर को अमर्यादित नहीं बना सके। वह तो सूर्य जैसे अपने कर्तव्य पर अटल एवं प्रकाशमान थे, उनमें पृथिवी जैसी असीम सहिष्णुता थी, हिमालय जैसी गरिमा थी, नभ जैसी विशालता थी, गङ्गा जैसी गतिशीलता थी। अग्निसदृश शोकानल भी उनको भस्मसात् नहीं कर सका। धन्य है ऐसे महापुरुष पूज्य भाई जी। एक साधारण पुरुष में भी जिसमें देवत्व निहित है।सदैव नतमस्तक हूँ ऐसे परमपुरुष के। ऐसे गुरुओं का शिष्यत्व सदैव मेरे अन्दर अहं भाव का जनक है।

कवि मूर्धन्य कालिदास ने तो लिखा है "**हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।**" सोना एक बार अच्छी प्रकार से तपाने पर पूर्ण शुद्धि हो जाता है, लेकिन विधिलिखित नर कसौटी जैसे अभी भी यहाँ शेष थी। मुझे ध्यान है नवम्बर १९६८ का वह वर्ष, मानसिक एवं आर्थिक प्रताड़ना के विपरीत भी जिसका आन्तरिक स्तर सदैव संगीतमय बोध कराता रहा है अपनी बहिन इन्दुमती का विवाहोत्सव पूर्ण हर्षोल्लास से सम्पन्न कराने का व्यक्तित्व किसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता ? अपने ज्येष्ठ भ्राता सत्यनिरूपण जी एवं भगिनी इन्दुमती का शैक्षणिक उत्तरदायित्व का वहन और बहिन के विवाहोत्सव का गुरुभार स्वयं के कन्धों पर धारित करना, निकट कालान्तर से पूज्य पिताजी एवं माता जी का स्वर्गवास हो जाने के उपरान्त की कर्तव्य परायणता किसी अग्नि परीक्षा से कम नहीं थी। इतना ही नहीं आर्थिक मानसिक झंझावात के प्रबल झकोरों की विषम परिस्थितियों में नित्यप्रति अतिथियों की सातत्यता के उपरान्त भी पूज्य भाई जी एवं भाभी जी द्वारा उदार, निष्कलुष मन एवं हँसी के फव्वारों से सदैव जो सोत्साह स्वागत किया जाता रहा वह उनको ऋषियों की "**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, एवं अतिथिदेव भव**" की श्रेणी में खड़ा कर देता है, साथ ही सभी के वह आदर्श भी बनते हैं। इसमें पूज्या भाभी जी को भी विस्तृत करना न्यायोचित न होगा जिनका सदैव कौशल सहयोग रहा है।

पूज्य भाई जी अपने धुन के बड़े धनी हैं। अर्थ की अर्थी निकालने वाली इन स्थितियों में भी जो

अहर्निश अपनी पी-एच० डी० डिग्री के लक्ष्य को प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहकर सदैव अपनी एकाग्रता को समाहित किये रहे, यद्यपि यह काल उनका १६६५ के आस-पास का था, जो दूसरों के लिये प्रेरक है।

मनुष्यगत स्वभाव यह है कि विपरीत परिस्थितियाँ संगीत में भी अरुचि पैदा कर देती है, लेकिन यहाँ भी भाई जी का संगीत प्रेम का स्वभाव अद्वितीय है। मैं जब मेरठ कॉलेज में उनके शिष्यत्व में अध्ययनरत था, तब मुझे ध्यान है कि मेरठ कॉलेज की **"संस्कृत परिषद्"** को उन्होंने संगीत मय बना दिया था। वह सदैव अपने शिष्यों को इनमें संगीत माधुर्य उड़ेलने के लिये प्रेरित करने एवं मार्गदर्शन भी करते रहते थे। उनका इसके प्रति लगाव तो उस समय और भी प्रकट हो जाता है तब अध्यापन काल में यदि भूलवश कोई संगीत की चर्चा कर देता था तो वह सब कुछ छोड़कर छात्र-छात्राओं को संगीत सुनाने को कहा करते थे। कॉलेज हो या घर जहाँ भी वह अवसर देखते संगीतमृत में स्वयं को आप्लावित बना लेते थे।

संगीतप्रेम उनकी जहाँ विशेषता है वहीं साहित्यभिरुचि किसी प्रकार से उनमें कम नहीं देखी जाती है। **मुद्राराक्षस, अभिज्ञानशाकुन्तलम्** जैसे नाटकों, **साहित्यदर्पण** जैसे दुरुह काव्य की रोचक व्याख्यायें उनकी लेखन शैली की कुशलता के परिचायक हैं, वहीं अपने मार्गदर्शन में अनेकों शोध छात्रों को पी०-एच० डी० उपाधि से विभूषित कराना तथा मेरठ विश्वविद्यालय में **"संस्कृत अध्यापक परिषद्"** का रूप प्रदान करना उनकी साहित्यिक रुचि को भी पुष्ट करता है। भर्तृहरि का यह कथन **"साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः"** उनसे अछूना कैसे रह सकता था।

क्रीड़ा जगत् में भी पूज्य भाई जी को वरद प्राप्त है। हॉकी के वह अपने यौवनावस्था में सिद्धहस्त खिलाड़ी रहे हैं, गुरुकुल कुरुक्षेत्र, गुरुकुल कांगड़ी के वे दिन सदा अविस्मरणीय हैं जब भी वहाँ **"विजयोत्सव"** एवं हॉकी स्पर्द्धायें होती थीं वह मेरठ से दोनों ही संस्थाओं में हॉकी खेलने के लिये उपस्थित हो जाते थे। हॉकी के खिलाड़ियों को ड्रिबलिंग करते हुए छकाकर उनका बढ़ना, गोल करना, पास फैंकना इत्यादि दर्शकों को दाँतों तले अँगुली दबाकर रह जाने को बाध्य करता था। दूर-दूर से आयी हुयीं अच्छी से अच्छी टीमें उनकी उपस्थिति में जीतकर नहीं जा सकीं। यह अतिशयोक्त न होगी विजय सदैव उनका चरण चुम्बन करता था। हॉकी की कला को बाहर से आये हुए व्यक्ति उनसे पूछ-पूछ कर सीखा करते थे। जहाँ उनके पास मानसिक शिक्षा है वहाँ हॉकी के माध्यम से शारीरिक शिक्षा भी उनसे दूर नहीं थी। वह शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति से पूर्णतः अनुप्राणित है।

आदरणीय भाई जी की वाग्वैदग्ध्यता अद्वितीय है। जहाँ कहीं भी आर्य समाजों में या विभिन्न संस्थाओं में आपको बौद्धिक प्रवचन के लिये जब बुलाया जाता है आपकी वागमृत से श्रोतृवृन्द प्रभावित हुए बिना नहीं रहते, अपितु उन पर अविस्मरणीय एवं अमिट छाप आप छोड़ देते हैं। इसी वैदग्ध्यता का उनके शिक्षकत्व जीवन का उदाहरण देना न भूलूँगा। एक बार आप एम० ए० की कक्षा को पढ़ा रहे थे, उनमें एक विद्यार्थी अत्यन्त उपद्रवी था, जो विभिन्न प्रकार की हरकतों से अध्यापन में गतिरोध पैदा कर रहा था। भाई जी ने उसे प्रेम से बुलाकर यह कहा कि तुम इस कमरे के द्वार को बाहर से बन्द कर दो। वह ऊधमी छात्र उठा और उसने बाहर से द्वार बन्द कर दिये। ऐसा करने पर वह स्वतः कक्षा से बाहर हो गया। द्वार बन्द करने के पश्चात् उसकी समझ में आया कि इन्होंने तो मुझे अपने वाक्पाटव से कक्षा से निष्कासित कर दिया है। उसे अपनी गलती अनुभव हुयी और द्वारा पुनः खोलते हुए भाई जी से क्षमा याचना की एवं भविष्य में शरारत न करने का संकल्प व्यक्त किया। यह उनके वाक् वैदग्ध्य का और कुशल शिक्षकत्व का छोटा-सा एक उदाहरण है।

आप एक कुशल प्रशासक भी हैं। सन् १६८०-८१ में जब आपको गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार का आचार्य एवं उपकुलपति बनाया गया था, तब वहाँ की सभी विलोम परिस्थितियाँ आपके लिये

चुनौती थीं। आपने उन चुनौतियों का वरण किया। वहाँ विद्यमान असामाजिक तत्त्वों से आप जूझते रहे, गुरुकुलीय भावनानुरूप मान्यताओं को पुनः स्थापित करने का संकल्प किया। एक वर्ष के अल्पकालीन कार्यकाल में आपने अपने कुशल प्रशासकत्व में वहाँ के वातावरण को पर्याप्त अनुकूल बनाया एवं कर्मचारिगण आपके इस कौशल से प्रभावित हो सहयोगी बनने लगे। दुर्भाग्य यह कि वहाँ पर हावी कतिपय स्वार्थी एवं समाजद्रोही अधिकारी आपको अपनी आँखों की किरकिरी मानने लगे। ऐसी स्थिति में आप पुनः मेरठ कॉलेज वापिस आ गये, और यहाँ से विश्रामोपरान्त अपने इसी संकल्प को पूर्ण करने का आपका निश्चय है। आपका यह दृढ़ भाव आपके इस स्वभाव को प्रकट करता है कि—

"वह पथ क्या, पथिक कुशलता क्या, जब मार्ग में बिखरे शूल न हों।
नाविक की नाव कुशलता क्या, जब धारा ही प्रतिकूल न हो।।"

आपके दीर्घकालीन सन्निध्य में मैंने आपको नीतिकार के इस श्लोक के पूर्णतः निकट पाया है, जो अधोलिखित है—

'विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ।
सदसि वाक्पादुता युधि विक्रमः, प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।।"

समासतः प्रहासप्रिय, स्नेहदाहसहित समस्तजनों के प्रकाशक, वाक्विदग्ध, प्रखरबुद्धि, उदारमना, कुशलशिक्षक, कुशल प्रशासक, निर्भीक एवं गुणागार को अपने भाव प्रसून अर्पित करते हुए जून ८४ में मेरठ कॉलेज से विश्राम लेने वाले श्रद्धेय भाई निरूपण जी के **"अस्माकस्तु केवलः"** इस ऋग्वेद ऋचांश के साथ भावी मांगलिक जीवन यापन की कामना एवं **नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते, नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्वः"** के साथ **लेखनी को** पूर्णविराम देता हूँ।

———

प्राचार्य
शास सी० एम० डी० कॉलेज, महाराजपुर
(छतरपुर) म० प्र०

☐ डॉ० योगेश्वर देव आयुर्वेदालंकार

गङ्गा की नीलीधारा में स्नान करते-करते सम्बन्ध कैसे जुड़ जाता है, इसका विश्लेषण करना एक कठिन कार्य है। पर सम्बन्ध सूत्र जुड़ कर सब 'कुलवासी' बन जाते हैं यह एक परमसत्य है। गुरुकुल की स्मृतियों का अन्त नहीं। उनमें कुछ अति स्पष्ट है, कुछ अस्पष्ट हैं और कुछ पर समय की धूल चढ़ गई है। दूर अतीत में रखी स्मृतियों की तह में एक ऐसा स्मृति-चित्रण है, जो अभी तक अति स्पष्ट और जीवित है। हॉकी का ग्राउण्ड है, मैंने किसी से पूछा कि वह जो 'राइट–आउट' खेल रहा है उसका क्या नाम है। उत्तर मिला '**निरूपण**'। यही प्रथम परिचय है।

उसके पश्चात् समय वर्षों के पन्ने एक के ऊपर एक जोड़ता चला गया और डा० निरूपण की जीवन-धारा विविध धारों को छूती हुई बहती रही। जीवन तो सभी का बहता है, पर उसमें से ध्वनि आये, यह आवश्यक नहीं। धारायें तो बहुत बहती हैं। पर, वन को गुंजित तो वही निर्झर करता है जिसमें कलकल करने वाला जीवन हो।

स्नातक मण्डल के मन्त्री पद से लेकर गुरुकुल काँगड़ो विश्वविद्यालय के आचार्य व उपकुलपति तक को स्पर्श करने वाला जीवन कम से कम मूक नहीं कहा जा सकता। लेकिन जीवन का सबसे सफल रूप बनता है जब वह सबको आह्लादित करे। सर्वप्रियता मनुष्य की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी है। और यही उसका अभिनन्दन-ग्रन्थ है। अभिनन्दन ग्रन्थ दिया नहीं जाता यह अभिनन्दन द्वारा स्वयं जीवन की कलम से लिखा जाता है। अभिनन्दन ग्रन्थ तो मात्रा व्यक्ति के जीवन का मोटारूप है। डा० निरूपण ने अपती सर्वप्रियता को खेल के मैदान से लेकर मेरठ कालेज, मेरठ के संस्कृत विभागाध्यक्ष के पद तक जिस रूप में संभाला है वह उनकी सबसे बड़ी सफलता है। और जीवन की यह दिग्दर्शक सुई यह भी संकेत कर रही है कि भविष्य में किधर घूमेगी। उनकी यह सफलता न केवल प्रसन्नता का विषय है अपितु गौरव का भी।

—:o:—

६७० माडल टाउन

पानीपत १३२१३।

८ डॉ० राजेन्द्र आर्य आयुर्वेदालंकार

कुलमाता गुरुकुल कांगड़ी ने वैसे तो भारत मां के वक्ष को शोभित करने वाले मुक्ताहार हेतु अनेकों अमूल्य हीरों, मोतियों एवं पन्नों का विकास किया है किन्तु निरूपण की आभा वास्तव में निरूपण योग्य है।

सुन्दरता, सौम्यता, प्रसन्नता, सादगी सम्पन्नता और आत्मीयता इन पाँच आभाओं का संगम अन्यत्र कहाँ। आप संस्कृत, कुलमाता एवम् आर्य समाज के सच्चे सेवक एवं पुजारी हैं। आपका जीवन इन्हीं के सेवा शुश्रुषाओं की एक लम्बी कहानी है। सेवक के कार्य में कोई त्रुटि न रह जाये इस हेतु अपने विषय में पूर्ण दक्षता प्राप्त करना एवं उसके उच्च स्थान पर पहुँच जाना आपका लक्ष्य रहा है। इसीलिये मां सरस्वती के चरणों में बैठकर जब देवभाषा संस्कृत की सेवा की धुन सवार हुई तो विद्यालंकार, एम० ए०, साहित्यरत्न, शास्त्री एवं पी-एच० डी० की अनेकों उपाधियाँ इकट्ठी कर डालीं और भर डाला मां देवभाषा के सुन्दर माल को अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मुद्राराक्षसम्, काव्यदीपिका, साहित्यदर्पण आदि की टीकारूपी अनेकों आभूषणों से।

कुलमाता से दीक्षा लेकर उसके सच्चे एवं प्रिय पुत्र होने के नाते आपको सदैव उसको सेवा शुश्रूषा का ही ध्यान रहा। आप कई वर्षों तक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की विद्या सभा व सीनेट के सदस्य रहे। १९८० व ८१ में वहाँ के आचार्य व उपकुलपति के सर्वोच्च व गरिमामय पदों को आपने सुशोभित किया। सेवा की यह ललक केवल गुरुकुल तक ही सीमित न रही अपितु बिखेरती रही अपनी बहुमूल्य आभा को बदायूँ के श्रीकृष्ण इण्टर कालिज में वर्ष १९५० से ५४ तक हिन्दी व संस्कृत प्रवक्ता के रूप में। डी० ए० वी० कालिज अजमेर व जालन्धर में क्रमशः वर्ष १९५४–५५ व १९५५–५६ में, तदुपरांत अपने प्रदेश का प्रेम खींच लाया आपको मयराष्ट्र के श्रेष्ठ व अग्रणीय शिक्षालय मेरठ कालिज में। आप आगरा, मेरठ व कानपुर विश्वविद्यालयों की शोध समितियों के सदस्य हैं। मेरठ संस्कृत अध्यापक परिषद् के संस्थापक मन्त्री हैं।

आर्यत्व व आर्यसमाज से आपकी सदैव व स्नेह रहा है, इसलिये उसकी सेवा में भी आप भी पीछे नहीं रहे हैं। आप आर्य समाज सदर मेरठ के सुयोग्य व प्रभावी सदस्य तथा अन्तरंग सदस्य रहे हैं। एवम् बड़ी योग्यता से उसके प्रधान पद को भी निभाया है। सदर का श्रद्धानन्द शिशु विहार आपके सुयोग्य प्रबन्ध में सुचारू रूप से अग्रसर है।

आप आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के भी प्रभावी सदस्य रहे हैं। आर्य समाज के अछूतोद्धार कार्यक्रम में आपको विशेष रूचि है। यहाँ तक कि इस विषय पर आपने एक ग्रन्थ भी "प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्र साहित्य में शूद्रों की स्थिति" नाम से लिखा है, जो उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत है।

आपमें अपने कुलभ्राताओं के प्रति बड़ा स्नेह व वात्सल्य है। बड़ों के प्रति श्रद्धा व छोटों के प्रति स्नेह तथा आत्मीयता आपकी विशेषता है। मैं भी आपकी इसी कला पर बलिहारी हूँ। शायद इसीलिये स्नातकों के स्नेह के श्रेष्ठ पात्र के रूप में आप भारतीय स्नातक मण्डल के अनेको वर्षों तक मन्त्री रहे हैं।

देवभाषा संस्कृत, आर्यसमाज तथा कुलमाता की सेवा की त्रिवेणी बनकर जो मनीषि यावज्जीवन संघर्ष करता रहा उसकी सेवाओं के प्रति हम कृतज्ञ हैं। मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् का उनके सम्मान में अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का कार्य, यद्यपि उनकी सेवाओं का प्रतिफल तो नहीं

कहा जा सकता तथापि यह एक महान् व सराहनीय तथा अनुकरणीय कार्य है। इससे समाज में निस्पृह समाजसेवियों को समाज के गिरते मापदण्डों के कुसमय में एक बल व उत्साह मिलेगा, जो विचारने की एक अच्छी दिशा होगी।

आदरणीय भाई जी, जून १९८४ से आपको सेवाओं के सोभित आयाम से निस्सीम आयामों में जाना है हमारी ईश से यह प्रार्थना कि वह आपको अक्षय तथा शतवर्षी होने की शक्ति प्रदान करें ताकि आप द्वारा प्रवाहित सेवाओं की अद्‌भुत त्रिवेणी आपके भागीरथ प्रयत्नों से अनन्त वारिधि को प्राप्त हो सके।

———

३१, कनोहरलाल ट्रस्ट मार्किट
शारदा रोड,
मेरठ।

☐ श्रीमती सुमन विद्यालंकार

"भाई जी:" जैसा मैंने देखा

मेरठ कालेज मेरठ के संस्कृत विभागाध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण की वेला में भाई निरूपण विद्यालंकार के विषय में मन में जो उद्गार प्रस्फुटित हो रहे हैं उन्हें यद्यपि लेखनीबद्ध करने की मेरी सामर्थ्य नहीं तथापि बिना लिखे संभव भी नहीं।

उनके सम्पर्क में हम जब से आये हमने उन्हें सदैव उदारमना, कर्तव्यपरायण, प्रत्येक की हर सम्भव सहायता में तत्पर पाया। उनके समस्त गुणों का बखान तो नहीं किया जा सकता परन्तु कुछ ऐसी विशिष्ट बातें हैं जो बहुत कम देखने को मिलते हैं। जैसे उनका पक्षपात रहित सबके साथ एक जैसा व्यवहार। अमीर-गरीब अपने-पराये सभी के लिये हमेशा सहायता करने को तत्पर रहना, उनकी स्वयं प्रसन्न रहने तथा दूसरों को प्रसन्न रखने की कला, बड़ी से बड़ी विपत्तियों एवं कठिनाइयों में भी उनका धैर्य देखते ही बनता है। उनका घर सदैव विद्यार्थियों एवं कुलबन्धुओं के लिये अपना घर बना रहा इसी कारण उनके सन्निध्य में जो भी विद्यार्थी आये हैं वे आपको शायद ही कभी भुला सकें।

आपके जीवन का निर्माण गुरुकुलीय आदर्शों की नींव पर आधारित है। गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय के यशस्वी एवं कर्मठ स्नातकों की प्रथम श्रेणी में आपका नाम अमर रहेगा। आपने अनेक वर्षों तक स्नातक मण्डल के मन्त्री, गुरुकुल विश्वविद्यालय की विद्या सभा के सदस्य के रूप में कार्य किया। गुरुकुल से आपका सम्बन्ध एवं अगाध स्नेह इसी से परिलक्षित होता है कि विषम परिस्थितियों एवं संकटपूर्ण समय में भी स्नातक बन्धुओं के विशेष आग्रह को न टालकर, अपने पारिवारिक जीवन की भी उपेक्षा करके मेरठ कालेज से अवकाश लेकर आचार्य एवं उपकुलपति पद पर कार्य करने चले गये। यद्यपि गुरुकुल सम्बन्धी उनके सपने पूरे नहीं हुए फिर भी कुलमाता के लिये हर त्याग करने के लिये सदैव तत्पर रहते हैं।

गुरुकुल के ऐसे आदर्श स्नातक बहुत ही कम देखने को मिलते हैं जिन्होंने अपने जीवन में भी गुरुकुलीय शिक्षा दीक्षा को साकार कर दिखाया हो। आपकी प्रातः सन्ध्योपासना से शुरु होती है और रात्रि **"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"** से। आप आर्य जनों के लिये आर्यसमाज के कार्य के लिये प्रेरणा स्रोत रहे हैं। जो भी आपके सान्निध्य में आया वह आपके व्यवहार, सदाशयता, दयालुता एवं कर्तव्यपरायणता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

आपके पाण्डित्य के विषय में क्या कहूँ? उ० प्र० सरकार ने आपके शोध प्रबन्ध **"भारतीय धर्मशास्त्रों में शूद्रों की स्थिति"** को पुरस्कृत किया। आपके अध्यापन की ऐसी मनोहारी शैली है कि गूढ़ से गूढ़ विषय भी ऐसे सरल ढंग से प्रतिपादित करते हैं कि छात्रों का संस्कृत के प्रति लगाव बना रहता। अध्यापन के साथ-साथ छात्रों की सुविधा के लिये अनेक ग्रन्थों की रचना भी की।

हिन्दी में एम० ए० करने के बाद मुझे संस्कृत में एम० ए० करने की प्रेरणा विशेष रूप से दी और अपनी छत्रच्छाया में ही कार्यरूप में परिणित कराया। इसीप्रकार अनेक छात्र-छात्राओं को जो अमूल्य सहायता दी वह अनिर्वचनीय ही है। इसप्रकार भाई निरूपण जी **"उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"** की साक्षात् प्रतिकृति हैं। कोई भी विद्यार्थी उनके यहाँ से निराश नहीं लौटा होगा। हर संभव सहायता के लिये हर समय तत्पर।

इस सबके सहयोग के लिये यदि आदरणीय भाभी जी (श्रीमती यतीन्द्रा देवी) को भूल जायें तो सबसे बड़ी कृतघ्नता होगी। पारिवारिक कठिनाइयों में भी हमेशा छात्र छात्राओं को मातृवत् स्नेह एवं प्यार प्रदान करती हुई समय-असमय कुलबन्धुओं एवं अभ्यागतों का आदर सत्कार एवं सुख सुविधा का ध्यान रखना स्पृहणीय है। मित्रों परिचितों के लिये उनका घर हमेशा अपना घर बना रहता।

अन्त में इस अवसर पर परमपिता परमेश्वर से आपके शतायु एवं समृद्ध स्वस्थ सुखी जीवन की कामना करते हुए—

"देखें शत शरदों की शोभा जियें सखी सौ वर्ष।
नव जीवन में आयें सौ वसन्त के हर्ष॥"

प्राध्यापिका
कन्या गुरुकुल, देहरादून।

☐ आचार्य सत्यव्रत शास्त्री विद्याभास्कर

डा० निरूपण जी के सम्पर्क में मेरे मेरठ में दो वर्ष

ओ३म् ।। शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्-
शतमु वसन्तान् ? शतमिन्द्राग्नी सविता वृहस्पतिः'
शतायुषा हविषमं पुनर्दुः ।। —ऋक्, का० १० सूक्त १६१ म० ४

मैंने अपना सुदीर्घ लगभग ५०–६० वर्षीय (सन् १९०७–८ से १९६८ तक) अध्ययनाध्यापन काल समाप्त करके अवकाश ग्रहण किया था। उस समय मेरे सामने अपने जीवन के दो ही लक्ष्य थे। प्रथम लक्ष्य था मेरा मध्यम पुत्र चि० अश्विनी कुमार जिसने गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय से द्वितीय श्रेणी में बी० एस-सी० परीक्षा उत्तीर्ण की थी, उसे एम० एस-सी० में मेरठ कालिज में प्रविष्ट करना, द्वितीय इतने समय के लिए अर्थात् २ वर्ष के लिए मुझे आर्य समाज सदर में पौरोहित्य का कार्य मिलना। इन दोनों उद्देश्यों को मैंने अपने पूर्व-परिचय के आधार पर श्री डॉ० जी के सन्मुख प्रस्तुत किया। डा० जी से मेरा पुराना परिचय था। वे गुरुकुल विश्वविद्यालय काङ्गडी के सुयोग्यतम एवं प्रतिष्ठित स्नातक थे। आपके कनिष्ठ भ्राता स्व० स्वतन्त्र निरूपण जी आयुर्वेदालङ्कार गुरुकुल महाविद्यालय ज्वलापुर, के आयुर्वेद विभाग में आयुर्वेद के प्राध्यापक थे तभी से गुरुकुल में आपका आना जाना था उससे पहले भी आप का सम्पर्क रहता था। निरन्तर आते जाते रहते थे। और पारिवारिक सम्बन्ध रखते थे।

उसके अतिरिक्त आपका सम्पर्क मेरे परममित्र सहाध्यायी साथी गुरुपुत्र स्व० श्री डा० हरिदत्त जी शास्त्री एम० ए० (स० हिन्दी)—व्याकरण, वेदान्त आयुर्वेदाचार्य एकादशतीर्थ-मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य म० वि० ज्वालापुर के साथ भी गुरुशिष्य करा रहा इस सम्बन्ध के कारण डा० जी ने मुझ जैसे छोटे व्यक्ति को भी वही सम्मान सत्कार प्रतिष्ठिा तथा श्रद्धा प्रदान की जिसने उनकी सरलता-नम्रता-सुशीलता-प्रसन्न चिक्तता आदि अनेकानेक सद्गुणों की छाप मेरे हृदय पर सदा सर्वदा के लिये बैठा दी। इसके साथ-साथ आप सौभाग्यवश उन दिनों मेरठ कालिज मेरठ के संस्कृत विभागाध्यक्ष थे और आर्य समाज सदर के प्रधान थे। मैंने आव देखा न ताव झट अपने दोनों लक्ष्य आपकी सेवा में निःसंकोच आग्रह पूर्वक उपस्थित कर दिए। आपने अपनी प्राकृतिक सरलता व नम्रता के कारण उन दोनों को तथास्तु कहकर स्वीकार किया और मुझे मेरठ आने का निमन्त्रण दे दिया।

मैं ३ जौलाई १९६८ को मेरठ आपके घर जा पहुँचा और आपसे अपना विचार प्रकट किया। आपने दोनों कार्यों को अपनी योग्यता से, व्यवहार से बड़ी कुशलतापूर्वक पूण करा दिया और और मुझे २ वर्ष का जीवन प्रदान किया जिसका मैं सदा आभारी हूँ। प्रिय अश्विनी ने २ वर्ष में एम० एस-सी० परीक्षा बड़ी सफलता से रसायनशास्त्र में द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की और मैंने अपना निर्वाह आ० स० सदर मेरठ में २ वर्ष तक बड़ी प्रतिष्ठा और सम्मान से किया।

यह सम्पर्क और सम्बन्ध दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया। यहाँ तक कि इसने पारिवारिकता ग्रहण कर ली और आपके बच्चों का विवाहों में अन्य संस्कारों में समारोहों में दैनिक कार्यों में निरन्तर भाग लेता रहा आप भी बड़ी प्रतिष्ठा से मुझे अपने प्रत्येक कार्य में पूछते रहे। आपने इस जीवन में अनेक शोध छात्रों की और छात्राओं को अपने निर्देशन में पी-एच० डी० की उपाधि से विभूषित किया, आपने साहित्य सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखें जो बड़ी सूझ-बूझ के हैं और उच्च कोटि के हैं—जिनमें **"कालिदासीय**

अभिज्ञान शाकुन्तलम्" भी है, जो आपने मुझे सादर प्रदान किया। आपका विश्लेषण अपूर्व है, आपका कार्यकाल बड़ा गौरवशाली और अनुकरणीय रहा। आप में कार्य करने की अभूतपूर्व क्षमता एवं योग्यता है। आप में अद्रोह, नातिमानिता, अक्रोधः-त्यागधृतिः, मार्दवम्, अपैशुनम्, आदि दैवी सम्पदा के गुण अहम हमिकया प्रविष्ट हो रहे हैं। और स्वयं प्रकट होते हैं। **स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्**—यह आपका सदैव जीवल लक्ष्य रहा है। वाणी में विशेष माधुर्य है आकर्षण है। आप सरस्वती के पुजारी हैं, देववाणी के उपासक हैं। आप की अध्यक्षता में मेरठ कालिज में होने वाले संस्कृत सम्मेलनों मे मैंने भी भाग लिया है।

आप गुरुकुल विश्वविद्यालय काङ्गड़ी में भी लगभग एक वर्ष पर्यन्त उपकुलपति पद पर बड़े सम्मान पूर्वक कार्य करते रहे हैं। उस समय भी आपका मेरे साथ निरन्तर सम्पर्क आना जाना बना रहा। आपके अन्तर्गत विचारों को जानने के लिये नीति निष्णात आचार्य विष्णु शर्मा का यह श्लोक सर्वथा सार्थक है—

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मन.॥

इसके अनुसार आपके इन उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर आपके स्वभाव का, भाषण का, चेष्टा का, मधुरता का अनायास ही आभास हो जाता है।

इसी सन्दर्भ में—**अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः, परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः**। यह भी उक्ति चरितार्थ हो रही है। मेरा तो बस इतना ही छोटे मुंख बड़ी बात निवेदन है। इससे अधिक जो छात्र-छात्राएं अपके अधिक सन्निध्य सम्पर्क में अध्ययनाध्यापन काल में आपके शिष्यत्व रूप में रहे हैं जिन्होंने साक्षात् आपकी शास्त्री प्रकाण्ड विद्वत्ता का ज्ञान गरिमा का निकट से अनुभव किया है वे स्वयं प्रमाण है—मेरी तो प्रभु से केवल इतनी है प्रार्थना है—

सुखं जीव चिरं जीव भद्रं ते सर्वदा भवेत्।
श्रद्धां मेधां यशः प्रज्ञां प्राप्नुयाः शुभम् सम्पदाम्॥
"शिवास्ते पन्थानः सन्तु"

———

धामपुर, उ० प्र०

☐ शशाङ्ककुमार यादव

'मेरे पिता श्री'--'मेरे श्री गुरु'

लिखने के लिये लेखनी तो उठा ली। परन्तु आज अपने मस्तिष्क में छिपी स्मृतियों के पन्नों को बारम्बार उलट-पुलट करने पर भी समझ में नहीं आ रहा है कि आपके (डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार जी के) सम्बोधन में क्या लिखूँ ! 'पिता श्री' या 'श्री गुरु'।

ये सच है कि अपने शैशव काल की अवस्था में उच्चरित प्रथम शब्दों से पिती श्री ही कहा है। परन्तु कुछ समझ आने के बाद से आज तक स्मृतियों को पलटता हूँ तो पिता श्री और श्री गुरु के अनेकानेक रूप एक-दूसरे में गद्‌-गद्‌ होकर रह जाते हैं। परन्तु फिर भी अपने पिता श्री या श्री गुरु को जिस रूप में पाया-देखा उसी के विषय में लिख रहा हूँ।

अपने पितामह से विरासत में मिली गुरुकुलीय पद्धति में बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के कारण, पिता श्री ने मुझे भी गुरुकुलीय शिक्षा के लिये गुरुकुल कुरुक्षेत्र भेजा था। जहाँ पर मैंने पांच वर्षों तक अपने गुरुजनों के श्री चरणों में बैठकर शिक्षा की प्रथम सीढ़ी पर पैर रक्खा था। तभी से मेरी संस्कृत साहित्य में विशेष रुचि रही। जिसके फलस्वरूप बी० ए० और एम० ए० की शिक्षा पाते समय मुझे यह सौभाग्य मिला कि मैं अपने पिता श्री को श्री गुरु के रूप में देख सका और उनके श्री चरणों में बैठकर उन गुरु मन्त्रों को सीखा जिनकी आवश्यकता आज पग-पग पर मुझे ही नहीं बल्कि प्रत्येक प्राणी को पड़ती है।

शिक्षा के प्रथम सोपान से ही मैं निःस्वार्थ सेवा, परोपकार, धैर्य, कर्मयोगी, कर्तव्यनिष्ठ और सामाजिक सहिष्णुता जैसे न जाने कितने भारी भरकम शब्दों को सुनता और पढ़ता आया। परन्तु वास्तविकता के धरातल पर इन शब्दों को व्यावहारिक रूप में पाना एक दुर्लभता ही रही। कारण भी यथेष्ट हैं—समय की जिस गति के साथ हम आगे बढ़ रहे हैं, उसमें इन शब्दों की सार्थकता उसी गति के साथ हमसे पीछे छूटती जा रही है। और इस सच्चाई से हम इन्कार नहीं कर सकते कि समय की हवा इसी तरह बहती रही तो कुछ समय के पश्चात् ये शब्द सिर्फ हमारी पुस्तकों की धरोहर मात्र बनकर रह जायेंगे। लेकिन मेरी इस समझ और दृष्टि को पहला झटका सन् १९७५ में लगा।

ये १९७५ के **संस्कृत अध्यापक परिषद्** के अधिवेशन का समय था। स्थान शायद रूड़की था। जिन दिनों में यह अधिवेशन होना था। उसी के दो दिन पूर्व मेरा छोटा भाई हिमाङ्क अचानक ही गम्भीर रूप से अस्वस्थ हो गया। उसे मेरठ मेडिकल कालिज में भर्ती कराना पड़ा। स्थिति गम्भीर थी। इधर अधिवेशन का दिन भी आ पहुँचा था। मैं भाई के पास ही था। माता जी को सुबह ही घर भेजा था। तभी पिता श्री वहाँ आये। भाई की स्थिति देखी। कुछ सुधार देखकर बोले कि शशाङ्क मैं अधिवेशन में हो आऊँ। सारा कार्य मेरे ही ऊपर है। मेरे साथ इस अधिवेशन को सफल बनाने के लिये जो साथी लगे हैं, मुझे न पाकर निराश होंगे। मैं नहीं चाहता कि सफलता के इतने निकट पहुँच कर असफल होना पड़े। बस मैं गया और आया। इस स्थिति में मैं दोराहे पर खड़ा था। न हाँ कह

सका और न ना। पिता श्री प्रैस चले गये। लौट कर दूसरे दिन प्रातः मैडिकल कालिज आये और जिस समय वहाँ पहुँचे, भाई की अन्तिम विदा का समय था।

इसके उपरान्त जब और अध्यापक गण लौट कर आये तो अवाक् थे। यह क्या हुआ? बहुतों ने कहा कि डॉ० साहब आपने बताया क्यों नहीं कि स्थिति ऐसी थी। आपने कोई चर्चा भी नहीं की। और इन सब प्रश्नों के उत्तर में पिता श्री ने एक वाक्य कहा—अगर मैं स्थिति से आप लोगों को अवगत करा देता इस अधिवेशन का क्या होता। मैं नहीं जानता कि उपस्थित बन्धुओं के मानस पटल पर इन शब्दों की क्या प्रतिक्रिया हुई। हां मेरे इस कमजोर मन और मस्तिष्क में अवश्य उस समय झुँझलाहट, क्रोध, और पश्चात्ताप के भाव एक के बाद एक आ जा रहे थे। परन्तु आज जब पिता श्री के इस उत्तर की याद करता हूँ तो मन एक अजीब सी शान्ति से भर उठता है। और इसी के साथ जब याद करता हूँ उन भारी भरकम शब्दों के विषय में, तो सोचता ही रह जाता हूँ कि आज के परिवेश में, इसे समर्पण और कर्तव्यनिष्ठा की पराकाष्ठा कहूँ या ......।

और दूसरी बार, फिर से मेरे मनःमस्तिष्क में एक बार हलचल सी पैदा हो गई थी। बात सन् १९७८ की थी। हमारे पितामह अस्वस्थ थे। पिता श्री और माता जी उनके पास गाँव गये हुये थे। हम बच्चे यहीं मेरठ घर पर ही थे कि एक दिन विजेन्द्र कुमार जी घर पर आये और कहा कि डॉ० साहब से अति आवश्यक कार्य है। उनको लाने गाँव चलना है। मैं रास्ता नहीं जानता तुम हमारे साथ चलो। मैं विजेन्द्र कुमार जी के साथ गाँव को चल दिया। वहाँ जाने पर ज्ञात हुआ कि मेरे पितामह का स्वर्गवास हो गया है। सुनकर एक झटका सा लगा। विजेन्द्र कुमार जी भी स्तब्ध थे। अब क्या होगा? परन्तु विजेन्द्र जी को वहाँ आया देखकर पिताश्री ने पूछा—अरे विजेन्द्र तुम! कहो कैसे आये? विजेन्द्र जी कहें तो क्या कहें! फिर भी अपनी बात कहनी ही पड़ी। सुनकर पिता श्री दो क्षण मौन खड़े रहे, फिर तुरन्त ही बोले। ठीक है कोई बात नहीं, चिन्ता न करो। मैं तुम्हारे साथ चल रहा हूँ। विजेन्द्र जी ने इस स्थिति में उनको बहुत रोकना चाहा। परन्तु उन्हें न रुकना था, न रुके। मुझसे बोले—शशाङ्क मैं जा रहा हूँ, रात या सुबह तक लौट आऊँगा। यहाँ पूछने पर लोगों को समझा देना कि विश्वविद्यालय बुलाया गया था, सो जाना आवश्यक था। उनके जाने के बाद मैं सोचता ही रह गया कि जीवन में आज तक झूठ न बोलने का उपदेश देने वाले मेरे पिता श्री–मेरे श्री गुरु ने प्रथम बार, वो भी इस स्थिति में झूठ कहने के लिये कहा। वो भी अपने लिये नहीं, अपने एक शिष्य के लिये।

और आज अपने जीवन में मैं जब भी कभी निराशा और परेशानियों की स्थिति में अपने को घिरा पाता हूँ। ये दो घटनायें मुझे फिर से संघर्ष करने की क्षमता और धैर्य के रूप में रामबाण की उपलब्धि सिद्ध होती हैं। मनुष्य जिन्दगी को जिस जिन्दादिली का नाम देते हैं। वो जिन्दादिली मैंने अपने श्री गुरु के जीवन में ही देखी है। ये मेरा महती सौभाग्य है कि इतने धीरपुरुष का मैं पुत्र एवं शिष्य होने का गौरव पा सका। मुझे इस बात का हार्दिक दुःख है कि मैं एम० ए० संस्कृत की योग्यतापूर्ण न कर सका। अगर ऐसा होता तो शायद मुझे कुछ और सीखने का समझने का मौका मिला होता।

मैं जानता हूँ कि आज पिता श्री के अवकाश ग्रहण के अवसर पर उनके साथियों को, उनके

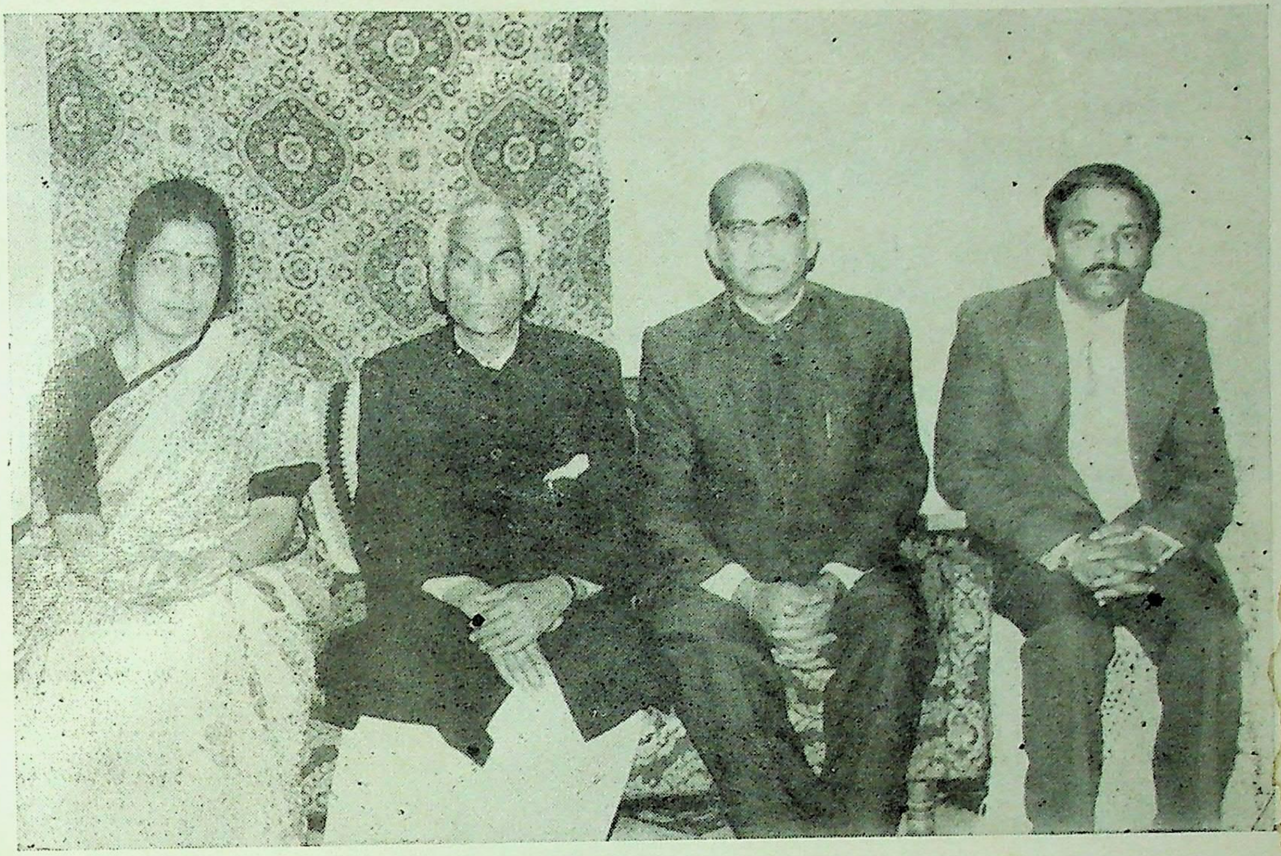
शिष्यों को, अपने साथी एवं गुरु के बिछोह का हार्दिक दुःख होगा। लेकिन सच कहूँ—मुझे हार्दिक खुशी है। कारण–सोचता हूँ कि अवकाश के इन क्षणों में, मैं अपनी उस अपूर्ण अभिलाषा को किसी सीमा तक तुष्ट कर सकूँगा। जिसकी कसक मन में रह गई कि अपने श्री गुरु के चरणों में बैठकर उनकी दीक्षा पूर्णरूपेण न पा सका। परन्तु साथ ही मन में शंका है कि समाज और विद्या को समर्पित अपने प्रत्येक क्षण में से कुछ क्षण मुझे दे सकेंगे। क्योंकि मैं तो उनका पुत्र हूँ न। वो पूर्णरूपेण मेरे हैं—मैं उनका। फिर मेरे लिये अलग से क्या। परन्तु मैं भी हठी हूँ—अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण करके ही रहूँगा। अपने श्री गुरु की जिन दीक्षाओं को, जिन आकांक्षाओं को मैं पूर्ण न कर सका। उन दीक्षाओं को आकांक्षाओं को मैं अपने पुत्रों को उनके श्री चरणों में बिठा कर साकार होते देखूंगा। जीवन के जो गुरु मन्त्र, जो दीक्षा मैं न ले सका वो मेरे बेटे अपने श्री दादा गुरु से ग्रहण करेंगे।

और अन्त में मैं इस अवसर पर अपने पिता श्री, अपने श्री गुरु के द्वारा व्यवहृत-उपदेष्ट **"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्"** के साथ अपने श्री गुरु का शत-शत करता हूँ। अलम।

—:०:—

गुढ़ा–मैनपुरी,
उ० प्र०।

संस्कृत विभाग : मेरठ कालिज



डा० (कु०) अदिति भट्टाचार्य, डा० निरूपण विद्यालङ्कार (अध्यक्ष), डा० कर्णसिंह, डा० विजेन्द्रकुमार शर्मा



डा० निरूपणविद्यालङ्कार अपने प्रकाशक श्री रतिराम शास्त्री और परिषद् के मन्त्री डा० उमाकान्त शुक्ल, के साथ।

□ नवीन कत्याल

ऐसे हैं मेरे चाचा जी

आदरणीय चाचा जी, (डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार) सम्मान से हम उन्हें इसी से सम्बोधित करते हैं, के हँसमुख, सरल और निष्कपट व्यवहार से सभी परिचित हैं। मुझे उनका आशीर्वाद लेने का प्रथम अवसर १९७० में मिला जब मैं P M. T. की परीक्षा हेतु चाचा जी के घर ठहरा था।

पूरे परिवार का प्रेम-भाव हमें उनके इतने समीप ले आया कि मुझे उन्हें अपना आदर्श मानने पर गर्व होने लगा। मैं व मेरी बहिन मेरठ कालेज में पढ़ रहे थे मगर संरक्षण चाचा जी का था।

इस परिवार में बाहर वाले व्यक्ति को भी वही सम्मान व प्यार मिलता है जो घर के सदस्यों को।

आदरणीय चाचा जी की कुछ बातें आज भी उसी तरह अंकित हैं जिस तरह १३ साल पहले—

एक बार चाचा जी अपने परिवार के साथ बाजार गये हमें भी साथ ले गये, अपने सब बच्चों के लिये उन्होंने वस्त्र खरीदे। उन्हीं के वस्त्र खरीदने हेतु वे बाजार गये थे, हम अक्समात् साथ हो लिये। हमें बड़ा आश्चर्य हुआ जब उन्होंने उतने ही वस्त्र हमारे लिये भी खरीदे जितने अपने बच्चों के लिये। हमारे मना करने के बावजूद भी वह नहीं माने। यह हमें उनकी सबके प्रति समान भावना का संदेश दे गया। हमारे मन में उनके प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो गयी इसलिये नहीं कि हमें वस्त्र मिले वरन् इसलिये कि उस व्यक्ति ने अपने बच्चों के समान हमें प्यार दिया।

यह भावना उनकी उन सबके प्रति होती थी जो उनके समीप एक बार आ जाता था।

घटनायें अनेक हैं जो मेरे ही नहीं वरन् हर उस नये आगन्तुक के मन पर एक ऐसी छाप छोड़ जाती थी कि वो भी प्रेरणा पाकर अपने समीप के व्यक्तियों से वही प्रेम-भाव दर्शाता था जो उनसे लेकर आया था। उनके कर्म में तो गीता का यह श्लोक पूर्ण चरितार्थ होता है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्"।

इसको तो मानो उन्होंने अपने जीवन की हर श्वास में बसा रखा था। इसी सन्दर्भ में मुझे वह दिन याद आता है जब हम परिवार के लिये सबसे दुःखदायी दिन था—प्रिय हिमाङ्क जिसे प्यार से सब गुड्डू कहते थे मृत्यु शैय्या पर पड़ा था। अस्पताल में डाक्टर उसे बचाने की कोशिश में थे। १७–१८ साल का वह प्यारा-प्यारा गुड्डू जिसने सबका मन मोह रखा था इस परिवार का चिराग था, हँसी था, आज अस्पताल में आखिरी साँसें गिन रहा था, मगर चाचा जी, विजेन्द्र जी के साथ शास्त्री जी के यहाँ स्मारिका के Proof का अध्ययन कर रहे थे। शास्त्री जी ने बहुत कहा कि गुड्डू की तबीयत खराब है आप जाइये मगर कार्य जो हाथ में था उसे पूर्ण करने में संलग्न थे। कहते थे जो ईश्वर की इच्छा होगी, वही होगा।

और वह अपना कार्य सम्पूर्ण करके ही अस्पताल गये। ईश्वर की इच्छा के आगे किसी का जोर नहीं चलता ईश्वर ने अपनी अमानत समय से पहले इनसे वापिस ले ली। इस हादसे से इस परिवार से

हँसी काफी समय के लिये लुप्त हो गयी। मगर चाचा जी के धैर्य और ईश्वरीय आस्था से पुनः कुछ परिवर्तन आया मगर एक अधूरापन लेकर।

ईश्वर से मेरी हमेशा यही प्रार्थना है कि इस परिवार में वही खुशी वही प्रेम-भाव हमेशा बना रहे। हर व्यक्ति इस परिवार से कुछ न कुछ प्रेरणा लेकर ही जाता था। और वह फिर आगे वही रूप औरों को देने की कोशिश करता था केवल एक व्यक्ति के प्रभाव से काफी लोगों में सबके परोपकार की भावना जन्म ले तो ऐसे व्यक्ति का जीवन धन्य हो जाता है। गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय में प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी उन्होंने अपने को अडिग रखा।

हमने कहा भी कि चाचा जी वातावरण यहाँ ठीक नहीं है आप वापिस आ जाइये मगर उनका उत्तर था **नवीन**, असत्य को दूर करने के लिये मैं कोई कसर नहीं छोड़ूँगा भले ही मुझे कुछ हो जाये।

कुछ ऐसा अद्‌भुत व्यक्तित्व है हमारे आदरणीय चाचा जी का।

ईश्वर से प्रार्थना है कि आपको स्वास्थ्य व लम्बी उम्र दे ताकि आपसे और भी नवयुवक प्रेरणा लेकर जीवन में सबके प्रति समान भावना व प्रेम का आचरण करें।

—:०:—

२, टी०, टी० प्लेस
बंगला साहिब रोड
नई दिल्ली।

□ डॉ० वीरेन्द्र शर्मा

प्रेरणा-स्रोत : डा० निरूपण विद्यालङ्कार

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता है कि श्रद्धेय गुरुवर डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार के सम्मान में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है इस ग्रन्थ के सफल सम्पादन-प्रकाशन के लिये मेरी मंगल कामनायें एवं विनम्र भावाञ्जलि ।

आज से ३ दशक से भी अधिक की बात है सन् १९५२-५४ में श्रीकृष्ण इण्टरमीडिएट कालेज बदायूँ में मुझे इण्टरमीडिएट के विद्यार्थी के रूप में निरूपण जी के सानिध्य में अध्ययन करने का सौभाग्य और सुअवसर प्राप्त हुआ था, हमारे वर्ग को वे हिन्दी और संस्कृत दोनों ही विषय पढ़ाया करते थे, उनके गहन अध्ययन और विशद ज्ञान से हम सभी विद्यार्थी चमत्कृत थे। उनके पढ़ाने की शैली बड़ी ही रोचक और प्रेरणादायक थी, अपनी सहज विनोदप्रियता और अनौपचारिक आत्मीयता के कारण वे सभी विद्यार्थियों के लिये लोकप्रिय आदर्श शिक्षक थे।

खेलों में तथा सांस्कृतिक कार्य कलापों में अभिरुचि तथा स्वस्थ स्पर्द्धा की भावना डॉ० विद्यालङ्कार के प्रेरणास्पद व्यक्तित्व का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है। वे स्वयं हॉकी के अच्छे खिलाड़ी हैं, अपनी टीम के खिलाड़ियों में विलक्षण समन्वय एवं उन्हें निरन्तर प्रोत्साहित करने की उनमें अद्भुत प्रतिभा है खेल के मैदान में निष्पक्ष निर्णय के वे सदैव पक्षधर रहे हैं। पक्षपात किये जाने पर वे खरी खोटी सुनाने में तनिक भी संकोच नहीं करते, मुझे स्मरण है कि एक बार निर्णायक के स्पष्ट पक्षपातपूर्ण व्यवहार से क्षुब्ध होकर उन्होंने पूरी टीम के साथ मैदान से बहिर्गमन कर दिया था।

बदायूं के पश्चात् डॉ० विद्यालङ्कार क्रमशः जालन्धर, अजमेर तथा मेरठ में उच्च शिक्षण संस्थाओं से सम्बद्ध रहे। यह मेरा सौभाग्य रहा है कि उनका स्नेहित सौहार्द्र तथा निर्देशन मुझे निरन्तर मिलता रहा, डॉ० विद्यालङ्कार ने जहाँ एक ओर अनेकों विद्यार्थियों को नियमित रूप से विभिन्न वर्गों में अपने विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों से उपकृत किया है, वहाँ दूसरी ओर अनेक विद्यार्थी और पाठक उनके द्वारा विरचित महत्त्वपूर्ण मानक ग्रन्थों से लाभान्वित हुये हैं।

मुझे यह कहने में परम परितोष की अनुभूति हो रही है कि मेरे जीवन-क्रम के वर्तमान स्वरूप के पीछे जो सदाशयी महानुभाव हैं उनमें डॉ० विद्यालङ्कार का प्रेरक व्यक्तित्व और आदर्श मूलभूत और प्रमुख हैं। परम पिता परमात्मा से प्रार्थना है कि डॉ० विद्यालङ्कार शतायु और चिरायु होकर साहित्य और शिक्षा की इसीप्रकार साधना करते रहें तथा अनेकानेक अपने विद्यार्थियों, पाठकों, अनुरागियों और कृपाभाजन प्रशंसों, के प्रेरणा-स्रोत बने रहें।

इस अकिंचन छात्र की विनम्र मंगल कामनायें और सहस्रशः सद्भावनायें—

———

भारतीय सहायक उच्चायुक्त,
कैंडी, श्रीलंका।

□ डॉ हरिनारायण दीक्षित

डा० निरूपण विद्यालङ्कार : वैदुष्य एवं सौजन्य के संगम

विशाल उत्तर प्रदेश में संस्कृत भाषा एवं उसके असीम वाङ्मय की रक्षा-सुरक्षा करने वाले कर्मठ संस्कृत विद्वानों में डॉक्टर निरूपण विद्यालङ्कार का परिसंख्यान बड़े ही आदर एवं उत्साह के साथ किया जाता है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में संस्कृत का अध्यापन करने वाला प्रायः प्रत्येक व्यक्ति उनके नाम से सुपरिचित है। मैं भी सौभाग्य से उन्हीं व्यक्तियों में से एक हूँ।

मुझे आपके दर्शन का साक्षात् सौभाग्य आज से तीन वर्ष पूर्व प्राप्त हुआ था। यह मेरा सौभाग्य है कि हमारे विश्वविद्यालय ने आपको शोधोपाधिसमिति (रिसर्च डिग्री कमेटी) का विशेषज्ञ मनोनीत किया है। हमारा विभाग एवं हमारा विश्वविद्यालय आपके प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता है कि आप प्रत्येक मीटिंग में पधार कर अपने अनुभवपूर्ण वैदुष्य से हमारे संस्कृत विभाग के शोधकार्य के स्तर को ऊँचा उठाने में अपना रचनात्मक सहयोग प्रदान करते हैं।

इसी बीच मैंने यह प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार में वैदुष्य और सौजन्य का सुखद संगम है। आप अपने अनुभवपूर्ण वैदुष्य से जहाँ एक ओर लोगों को ज्ञानकोश से परिचित कराते हैं, वहाँ दूसरी ओर आप इस पवित्र कार्य हेतु किसी के मान-सम्मान में जरा भी कमी नहीं आने देते। आप अपने वैदुष्य का प्रयोग सदैव दूसरों को सुख पहुँचाने के लिये ही करते हैं। चाहे शास्त्र विशेष की चर्चा हो, चाहे लोकव्यवहार की; आपकी भाषा और आपकी बोलने की शैली सदैव सूनृता ही रहती है। आप अपने वैदुष्य को दूसरों पर कभी नहीं लादते। मैंने अनुभव किया है कि आपकी विद्या वास्तव में उपकारात्मक ज्ञानार्थ है, न कि अभिमानात्मक विवादार्थ।

मेरी दृष्टि में विद्या की शोभा सज्जनता से ही होती है। क्योंकि सज्जनता ही विद्या का एकमात्र अलङ्कार है। यद्यपि विद्या भी व्यक्ति के लिये एक अलङ्कार का ही काम करती है, किन्तु यह ऐसा अलङ्कार है, जो स्वयं भी अलङ्कार्य का ही काम करती है, किन्तु यह ऐसा अलङ्कार बनती है जब यह स्वयं भी सज्जनता रूपी अलङ्कार से अलंकृत हो। मुझे यह अनुभव करके हार्दिक प्रसन्नता हुई है कि डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार की विद्या सज्जनता से भली-भाँति अलंकृत है। फलस्वरूप आपकी विद्या वास्तव में आपके लिये अलङ्कार सिद्ध हुई है और तदनुरूप ही आपके नाम के साथ जुड़ी हुई आपकी बहुव्रीहिसमासपरक "विद्यालङ्कार" की उपाधि मेरी दृष्टि में पूरी तरह सार्थक सिद्ध हुई है।

इस वर्ष मेरठविश्वविद्यालयसंस्कृतअध्यापकपरिषद् आपका अभिनन्दन कर रही है, यह जानकर मुझे असीम आनन्द मिला है। परिषद् के इस गौरवपूर्ण पवित्र कार्य की मैं भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूँ। मेरी दृष्टि में आपका अभिनन्दन करना, संस्कृत भाषा का अभिनन्दन करना है और संस्कृत वाङ्मय का अभिनन्दन करना है। अतः परिषद् को इस सारस्वतसपर्याहेतु मैं हार्दिक बधाई भी देता हूँ। इस अह्लादमय शुभ अवसर पर मेरी यह हार्दिक शुभकामना है कि डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार संस्कृत भाषा और संस्कृत वाङ्मय की उन्नति, प्रचार, प्रसार आदि अभीष्ट कार्यकलाप करते हुये उत्तरोत्तर यशस्वी होते रहें; उनके सम्मान की वृद्धि होती रहे; उनके वैदुष्य के स्वर्ण में समाई हुई सौजन्य की सुगन्धि से सभी लाभान्वित होते रहें; और संस्कृत भाषा एवं उसके वाङ्मय की सर्वाङ्गीण सेवा हेतु वे अपने परिपक्व परामर्शों से हम सब का पथ-प्रदर्शन करते रहें।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
कुमायूं विश्वविद्यालय
नैनीताल, उ० प्र०।

□ डॉ० देवीचन्द्र शर्मा

डा० निरूपण : अनेक स्मृतियों के साथ अभिनन्दन

अनवरत परिवर्तनशील इस जगत् में स्थायित्व को कभी सबल आधार प्राप्त नहीं हो सका। हर वस्तु अस्थिर है। काल की विकराल महिमा ऐहिक पदार्थों एवं विषयों को सदैव अपनी व्यंग्य भरी मुस्कान से देखती रहती है। प्रत्येक क्षण करवट बदलती संसार की यह रूप माधुरी कभी मत्तजीव को प्रसन्न कर मुखर बनाती है तो कभी अन्तर्मुखी बनाकर अनेक शंकाओं आकांक्षाओं से विकल बनाया करती है। कालचक्र सदैव गतिशील है, प्रकृति का गूढ़ रहस्य है। कभी आना अच्छा लगता है तो कभी जाना। कभी दोनों दुःख के हेतु रहते हैं। गति का भी अपना सौन्दर्य है, वैशिष्ट्य है औद्धव्यपूर्ण गति से न आना सुहाता है और न जाना। मन्द-मन्द मन्थर हंसिनी सी सुन्दर स्त्रियों की गति में आना-जाना दोनों ही प्रिय लगते हैं। परन्तु लक्ष्मी का आना दरिद्रता का जाना यह भी प्रसिद्ध है। जबकि दोनों नारी हैं। प्रियता, अप्रियता, सुख-दुःख दोनों ही व्यक्ति सापेक्ष हैं, जिसका जिसके साथ जितना लगाव (सम्बन्ध) है, उसी तारतम्य से इनकी अनुभूतियाँ होती हैं।

डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार मेरे अग्रज हैं अथवा सखा, प्रेरक मात्र हैं या गुरु, आज तक पन्द्रह वर्षों के चिर परिचय में उनको एक रूप में परिभाषित नहीं कर सका। वस्तुतः विभिन्न परिस्थितियों के परिवेश में भावानुकूल मैंने उनमें सभी उपर्युक्त सम्बन्धों की अवधारणायें पाई हैं। वस्तुतः वे माननीयों में अति मान्य हैं। विद्वत्ता के पारदृश्वा हैं, मैत्री के सार हैं। कुशल आचार्य एवं निपुण संगठक हैं। महाकवि दीपशिखा कालिदास ने 'शाकुन्तलम्' में "न हि तादृशाः आकृतिविशेषाः गुण-विरोधिनः भवन्ति:" की सारभूत कल्पना की थी। उस युग की यह मर्यादा भी रही होगी परञ्च सम्प्रति इसके अपवाद स्वरूप ही कुछ उदाहरण उपलब्ध होंगे उनमें अनन्यतम निदर्शन हैं डॉ० निरूपण जी।

डॉ० निरूपण अनेक श्रेष्ठ उपलब्धियों को संजोये अपने कार्य काल से निवृत्त हो रहे हैं। निश्चित ही पद के गुरुत्तर भार से मुक्त होकर अब वे संस्कृत जगत् की पूर्व से भी अधिक निष्ठा, तत्परता एवं लगाव के साथ सेवा करेंगे, यह हमारा विश्वास है। हम उनका समस्त सद्भावनाओं सहित हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

आज के अत्यन्त क्षुद्रवादी युग में व्यक्ति अपने कर्म को श्रद्धा एवं निष्ठा के साथ पूर्ण करके यदि विरत होता है तो यह उस व्यक्ति की सफलता ही कही जायेगी। बढ़ते की टांग खींच लेना, थपथपी देकर पतनोन्मुख कर देना आज अधिक देखा जाता है। परन्तु सन्मार्ग तथा अच्छे की प्राप्ति के लिये प्रेरणा देने वाले कम व्यक्ति मिलते हैं। डॉ० निरूपण इसके अपवाद हैं। उनका व्यक्तित्व अजस्र प्रेरणा का स्रोत है। मुझे वह दिन आज भी याद है, मेरठ विश्वविद्यालय की सत्रीय परीक्षा पद्धति के अनुसार संस्कृत के विद्वान् मूल्यांकन हेतु मेरठ में आये हुये थे। डॉ० चन्द्रकान्ता (भूतपूर्व अध्यक्षः, रघुनाथ गर्ल्स कॉलिज, मेरठ) के निवास पर कवि गोष्ठी हुई। मैं भी वहाँ उपस्थित था। अनेक कवियों ने काव्य पाठ किये। गोष्ठी उपरान्त जब चले अत्यन्त सहज भाव से निरूपण जी ने मुझसे कहा, **"शर्मा जी, आप भी कुछ लिखा करो अन्यथा मेरे जैसे रह जाओगे"**। मैंने आत्मस्फूर्ति का अनुभव किया। आज तक मैंने जो कुछ भी लिखा उस सबके पीछे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा निरूपण जी की ही है।

निरूपण जी अविश्रान्त कार्य करते हैं। जिस कार्य को प्रारम्भ किया, जब तक वह समाप्त नहीं हो जाता--अथ से इति तक चैन नहीं। काम की भी खैर नहीं। एक बार वैदिक साहित्य पाठचक्रम में उपप्रधान निरीक्षक थे। हम विभिन्न कालिज के अध्यापक तथा अध्यापिकायें उनके निर्देशन में उत्तर-पुस्तिका का परीक्षण कर रहे थे। उपप्रधान परीक्षक का कार्य अपेक्षाकृत अधिक होता था। अपनी उत्तर पुस्तिका के परीक्षण के साथ एक स्तरीय मान रखने के लिये कुछ अध्यापक, अध्यापिकाओं की उत्तर पुस्तिका को देखकर तदनुकूल निर्देश देना उपप्रधान परीक्षक का कार्य था। निरूपण जी इस कार्य में सिद्धहस्त थे परन्तु विशेषता यह थी कि अत्यन्त मनोरञ्जनात्मक वातावरण बनाये रखने के लिये बीच-बीच में चुटकियाँ लेकर अन्य अध्यापकों का मनोविनोद करते थे। उनके मनोविनोदी स्वभाव का सब आनन्द लेते थे। एक अध्यापिका उन्हें उत्तर-पुस्तिका दिखाने के लिये अपने स्थान से उठी। निरूपण जी अत्यन्त गम्भीर मुद्रा में उत्तर-पुस्तिका देखने में व्यस्त थे। एकाएक उन्होंने सिर उठाया तथा उठती हुई अध्यापिका से कहा, "**ठहरिये जी, मैं अभी काम से अभिभूत हूँ, आज काम मेरे सिर पर सवार है।**" यह सुन सब हंस पड़े। निरूपण जी कापियाँ देखते रहे।

कार्य की गुरुता एवं उसका आधिक्य शरीर को थकाने वाला नहीं होता जितना कि उसको गुरु एवं अधिक समझकर करने की प्रवृत्ति। यही प्रवृत्ति मानव को वार्धक्य का आभास कराती है। जीवन को नीरस बना देती है। निरूपण जी इस प्रवृत्ति से दूर-सुदूर हैं। उन्होंने कार्य को हँसते-हँसते करना सीखा है। कार्य की विभीषिका उनको भयभीत न कर सकी। इसीसे उनकी कार्य क्षमता बढी है। मैंने स्वयं एक के बाद एक कार्य करते हुये उनको देखा है। परन्तु कभी भी श्रान्ति उनका वरण न कर सकी। उनके साथ कार्य करता हुआ दूसरा व्यक्ति भी थकान महसूस नहीं करता है। उसका एकमात्र कारण है निरूपण जी का सरस सत्संग।

मिथ्या अहम् प्रदर्शन की प्रवृत्ति मानव सम्बन्धों में विष घोल रही है। झूठे मान एवं अपमान के भाव ने मानव मानव के बीच की गहराईयों को चौड़ा किया है। मानव मात्र की समता के उद्घोषक विरले हैं। समता की इस भावना को व्यवहार में ढालकर अद्भुत आनन्द की प्राप्ति होती है। इसप्रकार आनन्द का पूर्ण लुफ्त लेने में निरूपण जी निरूपम हैं। वे विद्वानों में विद्वान्, बड़ों में बड़े तथा छोटों में छोटे हैं। तादात्म्य की इस अवस्था में रस की अविकल अनुभूति होती है। संसार में अपने अहं को बचाकर परस्पर व्यवहार की भावना ने जीवन को दुःखद एवं दुरस्तर बना दिया है। निरूपण जी ने स्वजीवन में दुस्त्याज्य अहं को नकारा है। वे सबके हैं, उन्हें सभी अपना मानते हैं। इसप्रकार का चारुता पूर्ण व्यक्तित्व प्रत्येक के लिये सम्मान्य है।

संस्थायें बनती है ओर टूटती हैं। तुच्छ स्वार्थ की आधारशिला पर तैयार कोई महल कितने दिन रह सकता है? विचार सामंजस्य के अभाव में कोई भी संस्था कुछ समय चलकर दम तोड़ लेती है। **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** आज एक जीवन्त संस्था है उसका अपना इतिहास है, साहित्य है। अनवरत वह उन्नति के पथ पर हैं। संस्था के प्रत्येक सदस्य को इस पर गौरव है। परन्तु हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं, कि इस संस्था के आधार मेरुदण्ड डॉ० निरूपण जी हैं। उन्हीं के सपनों का यह साकार रूप है। परिषद् को सतत् गतिशील बनाये रखने के लिये निरूपण जी की दौड़-धूप से प्रत्येक सदस्य परिचित है। साहित्यिक, सांस्कृतिक आर्थिक दृष्टि से इस संस्था ने जो भी प्रगति की है, उसके योग एवं क्षेम में निरूपण जी की अहं भूमिका है। मनका की भाँति प्रत्येक सदस्य को उन्होंने संस्था से अनुस्यूत किया है। संगठन की यह विस्मयावह शक्ति उनमें द्रष्टव्य है।

मान्यता का स्वरूप बदला है। आचार्य 'सर्' हो गये, शिष्य 'स्टूडेण्ट' कहे जाने लगे, विद्यालय 'कॉलिज' हो गये, (अर्थात् समय बेकार करने के अड्डे)। मित्रों का आज 'फ्रेण्ड्स' नाम है। परन्तु

निरूपण जी आचार्य है, उनके छात्र शिष्य है। आचार्य-शिष्य की यह पावन परम्परा कुछ ही प्रोफेसर तथा स्टूडैण्ट में दर्शनीय है। अपने छात्रों के बौद्धिक, मानसिक, भौतिक विकास के लिये निरूपण जी सदैव चिन्तित रहते हैं। गुरुकुलीय परम्परा की साक्षात् प्रतिमा है। अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त अपने शिष्य को योग्य सेवा के शुभ-सुअवसर सुलभ कराने में भी वे स्वयं कम दिलदस्पी नहीं लेते हैं।

वास्तव में हेय और उपादेय के परिज्ञान रूप फल से युक्त शास्त्र ज्ञान का निश्चय कराने वाले आचार्य दुर्लभ है। जो आचार्य अपने अध्यापन मे हेयता-उपादेयता का पुट देकर शास्त्र ज्ञान कराते हैं, उन्हें ही समाज में प्रतिष्ठा मिलती है। निरूपण जी के आचार्यत्व की यही कसौटी है। अध्ययन-अध्यापन की यही पद्धति सर्वमान्य है। इसके प्रयोग का भी तरीका उनका अपना मौलिक है।

मित्रता की उन्हें सार्थक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। प्रयोजनवशात् तो सभी दूसरे के यहाँ जाते देखे जाते हैं परन्तु बिना प्रयोजन के निःस्वार्थ भाव से विशुद्ध दर्शन लाभ की आकांक्षा, कुशलक्षेम की सतत् कामना कम ही व्यक्तियों में मिलती है। निरूपण जी का प्रयोजन यदि हरिद्वार में होता है तो सहारनपुर तक पड़ने वाले अपने सभी साथियों से मिलना वे कभी नहीं भूलते हैं। निरूपणजी का मित्र समाज भी अत्यन्त विशाल है। सबके प्रति किसी भी भेद भाव से रहित उनका दृष्टिकोण समान है। हम परमपिता परमेश्वर से कामना करते हैं कि उन्हें चिरायुष्य प्रदान करें, जिससे कि संस्कृत जगत् को उनकी सेवाओं का अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके।

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग
जे० वी० जैन कॉलिज
सहारनपुर।

☐ पण्डित विष्णुकान्त शुक्ल

अभिनन्दनीय डा० निरूपण विद्यालङ्कार

साहित्य भण्डार मेरठ के संस्थापक पण्डित रतिराम शास्त्री जी ने संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन में पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है, निर्णय सागर प्रेस, चौखबा, मास्टर खिलाड़ी लाल एण्ड सन्स आदि प्रकाशन संस्थाओं ने संस्कृत के विद्वानों की सेवा की है। यही कार्य साहित्य भण्डार ने भी किया है, अबतक साहित्य भण्डार ने संस्कृत विद्वानों के द्वारा प्रणीत एवं सम्पादित अनेकानेक ग्रन्थों को प्रकाशित कर सुधीजनों के नाम से दूर दराज में बैठे हुए असंख्य जिज्ञासुओं को परिचित कराया है। ऐसे ही नामों में विद्यालङ्कार जी (जिन्हें आत्मीयजन निरूपण जी मात्र कहा करते हैं) का नाम प्रमुख है। तीस पैंतीस वर्षों से यह नाम अब तक प्रकाशित होते होते सभी के लिए सुपरिचित है, मेरे लिए चिर परिचित।

१९६२–६३ में मैं उत्तररामचरितम् का प्रूफ देखने मेरठ आया हुआ था, शिवप्रेस में पुस्तक छप रही थी और मैं वहीं रहकर प्रूफ संशोधन करता था, प्रकाशन होने के नाते शास्त्रीजी प्रायः वहाँ आते जाते थे, उन्हीं दिनों निरूपण जी को साहित्यभण्डार में एक बार बैठे देखा, थोड़ा सा परिचय हुआ। अवस्था में बड़े लोगों को अपना स्नेह बाँटने की आदत होती है, और इसी के कारण वयोवृद्ध अपने छोटों से आदर एवं सम्मान पाने के सहज अधिकारी हो जाते हैं, विद्यालङ्कार जी ने तब बड़े स्नेह से बातें की थी।

१९६५ से मेरे अग्रज डॉ० उमाकान्त जी शुक्ल, एस० डी० कालेज, मुजफ्फरनगर में संस्कृत विभाग में अध्यापन कर रहे हैं, तभी से कितनी ही बार विद्यालङ्कार जी को मेरठ विश्वविद्यालय के विशाल संस्कृत परिवार में देखा है। उनका उत्साह, कुशल संयोजन, मधुर आलाप, वैदुष्यपूर्ण टिप्पणियाँ और सबसे अधिक आत्मीयता से भरपूर उनका सात्विक स्नेह, उनके स्वभाव की सरलता और विनम्रता 'विद्या ददाति विनयम्' को चरितार्थ करती है।

संस्कृत परिषद् (मेरठ विश्वविद्यालय मेरठ) के वरिष्ठ अधिकारी (वस्तुतः सेवक) के रूप में विद्यालङ्कार जी का योगदान प्रेरणा का स्रोत है। संस्कृत के प्रचार और प्रसार के लिए उनका व्यक्तित्व पूर्णतः समर्पित है। उनके द्वारा आयोजित सस्कृत अधिवेशनों में मैंने प्रायः उन्हें प्राप्त होने वाले (अपने) सहयोगियों से तो कार्य लेना आता ही है, अपरिचितों को भी वह अपने व्यवहार से अनुकूल बनाने में दक्ष हैं।

विद्यालङ्कार जी की मेरठ विश्वविद्यालय की सेवाओं के साथ-थाथ गुरुकुल काँगड़ी की सेवाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं, उनका दृष्टिकोण सुधारवादी रहा है। इसी सुधार के कारण कभी-कभी उन्हें अनचाहें और अरुचिकर अवसर भी मिलते रहते हैं, आजकल सहारनपुर की कचहरियों में गुरुकुल के झगड़ों से सम्बन्धित मुकदमों की तारीखों पर आना पड़ता है। इसी बीच कभी कभी-उनके दर्शन मेरे निवास पर भी होने का सुयोग मुझे प्राप्त हो जाता है। थोड़े से समय में भी वे कुछ न कुछ नया [संस्कृत गद्य/पद्य] सुनकर प्रसन्न होते हैं।

लोक व्यवहार और मृदु भाषण निरूपण जी का स्वभाव है, विद्या उनका अलंकार है। अथवा विद्या के वह अलंकार हैं, सरलता उनका गुण है, स्पष्टता प्रकृति है, सरसता और सहृदयता उनका सर्वस्व है, कर्तव्य परायण अध्ययनशील, सौम्यदर्शन, और सर्वोपरि साधारण से भी साधारण, बहुत सीधे सरल और सच्चे—ऐसे हैं निरूपण जी।

उनकी संस्कृत सेवाओं के प्रति उनका हार्दिक अभिनन्दन है। सेवानिवृत्ति [सरकारी कानून से भले ही साठ वर्षों पर हो जाय, हो भी जाती है] वस्तुतः सेवक की क्षमता पर निर्भर है, वे साठे पर पाठे हैं, उनकी सेवाओं की संस्कृत जगत् को और समाज को अभी आवश्यकता है। और अपना विश्वास है विद्यालङ्कारजी किसी को निराश नहीं करते। ईश्वर से उनके शतायुष्य और स्वास्थ्य की कामना है।

———

अध्यक्ष-हिन्दी विभाग
जे० वी० जे० कालेज
सहारनपुर।

□ डॉ० रामकिशोर शर्मा

आदरणीय डॉ० विद्यालङ्कार: मेरी दृष्टि में

जीव के निवास के लिये हेतु स्वरूप तूलिका से रंग भरकर, संजोकर शरीरों का सर्जन ही स्रष्टा का नित्यकर्म है। इसी प्रवृत्ति के अनुसार सृजित पुरुष है आदरणीय डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार विधाता सज्जीभूत शरीर में गुण, कर्म एवं स्वभाव भी प्रदान करता है। इसी परिप्रेक्ष्य में विद्यालङ्कार जी को मैंने जैसा पाया वह इसप्रकार है—

परिचय—आपसे मेरा साक्षात्परिचय कम समय का ही है। दर्शन से पहिले **प्रेमनारायण पालीवाल** द्वारा आपकी निर्व्याज मनोहर स्नेहिल प्रकृति मैंने सुनी भर थी। जनवरी १९७५ में मेरठ स्थायी रूप से रहने पर आपसे सामान्य परिचय हुआ। इस बीच यथावसर शुभचिन्तक मित्रों के बीच भी आपकी चर्चा होती रहती थी। अप्रैल १९८० में एक दिन मैं व्यथित मन से आपके पास पहुँचा, आपके आत्मीयता एवं स्वानुभूतिपरक वचनामृत से मेरा अन्तःकरण निर्मल हो गया और मैं आपके पास से साह्लाद चला आया।

आगस्त १९८० में ही मैं सहसा असाध्य रोग से पीडित मैडीकल कालेज के सहृदय मनीषी **डॉ० विजयबहादुर** जी की चिकित्सा में जिन्दगी की घड़ियाँ गिन रहा था। एक रात्रि थी जिसमें लगभग ११ बजे किसी ने मेरे सिर पर हाथ फेरा जो मुझे अत्यन्त सुखद प्रतीत हुआ मैंने उत्सुकतावश आँखें खोलीं, सामने स्मितवदन खड़े थे डॉ० साहब और साथ में पीयूषवर्षी आ० डॉ० इन्दु जी।

एक सप्ताह बाद फिर संजीवनौषधि रस से मानों शिर को कोई सींच रहा हो ऐसी अनुभूति हुई, मेरी आँखें खुलीं और सामने फिर थे मुस्कराते हुये डॉ० साहब, किन्तु इस बार साथ में थीं समादरणीया भाभी जी। विद्यालङ्कार जी ने कहा कि तेरे सिर पर हाथ मैं रक्खूं या भाभी, मुझे दो समन्वित आशीर्वाद की चाह थी, मैंने दोनों ही हाथों से सुख की भावना प्रकट की और स्वास्थ्य के लिये आशीर्वाद की। यहाँ मैं यह कहना भूल ही गया कि इन दिनों आप गुरुकुल में प्रो-वाईस चान्सलर पद पर थे। आशीर्वाद के फलस्वरूप मैं स्वास्थ्य लाभ करता गया, और अगले सप्ताह फिर श्री रतिराम शास्त्री जी के साथ आप कह रहे थे अब मैं मुझे घर ही देखने आऊँगा। तभी मैं घर आ गया। अब यह सामान्य परिचय घनिष्ठता में बदल गया।

अभिभावक रूप—कालिदास को पढ़कर आपने लगता है जीवन में ढाल लिया है—शाकुन्तल में कण्व को शकुन्तला के विवाह की चिन्ता रहती थी, दत्तकपुत्र की चर्चा भी कालिदास की कृतियों में पढ़ने को मिलती है—अपने एकान्त के क्षणों में अब आपके चिन्ता का विषय है डॉ० विजेन्द्र शर्मा की सर्विस और शादी। आप कहते हैं कि मैं ये काम कर लूं तो निश्चिन्त हो जाऊँ। आपका इन कार्यों के लिये चिन्तित मन आपके अभिभावकत्व को जाहिर करता है। **"सह नौ यशः"** यह उपनिषत्कालीन धारणा के प्रपोषक भी हैं।

सुहृद् रूप—गढ़वाल विश्वविद्यालय के प्रो० डॉ० **कृष्णकुमार जी** के साथ आपकी बात-चीत

सच्चा रूप दर्शाती है, यहाँ मेरा अभिप्राय सुहृद् के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ से है। मैं सर्वत्र आपको सुष्ठु हृदय ही पाता हूँ।

सच्चे आचार्य--निरुक्त में दर्शाये गये '**आचार्यः—आचारं ग्राहयति**' इस निर्वचन के अनुरूप ही मैं आपको देखता हूँ। शिष्यों के प्रति आपका सद्भाव एवं अकृत्रिम स्नेह किसे विदित नहीं है—आजकल आपके परम ध्येय हैं शोधच्छात्रा कु० हिमानी एवं एम० ए० उत्तरार्ध का छात्र विश्रामरामविलास। इनके लक्ष्य की पूर्ति भी आपकी चिन्ता है। अथर्ववेद का यह कथन कि आचार्य शिष्य को गर्भवत् धारण करता है—"**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः**" आपके बारे में ये शब्द सच्चे लगते हैं।

स्वाध्याय तथा प्रवचन— "**स्वाध्यायान्मा प्रमदः**" ही आपका जीवन है। मध्याह्नोपरान्त विश्राम के बाद स्वाध्याय और प्रत्येक रविवार को किसी न किसी आर्यसमाज में आपका प्रवचन निर्लोभ-भाव से, आपकी इसी रुचि के द्योतक हैं।

घुमक्कड़- राहुल सांकृत्यायन के "**अथा चि तो घुमक्कड़जिज्ञासा**" इस लेख में

सैर कर दुनियाँ की गाफिल जिन्दगानी फिर कहाँ।
जिन्दगी भी गर रही तो नौजवानी फिर कहाँ॥

का मूर्तिमान् रूप आपमें प्रत्यक्ष है। मैंने अविरामदायिनी दो यात्रायें आपके साथ की हैं—पहिली लखनऊ की और दूसरी बिजनौर की। पहिली यात्रा हमने प्रातः ६ बजे आरम्भ की रात्रि के लगभग नौ बजे अभीष्ट स्थान पर पहुँचकर डेढ़ घंटे में कार्य सम्पादित कर ११ बजे फिर वापिस चल दिये और अगले दिन यहाँ आ गये। इसी तरह बिजनौर की यात्रा दिन में बारह बजे आरम्भ कर रात्रि के १२ बजे अपने आवास पर आ पहुँचे। ये यात्रायें में इसलिये बता रहाँ हूँ कि मैंने इन अवसरों पर जो विशेष अनुभूति की वह है बैठे-बैठे निद्रा पूरी कर लेना और फिर पूरी तरह चुस्त रहना, थकित न होना। हाँ, प्रायः प्रत्येक विश्राम स्थल पर पाथेय लेना भी आपको प्रिय है। मेरा अनुमान है कि आपकी यह दशा सबीज समाधि है और आपका यह जीवन्मुक्त। इस बार भी श्रद्धानन्द शिशु विहार तथा कालेज के छात्रों के साथ टूर आपकी इसी प्रवृत्ति के साक्ष्य हैं।

सन्तान और आप—सन्तान के प्रति मैंने देखा है कि "**प्राप्तेतुशोडषे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्**" मनु की इस उक्ति का अक्षरशः पालन करते हैं।

संसारी जीव—आप में उदात्त भावना देखकर लगता है कि आप माया रहित हैं किन्तु गुरुकुल कांगड़ी के मामलों में पूरी तरह संसारी जीव हैं, वे यहाँ के विवाद में और अभियोग आदि में "**न्यायालयशरणम्**" हैं, तथा अब तो आपका यही जीवन है किन्तु इन स्थानों पर भी व्यावहारिक सत्य के पक्षपाती हैं।

पत्नीभक्त—अब प्रायः चौथेपन में आकर आप "**भज सेवायाम्**" में आसक्त हैं। भाभी जी की आज्ञा के बिना द्वार से बाहर नहीं निकलते हैं, इनकी (भाभी जी) नजरें देखकर ही मन की बात व्यक्त करते हैं। भाभी जी के साथ इस बार की एक पक्षीय कानपुर यात्रा संभवतः सबसे लम्बी यात्रा रही है।

उत्सव प्रिय—उत्सव आपका प्रिय विषय है। वर्ष में विभिन्न उत्सव आप मनाते रहे हैं। किसी न किसी व्याज से अतिथियों की सेवा में भी आप प्रवृत्त रहते हैं। पिछले कुछ वर्षों से आप अभिनन्दन प्रिय भी हो गये हैं। विगत वर्षों में अद्भुत अभिनन्दनीय आपके प्रयास से अभिनन्दित होते रहे हैं। संगीत भी आपका मनोऽनुकूल व्यापार है। सुनते हैं छात्रावस्था में क्रीडाविलासी भी थे। मधुरप्रियता आपका वैशिष्ट्य है।

आपके सम्बोधन—महिलाओं के प्रति भाभी तथा अनुजों के प्रति तू-ये आपके स्नेह सम्पृक्त सम्बोधन हैं, जो अनायास ही आपकी ओर जन मानस को आकृष्ट कर लेते हैं।

शास्त्र में धर्म के तीन आधार बताये गये हैं। यज्ञ, दान और अध्ययन "**सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति**" अर्थात् इनसे पुण्यलोक प्राप्त होते हैं तथा पुरुष को परा एवं अपरा विद्या की प्राप्ति करनी चाहिये, आपने प्रायः परा को अर्जित कर लिया है। आपकी ऋजुता, विनम्रता, सत्यता, स्वाध्याय, संयम, निःस्वार्थ एवं तपोमय जीवन धर्म के स्कन्धत्रय एवं परा विद्याजन्य प्रतिफल हैं। शेष अपरा विद्या के लिये आप प्रवृत्त रहें। इस तुरीयावस्था की अभिनन्दन वेला में ईश्वर से यही प्रार्थना है।

———

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग
एन० ए० एस० कालिज
मेरठ।

डा० भीष्मदत्त शर्मा

उदार डाक्टर साहब

श्रद्धेय डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार जी से मेरा प्रथम साक्षात्कार १९५८ में हुआ। उस समय मैं एम० ए० का छात्र था। डी० जैन कालेज बडौत से बी० ए० करके जब मैं एम०ए० (संस्कृत) के लिये मेरठ कालेज में प्रवेश लेने का विचार कर रहा था तो श्रद्धेय डॉ० साहब के सम्बन्ध में अनेक लोगों से बहुत कुछ सुना और बाद में उनको वैसा ही पाया। १९५८–६० में दो वर्षों तक मुझे उनका छात्र रहने का सौभाग्य मिला—यह मैं परम पिता परमेश्वर की असीम अनुकम्पा का फल मानता हूँ क्योंकि उन जैसा सहृदय मानव कभी-कभी मिलता है। उनसे शिक्षा ग्रहण करते समय कई-एक अनुभूतियाँ ऐसी हैं जो आज उनके अभिनन्दन के अवसर पर बरबस स्मृति-पटल पर उदित हो रही हैं। हर व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है। उसकी कुछ विशेषतायें होती हैं। उन्हीं विशेषताओं से उसे स्मरण किया जाता है। डॉ० साहब में भी कुछ ऐसी विशेषताओं का मुझे अनुभव हुआ जिनकी अमिट छाप मेरे जीवन पर पड़ी।

स्नेहमयी प्रकृति

मुझे डॉ० साहब में छात्रों के लिये माँ जैसा प्यार दिखाई दिया। स्नेह, करुणा एवं दया की मूर्ति उन्हें कहना अत्युक्ति नहीं होगी। असहाय छात्र-छात्राओं की सहायता करना उनका स्वभाव बन गया। मैंने जब एम० ए० में प्रवेश लिया तो उनकी इस स्नेहमयी प्रकृति का अनेक बार अनुभव किया। बी० ए० उत्तीर्ण करने वाले छात्रों की योग्यता-सूची में मेरा नाम होने से मुझे छात्रवृत्ति स्वीकृति की सूचना तो मिल गयी थी किन्तु कालेज में उसकी विधिवत् सूचना न आने से छात्रवृत्ति मिलना प्रारम्भ नहीं हुआ था जिसके कारण मुझे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था। एक दिन मुझे उदास देखकर उन्होंने स्वयं ही पूछ लिया और तुरन्त ही कार्यालय में जाकर आवश्यक कार्यवाही कराई, जिससे कुछ दिनों बाद छात्रवृत्ति मिलनी प्रारम्भ हो गयी। इसीप्रकार अन्य अवसरों पर भी उनकी इस स्नेहमयी प्रकृति का मुझे अनुभव हुआ। उन सब अनुभवों का वर्णन करना यहाँ विस्तार भय से संभव नहीं है। सभी छात्रा-छात्राओं के साथ उनका व्यवहार ऐसा रहता था जिससे हम सभी उनका बहुत आदर करते थे।

उदारवादी दृष्टिकोण

डॉ० साहब बड़े उदारवादी विचारों के व्यक्ति हैं। उनमें सर्वधर्मसमभाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। दूसरों के विचारों, विश्वासों तथा आस्थाओं का आदर करना उनके व्यक्तित्व का मुख्य गुण है। यद्यपि डॉ० साहब आर्यसमाजी विचारों के हैं तथापि उनमें इतनी कट्टरता नहीं है कि दूसरों को अखरने लगे। एक बार उन्हीं दिनों डॉ० साहब ने मुझे बताया कि एक दिन उनके पिता जी आये और शाम को फिल्म देखने के लिये कहने लगे। मेरे सामने बड़ा धर्म संकट आ गया, कौन सी फिल्म दिखाऊँ? अन्त में पिता जी को **'जगद्गुरु शंकराचार्य'** फिल्म दिखाने ले गया। फिल्म बड़ी अच्छी लगी और जीवन में बड़ी प्रेरणादायी सिद्ध हुई। यहाँ उनका उदारवाद ही है। मैं तो सनातनधर्मी होने पर भी उनका सदैव कृपापात्र रहा। अब भी जहाँ कहीं मिल जाते हैं, बड़े स्नेह से कुशल क्षेम पूछते हैं। स्नेह, सहानुभूति एवं सहयोग में उनकी धार्मिक विचारधारा कभी बाधक नहीं होती है, ऐसा मुझे बार-बार अनुभव हुआ है।

मनोविनोदी स्वभाव

किसी व्यक्ति का मनोविनोदी स्वभाव का होना उसके जीवन में ईश्वरीय वरदान होना है। डॉ० साहब भी मनोविनोदी स्वभाव के हैं। हर समय प्रसन्न मुद्रा में रहना उनकी प्रकृति का अंग बन गया है। इतना ही नहीं वह छात्रों को भी प्रसन्न रखते हैं। अपने अध्ययन काल में मैंने उनके मुखमंडल पर कभी क्रोध, आवेश अथवा तनाव के भाव नहीं देखे। सदा उन्हें मुस्कराते हुये पाया। कक्षा में अपनी रोचक बातों से छात्रों को हसाते रहने में वह इतने सिद्ध हस्त हैं कि शिक्षण के समय मैंने कभी उनकी कक्षा में किसी को ऊबते नहीं देखा। वस्तुतः स्वयं हंसते रहना और दूसरों को हंसाते रहना डॉ० साहब के जीवन का उद्देश्य बन गया है।

आदर्श शिक्षक

अपने अध्ययन काल में मैंने इन्हें सदैव आदर्श शिक्षक के रूप में पाया। उनका शिक्षण इतना प्रभावी, सफल एवं रोचक होता है कि छात्र को पाठ के अधिगम में बिल्कुल कठिनाई नहीं होती है। जिज्ञासा-निवृत्ति अध्यापन की सफलता की प्रतीक मानी जाती है। डॉ० साहब छात्रों की जिज्ञासा को प्रोत्साहित करके बड़े शान्त स्वभाव से उसकी निवृत्ति करते हैं। शंका-समाधान में उन्हें विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। जिज्ञासु छात्र पर विशेष स्नेह का प्रदर्शन करना उनके व्यक्तित्व की महानता को प्रकट करता है। आदर्श शिक्षक केवल अपने विषय का विद्वान् मात्र ही नहीं होता है वरन् उसमें मानवीय गुणों का भंडार भी होता है। डॉ० साहब में ये दोनों विशेषतायें विद्यमान हैं। सहयोग, समन्वय, सहकारिता तथा स्नेह जैसे मानवीय गुणों की अनुभूति उनके निकट में आने वाले हर व्यक्ति को होती है। अतः एक बार जो भी उनके निकट सम्पर्क में आया वह उनका हो गया। निरभिमानपूर्वक ऊँचे से ऊँचे पद पर रहकर उन्होंने अपने छात्रों को जो स्नेह प्रदान किया है उसका उदाहरण मिलना कठिन है। गुरुकुल में उपकुलपति पद पर आसीन होने पर भी मैंने उनका पहले जैसा ही स्नेहमय व्यवहार पाया। उसी-प्रकार से घुलमिलकर बातचीत करना, वैसे ही मुस्कारते रहना और पहले जैसी आत्मीयता उनमें सदैव दिखाई दी। आदर्श शिक्षक को सबसे अधिक प्यार अपने छात्रों, उनकी उन्नति तथा विकास से होता है। अपने छात्र को उन्नत देखकर उसकी प्रसन्नता असीम हो जाती है। ये गुण डॉ० साहब में मुझे अनेक बार देखने को मिले। सचमुच उनके रूप में एक सच्चा मानव शिक्षा-जगत् को मिला है—यह हम सबके लिये गौरव की बात है।

अब जबकि वह शिक्षा-जगत् की दीर्घकालीन सेवा के उपरान्त अवकाश ग्रहण कर रहे हैं, हमारी परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना है कि उन्हें सुन्दर स्वास्थ्य, दीर्घायु तथा न थकने वाली सामर्थ्य प्राप्त हो, जिससे शिक्षा, समाज, धर्म, संस्कृति एवं राष्ट्र को उनकी अमूल्य सेवायें मिलती रहें। आज उनके हजारों छात्र-छात्राएँ जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत होकर राष्ट्रसेवा में लगे हुये हैं। उनके द्वारा तैयार किये अगणित स्नातक, अधिस्नातक, शोधविद्वान् तथा शोध उपाधिधारी उनके मार्गदर्शन की प्रतीक्षा में हैं कि कब डॉ० साहब अवकाश ग्रहण कर बृहत् जीवन क्षेत्र में प्रवेश कर हमें सन्मार्ग दिखायें। वस्तुतः सच्ची समाज सेवा का शुभारम्भ तो सेवा-निवृत्ति पर ही होता है। आओ, हम सब मिलकर इस शुभ वेला में उदारमना डा० साहब का अभिनन्दन करें और उनका शुभाशीर्वाद प्राप्त कर राष्ट्रसेवा के पुनीत कार्य में जुट जायें।

———

प्रवक्ता, शिक्षा विभाग,
एन० ए० एस० कालेज, मेरठ।

☐ डॉ० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'

निश्छल मुस्कान के धनी आचार्य निरूपण

संस्कृत एवं संस्कृति के अध्येता श्रद्धेय आचार्य श्री निरूपण के विषय में कुछ लिखना मुझ जैसे अकिंचन के लिये यों तो दुष्कर ही होना चाहिये, लेकिन आचार्य प्रवर ने स्नेहदान देकर मुझे जो शक्ति दे दी है, उसके बल पर अवश्य मैं लिख पा रहा हूँ। मेरा तो उनसे पहला परिचय ही विलक्षण रहा और उस पहले परिचय के बाद से ही मैं उनका **'प्रिय'** हो गया और वे मेरे **'श्रद्धेय'** लेकिन आज निःसंकोच लिख रहा हूँ कि आचार्य निरूपण ने अपने सहज स्वभाव के बल पर **'श्रद्धेय'** और **'प्रिय'** के बीच सागर से अन्तराल को हनुमान् की भाँति पार करके हमेशा मेरे **'श्रद्धेय'** को भी प्रिय ही बनाये रक्खा। जब-जब उनके साथ रहने का सुयोग हुआ, तब-तब मुझे यही लगा कि उनके उन्मुक्त हास्य और निर्द्वन्द्व व्यक्तित्व में अवश्य ऐसा चमत्कार है, जो उम्र के अन्तर को गला देता है। कभी लगा ही नहीं कि मुझमें और उनमें—'बाप बेटे' की उम्र का अन्तर है।

आचार्य निरूपण के और मेरे मध्य सुदृढ़ सेतु रहे मेरे अग्रजतुल्य **प्रो० सेवाराम शर्मा**, जिन्होंने शायद स्वभाव के धरातल पर **आचार्य निरूपण** को इतने गहरे जाकर देख लिया है कि मैं एक के समीप रहकर प्रायः दोनों के सान्निध्य का सुख प्राप्त करता रहा हूँ।

मैं १९७४ में गाजियाबाद से रुड़की आया, तो उलझा सा रहा। उन दिनों की उलझनों के मेरे साथी रहे **प्रो० सेवाराम शर्मा**। उसीका सुफल था कि १९७५–७६ के सत्र में जब **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत प्राध्यापक परिषद्** का अधिवेशन **बी० एस० एम० कॉलिज, रुड़की** में किया जाता तय हुआ, तो मुझे अनधिकार ही **'संस्कृत परिषद्'** का अभिन्न अंग बना लिया गया।

आज कभी-कभी सोचता हूँ, तो लगता है कि आचार्य निरूपण के साथ मेरा परिचय अगर न हुआ होता, तो क्या अपने-परायों के दंश का विष सह पाने की क्षमता मैं प्राप्त कर पाया होता ? उनके सागर से अथाह हृदय में जहाँ असीम मुक्त हास्य मैंने पाया, वहीं गंभीर क्षणों में उतना ही शान्त एवं धीर व्यक्ति भी मुझे उन्हीं में देखने को मिला है। मुझे कब-कब उन्होंने धैर्य दिया, मैं आज गिन भी नहीं पाता।

हाँ ! रुड़की अधिवेशन के समय जब **संस्कृत परिषद्** की **'स्मारिका'** छप रही थी, उस समय कैसे सहज भाव से आचार्य निरूपण ने मुझे निरुत्तर किया, मैं इसे भूल नहीं पाता। रुड़की में **प्रो० सेवाराम शर्मा** और **श्रीमती मञ्जु** ही दो संस्कृत प्राध्यापक हैं। अतः प्रस्ताव आया कि मुझे **'स्मारिका'** के सम्पादक-मण्डल में रख लिया जाये।

मैंने जब कहा कि मैं तो **'हिन्दी विभाग'** का हूँ, तो आचार्य निरूपण बोले—"**संस्कृत हिन्दी की माँ है न ?**" मैंने कहा—"**माँ ही क्यों, संस्कृत तो हिन्दी की दादी है।**" तो तपाक से वे बोल पड़े—"**तब तो अरुण जी, आप हमारे पौत्र हुये। चलिये, यह दादा का आदेश है।**" और सच मानिये, सारा संकोच पल भर में छूमन्तर हो गया। वह रुड़की अधिवेशन और तब की स्मारिका मुझे हमेशा स्मरण कराते रहते हैं कि संस्कृत ही मेरा मूल है। उस अधिवेशन के बाद से मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत प्राध्यापक परिषद् ने हमेशा मुझे निमंत्रित किया, जो आचार्य निरूपण की उदारता का ही सुफल मैं मानता रहा हूँ।

एक ऐसी दैवी विपत्ति, ऐसा भयंकर तूफान भी मैंने देखा, जिसमें बृहदाकार वटवृक्ष सरीखे

व्यक्तित्व **भी उखड़** जायें, लेकिन आचार्य निरूपण जिस रूप में '**स्थितप्रज्ञ**' रहकर उसे झेल गये, वैसा **बिरले ही** कर पाते हैं। युवा प्रतिभाशाली सुपुत्र की अकाल मृत्यु के समय हम जैसे परिवार जन रो-रोकर जहाँ बेहाल थे, वहीं अथाह धैर्य लिये वे सभी को संभाल रहे थे। मुझे तो आचार्य प्रवर को देखकर सदा '**प्राकृत**' की इस गाथा का स्मरण आता रहा है—

"वसणम्मि अणुविग्गा विहवम्मि अगव्विआ मए धीरे।
होन्ति अहिण्ण सहावा समेसु विसमेसु सप्पुरिसाः॥"

'**सत्पुरुषों**' के ये सभी लक्षण मुझे आचार्य निरूपण में मिले हैं, यह मैं निःसंकोच कह सकता हूँ।

आज जब यह लेखनी चल ही पड़ी है, तो चाहता हूँ कि आचार्य प्रवर के व्यक्तित्व की वह पहचान भी बता ही दूँ, जिसने मुझ जैसे असंख्य लोगों को मुरीद बनाया है। वह है उनकी '**निश्छल निर्मल मुस्कान**', जो हर क्षण, हर स्थिति में उनके साथ रहती है। इस निश्छल मुस्कान के तो वे भामाशाह हैं। हर दम सबको बाँटते हैं और कमाल देखिये कि यह मुस्कान कभी खत्म ही नहीं होती। और खत्म भला हो भी क्यों? यही तो वह कुबेर का खजाना है, जिसे लेकर आचार्य निरूपण अपने '**बुढ़ापे**' को बहुत दूर छोड़ पाने में सफल हो सके हैं। यह निश्छल मुस्कान उन्हें भले ही कभी बूढ़ा न होने दे, लेकिन 'संस्कृत' और 'हिन्दी' के रिश्ते से मेरे तो वे "**दादाजी**" हैं ही, इसलिये मैं उन्हें साधिकार बूढ़ा कह सकता हूँ और चरण छूने से मुझे कोई रोक नहीं सकता।

———

रीडर एवं अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)
बी० एस० एम० कॉलेज,
रुड़की २४७६६७।

□ अवनीन्द्र कुमार

विपदि धैर्यम्

जुलाई १९६५ में मेरठ कॉलिज में नियुक्ति के उपरान्त अद्यावधि डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार को मैंने सदा प्रसन्न हृदय सदय और परहितचिन्तनरत पाया। विगत १८ वर्षों में, मैंने उन्हें बहुत समीप से देखा है, बड़े प्रत्युत्पन्नमति और विनोदी डॉ० विद्यालङ्कार के लिये सम्भवतः एक ही सम्बन्ध स्वीकार्य है और वह है मित्र का। उनके ६१ वें वर्ष में पदार्पण करने पर भी यदि कोई १६ वर्ष का युवक उन्हें मिले तो वह मित्र ही होगा, और उसकी पत्नी उनकी भाभी।

व्यक्ति के जीवन में सुख-दुःख लगे ही रहते हैं, शायद यही जीवन का संसार है। लेकिन जो इन स्थितियों से प्रभावित हुये विना अपने कर्तव्य पथ पर चलते रहते हैं, सचमुच वे ही महामानव कहलाते हैं। मैंने डॉ० विद्यालङ्कार को इस कसौटी पर पर्याप्त खरा पाया। लगभग १० वर्ष पूर्व की बात है, डॉक्टर साहब के कनिष्ठ पुत्र का शरीरान्त हो गया था, मैं कुछ मित्रों के साथ उनके पास गया तो बड़े शान्त भाव से उन्होंने हमें उस बालक के बारे में बताया। लेकिन मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही जब कुछ ही क्षणों में उन्होंने एक मित्र के कथन पर बड़ी विनोद युक्त चुटकी ली। दुःख की उस चरमावस्था में भी उनकी उस विनोदप्रियता ने हमें हिलाकर रख दिया।

प्रभु उन्हें अनामय, अदीन दीर्घ जीवन दे—यही कामना है।

रीडर संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय।

☐ डा० आर० एल० वार्ष्णेय

सिद्धान्तों के पक्के और बात के धनी—डा० निरूपण

मुझे डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार के साथ कुछ समय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। वे उस समय यहाँ अध्यक्ष, संस्कृत विभाग तथा आचार्य एवं उपकुलपति थे। उनका स्वभाव ऐसा आकर्षक है कि उनके सम्पर्क में एक बार आकर लोग उन्हें भूल नहीं सकते। वे बादाम की तरह हैं—ऊपर से कठोर परन्तु अन्दर से गिरी की तरह कोमल तथा गुणकारी। हास्य में उनकी तुलना साहित्य में शेक्सपीयर के कुछ हास्य पात्रों से की जा सकती है। उनका हास्य अत्यन्त शिष्ट, व्यंग्य से मुक्त, कटुता से दूर, सुसंस्कृत और मनोहारी होता है। उनके साथ कोई आदमी कभी भी 'बोर' महसूस नहीं कर सकता। वे अपने सिद्धान्तों के पक्के और बात के धनी हैं।

यदि एक बात कह दी तो पत्थर की लकीर की तरह होती है। वे सच्चे अर्थों में 'आर्य' हैं। अनुशासन प्रियता, पावन जीवन, त्याग, परदुःखकातरता, मानव मात्र के प्रति प्रेम, दुःख-सुख को समान समझने की तत्परता, कठिन परिश्रम, स्वाध्याय, ईमानदारी तथा अनेक ऐसे ही गुण उन्होंने सदैव संजोने का प्रयास किया है।

श्री निरूपण जी अपनी युवावस्था में हॉकी के बहुत अच्छे खिलाड़ी रहे है। अतः जीवन को भी उन्होंने खिलाड़ी की तरह जीना सीखा है। पराजय वे मानते नहीं। पराजित होने के बाद पुनः-पुनः प्रयत्न करना ही उनका जीवन-दर्शन है। वे बाहर और अन्दर से एक समान, निर्भीक और स्वाभिमानी व्यक्तित्व वाले हैं।

———

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

□ सुदर्शन मलहोत्रा

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के मान्य उपकुलपति

डॉ० निरूपण जी विद्यालङ्कार से मेरा प्रथम परिचय १९६६ में गुरुकुल के वार्षिकोत्सव के अवसर पर स्नातकों की बैठक में हुआ था। मैंने उसी वर्ष गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से एम० ए० हिन्दी की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। डॉ० निरूपण जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में १९८०-८१ के वर्ष में आचार्य एवं उपकुलपति के पद पर कार्यरत थे। इस एक वर्ष में डॉ० निरूपण जी को निकट से देखने का अवसर मिला। आप गुरुकुल कांगड़ी के उन स्नातकों में से हैं जिन्होंने इस विश्वविद्यालय में १२ वर्षों तक रह कर शिक्षा ग्रहण की ह। आपके जीवन में गुरुकुलीयता कूट-कूट कर भरी हुई है। अपने राष्ट्र, अपनी राष्ट्रीय भाषा से पूर्ण स्नेह और गुरुकुल के आदर्शों को जीवन में लाना मैंने आप में देखा है। आपकी करनी और कथनी में कोई अन्तर नहीं है। जिसप्रकार विद्यार्थी जीवन में अपने सभी कार्य नियम पूर्वक करते थे, उसीप्रकार आज भी आपकी दिनचर्या है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के उच्च अधिकारियों ने आपको इस विश्वविद्यालय का कुलपति बनाने की योजना से जुलाई १९८० में यहाँ का उपकुलपति बनाया था। किन्तु डॉ० निरुपण जी ने पद के लोभ में न आकर यहाँ के कुलपति द्वारा गुरुकुल में अनियमित कार्य करने का डट कर विरोध किया। यह जानते हुये भी कि कार्यपरिषद् एवं शिष्ट परिषद् में कुलपति के पक्षधर ही बैठे हैं, उनमें सही को सही तथा गलत को गलत कहने का साहस नहीं है, डॉ० निरूपण जी ने अपनी सही व तर्कपूर्ण अकाट्य बातों को रखने में संकोच नहीं किया।

मुझे स्मरण है कि २२ दिसम्बर १९८० को विश्वविद्यालय में संस्कृत प्राध्यापक की नियुक्ति हेतु साक्षात्कार होता था और डॉ० निरूपण जी उस साक्षात्कार समिति के सदस्य थे। उस दिन विषय विशेषज्ञ महोदय नहीं आ सके। विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय ने उसी समय गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय के ही अवकाश प्राप्त उपकुलपति को विषय विशेषज्ञ नियुक्त कर दिया, जबकि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के ही कुछ स्नातक उक्त पद के उम्मीदवार भी थे। कुलपति महोदय ने साक्षात्कार कर लिया, किन्तु डॉ० निरूपण जी ने उस साक्षात्कार का बहिष्कार किया। इतना ही नहीं तो फिर कुलपति द्वारा विश्वविद्यालय में हो रही अनियमितताओं से शिष्ट-परिषद् के सभी सदस्य महानुभावों को अपने एक परिपत्र द्वारा अवगत कराया। आज के युग में प्रायः व्यक्ति अपने स्वार्थ को पहिले देखता है, संस्था अथवा समाज का हित गौण रहता है। किन्तु डॉ० निरूपण जी ने गुरुकुल कांगड़ी में रहते हुये अपने स्वार्थवश गुरुकुल के अपमान के साथ समझौता नहीं किया।

संस्कृत गोष्ठियों के आयोजन हेतु आप किसप्रकार भाग दौड़ करते हैं, मैंने प्रत्यक्ष देखा है। दूर-दूर के कालेजों में कार्यरत संस्कृत प्राध्यापकों से उनके निवास अथवा कॉलेजों में जाकर मिलना। कार्यक्रमों में भाग लेने के लिये उनको प्रोत्साहित करना आपका अथक प्रयत्न रहता है। डॉ० निरूपण जी का स्वभाव ऐसा है कि जो भी व्यक्ति आपके सम्पर्क में आता है, वह यही अनुभव करता है कि डॉ० निरूपण जी मेरे आन्तरिक व्यक्ति हैं। मेरे प्रति बहुत स्नेह रखते हैं। कॉलेजों, एवं विश्वविद्यालयों में होने वाली संगोष्ठियों के आयोजनों में प्रमुखता रहते हुये वे प्रायः अपने लिये बहुत ही त्याग एवं संयम से काम लेते हैं। संस्कृत और भारतीयता के प्रति यह उनकी आस्था सदैव प्रशंसनीय और अनु-करणीय रहती है।

डॉ० निरूपण जी की सरल वेश भूषा, परिहास-प्रिय बातचीत और दुर्नीतियों से समझौता न करने की दृढ़ भावना आपके उज्ज्वल व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। मेरठ कॉलेज में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष के नाते आपकी ख्याति तो है पर इसके साथ ही वहाँ के सामाजिक वातावरण में आप छाये रहते हैं।

यदि शिक्षण संस्थाओं में डॉ० निरूपण जी जैसे शालीन व्यक्तियों का बहुमत हो जाये तो शिक्षण संस्थाओं के बहुत से कलह अपने आप ही समाप्त हो जाएँ। क्योंकि प्रशासन में अतुल योगदान के साथ-साथ प्रशासित लोगों के प्रति आपकी गहरी सहानुभूति आपके उज्ज्वल व्यक्तित्व की पूजनीय प्रतिमा है।

डॉ० निरूपण जी बहुत ही कुशल एवं विनोदी उपाध्याय हैं। अध्यापन के साथ-साथ छात्रों के लिये सरस्वती यात्राओं की व्यवस्था करना आपका प्रमुख उद्यम रहता है। हमने छात्रों की विविध प्रकार की जानकारी से योग्यता नलिनी का निकास होता है। इसप्रकार डॉ० निरूपण जी की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में उनके उदात्त जीवन की झाँकी प्राप्त करते हैं।

ऐसे योग्य आचार्य, कुशल प्रशासक और महनीय मानव के प्रति अपना अभिनन्दन प्रस्तुत करते हुये मुझे अतीव हर्ष और संतोष का अनुभव होता है। ईश्वर इनको और शक्ति तथा अभिनन्दन योग्य आयु दे जिससे छात्रों और विद्वानों का वे और भी अधिक कल्याण कर सकें।

———

कनखल
हरिद्वार।

डॉ० (कु०) सुषमा

सरलता एवं निश्छलता की जीती जागती मूर्ति मेरे गुरुवर

स्वभाव में कबीर की सी फक्कड़ता, उद्देश्य में आकाश की सी ऊँचाई और संकल्प में महर्षि दयानन्द की दृढ़ता का संगम देखना हो तो डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार का सान्निध्य प्राप्त करें।

सरलता, निश्छलता, कर्मठता, सज्जनता, शिष्टता, सौहार्द्र, स्नेह, अध्यवसाय एवं संयम उनके व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषतायें हैं। वे सहृदयता के सरोवर हैं, रस के सागर हैं, विनोदप्रियता का खजाना है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि वस्तुतः व्यक्तित्व वही है, जिसकी छाप हृदय पर अमिट हो जाये। गुरुवर्य के सान्निध्य का प्रत्येक क्षण मेरे लिये तो एक पावन संस्मरण ही है। मैं आपकी सरल-प्रकृति तथा विनोदप्रियता की वशवर्ती हूँ। सात्त्विक-वृत्ति, मृदु एवं सरल स्वभाव, वाणीमाधुर्य तथा वाक् पटुता आपके सहज स्वाभाविक गुण हैं।

आप निष्ठावान् सफल प्राध्यापक हैं। आप वास्तव में ही विद्या के अलङ्कार हैं। यथा नाम तथा गुण की उक्ति आप पर पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है। आपका जीवन एक महाकाव्य है, जिसके प्रत्येक पृष्ठ से सरलता, स्नेह, क्षमा एवं कष्ट-सहिष्णुता की प्रेरणा मिलती है। अपने मन में कभी किसी बड़प्पन की कल्पना किये बिना सर्वत्र पारस्परिक मनमुटाव को दूर कर बन्धुत्व एवं आत्मीयता का वातावरण तैयार करना सदैव आपके जीवन का लक्ष्य रहा है। आपकी वाणी में ऐसी मधुरता है कि सहसा ही सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर आप अधिकार जमा लेते हैं। जब कभी सौभाग्य से हमारे घर आते हैं, तो आपका मधुर-स्वभाव परिचित अथवा अपरिचित सभी को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।

आप अपनी लगन एवं धुन के धनी हैं। जिस कार्य को हाथ में लेते हैं, उसमें जी-जान से जुट जाते हैं और उसे सम्पन्न करने में पूरी शक्ति लगा देते हैं। मेरठ विश्वविद्यालय में 'संस्कृत अध्यापक परिषद्' की स्थापना तथा प्रतिवर्ष सम्पन्न होने वाले अधिवेशनों में आपका सक्रिय योगदान आपकी कार्य के प्रति लगन का जीता जागता उदाहरण है। आप काम लेना और काम करना दोनों कलाओं में कुशल हैं।

आपके विचारों में उदारता, दृष्टिकोण में व्यापकता तथा आचार-विचार में शुद्धता सहज ही ज्ञात होती है। आपकी सहृदयता एवं सज्जनता के सम्बन्ध में एक-दो छोटी-छोटी घटनायें याद आ रही हैं, जिनके वर्णन का लोभ-संवरण नहीं कर पा रही हूँ। आपके कुशल-निर्देशन में शोध-कार्यारम्भ के अपने प्रवास-काल में मैं अपनी एक मित्र के यहाँ ठहरा करती थी। एक दिन पूज्य गुरुवर घूमते हुये उस स्थान पर पहुँच गये। उनकी पैनी दृष्टि से उस घर का घुटन-भरा वातावरण छिपा न रह सका। अगले ही दिन आपने सहजभाव से पूछ लिया कि मैं उस वातावरण में कैसे रह रही हूँ? निवास-सम्बन्धी विवशता बतलाने पर आप सहजभाव से कह उठे 'यहाँ आ जाओ, इसे अपना ही घर समझो'। मैंने भी गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर वैसा ही किया। तदनन्तर निकट सम्पर्क में रहकर मैंने हमेशा यह महसूस किया कि आपके घर में कोई नवागन्तुक भी अपने को अपरिचित सा अनुभव नहीं करता। सारा परिवार यथायोग्य स्नेह एवं आदर प्रदान करता है। मैं आपके अगाध स्नेह को कभी नहीं भुला सकती।

परम आदरणीया भाभी जी (गुरु-पत्नी) ने मुझे जो असीम प्यार दिया है, वह शब्दातीत है। उनका मेरे प्रति अत्यधिक स्नेह देखकर पूज्य गुरुवर अपनी वाक्पटुता एवं विनोदप्रियता के वशीभूत

होकर एक दिन सहसा यह पूछे बिना न रह सके—'सुषमा, तुमने मेरी श्रीमती जी को क्या रिश्वत दी है, जिसके कारण वह तुम्हें इतना अधिक प्यार करती हैं। मैंने इतना अधिक प्यार इनसे किसीको भी पाते नहीं देखा है।'

भीषण आपत्ति-काल में भी क्या मजाल जो आपके चेहरे पर दुःख की लेशमात्र शिकन की रेखा भी दिखाई देती हो। एक बार आपका मध्यम सुपुत्र विक्रमांक आसाम मेल से गिर जाने के कारण दुर्घटनाग्रस्त हो गया। रात्रि में सूचना आने पर आपने बड़े धैर्य से काम लिया। प्रातः एक डाक्टर की व्यवस्था कर उनके साथ अलीगढ़ के लिये प्रस्थान कर दिया। उस क्षण आपके अडिग धैर्य, साहस और सूझ-बूझ को देखकर मैं स्तम्भित रह गई। वस्तुतः आपका जीवन गीतोक्त स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की साक्षात् झाँकी है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ गीता २/५६

एक सच्चे दार्शनिक की तरह आपके जीवन का सिद्धान्त है **'नैराश्य परमं सुखम्।'** यह सिद्धान्त-वाक्यांश उनकी प्रत्येक पुस्तक तथा दैनन्दिनी के प्रथम पृष्ठ पर लिखा हुआ मिलता है। यही कारण है कि वह जीवन की वास्तविकताओं का डट कर सामना करने से नहीं चूकते। निराश होना तो आपने सीखा ही नहीं है। आप यत्र-तत्र सर्वत्र अपने मृदुल स्वभाव के कारण प्रसन्नता बिखेरते रहते हैं। आपमें ज्ञान और गरिमा, विद्या और विनय, निष्ठा और तत्परता का मणिकाञ्चनसंयोग है। आपके जीवन पर प्रस्तुत उक्तिं चरितार्थ होती है—

जीवन का उद्देश्य नहीं है श्रान्त-भवन में टिक जाना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं॥

डॉ० निरूपण संस्कृत साहित्य के जागरूक विद्वान् हैं। आपके कुशल निर्देशन में अनेक शोध-विद्यार्थियों ने संस्कृत-शोध-क्षेत्र के विविध विषयों पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आप लोकप्रिय प्राध्यापक हैं।

आर्यसमाज की महान् सेवाओं के कारण आर्यसमाज में भी आपका उच्च स्थान है। 'आर्य' शब्द का अर्थ ही है श्रेष्ठ, आपमें श्रेष्ठता के सब गुण विद्यमान हैं।

मनुष्य वेशभूषा से नहीं गुणों और कर्मों से महान् बनता है। संयमी, परिश्रमी, सत्यनिष्ठ, सरल, निश्छल तथा दृढतायुक्त आपका जीवन मेरे लिये हमेशा प्रेरणा देता रहेगा। ऐसे उदारमना विद्यालङ्कार रूप निरूपण विद्यालङ्कार जी के व्यक्तित्व को अभिनन्दन-ग्रन्थ के गिने-चुने पृष्ठों की सीमित परिधि में बांधना निश्चय ही एक दुष्कर कार्य है। उनका अभिनन्दन वस्तुतः संस्कृत भाषा एवं साहित्य का ही अभिनन्दन है। ज्ञान-गरिमा, अनुसंधान-साधना एवं कुशल-अध्यापन का अभिनन्दन है।

हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता की भाँति श्रद्धेय गुरु के गुणों का कहाँ तक बखान करूँ। ईश्वर से एकमात्र यही मंगलमयी मनोकामना है कि वे कर्मठ, संस्कृत-भाषा-मर्मज्ञ तथा समाज-सेवी आपको संस्कृत भाषा के प्रचार एवं प्रसार के लिये दीर्घायु प्रदान करें, ऐसी कामना करती हुई मैं अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करती हूँ।

प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
एस० डी० कॉलिज,
मुजफ्फरनगर।

□ वासुदेव आर्य शास्त्री

भाई निरूपण जी : शतशः अभिनन्दन

सन् १९५७ की बात है । मैं एम० ए० उत्तरार्द्ध (संस्कृत) की परीक्षा देने व्यावर (सी० स्टेट–अजमेर) से मेरठ आया । परीक्षा से दो मास पूर्व आकर देखा कि सन् १९४७ के गुरुकुल कुरुक्षेत्र के सहाध्यायी मित्र भूदेव (महाराष्ट्र) तथा दिवाकर (उत्तरप्रदेश) भी यहीं हैं । इन दोनों मित्रों से ज्ञात हुआ कि गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक, श्री निरूपण जी विद्यालङ्कार इसी सत्र में मेरठ कॉलिज में संस्कृत-विभाग में प्रोफेसर नियुक्त हो गये हैं । बस, ऐसा लगा मानों डूबते को तिनके का सहारा मिल गया । मित्रों ने परिचय कराया और बस उनका परिवार अपना परिवार हो गया । इतना ही नहीं अपनी कुलभूमि विद्याविहार गुरुकुल कुरुक्षेत्र की अनेक स्मृतियाँ स्मृति-पटल पर अङ्कित हो गईं ।

भाई निरूपण जी के जैसे-जैसे निकट आया वैसे-वैसे अनुभव किया कि वे कितने उदारमना, सच्चे सहायक तथा अहेतुक हितचिन्तक हैं । उनका घर तो हम साथियों के लिये जैसे अपना ही घर था । चाहे जब बिना सूचना दिये भोजन के समय उनके घर पहुँच जाना और वहाँ साधिकार भोजन पाना जैसे हमारा प्रतिदिन का क्रम था । देखा जाये तो यह हमारी धृष्टता ही थी किन्तु इस दुस्साहस को प्रोत्साहन मिला स्नेह और ममता की प्रतिमूर्ति श्रीमती निरूपण जी से । श्रीमती निरूपण जी ने हमें जो स्नेह दिया वह तो वाङ्मनसोरगोचरः है । वे ही ऐसा सम्पर्क-सूत्र थीं कि हम निस्संकोच भाई जी के घर पहुँच जाते थे । भाभी जी का हृदय तो वस्तुतः सागर से भी गहरा था और आज भी है ।

हम जब भी निरूपण जी के घर गये तो पाया कि भाईजी अध्ययन में संलग्न हैं । उस समय उन्होंने हमें एक सूत्र दिया कि सदा कुछ न कुछ अध्ययन करते रहना चाहिये और यदि कक्षा में अध्यापन हेतु जाना हो, तब तो पूरी तैयारी के साथ ही जाना चाहिये । २७ वर्ष के दीर्घ अध्यापन-काल में उनके इस सूत्र ने सदा पाथेय का काम दिया ।

भाईजी जी की एक असाधारण विशेषता है । गुरुकुल में पढ़ा हुआ कोई भी मिल जाये, कहीं भी मिल जाये और कभी भी मिल जाये, वे उसके साथ अपनी साधिकार पारिवारिकता मानकर पूर्णतः अनौपचारिक हो जाते हैं । वे स्वयं जितने अनौपचारिक हैं, उतनी ही अनौपचारिकता की अपेक्षा वे दूसरों से भी करते हैं । औपचारिकता और निरूपण जी दोनों परस्पर उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव हैं । सन् १९५७ से सन् १९८४ तक २७ वर्ष की लम्बी अवधि में मेरी उनसे दो चार बार ही भेंट हुई होगी किन्तु जब भी मिला तब ऐसा ही लगा कि यह भेंट तो मानों नित्यप्रति का क्रम है ।

ऐसी आत्मीयता, स्नेह, स्वजनता, गरिमा, प्रसन्नवदनता, सौजन्य और जिन्दादिली की प्रतिमूर्ति हैं भाई जी निरूपण जी । मेरठ कॉलिज से उनके निरापद रूप से सेवानिवृत्ति के अवसर पर उनका शतशः अभिनन्दन तथा स्वस्थ एवं सुखद भविष्य की मंगलकामना है ।

सेवानिवृत्त संस्कृत विभागाध्यक्ष,
सनातन धर्म राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
ब्यावर, राजस्थान ।

□ कु० अनुराधा माहेश्वरी

डा० निरूपण जी--एक अनुकरणीय व्यक्तित्व

जिसप्रकार माली अपने उद्यान के प्रत्येक पुष्प की उचित देखभाल करता है, ठीक उसीप्रकार डा० साहब भी अपने शिष्य-समूह का संवर्धन एवं पोषण करते हैं, इसमें कोई संन्देह नहीं। जैसे माली केवल अपनी ही वाटिका के नहीं अपितु किसी भी स्थान के कुसुम को देखकर प्रफुल्लित हो जाता है, वैसे ही डा० साहब भी न केवल अपने विद्यालय के वरन् संसार के किसी भी कोने से आये हुये विद्या ग्रहण करने के इच्छुक व्यक्ति को देखकर प्रसन्न होते हैं, उससे घनिष्ठता रखते हैं और समय-समय पर उसका मार्गदर्शन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। हाल ही में (१९८२ में) दक्षिण-अफ्रीका से विद्या-ग्रहण-हेतु आये हुये श्री विश्राम रामविलास इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

अपरिचित व्यक्ति भी डा० साहब के तेजस्वी मुख-कमल की झलकमात्र से उनकी विद्वता, गौरव तथा प्रभावशालिता का परिचय सहज ही पा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रसन्नता तो मानों उनके मुख पर सदैव नृत्य करती है। जहाँ तक मेरी बात है, लगभग सात वर्ष से मेरा उनसे परिचय है और पिछले तीन वर्षों से तो मैं उनके सम्पर्क में बहुत अधिक रही हूँ किन्तु मुझे एक भी ऐसा दिन याद नहीं जब वे क्रोधित हुये हों। अपनी बात को हमेशा हंसी-हंसी में सरल तथा सीधे रूप में हृदयंगम करा देते हैं।

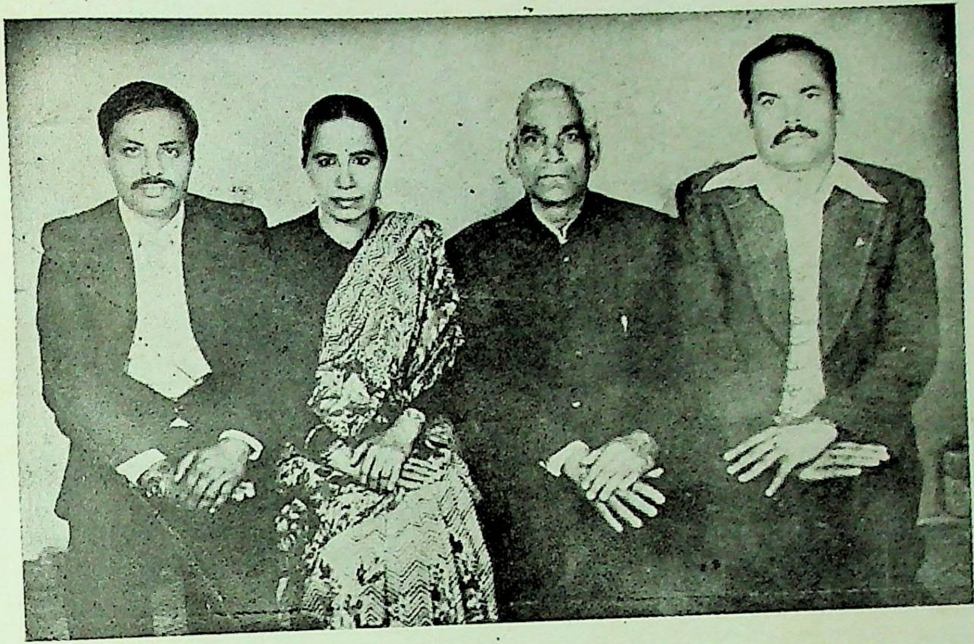
सौम्य मूर्ति और सरस प्रकृति डा० साहब मेरे गुरु होने के साथ ही साथ मेरे "शिक्षक-पिता" भी हैं—इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। वस्तुतः उनका व्यक्तित्व अपने समग्र रूप में हम सभी के लिये अनुकरणीय है। उनकी प्रतिभा के विषय में तो मैं सिर्फ इतना ही कहूँगी—

मैं एक अब्र का टुकड़ा, कहां-कहां बरसूं।
मुझे तमाम दश्त ही प्यासा दिखाई देता है॥

———

३५४, लालदास की सराय
मेरठ।

डा० निरूपण विद्यालङ्कार अपने शोधच्छात्रों के साथ



ड० विजेन्द्र कुमार शर्मा, डा० (कु०) सुषमा अरोड़ा,
डा० निरूपण विद्यालङ्कार और डा० राजेन्द्र शास्त्री

डा० निरूपण विद्यालङ्कार अपने विदेशी शिष्यों के साथ



कु० हिमानी कौल, डा० निरूपण विद्यालङ्कार, विश्राम रामविलास (द० अफ्रीका छात्र)

☐ B. Ram Bilas

The Star that made Meerut My Destiny

Whenever I have mentioned in canversation that I have come to meerut to study Sankrit, the inevitable question that arose was "Why Meerut ?" The question is understandable considering the fact that India is jewelled with such great and famous centres of learning like Varanasi, Haridwar, Madras, Delhi, Kurukshetra etc.

The answer to this question is in the main my tribute to Dr. Nirupan Vidyalankar and other great scholars of his calibre who have dedicated themselves to the Vaidik Dharma and the Sanskrit Language. The institution that he graduated from as Vidyalankar-Gurukul Kangri, Haridwar has not only beautified India but countries outside India as well with 'Alankaras' that grace to sweetness of Sanskrit.

The Indian Community in South Africa is a very blessed one in that it enjoyed till recently the services of two such prominent scholars Pt. Nardev Vedalankar and Pt. Arunkumar Vedalankar. Pt. Nardevji has beeome well known in all those countries espectially the ones outside India, where there is a branch of the Arya Samaj. He has written many books and compiled various religious publications and pamphlets. A series of Elementary Religious examinations based on simply written prescribed texts has become very popular not only in South Africa but abroad in such countries as Fiji, Mauritius, England and British Guiana. The course consists of a concise study of all the scriptures, philosophies, Epics, saints, poets, in short every rele ant aspect pertaining to Hinduism.

Pt. Arunkumarji, who is now late. was my revered Guru and lecturer in the Department of Sanskrit at the University of Durban-Westville in south Africa. He assumed duty in 1979 when I was in my final year of study for the B. A. degree. He took a keen interest in me because of my avid interest in Sanskrit. I completed my B. A. and was granted special permission by the University Council to do the combined Honours course in Hindi and Sanskrit. This I completed over two years part-time (19 0—1981) and being impressed with my progress. Pt. Arunkumarji and rofessor Zanxenberg (Head of Department of Sanskrit) recommended to the University Council that they send me on a scholarship to do my M. A. in Sanskrit.

It is well known that South Africa and India do not share the best of political relations and this presented certain defficulties. I was therefore asked to select either the University of Pensylvania or the University of Utrecht. I shall forever be greatful to Pt. Arunkumarji who took a lot of trouble to impress upon the authorities concerned that India would be most condusive for the study of Sanskrit and that I would very easily get all the necessary plus additional tutorship. particularly in the Grammar ofSanskrit. The matter was agreed upon with great reluctance by the University and this began a desperate last minute attempt to get me admitted at an Indian University.

It was then that I first heard the name Meerut, because Meerut College

happens to be the well-fated institution which has as its Head of the Sanskrit Department, Dr. Nirupan Vidyalankar. Pt. Harishankar Vedalankar who lives in Agra, was our correspondent in India and I was to have chosen one of five Universities suggested by him—Meerut, Delhi, Agra, Varanasi or Chandigarh. Pt. Arun kumarji recommended Meerut strongly because of Dr. Nirupanji. When I arrived in Agra, I was informed by Pt. Harishankar that of the various people he had contacted he received the keenest co-operation from Dr. Nirupan and therefore also recommended Meerut.

Having heard so much about Dr. Nirupanji, I decided to meet him personally and finalise Meerut as my choice. I may mention at this juncture that my wife and child were with me as an extra benefit of the scholarship and that my mother had also accompanied me. It was for this reason that I needed some one who would be prepar d to help me settle down properly to my life and study in India. With some hesitation, some uncertainty, and a lot of hope I set out for Meerut from Agra by bus on Friday 12 August 1982 at 6·00 am and arrived at Meerut at 12·00 noon.

When the bus did stop I was not even sure whether I had reached Meerut or not, A very benevolent person, realising we were strangers, got us a rickshawalla who know the where abouts of address I had brought along with me and thus I arrived at Parnacuti, 7 0 Nehru Road. I was very apologetic at having arrived a full bundle of problems and having landed myself entroupe on him but Dr. Nirupanii being the warm hearted and divine soul he is, put me at ease immediately. He took upon himself all the responsibilities of finding me accomodation, getting me a tutor in Hindi and Sanskrit, arranging Music lessons, in short he has been a father to me and my family.

I am nearing the end of my studies in India and hope to successfully complete my M. A. (final) examination in may. It seems a fated coincidence that my completion of M. A, and Dr. Nirupanji's retirement will occur simultaneously. My stay in India has been a very fulfilling experience. I have also visited India from Kashmir to Kanya Kumari during the summer vacation.

In conclusion, I humbly thank Dr. Nirupanji for all that he has done not only for me but for every student that has been blessed with the boon of his tutorship. Besides being an outstanding scholar of Sanskrit his jovial character and fatherly relationship with the students leave an indellible impression on each of his student's college life. His retirement will be showered with the richest bliss because he will, as has always been his desire, dedicate himself to the further propogation of the Vaidik harma. As appreciation for all that I have attained under his guidance, I place my every effort and sincerest devotion to Sanskrit at his lotus feet.

———

Deptt. of Sanskrit
University of Durban Westville,
urban, South Africa.

□ **M. L. Agarwal**

आज के संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य डा० निरूपण विद्यालँकार से मेरी भेट एवं परिचय पैंतीस वर्ष पूर्व सनातन धर्म डिग्री कालेज, कानपुर के क्षात्रावास के प्रांगण में हुआ था। बन्धु निरूपण गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार से स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद साहित्यिक जगत् में प्रवेश करने हेतु स्नातकोत्तर परीक्षा देकर यह सिद्ध करना चाहते थे कि वे एक तपे हुये स्वर्ण हैं। मुझे तो ऐसा आभास हुआ कि उन्हें केवल इस व्यावहारिक जगत् में सामाजिक विभूति एवं सिद्धहस्त बनने के लिये सुगन्ध की ही आवश्यकता थी। अन्यथा वे तो सवर्था परिपूर्ण ही थे।

वास्तव में उनके हमारे क्षात्रावास में आते ही हमारा सारा वातावरण उनके सदाचार से महक उठा। सुगन्धित वातावरण से हम सब भी महक उठे। उनके स्नेह युक्त आचरण, प्रतिभाशाली, सरल एवं उत्साही व्यक्तित्व ने जो अमिट छाप मुझ पर छोड़ी उसका वर्णन नितान्त दुर्लभ है। दुःख में भी सुख तथा कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी स्थिरचित्त एवं प्रसन्नचित्त रहना मैंने उनसे ही सीखा।

सदाचारी निरूपण के आचरण की मौन भाषा अत्यन्त शक्तिशालो सार्थक एवं प्रभावशाली थी। चुपचाप रहकर भी निरूपण जी हमें जो प्रेरणा एवं सदुपदेश देते थे उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। वास्तव में सदाचरण की भाषा ही ईश्वरीय एवं अलौकिक है तथा उसका प्रभाव सीधा हमारे हृदय पर होता है। उनकी निश्छल एवं निष्कपट प्रकृति ने जो हमें **"सादा जीवन उच्च विचार"** का अमूल्य संदेश दिया वह सदैव अविस्मरणीय रहेगा।

जीवनयापन के लिये मैं तथा निरूपण जी विद्याध्ययन समाप्त करके अलग अलग पथों के पथिक बने। मुझे प्रशासनिक कार्य करने के लिये ईश्वरीय निर्देश मिला तथा उन्होंने चरित्र निर्माण एवं व्यक्तित्व को सुधारने सम्हालने तथा निखारने का उत्तरदायित्व सँभाला। सौभाग्यवश हम दोनों सन् १९४९ में कानपुर महाविद्यालय छोड़ने के बाद शीघ्र ही बदायूँ में आ मिले। कितनी प्रसन्नता हुई थी उस दिन जब निरूपण जी ने मेरे घर आकर मुझे हृदय से लगा लिया था। मुझे ऐसा लगा था जैसे कि कोई बहुमूल्य सम्पदा ही मिल गई। मैं तो कुछ समय बाद फिर भाग्यवश प्रदेश के सुदूर पूर्वाञ्चल को स्थानान्तरण होकर चला गया किन्तु मुझे भाई निरूपण का भ्रातृ-प्रेम एवं सहज स्नेह मिलता ही रहा। प्रेम ही तो हृदय की भाषा है। शब्द हृदय पर इतना प्रभाव नहीं डालते जितना शब्दहीन स्नेह युक्त व्यवहार। चाहे कितने समय बाद भी भेंट क्यों न हो यही आभास होता था कि उनका स्नेह तो समय के साथ साथ उज्ज्वलतर एवं निखरता ही जा रहा था। सदैव ही वे सपरिवार मेरे लिये तो अपने सरल एवं विशुद्ध स्नेह को संजोये ही रहते थे।

स्वार्थ एवं अहंकार तो बन्धु निरूपण को छू तक नहीं पाया है। उन्होंने शरीर एवं मन दोनों में जो सन्तुलन बनाये रखा वह न केवल सराहनीय है बल्कि अनुकरणीय है। उनके जीवन में भौतिक एवं मानसिक प्रगति का अद्भुत संतुलन रहा जिसके कारण उन्हें सुख एवं संतोष की कमी न रही। उन्होंने मानसिक सुख को ही सुख माना तथा स्थूल शारीरिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर भाव भरे सुन्दर मनोजगत् का सृजन किया।

संस्कृति जीवन रूपी वृक्ष का सुन्दर पुष्प है। जैसे वृक्ष की चरम उपलब्धि पुष्प के रूप में प्रकट होती है वैसे ही बन्धु निरूपण की श्रेष्ठ उपलब्धि भी उनके द्वारा रचित संस्कृत ग्रन्थों में व्यक्त हुई। वास्तव में उन्होंने जो कुछ भी ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में प्राप्त किया उसकी सम्पूर्ण आभा एवं शोभा उनके ग्रन्थों से प्रस्फुटित होती है। इनके सभी ग्रन्थों में उनकी शुद्ध एवं पवित्रात्मा का आनन्दभाव व्याप्त है। संक्षेप में, प्रिय बन्धु निरूपण एक महान् साहित्यकार ही नहीं मेरे एक सहृदय मित्र, मार्गदर्शक तथा दार्शनि सिद्ध हुये है।

"बन्धु निरूपण तुम जीओ हजारों साल
और
साल के दिन हो पचास हजार"

आई० ए० एस० (रिटायर्ड)
बरेली।

☐ डॉ० रणजीत शर्मा

सुन्दर शरीर, व्यक्तित्व अमीर--डा० निरूपण

मझला कद, गदबदा बदन, गौरता लिये गन्दमी रंग, रखते सबकी खबर, विहंसते अधर, सरल वचन, सुन्दर दशन, सीधी सरल आँखों पर शुचिता का पहरा, हंसमुख चेहरा, अमिट-प्रभाव, सौम्य-स्वभाव, पहनावा परदेशी, खाना पूर्ण स्वदेशी, आनन्दी आहार, विनोदी व्यवहार, मद और मोह के चमचमाते, तदपि उजालों से अंधियारे गलियारों में घुमाते, भ्रमाते राज-पथ की राह छोड़, सीधी सरल पुनीत पग-डण्डियों से चलते हुये जीवन की यात्रा को संतोषदा और सुखदा बनाये रखने में दक्ष, पुरुष की पशुता को उघाड़ने, उभारने और उकसाने को आतुर, स्वार्थ से बचते-बचाते हुये, पक्ष और सपक्ष को तरजीह देते हुये भी विपक्ष को साथ लेते हुये चलने में सुदक्ष, अन्तरात्मा की आवाज से संचालित होते हुये भी अनुशासन से बंधे हुये, ऋजुता और मृदुता एवं विनम्रता और सुधी-शुद्धता के चौराहे, नये-पुराने के दो राहे, आबाल वृद्धों को टेक, अपने और पराये सभी को नेक, नराकार को देखते ही, क्षेत्रस्थ हर कोई शरीर, गरीब हो या अमीर, विशेषकर आर्य विचारों का परिवार और संस्कृतज्ञ-संसार, यूं ही सहज स्वभाव से कह उठेगा, आ रहे या जा रहे हैं डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार।

जीवन का यह हाल, दोस्त दुःखी हो बेहाल, जब-तब बिदक से गये, साथी दो कदम चले फिर बिछुड़ से गये, जवानी जवाब दे गई, जीविका भी जी चुरा गई, दुनियादारी दुबक गई, साहिबी सुबक गई, स्वास्थ्य भी शरमा गया, कहीं कांटा न चुभ जाय और आहट से किसी की धड़कनों में घबराहट न बढ़ जाय, शायद यही सोच स्वाभाविक सहज-सहज गति से संभाल कर कदम रखते हुये, अपना मग नापते हुये, पग बढ़ाते हुये पद भी सिर झुकाये, बिदा मांगने दरवाजे पर आ गया और आगमन-सूचक दस्तक भी दे गया पर जूडो और करांटे के करतबों में पटु, स्वाद में तिक्त और कटु, कष्ट और दुष्ट इन दोनों भाइयों ने भूलकर भी डॉ निरूपण का पिण्ड न छोड़ा। मौसम गरम रहा हो या सर्द, उठते-बैठते, सोते-जागते हर वक्त छाये रहे इर्द गिर्द, बनकर हमदर्द। मौके-बेमौके कष्टों ने इन्हें कभी अकेला न छोड़ा; दुष्टों ने कभी अपनी कथनी और करनी में इनसे अनजान में भी मुंह न मोड़ा। **"जहाँ जाइएगा, वहीं पाइएगा"** जैसे दोनों भाइयों का अमोघ-मोक्ष-मन्त्र बन गया या यह उनके जीवन का अव्याज मनोहर और अव्यर्थ मीठा-मीठा **"मोटो"** बन गया।

हठीले, अनचाहे अपने इन दोनों दोस्तों को यदि डॉ निरूपण ने कभी झांसा भी देना चाहा है, तो भी जिन्दगी में मिले, आए या बने स्वयं सहचर कष्ट और दुष्ट इतने भोले कभी नहीं रहे कि—बहकावे या भुलावे में आकर झांसों के झांसे में फंस जांय अथवा कहीं धोखा खा जायें। न कष्ट ही कटे, न पास से कभी दुष्ट ही हटे, बल्कि उलटा हुआ यह कि जिन्दगी में आये वसन्तों में ही नहीं, जीवन के पतझड़ और झंझावातों में भी आगे-पीछे सदा तंग रहे डटे; भले ही डॉ० निरूपण या उनके अपने जीवन की किताब के कुछ पन्ने हो गये कटे फटे।

चहेतों का अगल-बगल रह जाना-स्वयं में कोई बड़ी बात नहीं।
और चहेतों द्वारा सूंघा-सराहा जाना भी-कोई बड़ी बिसात नहीं॥

पर—निन्दकों का निकट रख पाना, बसाना, निभाना स्वयं में वैसी ही टेढ़ी खीर है जैसे स्वयं टाटरी से दूध फाड़ बनाना छेना और पनीर है। डॉ निरूपण ने इन्हें बसाया और निभाया ही नहीं बल्कि समय पर अपने ही आंगन में उनके लिये छावा भी शायद इसलिये छवाते रहे हैं कि जिससे जिन्दगी में आई—शीत-लहर—में भी उनकी कृपा की कोर से बिना पानी और साबुन—अर्जेण्ट-ड्राई-क्लीन—हो स्वभाव की सब साधनायें स्वच्छ, सरल और निर्मल होती रहें और प्रैस की भभकी की गरमी से सिकुड़न सी सलवटें मिटती रहें, क्योंकि जिन्दगी मात्र एक शिकन रूमाल की नहीं अथवा गलती से बनी या बनायी केवल किसी की रखैल नहीं। वह परिमल सी महक उठे, अंगारे सी दहक उठे, प्रभाती में खग-कुल सी कलरव करती हुई चहक उठे, बोल उठे एवं किसलय के आञ्चल सी इठलाती, लहराती, बलखाती डोल उठे।

कहना कठिन है–जंगम जग का गरल गले उतार कर भी डॉ निरूपण कितने मधुमय और सरलो हैं। वैसे जग का तीव्र हलाहल पीकर स्वयं शिव बनना सीखा है, सराहा है, चाहा है। वासना-विष क अमृत में बदल पिया है, पिलाया है तथा पीना और पिलाना सिखाना भी चाहा है क्योंकि हर मौसम में सदा मधु-बहार बिखराने वाला यह पेय आपका प्रिय रहा है।

परम्पराओं की घास खाते रहना, इनका प्रिय भक्ष्य नहीं।
शान्त-भवन में टिक रहना, इनके जीवन का लक्ष्य नहीं।।

सेवा निवृत्तता निकट है पर यह तो जिन्दगी का मात्र एक पड़ाव है, जीवन-चर्या का केवल कोरा मुडाव है। यह पड़ाव या मुड़ाव एक सफर की सही सलामत "**इति**" का शुभ आगमन है और एक सफर के "**अथ**", का पुण्य पदार्पण है क्योंकि—

"जुस्तजू हो तो सफर खत्म कहाँ होता है?
यूँ तों हर मोड़ पर मञ्जिल का गुमां होता है।।"

डॉ० निरूपण की निर्देशन-दिशा के तथ्यमय सत्य का यह खुला सबूत है कि पी–एच० डी (विद्या-वाचस्पति) उपाधिधारी अनेक सौरभ-सुमन अपनी सौरभ से जहाँ स्वयं सुरभित हो रहे हैं, वहीं अपने निर्देशक के निर्देशन की गौरव-गाथा और कीर्ति-लता को विलसाते हुये किसी से पीछे नहीं रह या हो पा रहे हैं, अथवा एक अर्थ में यत्र-तत्र पहुँचे हुये प्रशस्ति-पत्र मय जीते-जागते शिलालेख बने इन्हींके आलेख हैं। इन वाक्यों का लेखक स्वयं इनके शोध-निर्देश का एक प्रसाद है।

अनेक शोधार्थियों को अपना प्रेरणामय प्रसाद वितरित कर सुविधा और साधनों के अभाव की चपल-बालिका चिन्ता से नजात दिला उन्हें आगे की ओर बढ़ावा देने में दक्ष, डॉ० निरूपण ने प्रेरणा-प्रसाद का प्रकृष्ट-दान देने में कभी कंजूसी बरती हो, ऐसा कोई प्रसङ्ग याद नहीं पड़ता।

अनेक शोध-गोष्ठियाँ, समीक्षायें और शोध-पत्र सर्वत्र आपकी सारस्वत-सपर्या की चर्चा की अर्चा कर रहे हैं। शूद्रों की स्थिति जैसे युग-धर्म के लक्ष्य-बिन्दुओं को छूते हुये ज्वलन्त समस्या का नेत्रोन्मीलन आपकी लेखनी का, तपः पूत सारस्वत-सपर्या का पुण्यप्रद प्रसाद है। जहाँ पुरातन वाङ्मय के आप मर्मज्ञ हैं, वहीं आप आधुनिक साहित्य की समीक्षा के सुवाच्य और सशक्त हस्ताक्षर हैं।

मिलन-सारिता ने—अहम्मन्यता से दूर, उदारता से भरपूर डॉ निरूपण की संयोजन योजना और क्षमता को, इतना बढ़ावा दिया है कि जो काम समय और पैसा चाहता हो, दोनों की कमी जाहिर होते हुये भी, खेलने वाली स्थिति से दूर रखते हुये, उस काम को आनन-फानन में ऐसे संयोजित कर दिया जैसे

सब कुछ सामान्य रूप में ही हो गया हो। अतिरिक्त कुछ न करना पड़ा हो। ऐसी कार्य-परता आप जैसे जागरूक संयोजक की जागरूकता के जागरण का ही उजागर रूप है।

जिन्दा-दिल जज्बात और पते की बात, कहने-सुनने को मजबूर पर दुलकाव और दुराव से दूर, मन्त्री और अध्यक्ष के अनुरूप, संस्कृत-परिषद् के संयोजनों में आपके संयोजन और रख-रखाव प्रथम पंक्ति में बैठते और बैठाये जाते समय कभी किसीसे पीछे नहीं रहे हैं। सब ओर सन्तुलन को संजोये परिषद् और पत्रिका को जा प्रगति और गति दी और दिलायी है वह स्वयं में एक कथनी और करनी बन गई है और उसी प्रगति और गति के लिये व्यवहृत डॉ० निरूपण की कुदाल-कर्म सी कठोर कार्य-परता और तत्परता उनकी गतिशीलता और प्रगतिवादिता की सही सुमरनी बन गई हैं। अस्तु—

स्वीकार्य हो हे हर्षित-वदन।
नमन-अभिनन्दन-वन्दन ॥

———

देवनागरी डिग्री कॉलेज,
गुलावठी, बुलन्दशहर २४५४०८।

□ यतीन्द्र राही

"अंजुरी भर फूल, झोली भर मुस्कानें और छप्पर फाड़ कर बरसते अट्टहास"

निरूपण जी मेरे चचा, मित्र, बहनोई अन्तरंग, सहृदय श्रोता और बेबाक समीक्षक–अनेक सम्बन्ध सूत्रों से गुथे रहे हैं। फिर दूरियों की लम्बी खाइयाँ, वे मेरठ में और मैं हरसूद मध्य प्रदेश में। किन्तु दो दूरस्थ कूलों को स्नेह की अन्तःप्रवाहिनी सलिला सदैव जोड़े रही। वर्षों में कभी-कभी घण्टे दो घण्टे दिन दो दिन के लिये हम मिलते भी रहे वैसे ही जैसे सागर के वक्ष पर तैरते तिनके। क्षण दो क्षण में—कुछ अपनी कुछ उनकी, कुछ कविता कुछ मुक्त अट्टहास—जैसे बर्फ की शिलायें टूट रही हों। हृदय की ऋतु बदलते सानिध्य के क्षण स्मरण और दूरियाँ को भरने की तड़प वैसा ही जोड़े है आज भी **निरूपण** और **राही** को।

संस्मरणों के पर्त दर पर्त पर पड़े अतीत के झीने आवरण खोलता हूँ जब—ज़िन्दगी नयी हो जाती है, चहकता बचपन लौट आता है। याद आता है—निरूपण जी गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार के छात्र थे और मैं गाँव की माध्यमिक शाला का प्रारम्भिक छात्र। अवकाश में वे मेरे गाँव भारौल (उनके पूज्य पिताजी की ननिहाल) आया करते थे। शाम को हम लोग बाग में घूमने जाते। निश्चित समय होते ही वे किसी विटप के नीचे, किसी कुंज में सन्ध्या वन्दन को बैठ जाते–ध्यानमग्न। मुझे और निरूपण जी के ज्येष्ठ भ्राता सत्यनिरूपण जी (जो आजकल प्राचार्य हैं) को शैतानी सूझती, हम दोनों उनके सिर पर हाथ फैंकाकर वरदायिनी मुद्रा में कहते—

"हम तुमसे प्रसन्न हुये वत्स, जो इच्छा हो वर माँगो" ॥

किन्तु ध्यानस्थ निरूपण में न कोई विकार न परिवर्तन कभी प्रतिवाद भी नहीं किया गया। होश ही कहाँ होता था उन्हें हमारी उस अशिष्टता को देखने का। आज लगता है क्या हमारी वह प्रवृत्ति यज्ञ विध्वंसक राक्षसों वाली नहीं थी?

शादी हुई तब शायद निरूपण जी स्नातक बन चुके थे। हम लोग जो अब रिश्ते में उनके साले थे—उन्हें घेर लेते, उनसे मज़ाक करते; किन्तु निरूपण थे, अवाक् से हमें सुनते, जैसे—हम कोई फ्रेंच या लैटिन बोल रहे हों, हम कहते—**"निरे बुद्धू हैं"**। बाद में जाना–तब वे कितने निश्छल; सामाजिक विकारों से कितने ऊपर और कितने पवित्र थे। उनकी जिन्दगी की खुली किताब जिसे भी पढ़ने का अवसर मिला है निश्चित ही उस पावनता से आज भी अभिभूत हुआ है।

बचपन के कोमल मधुर सूत्रों में बँधे निरूपण जी आज भी छुट्टियों के कुछ क्षण निश्चित ही हमारे गाँव को देते हैं। समवयस्क उनके सान्निध्य, उनके उन्मुक्त हास्य के लिये, वयोवृद्ध उनसे प्राप्त चरणस्पर्श के लिये जैसे तृषित हों। फिर बरसती हैं मुक्त कंठ से प्रशंसायें, झोलियाँ भर आशीष सुमन। मेरी स्मृति में किसी रिश्तेदार को, किसी दामाद को गाँव का इतना प्यार इतना दुलार और इतना आशीर्वाद नहीं मिला। कितने ही लोगों के लिये हो सकता है वह ईर्ष्या का विषय भी रहे हों पर इसके लिये बेचारे निरूपण क्या करें। उन्होंने दोनों हाथ प्यार बोया है, श्रद्धा बाँटी है। बदले में कुछ मिलेगा। ऐसी अपेक्षा न उन्होंने कभी की और न वे जानते हैं।

एक बड़ा अच्छा प्रसंग याद आता है। बात पचपन की है। मैं आगरा कालेज में एम० ए० प्रथम वर्ष का छात्र था और निरूपण जी मेरठ कालेज में व्याख्याता बन चुके थे। गर्मी की छुट्टी में वे मेरे गाँव

यानी अपनी ससुराल आये हुये थे। शाम को हम लोग घूमते हुये मिडिल स्कूल के वॉलीबाल ग्राउण्ड पर पहुँचे। खेलने के शौकीन थे मैदान में उतर गये। एक गेम ओव्हर हुआ था। हम लोग ग्राउण्ड बदल रहे थे, उन्होंने मुझे एक तरफ बुला कर धीरे से पूछा—

"यतीन्द्र, ये बुजुर्ग सज्जन जो कुर्सी पर बैठे खेल देख रहे है, कौन हैं ?

मैंने कहा—"यहाँ के मिडिल स्कूल के प्रधानाध्यापक गुप्ता जी"

"रामस्वरूप गुप्ता" ?

मैंने कहा—"हाँ" !

मैंने देखा तेजी से लपकते निरूपण जी गुप्ता जी के चरणों में थे। हड़बड़ाने से गुप्ता खड़े थे—

"मैंने तुम्हें पहचाना नहीं बेटा !"

"मैं शान्ति निरूपण हूँ, गुढ़ा का, आपका शिष्य !"

"बाबूसिंह जी के मझले चिरञ्जीव ? शान्ती ??"

'जी !" श्रद्धावनत छोटा सा उत्तर।

"आप तो गुरुकुल में थे ? अब कहाँ हो ??"

"आपके आशीर्वाद से मेरठ कॉलेज में संस्कृत का प्राध्यापक।"

भाव विह्वल थे गुप्ता जी, छाती से चिपके थे निरूपण और गालों पर ढलक रहे थे आँसू। देखने योग्य थी श्रद्धा की मन्दाकिनी और शिष्यात् इच्छेत् पराजयम् का सुख।

क्या भूलूँ और क्या याद करूँ। लगता है वह सब बीते कल ही की तो बात है। और आज निरूपण जी सेवानिवृत्ति की तैयारी में हैं। अवस्थायें क्या इतनी जल्दी चुक जाती हैं ? मंजिल की नियति तो वही मेरी भी है बस कुछ माह बाद यानी दिसम्बर ८४ में।

अँजुरी भर फूल, झोली भर मुस्कानें और छप्पर फाड़कर बरसते अट्टहास—इन्हीं प्रदान और आदानों में गुथी बुनी सम्बन्धों की चादर, सोचता हूँ—कहीं मैली तो नहीं कर ली मैंने ? इसी के साथ प्यार का एक प्रसून तुम्हें और !

—:o:—

हरसूद
जिला खंडवा (म० प्र०)।

□ प्रो० कप्तानसिंह

निःस्वार्थसेवी गुरुप्रवर

दिसम्बर १६७० की बात है। उस समय मैं आदर्श कृष्ण महाविद्यालय शिकोहाबाद का बी० ए० उत्तरार्द्ध का छात्र था। मैं किसी कार्यवश अपने पूज्य गुरुवर्य डॉ० रामसिंह जी यादव के घर गया था। वहाँ एक प्रभावशाली, विश्वसनीय तथा देवरूप व्यक्तित्व को देखकर सहसा द्वार पर ही ठिठक गया। सानुमति प्रविष्ट होने पर ज्ञात हुआ कि आप मेरठ कालेज, मेरठ के संस्कृत-विभाग के रीडर तथा अध्यक्ष डॉ० निरूपण जी विद्यालङ्कार हैं। आदरणीय डॉ० राम सिंह जी द्वारा एक परिश्रमी एवं प्रतिभावान् छात्र के रूप में उपन्यस्त मुझे माननीय डाक्टर साहब सहज भाव से पूछने लगे—"तुम्हारी हाईस्कूल में कौन सी श्रेणी थी ? इण्टर किस श्रेणी में पास किया ? बी० ए० पूर्वार्द्ध में कितने प्रतिशत अंक प्राप्त किये ? तुम कहाँ के रहने वाले हो ? पिता जी क्या करते हैं ?" आदि-आदि। जिस आत्मीयता के साथ प्रोफेसर जी ने मेरा परिचय लिया, उसे मैं 'मूक के रस' के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकता हूँ। बस, यही शोभन घड़ी थी जिसके कारण मैं आपके शिष्यत्व की गरिमा को प्राप्त करने में समर्थ हुआ।

आदरणीय डाक्टर साहब के सान्निध्य को छोड़कर अपने निवास-स्थान के प्रति गमन करता हुआ मैं वर्तमान को विस्मृत कर भविष्य के लिये चिन्तित हो रहा था। सम्प्रति मेरे समक्ष एक ही विचारणीय प्रश्न था कि एम० ए० किस विषय में करना चाहिये। इस ऊहापोह के कारण उस दिन मैं दैनिक क्रम से अध्ययन भी न कर सका। अभी तक भूगोल में एम० ए० करने का जो विचार बना था वह अब अरुणोदय के समय अन्धकार के समान शनैः शनैः तिरोहित होता जा रहा था। अगले दिन पूज्यपाद डॉ० रामसिंह जी यादव के साथ विचार-विमर्श कर यह निश्चय कर लिया कि एम० ए० संस्कृत में करना है।

जून १६७० की वर्धमान तिथियों के साथ-साथ मेरठ जाने को उत्सुकता बढ़ती जा रही थी क्योंकि परीक्षाफल घोषित होने के दिन निकट आ रहे थे। अन्ततोगत्वा वह दिन आ ही गया जब मैंने परमपूज्य डॉ० रामसिंह जी यादव के पत्र के साथ मेरठ को प्रस्थान किया। परमादरणीय प्रोफेसर साहब के घर पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि आप अपने मध्यम पुत्र श्री विक्रमाङ्क के चलती रेल-गाड़ी से गिर जाने में घायल हो जाने के कारण अलीगढ़ गये हुये हैं। लौटते समय सार्वजनिक अस्पताल अलीगढ़ के विशेष वार्ड में आपके दर्शन कर अपनी अभिलाषा प्रकट की। परमकृपालु, करुणानिधान, विद्यावदात एवं निःस्वार्थसेवी गुरुप्रवर ने सद्यः अनुमति के साथ-साथ स्वयं का पत्र प्राप्त होने पर मुझे मेरठ आने के लिये कहा। अपने रहने की व्यवस्था के विषय में पूछने पर प्रोफेसर जी के निःस्वार्थ-सेवा-व्रत की परिपोषिका सर्वात्मना तत्सहधर्मिणी पूजनीया माता जी कहने लगी, "तुम रहने की चिन्ता क्यों करते हो। बस, पत्र पाते ही बोरिया-बिस्तर के साथ मेरठ आ जाओ।"

माननीय डाक्टर साहब का पत्र प्राप्त होने के पश्चात् घर से इतनी दूर जाने की तैयारी से मेरा मन खिन्न रहने लगा क्योंकि मेरठ की मेरी प्रथम यात्रा बड़ी उदासीन रही थी। बार-बार ऐसा प्रतीत हो रहा था कि अध्ययन के लिये मेरठ जाने का निर्णय मेरी भूल है। आगरा मेरे अनेक घनिष्ठ मित्र पढ़ रहे हैं और मेरठ कोई परिचय का भी मित्र नहीं है। प्रोफेसर जी का सांनिध्य तो उनके घर अथवा कालेज में कुछ ही समय के लिये मिल सकेगा और फिर उनसे मित्र के अभाव की पूर्ति की तो कल्पना करना भी महान् पाप है। इसप्रकार अपरिचित स्थान पर सम्भावित विविध कठिनाइयों के विकराल

मानसिक स्वरूप ने मुझे अपने इष्ट से विचलित सा कर दिया किन्तु माता जी के पूर्वोक्त वाक्य के अवलम्बन से इन आशङ्काओं पर विजय प्राप्त कर मैं मेरठ पहुँच गया।

गुरुवर्य प्रोफेसर जी की छत्रच्छाया में अपरिचित स्थान मेरा अपना घर बन गया। घर से बाहर महाविद्यालय आदि में जितना स्नेह मुझे गुरु जी से मिला, घर में उससे कहीं अधिक गुरुमाता से। मैं पर्याप्त दिनों तक आपके परिवार का सदस्य रहा हूँ। शहर में आप जहाँ भी जाते मुझे साथ ले जाते। छात्रावास के कुछ पुरातन छात्रों से मेरा परिचय करा दिया। फिर तो छात्रावास के योग्य छात्र के रूप में मेरी धाक जम गई जिससे आरम्भ में डर रहा था। छात्रावास के वार्षिकोत्सव में मुझे सर्वोत्तम छात्रावासी के रूप में घोषित किया गया। यह सब आपकी ही महिमा थी क्योंकि गुरु की महत्ता का लाभ शिष्य को मिलता है। आपके समीप रहकर मैंने अपनी योग्यता और अभिलाषा से बहुत अधिक प्राप्त किया और पूर्वोद्भूत समस्त आशङ्कायें निराधार सिद्ध हुई।

गुरु-गरिमा से मण्डित आपको मैं हमेशा इसी शब्द से सम्बोधित करता हूँ। एक दिन मैंने यही सम्बोधन आपकी भूतपूर्व शिष्या, जो उस समय सम्भवतः किसी इण्टर कालेज में अध्यापिका थीं, के समक्ष व्यवहृत किया। वह बोलीं, "प्रोफेसर जी ! आपके शिष्य आपको गुरुजी कहा करते हैं। आप इन्हें बताते नहीं हैं।" क्या कहना चहिये, मेरे यह पूछने पर वह कहने लगीं, "प्रोफेसर जी कहिये, डाक्टर साहब कहिये, विद्यालङ्कार जी कहिये।" मैंने कहा कि महर्षि कण्व को उनके शिष्य 'कुलपति जी', 'आचार्य जी' या 'महर्षि जी' न कहकर 'गुरु जी' ही क्यों कहा करते थे ? वह निरुत्तर थीं। आप स्वभावानुकूल सस्मित शान्त थे। मैं उभयपक्षीय मौन स्वीकृति के सम्बल से प्रसन्न था।

वस्तुतः आप संस्कृत के उन स्वल्प विज्ञों में एक हैं जो इस युग में ऋषि-परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं। दैनिक जीवन में प्रत्येक कार्य का नियत समय इस परम्परा का ज्वलन्त निदर्शन है। महर्षि कण्व को प्रातःकाल समय-परिज्ञान के लिये शिष्य की आवश्यकता थी किन्तु आपको नहीं। माघ-मास की कटकटाती सर्दी हो या भाद्रपद की वर्षा की झड़ी, आप क्षौर-कर्म, स्नान, सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य कार्यों से निवृत्त होकर प्रातः छः बजे वीणा-वादिनी सरस्वती की उपासना में तन्मय मिलेंगे। साधारण-शुद्ध-शाकाहारी-भोजन करना, मध्याह्न का भोजन कर लेटना, रात्रि को दस बजे सो जाना आदि आपके अकाट्य नियम हैं। 'सादा जीवन उच्च विचार' आपके जीवन का मूर्तमान सत्य है। शरणागत का उद्धार आपका शाश्वत व्रत है।

आरम्भ में मुझे यह भ्रम रहा कि आदरणीय डाक्टर साहब गुरु रूप में मेरे ही संरक्षक हैं किन्तु कुछ ही दिनों में उक्त भ्रम इस तत्त्वज्ञान में परिणत हो गया कि मेरी तरह अनेक शिष्यों को आपका संरक्षकत्व प्राप्त होता रहा है। मैंने अपने दो वर्ष के अनवरत सान्निध्य में आपको सर्वत्र शिष्यों के हित-चिन्तन में रत पाया है। आपको अपने शिष्य-शिष्यों की कामना के लिये प्रिय रहे हैं जबकि महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार पिता को पुत्र-पुत्रों की कामना के लिये नहीं अपितु अपनी कामना के लिये प्रिय होते हैं। आपने अपने शिष्यों को मोहजन्य तमस्-विच्छेदिनी विद्या के साथ-साथ वह आदर्श दिया है जिसके सत्य स्वरूप का अस्तित्व त्रिकालाबाधित तथा सर्वत्रानुयायी है।

आदर्शोन्मुख प्रोफेसर जी का निःस्वार्थ सेवा रूप अमर फल अपने शिष्यों तक ही सीमित रहा हो, ऐसी बात नहीं है। मैंने आपके समीप आये किसी भी व्यक्ति को निराश लौटते नहीं देखा है। आप सर्वदा निजत्व-परत्व के बन्धन से मुक्त रहे हैं। आपकी ऋषिवत् उदारता तथा अतिथि-सत्क्रिया का एक उदाहरण द्रष्टव्य है। मैं एम० ए० करने के पश्चात् आपकी ही अनुकम्पा से आर्यसमाज सदर, मेरठ में रहने लगा था। देवरिया के एक सज्जन आर्यसमाज में आकर ठहरे और मुझसे आपके विषय में पूछने लगे। उनका आपसे न कभी साक्षात्कार हुआ था और नहीं पत्र-व्यवहार। उन्होंने किसी पत्रिका में

आपका नाम देखा था और वहीं से यह जाना था कि आप मेरठ कालेज में संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष हैं। जब उन्हें यह पता चला कि मैं प्रोफेसर जी का शिष्य हूँ और सुपरिचित हूँ तो अपने साथ मुझे ले चलने का आग्रह करने लगे। मुझे उसी समय खतौली जाना था। इसलिये स्वयं साथ चलने में असमर्थता प्रकट कर उन्हें आपके घर की स्थिति और पहुँचने का मार्ग बताकर अपने गन्तव्य स्थान को चला गया। शाम को जब आपके घर पहुँचता हूँ, तो देखता हूँ कि वह सज्जन पंखे के नीचे पलंग पर लेटे हुये हैं।

आप व्यावहारिकता में जितने उदार और सरल हृदय हैं, सिद्धान्त-पालन में उतने ही दृढ़ और अजेय। आपकी सैद्धान्तिक विजय का कारण दुराग्रह नहीं अपितु महान् प्रभावकारी स्वाग्रह रहा है। आपकी स्वाभाविक सौम्यता ने तीक्ष्णता को लज्जित किया है। आपकी सरलता के समक्ष कुटिलता को परास्त होना पड़ा है। विरोधात्मक स्थिति में भी सहजभाव का परित्याग न करने वाले आप अक्षुब्ध सागर के समान एक रस रहने में सुदीक्षित हैं। सांसारिक द्वन्द्व तो मानो आपसे पराजित रहे हैं। बड़े से बड़े दुःखरूप झंझावात को आपने हिमाद्रि के समान अविचल रहकर सहन किया है। सुख में तो आपको विकृत करने की शक्ति ही कहाँ।

वन्दनीय गुरुप्रवर प्रोफेसर जी संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आपकी संस्कृत-साहित्य-साधना वह चिर विकासशील अम्लान पुष्प है जिसके हृदयग्राही ज्ञान सौरभ की गरिमा जिज्ञासु भ्रमरों को चिरकाल तक तृप्त करती रहेगी। आपके अनेक ग्रन्थ एम० ए० तथा शोध के छात्रों का प्रभूत उपकार कर रहे हैं। आपकी स्वाध्यायशीलता तथा गोष्ठियों आदि में तत्परता एवं सक्रियता के समक्ष नवयुवकों को भी लज्जित होना पड़ता है।

अन्त में मेरा यही विश्वास है कि आप कलियुग के सतयुगी महापुरुष हैं। मैंने आपको सर्वत्र धैर्य में पृथ्वी के समान, वाणी में सरस्वती के समान, मधुरता में अमृत के समान, सहृदयता में सरोवर के समान, महानता में पर्वत के समान, विद्वत्ता में बृहस्पति के समान और गतिशीलता में वायु के समान प्रवर्तमान देखा है। प्रेरणा के परम धाम आपका अलोकसामान्य व्यक्तित्व अपनी दिव्यता तथा विद्वत्ता की रश्मियों से हमारे जीवन पथ को चिरकाल तक आलोकित करने वाला मणिदीप बना रहे, इस अभिलाषा के साथ मैं अपने जीवनाधार परम कारुणिक निःस्वार्थसेवी गुरुप्रवर को अनन्त नमन करता हूँ।

—:०:—

संस्कृत-विभाग
ए० के० कालेज, शिकोहाबाद।

□ प्रा० लक्ष्मणदत्त

डा० निरूपण विद्यालङ्कार, अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, मेरठ कालिज, मेरठ को विदाई के अवसर पर अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करके अभिनन्दित किया जा रहा है—यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई। वास्तव में आप अभिनन्दन के पात्र हैं। सोचा इस पुष्पमाला में मैं भी एक सुमन पिरो दूं आपके विषय में दो पंक्तियाँ लिखकर। अस्तु

कई रोज तक सोचता रहा क्या लिखूँ, कहाँ से शुरू करु और कितना लिखूँ—इतने बड़े विशाल समुद्र में कैसे और किस किनारे से प्रवेश करू । इतनी बड़ी विशालता तथा गहराई को कैसे पारकर पाऊँगा, फिर भी गोता तो लगाना ही है कुछ न कुछ तो हाथ लगेगा ही। इस विशालता के सेतु हैं **डा० जयदेव विद्यालङ्कार, अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, दयानन्द, विश्वविद्यालय, रोहतक**। इन दोनों महानुभावों के एक जैसे स्वभाव तथा विद्वत्ता से बहुत ही प्रभावित हूँ। इनसे मुझे बहुत स्नेह तथा प्रेरणा मिली है, अतः मैं आप दोनों का ही आभारी हूँ।

डा० निरूपण जी—सीमातीत, अजातशत्रु, स्नेहशीलता, निःस्वार्थ एवं उत्सव-प्रिय-स्वभाव के अनोखे उदाहरण हैं। जो काम करना है, वह करना है उसमें कोई भी नियम बाधा नहीं डाल सकता, यह आपका दृढ़ विश्वास रहा है और इसमें आपको सदा सफलता मिलती रही है, और यह देखकर मैं सदा आश्चर्यचकित होता रहा हूँ। प्रायः ऐसा होता नहीं है परन्तु यह आपकी स्पष्टवादिता तथा परोपकार भावना के कारण ही होता रहा है। आपके विषय में समय-समय पर बहुत से व्यक्तियों से वार्तालाप होता रहा है, सबकी एक जैसी धारणा तथा किसी को भी आपका निन्दक व आलोचक न पाकर बड़ी विचित्र अनुभूति हुई है। कोई किसीका आलोचक व निन्दक न हो असम्भव है परन्तु आपने तो असम्भव को भी सम्भव बना डाला है।

मैंने निरूपण जी को कभी भी उदास और निराश नहीं पाया। हर समय मुस्कराते एवं हंसते हुये सहजरूप से मिलना तथा दूसरे की समस्या को निजी समस्या मानकर उसके समाधान में उसी समय लग जाना आपका अनोखा स्वभाव है। इसीके कारण आपको इतना आदर व स्नेह मिला है जो कि उचित ही है।

उत्सवप्रिय स्वभाव का तो कहना ही क्या ? हर रोज–हर सप्ताह–हर महीने कोई न कोई आयोजन विभाग में तथा अन्यत्र करते रहना आपका नियम सा रहा है। इसी कारण आपके घर का वातावरण भी सार्वजनिक सा लगता है। संस्कृत जैसे नीरस एवं उपेक्षित समझे जाने वाले विभाग में जितने आयोजन हर वर्ष होते रहे हैं उतने किसी भी विभाग में नहीं हुये, इसीसे संस्कृत विभाग को कालिज में ऊँचा स्थान मिला है। यह सब डा० निरूपण जी की लगन का परिणाम है। विद्यार्थियों से निजी व सीधा सम्बन्ध आपका स्वभाव रहा है। यही कारण है कि सभी विद्यार्थी आपसे बहुत ही प्रभावित रहे हैं।

मैं निजी तौर पर डा० निरूपण जी का बहुत ही आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे सदा इतना स्नेह व सम्मान दिया कि हर आयोजन में मुझे अवश्य बुलाया तथा मुझे अपना अन्तरंग साथी समझा।

इस शुभ अवसर पर मैं आपके चिरायु, स्वस्थ एवं प्रसन्न जीवन की हार्दिक कामना करता हूँ ताकि आप आगे भी आर्यजन की सेवा करते रहें।

शुभास्ते सन्तु पन्थानः--

———

पुस्तकालय-अध्यक्ष
मेरठ कालिज, मेरठ।

□ **श्रीमती वीरबाला**

संस्मरण

डा० निरूपण विद्यालङ्कार जी से मेरा परिचय सन् १९७० में, जब कि मैं आर० जी० कालेज, मेरठ से एम० ए० कर रही थी, **डॉ० विष्णुशरण 'इन्दु' जी** (हिन्दी विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ) के माध्यम से हुआ था। **डा० निरूपण जी** ने मेरी बहुत मदद की। उन्होंने मेरे अध्ययन के विषय में पूरा-पूरा ध्यान दिया। तत्पश्चात् मैंने एम० फिल्० (शिक्षा Education) में दाखिला ले लिया। एम० फिल्० करने के बाद भी मैंने पी-एच. डी. डॉ० निरूपण जी की ही छत्रच्छाया में करनी चाही। डॉ० साहब के व्यवहार व आचरण ने मुझे इतना प्रभावित किया कि मैंने सन् १९७२ में ही पी-एच० डी० का रजिस्ट्रेशन करा लिया।

डॉ० निरूपण जी के परिवार से मैं इतना घुल-मिल गई थी कि मैं अपने आपको उनके परिवार का ही एक सदस्य मानने लग गई। उन दिनों **पं० हरिशरण शास्त्री** जी भी मुझे पढ़ाने आया करते थे। शास्त्री जी व डॉ० निरूपण जी तथा आण्टी जी के साथ मैं कई ऐतिहासिक स्थानों–हस्तिनापुर, बरनावादि पर बाबूजी अर्थात् अपने पिताजी की कार से गई। बाबू जी से मैं जैसे ही कहती थी वैसे ही बाबूजी तुरन्त डॉ० साहब के लिये लिये गाड़ी दे देते थे। डा० निरूपण जी तथा आण्टी जी मुझसे अपने बच्चों की तरह से ही व्यवहार करते थे। सन् १९७५ में उनके सबसे छोटे बेटे गुड्डू (हिमांक) का अचानक स्वर्गवास हो गया। इतनी व्यथा में भी डॉ० साहब ने अपना धैर्य बिल्कुल भी नहीं खोया। डा० साहब के चेहरे पर कोई ग्लानि नहीं, कोई मलिनता नहीं। धैर्यतावश उन्होंने इस सबको सहा। गीता का (अध्याय २ श्लोक २५) **'तस्मादेव विदित्वनं नानुशोचितुमर्हसि'** डा० साहब के विषय में सत्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

आप मेरी पी-एच० डी० पूरी कराने में निःस्वार्थ भाव से पूर्णतया जुटे रहे। मुझे सतत प्रेरणा देते रहे, मैं भी उनकी प्रेरणा से विघ्न पड़ने पर भी अपने कार्य में संलग्न ही रही। जो विषय अन्य लोगों को नीरस लग सकता था मुझे व डा० निरूपण जी को सरस लगता था। संसार मिथ्या है, ब्रह्म ही सत्य है। दर्शनशास्त्रों को पढ़कर ज्ञान के चक्षु खुल जाते हैं। आपकी असीम कृपा से मैंने सन् १९७९ में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर ही ली। डा० निरूपण जी व उनके परिवार के आचरण व व्यवहार को मैं अभी तक नहीं भुला पाई हूँ और भविष्य में भी कभी नहीं भुला पाऊँगी, ऐसी आशा करती हूँ। मैं आपकी व आण्टी जी की बहुत-बहुत आभारी हूँ। साथ ही डॉ० विष्णुशरण इन्दु जी की भी बहुत आभारी हूँ। डा० निरूपण के परिवार से मेरा सम्बन्ध केवल मेरी थीसिस पूरी करने तक ही सीमित नहीं रहा है वरन् जिसको मैं पूरे जीवनभर नहीं भुला पाऊँगी। उनके प्रति आदर व सम्मान हमेशा-हमेशा मेरे हृदय में रहेगा।

मैं परमेश्वर से डा० निरूपण विद्यालङ्कार के स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य की कामना करती हूँ।

रामकृष्णपुरम दिल्ली।

□ डा० राजेश्वर प्रसाद शर्मा

डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार

सादगी को विवशता मान कर नहीं बल्कि एक आभूषण समझ कर अपनाने वाले व्यक्तियों के हृदय में मानवीय गुणों का भंडार निहित हुआ करता है। जीवन को बहुत करीब से देखने का उनका अभ्यास, भावनाओं की सूक्ष्म शिराओं को छू लेने की उनकी सामर्थ्य, वैभव की चकाचौंध के प्रति उनकी वितृष्णा और सर्वसाधारण के लिए उनके हृदय का उमड़ता हुआ प्यार वस्तुतः वन्दनीय है।

डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार का नाम अध्ययन काल में ही मैं सुन चुका था। इस नाम का आकर्षण पता नहीं क्यों, मुझे बांधे हुए था। एम० ए० करने के पश्चात् डॉ० देवीचन्द्र शर्मा, प्राध्यापक, जे० वी० जैन कालेज, सहारनपुर ने, पी-एच० डी० के लिये मुझे प्रेरित किया। बात सन् सतत्तर की है। उन दिनों डॉ० निरूपण मेरठ विश्वविद्यालय में संस्कृत के कन्वेनर थे। सहारनपुर से मैं और डॉ० शर्मा दोनों सुबह मेरठ के लिये रवाना हुये। मैं मन में सोचता जा रहा था **"कैसा होगा डॉ० निरूपण का व्यक्तित्व"** मेरठ स्थित उनके निवास पर पहुँचे। घन्टी बजाई। द्वार खुले। मैं अवाक् रह गया। मुझे लगा मूर्तिमती सादगी सामने उपस्थित है। डॉ० साहब ने बड़ी आत्मीयता से बातचीत की। शोध विषय के बारे में बात चली। मैंने बताया **"हरिदास सिद्धान्त वागीश के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन"** विषय शोध के लिये चुना है। बोले, विषय एकदम अछूता है, परन्तु मेहनत बहुत करनी पड़ेगी। पुस्तकों का अनुवाद तक भी उपलब्ध नहीं है, आलोचना की तो बात दूर। मैंने विनम्रता से कहा कि आपका आर्शीवाद चाहिये और डाक्टर साहब (डा० शर्मा की ओर सकेत कर कहा) की कृपा। इस कार्य को पूरा करने का प्रयास करूंगा। डा० निरूपण ने बड़े प्यार से मेरी पीठ थपथपाई और मुझे लगा कि मैं कृतकृत्य हो गया हूँ।

इस घटना के बाद कई बार डा० निरूपण से भेंट करने का सौभाग्य मिला। हर बार मुझे यही प्रतीत होता कि उनको मैं जितना समझ पाया हूँ वे उससे कहीं अधिक हैं। जैसे-जैसे में उनके निकट सम्पर्क में आता गया, उनकी प्रकृति का शतदल एक नई ताजगी भरे सौरभ से मुझे पुलकित करता गया। मैं यह दावा तो नहीं कर सकता कि डा० साहब को पूरी तरह समझ सका हूँ परन्तु जितना मैंने उन्हें समझा है उसके आधार पर कह सकता हूँ कि डा० निरूपण एक ऐसे योद्धा हैं जो जीवन को एक चुनौती मान कर चले हैं, एक संघर्ष मान कर चले हैं और एक कर्मक्षेत्र मान कर चले हैं।

गुरूकुल कांगड़ी हरिद्वार में भारतीय पद्धति से गुरू के चरणों में बैठ कर शिक्षा ग्रहण करने वाले डा० निरूपण के हृदय में संस्था के प्रति सदैव लगाव रहा है। हमेशा उन्होंने उनके कल्याण के ही बारे में सोचा। इस संस्था में इन्होंने उपकुलपति पद पर भी कार्य किया, किन्तु जब देखा कि उनकी नीतियों को समर्थन नहीं मिल रहा है तो वे संस्था से अलग हो गये। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गुरूकुल के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा कम हो गई हो या उसके कल्याण का विचार ही उन्होंने सर्वथा त्याग दिया हो।

बचपन के संस्कारों और विद्यार्थी जीवन के वातावरण ने आपके मस्तिष्क में आर्यसमाजी विचारों की जड़े मजबूत कर दी। पी-एच० डी० की उपाधि के लिये आपने **"प्राचीन भारतीय धर्म शास्त्र साहित्य में शूद्रों की स्थिति"** विषय को चुना। इस विषय के चयन से ही यह ध्वनित होता है कि हिन्दू

समाज के उपेक्षित वर्ग के प्रति आपके हृदय में कितनी सहानुभूति है। धर्म की व्यवस्था करने वाले आचार्यों ने शूद्रों को किस श्रेणी में रखा, उन्हें क्या सुविधायें प्रदान की, उनके लिये किस प्रकार के दण्ड निर्धारित किये आदि बातों की आपने खोज की और वास्तविकता को प्रकाश में लाये। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो सामाजिक रूढ़ियों से परे होना ही आपका जीवन दर्शन है।

पिता जिस तरह पुत्र में अपनी सभी आकांक्षाओं को पुष्पित और पल्लवित होते देखना चाहता है उसीप्रकार गुरू भी शिष्य में अपने समग्र ज्ञान को न्यस्त कर विश्व में उसके यश को अप्रतिहत गति से फैलते हुये देखने की आकांक्षा हृदय में संजोये रखता है। डा० निरूपण की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि विद्याध्ययन समाप्ति के बाद अपने छात्र को वे जीवन क्षेत्र में व्यवस्थित कराने के लिये उसीप्रकार चिन्तित और यत्नशील रहते हैं, जिसप्रकार अपनी सन्तान को। येन केन प्रकारेण शिष्य का हित–सम्पादन और कल्याण साधन सदैव उनका सर्वोपरि लक्ष्य रहा है।

पर्यटन डा० साहब का शौक है या मजबूरी, कहा नहीं जा सकता। परन्तु यह सच है कि उनका अधिकांश समय घर से बाहर ही बीतता है और उनके वेतन का महत्वपूर्ण भाग भी मार्ग व्यय के रूप में ही खर्च होता है। किन्तु इसका अर्थ कदापि नहीं कि उनके पर्यटन का कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है। संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति के प्रति उनका अनुराग मोह की सीमा को भी लांघ गया है। संस्कृत के गढ़ को मजबूत बनाने के लिये यह आवश्यक था कि संस्कृत के आध्यापकों को एक मंच पर उपस्थित किया जाये। अपने इस स्वप्न को साकार करने के लिये डा० निरूपण ने स्थान-स्थान पर जाकर मेरठ विश्वविद्यालय के सभी कालेजों के संस्कृत अध्यापकों के समक्ष अपनी योजना प्रस्तुत की और उन्हें संस्कृत अध्यापक परिषद् की सदस्यता स्वीकार करने के लिये प्रेरित किया। उनके प्रयत्नों का ही परिणाम है कि **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** अस्तित्व में आई। आरम्भ में आप इस परिषद् के मंत्री रहे और बाद में कई वर्षों तक अध्यक्ष पद को गौरवान्वित किया।

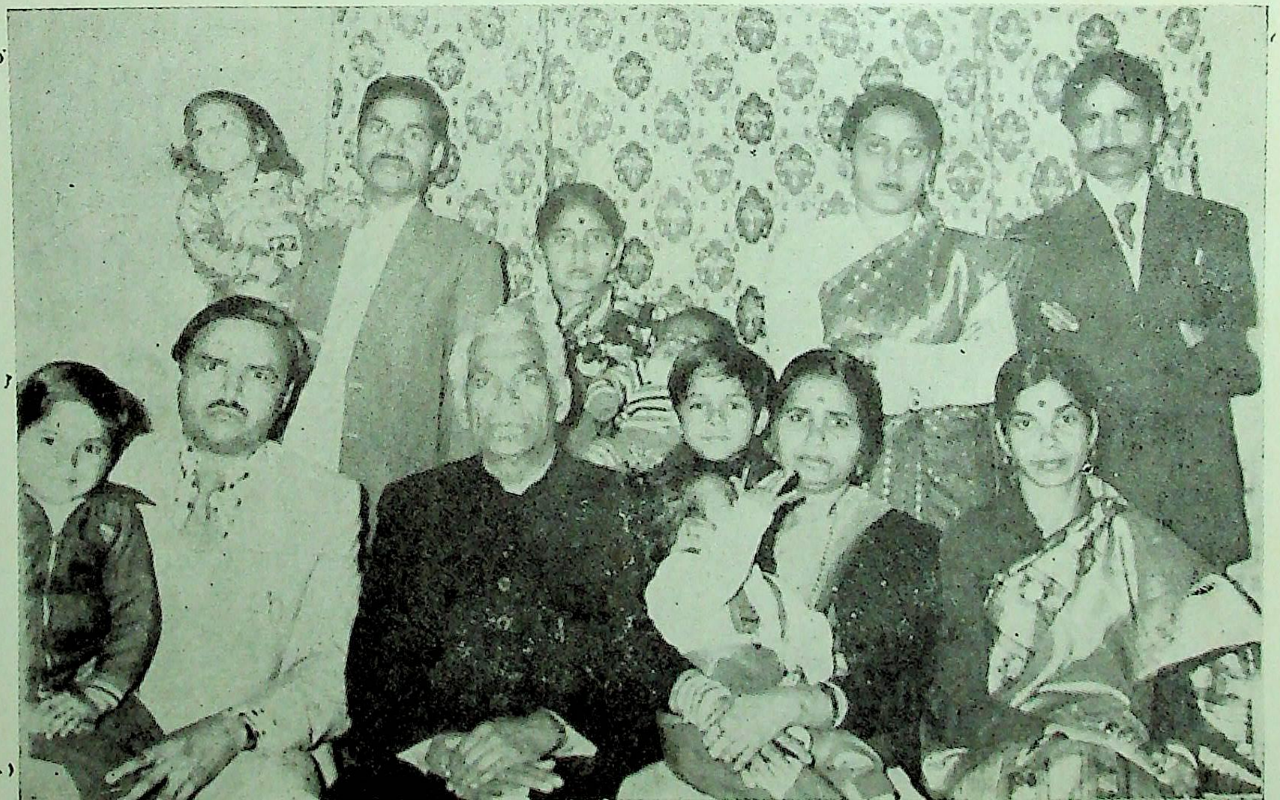
छात्रों की समस्याओं को अनुभव कर आपने शाकुन्तल, मुद्राराक्षस और साहित्य-दर्पण प्रभृति ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी जो छात्रोपयोगी होने के साथ-साथ साहित्यानुरागी व्यक्तियों के लिये भी समान रूप से संग्रहणीय है। उनकी शैली में अभिव्यक्ति की सादगी, प्रेषणीयता का बांकापन और अनुभूति की तीव्रता का एकत्र संयोजन है।

गंगा की तरंगों जैसे श्वेत और लहरदार बाल, मन की गहराई को खोजती हुई सी आँखें, संघर्ष और शान्ति के सन्धिस्थल जैसा ललाट, विचारों की दृढ़ता को व्यंजित करती सी भौंहे और चुनौतियों के निमन्त्रण को सस्मित स्वीकारते उनके कसे हुए अधर वाले व्यक्तितत्व का स्मरण होते ही मस्तष्क श्रद्धा से झुक जाता है। अपने लक्ष्य के सामने परिवार को और स्वयं को भी गौण स्थान देने वाले मूर्धन्य विद्वान् डा० निरूपण को ईश्वर दीर्घायु और उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करें—यही मेरी कामना है। आशा है कि संस्कृत को डा० साहब का स्नेह और छत्रच्छाया अब और भी अधिक प्राप्त हो सकेगी।

———

हिन्दी अनुवादक,
डाक तार प्रशिक्षण केन्द्र, सहारनपुर

डा० निरूपण विद्यालङ्कार अपने परिवार के साथ



□ सुरेन्द्र देव शर्मा एडवोकेट

आदरणीय महोदय,

आस्तिकला का पुनीततम् अनुष्ठान अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशन है । यह परम्परा उस समय बड़ी सात्विकी तथा महान् बन पड़ती है जब मा शारदा के वरद पुत्रों की अभिनन्दनीय प्रतिभा ग्रन्थ विशेष में स्थापित हो जाये । आपके पत्र द्वारा यह मानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि देववाणी के अनन्य उापसक, साधक तथा अधिकारी विद्वान् डॉ० निरूपण जी विद्यालङ्कार के सम्मान में आप एक उच्चस्तरीय "अभिनन्दन ग्रन्थ" प्रकाशित करने जो रहे हैं । उक्त ग्रन्थ निस्सन्देह उच्चरस्तरीय ही नहीं साहित्य पयोधि का रत्न सिद्ध होगा । डॉ० निरूपण जी तो पारसमणि हैं तब उनकी प्रतिभा के संस्पर्श से प्रत्येक प्रस्तुति क्यों न निखर उठेगी ? उक्त भावनाभिभूत मन से निरूपण जी को प्रणामाञ्जलि समर्पित है ।

डॉ० निरूपणजी की विद्वता का तो कहना ही क्या है । उनके द्वारा सम्पादिक "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" को जब मैंने पढ़ा तो ऐसा लगा कि मूल ग्रन्थ से भी अधिक इन टीका ग्रन्थ की उपादेयता है । मूल ग्रन्थों में निहित कवि का दर्शन सौन्दर्य, संस्कृति, चेतना तथा काव्य सौष्ठव तब तक जनमनास को आन्दोलित नहीं कर सकते जब तक कि उनका अनुकूल तथा सर्वाङ्ग सुन्दर व्याख्या की प्रस्तुति न हो । निरूपण जी की प्रतिभा का सुदर्शन मुझे पर्याप्त भाव से उनके शाकुन्तल में हुआ और फिर यह ग्रन्थ तो उनके ज्ञान रत्नाकर का एक रत्न मात्र है । उनके प्रतिभा सम्पन्न होने का तो यही प्रत्यक्ष प्रमाण है, कि मैनपुरी जिले के छोटे से गाँव गुढा में जन्म लेकर अपनी योग्यता के आधार पर उन्होंने विद्वज्जगत् में अपना स्थान बनाया है ।

बहुत कम लोग ऐसे होते हैं, जो किसी संस्था से शिक्षा प्राप्त करके बाद में अपने आपको उस संस्था से सम्बद्ध रखें । गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक होने के बाद वैदिक विचारधारा को आजीवन निभाने का संकल्प लेते हुए निरूपण जी आज तक उसके प्रसार में तल्लीन हैं । गुरुकुल की गिरती हुई दशा को देखकर चाहे किसी का मन दुःखी हो या न हो निरूपण जी बहुत दुःखी व चिन्तित रहते हैं और उनका यह बराबर प्रयत्न है कि गुरुकुल अपने उन्हीं आदर्शों को लेकर चले जिनके लिये उसकी स्थापना की गई थी ।

सन् १९५२ में जब मैं दसवीं का छात्र था और एक अन्त्यासवी प्रतियोगिता में भाग ले रहा था । निरूपण जी उसमें निर्णायक होकर आये थे । तभी से मेरा उनसे परिचय है । मैं उनको सदा से ही "भाई जो" कहकर पुकारता हूँ । मुझे तो लभभग दो वर्ष तक उनके परिवार के साथ रहने का भी सौभाग्य मिला है । जहाँ भी वह उपस्थित रहते हैं, अपने अट्टहास से वातावरण को कभी की बोझिल नहीं होने देते । बड़े से बड़े कष्ट को भी सहजता से सहनकरने की उनमें महान् क्षमता है । इतनी प्रतिमा के धनी होने पर भी अहंकार तो उनको छूतक नहीं गया है । उनका सदा प्रयत्न रहता है कि उनकी योग्यता तथा प्रतिभा का समाज के कल्याण के लिये पूरा उपयोग हो सके ।

अधिक क्या लिखूं । आपकी योजना अतिशीघ्र पुष्यपल्लवित् होकर सारे समाज को लाभान्वित करे यही कामना है । पूज्य प्रवर शाई जी शतायु हो, अपनी प्रतिभा से समाज को सदा लाभान्वित करते रहें, यही प्रार्थना है । ऐसे यशस्वी स्वनाम धन्य धर्मध्वज आचार्य प्रवर को मेरा शत-शत प्रमाण ।

एटा (उ० प्र०) ।

□ प्रो० मनजीतकौर

डा० निरूपणजी को नमन

संस्कृत साहित्य के आधुनिक विद्वानों की शृंखला में डा० निरूपण जी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। वे मेरठ विश्वविद्यालय के ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारत के उज्ज्वल रत्न हैं। उनका पाण्डित्य उनके शोधपूर्ण लेखों से स्पष्ट झलकता है।

संस्कृत परिषद् के संयोजन में उन्होंने जो उत्तरदायित्वपूर्ण एवं श्लाघनीय कार्य किया है उसके लिये वे बधाई के पात्र हैं।

इसके अतिरिक्त डा० साहब संस्कृत-भारती के निष्काम सेवक हैं। उसकी उन्नति के लिये सतत प्रयत्नशील हैं। उनकी सुरभारती की सपर्या सराहनीय है।

यद्यपि वे मेरठ कालेज मेरठ से अपना गौरवपूर्ण एवं प्रतिष्ठित अध्यापन कार्यकाल पूर्ण करके अवकाश ग्रहण कर रहे हैं, मैं आशा करती हूँ कि निरूपण जी गीर्वाणगी की सपर्या से अवकाश ग्रहण नहीं करेंगे।

व्यक्तिगत रूप से उनके स्नेही एवं सोहाद्रपूर्ण व्यवहार के कारण मेरे हृदय में उनके प्रति अपार श्रद्धा एवं आदर है। मैं कामना करती हूँ कि ईश्वर उन्हें दीर्घायु प्रदान करें और वे सुरभारती की इसी तरह सेवा करते रहें।

———

महिला विद्यालय डिग्री कॉलिज
सतिकुण्ड, कनखल।

☐ डा० ओमप्रकाश आयुर्वेदालंकार

डा० निरूपण विद्यालंकार जैसा संजीदा और सदाबहार व्यक्ति अवकाश ग्रहण कर रहा है इस पर विश्वास करना कठिन है।

गुरूकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय में चौदह वर्ष की लम्बी अवधि तक सहपाठी रहे। समकक्ष होने के नाते स्मृतियों का एक ज्वार सा आ रहा है। संकेत रूप में भी उन्हें संजोया जाय तो एक अच्छा खासा लेख लिखा जा सकता है। पर अपने व्यवसाय में अन्यान्य व्यवसाओं के कारण ऐसा करना सम्भव नहीं इसलिये निरूपण के कारण ऐसा करना सम्भव नहीं इसलिये निरूपण विद्यालंकार के मस्तिष्क और हृदय के कुछ विशेष गुणों के सांकेतिक वर्णन मात्र से संतोष करूँगा।

निरूपण एक सर्वप्रिय सहृदय जिंदादिल मिलनसार व्यक्ति हैं जिसके रिसर्च में हास्यपुट निश्चिंतता, मनोविनोद, मस्ती सर्वसाधारण से अधिक सी किस्से आई है। इन सर्वसाधारण गुणों के कारण लोकसंग्रह निरूपण की विशेषता है। यह बच्चों के साथ बच्चे बड़ों के साथ बड़; विशेषकर युवावर्ग के साथ इनकी बड़ी पटती है। यही कारण है जिसकी वजह से गुरूकुल और अन्य जिन भी शिक्षा संस्थाओं के साथ इनका सम्पर्क रहा इनका समपर्क बना हुआ है जब कि हम सब उनके समकालीन या सहपाठी कब से इन सब से कट चुके या दूर चले गये हैं।

अवकाश ग्रहण करने की इस प्रौढ़ावस्था में भी निरूपण में बच्चों सी सरलता हास्य मनोविनोद और उद्यम है। सही बात तो यह कि निरूपण जैसा व्यक्ति कभी बूढ़ा या सेवा निवृत्त नहीं होता। इस अवसर पर केवल उनके कार्यक्षेत्र का विस्तार हो रहा है जिसमें उन्मुक्त पछी की तरह निर्वाध और निर्वाध स्वेच्छा से विचरण कर सकेंगे। अभी शिक्षा, साहित्य और संस्कृति की अनुभव पूर्ण बहुमूल्य सेवाओं की बड़ी अपेक्षा है।

मैं एक सहपाठी के नाते प्रकृति के इस उन्मुक्त प्राङ्गण में निरूपण का स्वागत करता हूँ। जिस भी कार्य क्षेत्र कों वे अपने लिये चुने हमारी शुभकानायें उनके साथ वे। सराहनीय सफलता के साथ पद भार त्यागने के इस सुख दुःख की सम्मिलित अजीब अनुभूति के अवसर पर हार्दिक बधाई।

———

लाजपत राय मार्ग
होशियारपुर

□ प्रो० भास्कर शर्मा गौड

संस्मरण

वर्ष १९५० में हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण कर मैंने इण्टर प्रथम वर्ष में प्रवेश लिया। इसी वर्ष विद्यालय में एक ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति हुई जिसकी ख्याति न केवल विद्यालय में ही किन्तु सम्पूर्ण नगर में फैल गई। संयोगवश ऐसे आकर्षक व्यक्तित्व के धनी के दर्शन संस्कृत एवम् हिन्दी की कक्षाओं में हुए। छात्र उनकी कक्षा में मन्त्रमुग्ध से बैठे हुये उनकी दीक्षा में तल्लीन थे। इन अध्यापक महोदय का नाम व उपाधि विद्यालय के लिये अजीब सी प्रतीत होती थी। अध्यापक का नाम श्री निरूपण विद्यालङ्कार है। पढ़ाने में विलक्षण एवम् अद्वितीय प्रतिभा के व्यक्ति हैं। इस पढ़ाने की मोहक पद्धति के अतिरिक्त उनकी अभिरुचि खेल में भी विशेष थी जिससे वे शीघ्र ही सुविख्यात हो गये। इस खेल भावना से मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ परिणामतः मैंने अपने आपको खेल के लिये समर्पित कर दिया। इन अध्यापक से सभी पण्डित जी कहा करते थे। वे हम सबसे बड़ा स्नेह करते थे आज भी सब छात्र उनके गुण-गान गाया करते हैं।

मुझे भली-भाँति याद है कि पण्डित जी ने क्रिकिट तथा वालीवाल के टूर की योजना तैयार की। सभी खिलाड़ी मुझे छोड़कर विद्यालय के थे मैं उस समय बी० ए० का छात्र था किन्तु मुझे भी उस टूर में सम्मिलित किया गया यद्यपि इसका कुछ विरोध भी हुआ था। इस टीम में तीन अध्यापक शेष छात्र थे। हमारा प्रथम मैच बरेली हुआ तत्पश्चात् रामपुर, मुरादाबाद, देहली, गाजियाबाद, खुर्जा तथा कासगंज इन दोनों खेलों के मैचों को खेलते हुये १४ दिन बाद बदायूं लौटे। यह टूर अपने आप में आज तक अद्वितीय है क्योंकि उससे पूर्व तथा बाद आज तक ऐसा टूर आयोजित नहीं किया गया यह सब हमारे आदरणीय पण्डित जी की ही कृपा एवम् योजना थी। मैं तो इतना प्रभावित हुआ कि मैंने खेल-कूद को अपने जीवन का अंग बना लिया, यही कारण रहा कि विद्यालय एवम् महाविद्यालयों के खेल-कूद की प्रतियोगिताओं में सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी का सम्मान प्राप्त कर एक दिन मैंने उत्तरप्रदेश के स्वर्णपदक प्राप्त कर इसका प्रतिनिधित्व अखिल भारतीय खेल-कूद प्रतियोगिता-जवलपुर में किया। आज में अपने गुरुदेव की कृपा से प्रवक्ता शारीरिक शिक्षा के पद पर आगरा कालिज में कार्यरत हूँ। मैं भारत की ओर से थाईलैंड मलेशिया तथा सिंगापुर अधिवेशन भाग लेने हेतु भेजा गया इन सब उपलब्धियों का श्रेय मेरे माननीय गुरुदेव डा० निरूपण विद्यालङ्कार को ही है। मैं उनके चरणों में शत-शत नमन करता हूँ। ईश्वर से सतत् कामना करता हूँ कि वे दीर्घायु एवम् स्वस्थ सानन्द रहे।

विभागाध्यक्ष
शारीरिक शिक्षा
आगरा कालिज आगरा।

□ ज्ञानेन्द्रदेव शास्त्री

डा० निरूपण जी : एक संस्मरण

महामानव

डा० निरूपण जी विद्यालङ्कार का सौम्य स्वभाव एवं मुस्कराता हुआ उद्दीप्त मुखमण्डल कभी-कभी स्वतः मुखरित हो जाता है। आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित स्नातक हैं तथा सरस्वतीमाता का वरद हस्त सदा आप पर विद्यमान है आपमें "**अनुद्धताः सत्पुरुषासमृद्धिभिः** की लोकोक्ति के अनुसार अहं की भावना तो दिखाई ही नहीं देती हैं। आपके हृदय में गुरुकुल के छात्रों तथा स्नातकों के प्रति तो अगाध एवं अदम्य स्नेह है। वह सदा स्मरणीय रहेगा।

उदारचेतामनीषी

जहाँ डा० विद्यालङ्कार जी भारतीय वैदिक संस्कृति के उपासक हैं। वहाँ साहित्यवारिधि के भी अनुपमप्रसून हैं जिससे सारा वातावरण पुष्पित और सुगन्धित हो जाता है।

विद्याप्रेमी

आपने अध्ययन अध्यापन में ही अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया है। आपने अनेक शोधार्थियों को अपने निर्देशन में शोधकार्य कराके पी-एच. डी. की उपाधि से सम्मानित कराया है यह आपकी विद्वत्ता का प्रमाण है। आप मेरठ कालेज मेरठ में संस्कृत विभागाध्यक्ष के पद पर सुदीर्घ, सक्रिय एवं गौरवशाली अध्यापन कार्यकाल पूरा करके जून ८४ में अवकाश-ग्रहण कर रहे हैं। मैंने भी कुछ दिनों आपके अधीनस्थ शोधकर्त्ता के रूप में कार्य किया है।

मैंने आपकी महानता, सहृदयता, बन्धुत्वप्रेम की उदात्तभावनाओं को बहुत समीप से देखा है। मैं आपके स्वस्थ, सुदीर्घमङ्गलमय जीवन के कल्याण की प्रभु से कामना करता हूँ। आपके यश की सुगन्धि दिग्दिगन्त में चहुँदिश स्फुटित बनी रहे। "**कीर्तिर्यस्य स जीवति**"।

उपप्रधान
आर्यसमाज शिकोहाबाद

ओ३म

□ श्रीमती यतीन्द्रा देवी

मेरे पति मेरे देवता

मेरा जन्म सन् १९२८ में जिला फरुर्खाबाद के अर्न्तगत ग्राम बरई में हुआ था। श्रावण का महीना था मेरे नाना जी पूज्य चौ० श्यामल सिंह जी थे। मैं जिस समय १३ वर्ष की आयु की थी, उस समय मेरे नाना जी के साले चौ० रामसिंह जी अपने गाँव ढढिय ले आये। मेरी प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम ढढिया में ही मेरे नाना चौ० रामसिंह जी की देखरेख में होने लगी। जिस समय की मैं चर्चा कर रही हूँ उस समय जमींदारी थी। मेरे पिता के यहाँ भारौल (मैनपुरी) में भी जमींदारी थी। मेरे नाना के यहाँ दरई में भी जमींदारी थी। चौ० रामसिंह जी भी जमींदार थे उनकी गणना विशिष्ट रईसों में की जाती थी। वे रईसों में से एक थे। मुझे पुस्तकीय शिक्षा के साथ घोड़े की सवारी, तलवार चलाना और बल्लम चलाने की भी शिक्षा दी गई। मैं उस थोड़ी सी आयु में उनके लिए (चौ० राम सिंह) पर्याप्त होशियार हो गई थी। उसका परिणाम यह था कि मेरे नाना जी जब भी ढढिया से बाहर जहाँ जाते मैं उनके साथ रहती। मैं अपनी नाना जी के साथ ढढिया से कन्नौज, फरुर्खाबाद और कानपुर आती जाती रहती थी। मेरा असली गाँव भारौल (मैनपुरी) है। यह भारौल शिकोहाबाद से मैनपुरी जाने वाली सड़क पर शिकोहाबाद से ११ किलोमीटर की दूरी पर है। इस भारौल गाँव के उभयतः बम्ब (कुल्या) बहता है। मैनपुरी जिले में यह गाँव शिक्षा और रईसी की दृष्टि से मूर्धन्य रहा है और मेरे माता-पिता जीवित हैं। मेरे पिता का नाम चौ० देवदत्त है और माता का नाम श्रीमती शीलवती है। इस प्रकार ढढिया (फरुर्खाबाद) नाना के यहाँ रहती हुई मैं यदा-कदा छुट्टियों में अपने माता-पिता के पास भारौल आती जाती रहती थी। वस्तुतः अपने बचपन में मैं अपने माता-पिता को रिश्तेदार और अपने नाना को अपने माता-पिता समझती थी। १५ वर्ष की आयु में आते-आते मैंने अपनी ढढिया ग्राम की सम्पूर्ण शिक्षा पूर्ण कर ली अर्थात् उस समय मैंने कक्षा ८ पास कर ली थी। यह मेरे जीवन का बाल्यकाल था, जो सभी प्रकार की सुख सुविधा में व्यतीत हुआ। अस्तु—

शनैः-शनैः मेरी शादी के विषय में परिवार के बड़े व्यक्तियों में कानाफूसी शुरु हो गई। मेरे पिता जी तीन भाई थे और उन तीनों की एक बहिन थी, जिनके नाम क्रमशः चौ० भोजदत्त, चौ० देवदत्त, और चौ० शिवदत्त। इनकी बहिन का नाम था श्रीमती प्रकाशो। मेरे पिताजी स्वभाव से निश्छल, सरल और सांसारिक कुटिलताओं से दूर और बहुत दूर थे। मेरे चाचा जी चौ० शिवदत्त जी सांसारिक व्यक्ति थे। मैं एक शब्द में उनके लिए कह सकती हूँ कि उन्होंने संसार को देखा और समझा था। वे सांसारिक व्यवहार में पर्याप्त निपुण थे। परिणामतः वे मेरी शादी के सूत्रधार थे।

मेरे शादी की भी अद्भुत कहानी है। मेरे मात-पिता और सभी आत्मीय व्यक्तियों की इच्छा थी मेरी शादी किसी बड़े शहर में करेंगे और इसी दृष्टि से योग्य वर की खोज होने लगी किन्तु **"मेरे मन कछु और है विधिता के मन और"** के अनुसार मेरी शादी उस गाँव में हुई जहाँ आज भी जाने का कोई मार्ग नहीं है, कोई पक्की सड़क नहीं हैं और बिजली का तो कुछ कहना ही नहीं है। वस्तुतः हुआ यह कि एक बार मेरे बाबा अर्थात् चौ० तिलक सिंह जी की बुआ श्रीमती गंगाबुंकरि हमारे घर अर्थात् भारौल आई हुई थी। मेरे बाबा की बुआ इनकी दादी थीं। इसीप्रकार इधर-उधर की गपशप में मेरी शादी

की चर्चा इनकी दादी से हुई और जो परिणाम होना था वह हुआ अर्थात् इनके **'मेरे पति मेरे देवता'** के साथ शादी होना तय हो गया । मैं इसे अपना सौभाग्य ही समझती हूँ कि मुझे इन जैसा पति मिला। ये उसी वर्ष अर्थात् सन् १९४५ में अप्रैल के वार्षिकोत्सव पर गुरुकुल काङ्गडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार से विद्यालङ्कार की उपाधि प्राप्त कर स्नातक हुये थे । हमारी शादी १ जुलाई १९४५ को वैदिक रीति से सम्पन्न हुई । उस समय हमारे सारे गाँव में इनकी विद्वता की, इनकी सादगी की सर्वत्र चर्चा थी और अब जब कि **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** इनका अभिनन्दन करने जा रही है तो मैं अपने अतीत के गर्भ में डूबी हुई एक अजीब सी सिरहन मिश्रित गर्व का अनुभव कर रही हूँ । बस, इस शादी होने के पश्चात्, मेरा एक नया संसार बस गया और फिर अब शुरु होती है मेर इस नवीन जीवन की कहानी । अस्तु—

मेरी जन्मभूमि बरई (फर्रुखाबाद), मेरी शैशववास्था की शिक्षा भूमि ढढिया (फर्रुक्खाबाद) और मेरा अपना गाँव भारौल (मैनपुरी)—तीनों ही स्थानों पर आर्य परिवार थे और मैं शादी के बाद जिस घर में आई वह भी आर्य परिवार था । यहाँ मैं अपने ससुराल का भी यत्किञ्चित् परिचय दे देना चाहती हूँ । मेरी ससुराल अर्थात् इनका गाँव गुढा (मैनपुरी) है । यह गुढा ग्राम शिकोहाबाद से वटेश्वर को जाने वाली सड़क पर शिकोहाबाद से १० किलोमीटर दूर नसीरपुर से हटकर ४ किलोमीटर दूर है । जहाँ आने जाने का कोई साधन नहीं था । मेरे श्वसुर और इनके पिता चौ० बाबूसिंह जी लब्धप्रतिष्ठ कांग्रेसी थे । स्वतन्त्रता संग्राम में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है । वे स्वतन्त्रता सेनानी थे और उनको उत्तर प्रदेश सरकार तथा केन्द्रीय सरकार से पैंशन मिलती थी । इसी प्रकार मेरी सास और इनकी माता जी श्रीमती कलावती: जो किलौनी (इटावा) की रहनेवाली थीं । इनकी दादी क्योंकि मेरे बाबा की बुआ थी अत: मैं इनको बुआ ही कहती थी । शादी के समय यह मेरी ससुराल थी । मैंने इनको और इनके परिवार को पाकर अपने को धन्य पाया । मेरी गृहस्थी बस चली ।

सन् १९४६ को मैंने एक कन्या को जन्म दिया । इसको पाकर मैं अत्यन्त हर्षित थी । मैं अपने श्रीमान् के साथ मिलकर इस कन्या के जन्म की खुशियाँ भी नहीं मना पाई थी कि परमेश्वर ने चार महीने के पश्चात् उस कन्या को मुझसे छीन लिया । उस समय ये मुझसे दूर और बहुत दूर हरिद्वार गये हुए थे । परिणामतः इस कन्या के वियोग को मुझे अकेला ही सहन करना पड़ा । हरिद्वार से इनके घर (गुढ़ा) आने पर मैं आश्वस्त हुई और मेरा दुःख कुछ हल्का हो गया । बात आई-गई हो गई । दो वर्ष पश्चात् मैंने पुनः एक पुत्ररत्न को जन्म दिया । मैं इसको पाकर बड़ी खुश थी । बड़े लाड़-प्यार में इसका पालन-पोषण करने लगी । इसी बीच हमारे परिवार पर पुनः यमराज की कुदृष्टि हुई और मेरी बड़ी ननद श्रीमती वेदवती के पति का स्वर्गवास हो गया । उनकी गोद सूनी थी । उनका दुःख मुझसे देखा न गया और उनके मन का बोझ हल्का करने के लिए मैंने अपना दो वर्ष का लड़का, जिसका नाम शशाङ्क रखा गया था, उनको दे दिया । उनको देने में मैंने एक क्षण के लिए भी सोच विचार नहीं किया था । अब शशाङ्क मेरे पास से हटकर अपनी बुआ के पास रहने लगा । मेरे इस निर्णय में इनका मुझे पूरा सहयोग मिला । जिस समय शशाङ्क की आयु सात वर्ष की हुई तो उसको पढ़ने के लिये गुरुकुल कांङ्गड़ी की शाखा गुरुकुल कुरुक्षेत्र भेज दिया । शशाङ्क के गुरुकुली कुरुक्षेत्र प्रविष्ट होने के समय हमारे तीन सन्तानें और हो चुकी थीं और वे भी क्रमशः कु० श्रद्धा, विक्रमाङ्क और हिमाङ्क । इस समय हम दोनों जीवन के उतार चढ़ाव में कई स्थानो पर भटक चुके थे । मैं सातवर्ष निरन्तर अपनी ससुराल गुढ़ा रहने

के पश्चात् बदायूँ में इनके साथ रहने के लिये आई थी । बादायूँ से अजमेर—जालन्धर होती हुई सन् १९५६ में हम दोनों मेरठ आ गये । मेरा सबसे छोटा पुत्र हिमाङ्क अजमेर में पैदा हुआ । ये तो इसको ६ दिन का छोड़कर जालन्धर अपनी सर्विस पर चले गये थे । यहाँ यह कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि एक बार हम दोनों साथ रहने लगे तो आज तक हम दोनों कभी एक दूसरे से अलग नहीं हुये । और एक बार जो मेरा ससुराल का गाँव छूटा तो फिर रहने के लिए पुनः गाँव एक बार भी नहीं गई । इस प्रकार मेरी अपनी जीवन यात्रा के समान मेरा परिवार भी कभी एकत्र नहीं रहा । शशाङ्क गुरुकुल में पढ़ने भेज दिया था । श्रद्धा को हमने आर्य समाज शहर मेरठ के विद्यालय में प्रविष्ट करा दिया था । विक्रमाङ्क अपने नाना नानी के पास भारौल रहकर पढ़ लिख रहा था । विक्रमाङ्क भारौल से कक्षा ६ पास करने के पश्चात् सातवीं कक्षा में हमारे पास मेरठ आया था । इसके पश्चात् विक्रमाङ्क की पढाई हमारे पास ही रहकर मेरठ में हुई । शशाङ्क की पढ़ाई गुरुकुल कुरुक्षेत्र में शनैः शनैः समय की गति से चल रही थी । जब उसने गुरुकुल में कक्षा ८ पास कर ली तब हम दोनों की इच्छा हुई कि शशाङ्क को गुरुकुल से निकाल लिया जावे और मेरठ में कक्षा ९ में इसे साईस दिलाकर उसे M. Sc कराया जाये । इस बीच हमारे परिवार में गुरुकुल काङ्गड़ी के स्नातकों का प्रवेश शनैः-शनैः बढ़ता चला जा रहा था । उन्हीं स्नातकों में से एक भाई सत्यदेव जी विद्यालङ्कार हमारे परिवार के संरक्षक रूप में हमारे बनकर आये । जिस समय हमने शशाङ्क को गुरुकुल कुरुक्षेत्र से निकाला था उस समय भाई सत्यदेव जी ने कहा था कि **"बहू तुम इसे निकालकर पछताओगी"** ? और सचमुच आज मैं पछता रही हूँ । पर जो समय निकल गया, वह निकल गया । आज जो भी मेरे बच्चे हैं, वे जैसे भी हैं—अच्छे या बुरे-मेरे ही बनाये हुये है । ठीक भी हैं मैं सुनती रहती हूँ कि **"माता निर्माता भवति"** इति । मेरे देवता को तो इतना समय ही नहीं था कि वे बच्चों को बनाने की ओर ध्यान देते । आज इन अपने बच्चों का सम्पूर्ण उत्तर-दायित्व मैं अपना ही समझती हूँ । परमेश्वर से प्रतिदिन प्रार्थना करती हूँ कि इनको सन्मार्ग पर चलने की सद्बुद्धि देता रहे । ये स्वस्थ और प्रसन्न रहें । अस्तु

मेरा संक्षिप्त सा परिवार था । ये अपने अध्यापन के उतार-चढ़ाव में बदायूँ, अजमेर और जालंधर होते हुये मेरठ कालिज, मेरठ में सन् १९५६ में आ चुके थे । इनके छोटे भाई **डा० स्वतन्त्र निरूपण आयुर्वेदालंकार** और मेरे देवर मेरे परिवार के अविभाज्य अङ्ग थे । एक प्रकार से बच्चों की देख-भाल ये ही करते थे । सामान्य रूप से चलने वाले हमारे परिवार पर अकस्मात् अनभ्र वज्रपात हुआ और डॉ० स्वतन्त्र निरूपण हम सबको बिलखता हुआ छोड़कर इस नश्वर संसार को छोड़कर सन् १९७० में चले गये गये । उनका इस प्रकार चला जाना मेरे लिये असह्य था, परन्तु इनके गंभीर धैर्य को देखकर मैं चकित थी । इनके लिये मृत्यु जीवन का एक क्रम थी और मेरे लिये दारुण असह्य वेदना का सागर । आज वे इस संसार में नहीं हैं, परन्तु मेरे लिये उनकी स्मृतियाँ अब भी उसी प्रकार नवीन हैं, जिस प्रकार उस समय थीं ।

सन् १९७५ में हमने अपनी एक मात्र पुत्री कुमारी श्रद्धा की शादी खजूरी (सहारनपुर) निवासी श्री ध्वज प्रताप सिंह के सुपुत्र श्री यशपाल सिंह के साथ कर दी । इस शादी ने मुझे नया जीवन दिया और मैं पुनः इस संसार को संसार समझती हुई प्रकृतिस्थ हो गई । किन्तु **"मेरे मन कछु और है विधिना के कछु और"** के अनुसार परमेश्वर ने मेरे कनिष्ठ पुत्र चिरञ्जीव हिमाङ्क को दिसम्बर १९७५ में छीन लिया । वह मुझे दुःख देकर चला गया । मैं अपने को सँभाल नहीं पाई किन्तु

ये इस दुःख को भी पी गए। ठीक है, मातृत्व के दुःख को माता ही समझ सकती है। मैं अपने मार्ग से भटक गई किन्तु ये मार्ग में आने वाले मील के पत्थर के समान अडिग खड़े थे। मैं समझती हूँ कि जीवन के मार्ग में आने वाले उतार चढ़ावों पर जो अपने आपको नियंत्रण में रख सकता है, वही मानव है, वही मनुष्य है। हमारे परिवार के इस अपार दुःख में सहयोगी होकर जो सर्वप्रथम आये वे हैं अपने प्रकाशक **श्री रतिरामजी शास्त्री**। वे मुझे **देवी जी** कहकर पुकारते हैं। शास्त्री जी की एक विशेषता है, जिसे मैं भूल नहीं सकती हूँ और वह उनकी विशेषता है कि जब मैं रो रही होती थी तो वे रोने लगते थे और जब मैं हँसी तब वे हँसने लगे। वे दुःख और सुख में समभाव से मेरे और मेरे परिवार के अभिन्न अङ्ग थे। इनके साथ ही इस दुःख में आये **डॉ० विष्णुशरण जी इन्दु**। इनके समय समय पर दिये गये उपदेश, विभिन्न प्रकार से दी गई सान्त्वनायें हमारी मार्गदर्शक थी। इन दोनों के सहयोग से मेरी खुशियाँ फिर वापस आ गई। शनैः शनैः समय व्यतीत होता गया। मैं कह नहीं सकती कि मेरे जीवन में कितने उतार-चढ़ाव आए हैं, जिन्हें मैंने डूबते उतराते सहा है। मेरठ के मेरे इस जीवन में गुरुकुल काङ्गडी विश्व-विद्यालय के अनेक स्नातक छोटे और बड़े आते रहे हैं और मेरे पास रहकर एम० ए० करके चले गए हैं। इन्हीं में से कुछ मेरे लिये अविस्मरणीय भी हो गये हैं, जिनमें से एक हैं **ब्रजेश विद्यालंकार**। गुरुकुल का स्नातक होने से यह इनको **भाई जी** और मुझे **भाभी जी** कहा करता था। ये मध्यप्रदेश में छतरपुर में निकट **गढ़ी-मलहरा** का रहने वाला था। स्वतन्त्र की मृत्यु पर मुझे सान्त्वना देते हुये इसने कहा था कि **भाभी जी**, आपका एक देवर चला गया अभी यह **देवर** तो आपकी सेवा के लिये विद्यमान है। आज वह **ब्रजेश** महाराजपुर (मध्य प्रदेश) में डिग्री कालिज का प्रिंसीपल है। जब जब भी विधाता मुझसे रूठा है, **ब्रजेश** मेरे पास आया है और मुझे सान्त्वना दी है और मैं आश्वस्त हुई हूँ। इसी प्रकार ब्रजेश के साथ पढ़ने वाली **श्रीमती उमा माथुर** को भी मैं नहीं भूल सकती हूँ, जो इस समय भी मेरा ध्यान रखती है। आज उसका सर्वस्व खो गया है। मेरी उसके पास जाने की, उसको धैर्य बँधाने की हिम्मत नहीं होती है, पुनरपि उसका दुःख कम करने की कोशिश करती हूँ और परमेश्वर से उसके लिये प्रार्थना करती रहती हूँ। इसप्रकार न मालूम कितने मेरे जीवन में आये और चले गये। मैं परमेश्वर से नित्य प्रति प्रार्थना करती रहती हूँ कि मेरे परिवार का अङ्ग बनकर जो भी आया है, वह जहाँ भी रहे, ठीक रहे, स्वस्थ रहे और प्रसन्न रहे। मेरी हिम्मत टूट चुकी है, अब अधिक सहन करने की शक्ति नहीं रही है। परमेश्वर ने मुझे सब कुछ सहन करने के लिये कठोर बना दिया है। यही कारण है कि जब मैं खुलकर रोना चाहती हूँ तो देखती हूँ कि मेरी आंखों का पानी समाप्त हो चुका है। मेरा एकमात्र आधार या तो औषधि है और या ये मेरे देवता, जो सब कुछ मेरे साथ मिलकर सहते चले जाते हैं, पर कहते कुछ नहीं हैं। मेरा आज कल का नित्य नियम है मैं प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर अपना नित्य कर्म करती हूँ, सन्ध्या वन्दन करती हूँ, जिससे मुझे परमशान्ति मिलती है। मैं जब भी दुःखी होती हूँ तो अपने भाई सत्यदेव जी के पास दिल्ली चली जाती हूँ और जब सुख का अवसर आता है तब मैं अपने घर विशाल **पारिवारिक यज्ञ** करवा लेती हूँ। यदा कदा **डॉ हरिप्रकाश जी आयुर्वेदालंकार** आ जाते हैं। मेरे स्वास्थ्य के विषय में पूछ लेते हैं और आवश्यक दवा भी दे देते हैं। इनसे मेरा सम्बन्ध मेरे विवाह के पश्चात् ही हुआ। सम्प्रति इनके साथ पारिवारिक सम्बन्ध हैं। इसी प्रकार **डॉ राजेश्वरनाथ त्यागी** मेरे और मेरे परिवार की सभी प्रकार से देखभाल करने वाले हैं। डॉ राजेश्वर इनके सहाध्यायी और गुरुकुलीय साथी हैं। हाँ, इसी प्रकार मेरे दिन व्यतीत हो रहे थे। अरे, मैं कहाँ भटक गई। लिखने बैठी थी **'मेरे पति मेरे देवता'** और मैं लिख गई अपने जीवन की कहानी। हाँ, इसी कहानी में सर्वत्र मेरे पति मेरे देवता समाये हुये हैं। वस्तुतः हुआ यह कि एक दिन डॉ० **उमाकान्त शुक्ल** जो **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्**

के मन्त्री हैं मेरे पास आये और कहने लगे कि **भाभी जी**, भाई जी पर एक लेख लिख दो, वे जून १९८४ में अवकाश ग्रहण कर रहे हैं और **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** उनको एक उच्चस्तरीय अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करना चाहती है, जिसमें आपके लेख का होना अत्यन्त आवश्यक है। मैं कहने लगी कि मुझे कुछ लिखना आता ही नहीं है क्या लिखूंगी ? परन्तु वह तो मुझे लिखने को कहकर चले गये, पर मैं सोचती रही कि क्या लिखूं। एक दिन प्रातःकाल उठी और जो कुछ मन में आया, जैसे जो विचार जिह क्रम से पूर्वापर सम्बद्ध रहित उठे उनको वैसा ही लिख दिया है। यही कारण है कि मैं लिखने बैठी थी **'मेरे पति मेरे देवता'** पर किन्तु न मालूम क्या-क्या लिख गई हूँ। मुझे याद नहीं आता कि इस जीवन के उतार-चढ़ाव में किस प्रकार ये यौवन के दिन व्यतीत हो गये। अपने यौवन काल की एक मात्र हम दोनों की स्मृति वे पत्र हैं जो इन्होंने या मैंने एक दूसरे को लिखे थे। ये कहा करते थे कि इन पत्रों को सँभाल कर रखना, इनको आधार बनाकर उपन्यास लिखूंगा। आज भी वे पत्र इनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इनका अभिनन्दन हो रहा है, इनको अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। सोचती हूँ कि आज मैं भी अपने जीवन की थाली में वे पत्र इन्हें समर्पित कर दूं। ठीक भी है—

"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये" इति

७०, पर्णकुटी,
नेहरू रोड, मेरठ।

□ डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार

मेरी सारस्वत यात्रा

मेरा जन्म १० जून १९२४ में ग्राम–गुढ़ा, तहसील–शिकोहाबाद, जिला मैनपुरी में हुआ था। मेरे श्रद्धेय पिता श्री बाबूसिंह जी तथा पूज्या माता श्रीमती कलावती थीं। मेरी दादी का नाम श्रीमती गंगाकुमारी था। हम चार भाई और चार बहिनें थीं। आज हम चार बहिनें और दो भाई हैं। हम सभी भाई-बहिन अपनी दादी को चाची कहा करते थे। हमारे पिता जी भी हमारी दादी को चाची कहा करते थे, यद्यपि वे उनकी माता जी थीं। अस्तु

बाल्यावस्था में मेरी प्रारम्भिक शिक्षा अपने ही ग्राम की प्राथमिक पाठशाला में अपनी गति से चल रही थी। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो उसमें मुझे मुंशी गजराजसिंह जी श्रीरामस्वरूप जी गुप्त पढ़ाया करते थे। यह वह समय था जबकि देश कांग्रेस के नेतृत्व में स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहा था। उन दिनों पिता जी कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता थे। यदि मैं यह कहूँ कि वे कांग्रेस का उस क्षेत्र में नेतृत्व कर रहे थे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। सन् १९३० में उन्होंने महात्मा गाँधी जी के नेतृत्व में अस्पृश्यता निवारण में बढ़-चढ़कर भाग लिया। मुझे अब भी याद है कि मेरी माता जी कहा करती थीं कि इन अछूतों के साथ रोटी खिलाकर गाँधी जी ने हमको धर्मभ्रष्ट तो कर दिया परन्तु आज़ादी अभी तक भी नहीं मिली। इस स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेते हुये पिता जी सन् १९३२ में वैयक्तिक सत्याग्रह करके जेल गये। मैंनपुरी की जेल से उनका स्थानान्तरण फैज़ाबाद जेल के लिये हो गया। इसी फैज़ाबाद की जेल में रहते हुये उनका एक अन्य व्यक्ति से परिचय हुआ, जो गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार के मुख्यधिष्ठाता थे। पिता जी ने जेल के अन्दर ही उनसे संस्कृत सीखी। सामान्य परिचय घनिष्ठता में बदल गया और उन्होंने पिता जी से अपने एक पुत्र को गुरुकुल काँगड़ी में अध्ययन करने के लिये भेजने का वचन ले लिया। उस समय गुरुकुल कांगड़ी राष्ट्रीय संस्था के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। यहीं से मेरे जीवन की दिशा में प्रथम परिवर्तन हुआ। अस्तु—

सन् १९३२ में फैज़ाबाद जेल से छूटकर घर आने पर पिता जी ने अपने वचन को पूरा करने के लिये किसी एक पुत्र को गुरुकुल भेजने की चर्चा प्रारम्भ की। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो बड़े पुत्र को दादी ने अपने प्रेमवश गुरुकुल नहीं जाने दिया। मेरे से छोटे दोनों भाई इतने अल्पवयस्य थे कि वे गुरुकुल में प्रविष्ट नहीं हो सकते थे। परिशेष्यात् पिता जी ने और चाची ने मुझे ही गुरुकुल भेजने का निर्णय ले लिया। मुझे बलि का बकरा बना दिया। मुझे क्या मालूम था कि यह मेरे जीवन के निर्माण का प्रथम पग था। मुझे जब इस बात का पता लगा कि मुझे पढ़ने के लिये गुरुकुल काङ्गड़ी जाना है तो मेरी प्रसन्नता का कोई पारावार नहीं रहा। मुझे प्रसन्नता इस बात की नहीं थी कि मैं पढ़ने के लिये घर से बाहर गुरुकुल जा रहा हूँ अपितु इस बात की प्रसन्नता थी कि मैं रेलगाड़ी में बैठूंगा। सचमुच वह रेलगाड़ी में बैठने का शौक मेरा अब भी वैसा ही बना हुआ है। यात्रा करना मुझे बचपन से ही प्रिय था और अब भी प्रिय है।

गुरुकुल काङ्गड़ी का वार्षिकोत्सव वैशाखी पर्व पर प्रतिवर्ष ११, १२, १३ और १४ अप्रैल को हुआ करता है। आज भी गुरुकुल काङ्गड़ी की वार्षित्कोत्सव की तिथियों ये ही निश्चित हैं। इन तिथियों

में से १३ अप्रैल को वैशाखी के दिन गुरुकुल काङ्गड़ी का दीक्षान्त-संस्कार होता है अर्थात् इस दिन गुरुकुल काङ्गड़ी में १४ वर्ष रहकर अपना विद्याध्ययन समाप्त कर ब्रह्मचारी स्नातक बना करते हैं और १४ अप्रैल को नवीन ब्रह्मचारियों का प्रवेश हुआ करता है। सन् १९३२ में गुरुकुल काङ्गड़ी के वार्षिकोत्सव में मैं अपनी चाची, पिता जो, बड़े भाई, बाबू वीरेश्वर सिंह जी और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती दमयन्ती जी, जिनको हम बड़े आदरभाव के साथ बुआ कहते थे, के साथ गुरुकुल काङ्गड़ी हरिद्वार में पढ़ने जाने के लिये गया था। मुझे आज भी वह दिन प्रत्यक्षवत् दिखाई दे रहा है, जबकि मैं शिकोहाबाद स्टेशन पर जाने की खुशी में सारी रात्रि नहीं सोया था। ११ अप्रैल की प्रातः हम सभी हरिद्वार के गुरुकुल के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने के लिये गुरुकुल की पुण्यभूमि में आ चुके थे। मेरा गुरुकुल में प्रवेश उसी जन्मभूमि में हुआ था, जिस पुण्यभूमि पर इस समय गुरुकुल अवस्थित है। गुरुकुल काङ्गड़ी के वार्षिकोत्सव की शोभा अद्भुत थी, उसकी अनुपम छटा का वर्णन करने की शक्ति इस मेरी लेखनी में नहीं है। मैं उस चहल-पहल में खो गया। मेरा गुरुकुल में प्रविष्ट होने का उत्साह और उमंग कई गुनी बढ़ चुकी थी। दिन व्यतीत होते क्या देर लगती है। नवीन ब्रह्मचारियों का प्रवेश १४ अप्रैल को होना था। १४ अप्रैल की प्रातः हमारा मुण्डन कर दिया गया। पहनने के लिये पीत वस्त्र धारण कराये गये। हाथ में दण्ड धारण कराया गया और हमारा आर्यजगत् की सर्वोच्च संस्था गुरुकुल काङ्गड़ी में "**उपनयन संस्कार**" कर दिया गया। उस समय गुरुकुल काङ्गड़ी के आचार्य श्री पं० देवशर्मा जी विद्यालङ्कार (अभयदेव जी) थे और विद्यालय विभाग के तत्कालीन मुख्याध्यापक श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार थे। "**उपनयन संस्कार**" के समय प्राचीन शिक्षा पद्धति के अनुसार हमसे भिक्षा मंगवाई गई थी और मैं समझता हूँ कि उस समय की वह भिक्षावृत्ति आज भी मेरे जीवन में उसीप्रकार जीवन्त है। मैं आर्य-समाज, सदर के उत्सवों के लिये, मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् के लिये और संस्कृत-विभाग के लिये सर्वदैव निःसंकोच भाव से दान लेता रहता हूँ। मेरा "**उपनयन संस्कार**" हो गया और मैं अपनी माता की गोद से कुलमाता की गोद में चला गया। वेद कहता है—

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टु मभिसंयन्ति देवाः ॥ अथर्व ११.५.३ ॥

योग्यता के आधार पर मेरा प्रवेश द्वितीय श्रेणी में हुआ। अपनी श्रेणी में प्रथम आने के कारण मुझे तृतीय-चतुर्थ श्रेणी एक साथ एक वर्ष में कराकर पञ्चम श्रेणी में प्रोन्नत कर दिया गया। गुरुकुल काङ्गड़ी विद्यालय में अध्ययन करते हुये जिन मेरे गुरुओं ने मेरे जीवन का निर्माण किया, आज उनको मैं श्रद्धापूर्वक स्मरण कर रहा हूँ। और वे हैं श्री पं० भीमसेन जी, श्री पं० विष्णुदत्त जी विद्यालङ्कार, श्री पं० मोखासिंह जी, तत्कालीन विद्यालय विभाग के मुख्याध्यापक श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार। श्री पं० भीमसेन जी मेरे द्वितीय श्रेणी से पञ्चम श्रेणी तक आश्रम के अधिष्ठाता रहे। उन्होंने सबप्रकार से यह प्रयत्न किया कि भोजन में सभीप्रकार के व्यञ्जनों और शाक-सब्जियों को समभाव से खाऊँ परन्तु उनके पूर्ण प्रयत्न करने पर भी मुझे आलू-बैंगन की सब्जी न तब अच्छी लगी और न अब अच्छी लगती है। मुझे तैरना इन्होंने ही सिखाया था। हमारा गुरुकुल गंगनहर के साथ-साथ बसा हुआ है। तैरना

सिखाने की उनकी एक ही विधि थी कि वे ब्रह्मचारी को गंगनहर में उठाकर फैंक देते थे और दो-एक बार उसके डूबने-उतराने के पश्चात् उसे नहर से निकाल लिया करते थे। इसप्रकार ब्रह्मचारी का जल से भय दूर करने के उपरान्त दो-तीन दिन में ही उसे तैरना आ जाता था। मेरी भी यही गति रही, दो-तीन बार डूबने के बाद मुझे तैरना आ गया और शीघ्र ही मायापुर (हरिद्वार) के पुल से कूदकर गुरुकुल तक बिना किसी अन्य की सहायता से तैरकर आने लगा। उस समय गुरुकुल में आबालवृद्ध कोई ऐसा नहीं था जो तैरना न जानता हो, किन्तु आज ४० वर्ष के पश्चात् मुझे बड़े दुःख से लिखना पड़ रहा है कि आज गुरुकुल में कोई भी, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, चाहें कर्मचारी हो, चाहे अध्यापक हो और चाहे बड़े से बड़ा अधिकारी हो कोई तैरना नहीं जानता, तैरना सिखाने की तो बात ही दूर है। आज गुरुकुल से तैरने की कला सर्वथा विदा ले चुकी है।

श्री पं० विष्णुदत्त जी विद्यालङ्कार हमको संस्कृत साहित्य, व्याकरण और अनुवाद कराते थे। साथ ही सायंकाल खेल के समय वे मैदान में हॉकी, फुटबाल सिखाते थे। हॉकी-फुटबाल सिखाने में मैं अपने आश्रम के सेवक '**दीवान**' को नहीं भूल सकता हूँ। जिस समय मैं चतुर्थ श्रेणी में पढ़ता था एकबार गुरुकुल काङ्गड़ी और गुरुकुल ज्वालापुर के मध्य फुटबाल का मैच हुआ। सौभाग्य से हमारी टीम एक गोल से जीती थी। बस, फिर क्या था। प० विष्णुदत्त जी ने हमको उत्साहित करने के साथ-साथ उस दिन रात्रि के भोजन में यथेष्ट दूध पीने को दिया। मुझे दूध अच्छा नहीं लगता था, परिणामतः मुझे दूध के स्थान पर मलाई खाने को मिली। दूध न पीने पर मुझे कई बार अपने पडित जी के हाथों पिटना भी पड़ा, पर मैं केवल दूध पीना नहीं सीख सका। आज भी मुझे दूध अच्छा नहीं लगता है। इसप्रकार मेरा खेल और अध्ययन दोनों साथ-साथ चल रहे थे। श्री पं० मोखासिंह जी इसलिये स्मरणीय हैं कि वे हमको प्रतिदिन रात्रि को भोजन के उपरान्त रामायण-महाभारत की कहानियाँ सुनाया करते थे। आज रामायण-महाभारत में जो मैं अपनी यत्किञ्चित् गति समझता हूँ, वह श्री पं० मोखासिंह जी की सुनाई हुई कहानियों का फल है। श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार को मैं आज किन शब्दों में स्मरण करूँ। वे विद्यालय विभाग के मुख्याध्यापक थे और हमको पञ्चम श्रेणी में आंग्लभाषा पढ़ाया करते थे। एक दिन आंग्लभाषा पढ़ाते हुये Cost और Lost शब्द आ गये। मेरा इन शब्दों का उच्चारण अशुद्ध था। मैं 'स' के स्थान पर 'श' का उच्चारण करता था। इस अशुद्ध उच्चारण के लिये मुझे कठोर दण्ड मिला। अन्ततोगत्वा मेरा तीन दिन में उच्चारण शुद्ध हुआ। आज सोचता हूँ कि उस समय पण्डित जी ने मेरे साथ परिश्रम न किया होता तो मेरा उच्चारण सदा-सदा के लिये अशुद्ध हो जाता और मैं पग-पग पर हंसी का पात्र बनता। मैं यह देखता हूँ कि संस्कृत भाषा का अध्ययन करने वाले छात्र और अध्यापक सकार के स्थान पर शकार का उच्चारण करते हैं, जो सभा और गोष्ठियों में कानों को खटकता है। इसप्रकार मेरे शैशवावस्था की विद्यालय की पढ़ाई समाप्त हो गई और मैं पञ्चम श्रेणी पासकर षष्ठ श्रेणी में आ गया। अस्तु

गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय के अनेक शाखा गुरुकुल थे। तद्यथा-गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ, गुरुकुल कुरुक्षेत्र और गुरुकुल सूपा आदि। इनमें से गुरुकुल काङ्गड़ी की प्रमुखतम शाखा गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ थी। इसे गुरुकुल काङ्गड़ी का अङ्ग कहना ही अधिक उचित होगा क्योंकि गुरुकुल काङ्गड़ी से पञ्चम श्रेणी पास करने के पश्चात् सम्पूर्ण श्रेणी को षष्ठ श्रेणी में पढ़ने के लिये गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ आना पड़ता था। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में षष्ठ से लेकर दसवीं तक श्रेणियाँ थी। दशम श्रेणी पास करने के पश्चात् ११ वीं श्रेणी में पढ़ने के लिये पुनः गुरुकुल काङ्गड़ी हरिद्वार जाना पड़ता था। गुरुकुल कुरुक्षेत्र में एक से आठवीं

तक श्रेणियाँ थी । आठवीं पास कर लेने के बाद प्रत्येक ब्रह्मचारी को नौवीं श्रेणी में पढ़ने के लिये गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ आना पड़ता था । गुरुकुल सूपा से दसवीं पास करके ब्रह्मचारी सीधे गुरुकुल काङ्गड़ी महाविद्यालय में ग्यारहवीं श्रेणी में आता था । इसप्रकार गुरुकुल काङ्गड़ी से पञ्चम श्रेणी पास करने के बाद षष्ठ श्रेणी में मैं अपनी श्रेणी के साथ गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ आ गया । यह गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ दिल्ली-मथुरा सड़क तथा रेलमार्ग पर दिल्ली से २४ मील दूर तुगलकाबाद और फरीदाबाद के मध्य पहाड़ी पर अवस्थित है, जिसे ट्रेन और सड़क से दूर से ही देखा जा सकता है । इस गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की अपनी अनेक विशेषतायें थीं । पहाड़ी पर बसा होने के कारण उस समय सड़क तथा तुगलकाबाद स्टेशन से याता-यात की सुविधा न होने के कारण गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ पहुँचने में बड़ी असुविधा होती थी । गोखुरू खूब होते थे , पैरों में खूब चुभते थे । ब्रह्मचारी होने के कारण प्रायः हम सभी नगे पैर ही रहा करते थे । मैं तो अपने सम्पूर्ण गुरुकुलीय जीवन में नंगे पैर ही रहा । गुरुकुल के पर्वतीय होने के कारण हम स्वतः अनुशासनप्रिय थे अर्थात् पंक्ति में चला करते थे । पंक्ति से हटकर चले नहीं कि पैरों में काँटे और गोखुरू चुभे । गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की अपनी विशेषता थी—वहाँ का झरना । इसीमें कूद-कूदकर स्नान करते तथा अपनी तैरने की इच्छा पूरी कर लेते थे । वैसे स्नान करने के लिये स्नानागार गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की पहाड़ी से नीचे लगभग २ कि० मी० था । यहीं हम प्रातः स्नान करने के लिये आया करते थे । यहीं पर हॉकी-फुटबाल का मैदान था । सायंकाल खेलने के लिये हम यहीं नीचे आते थे । भ्रमण के लिये हमारे प्रमुखतम स्थान थे—सूर्यकुण्ड, महरौली में कुतुबमीनार और दिल्ली । ओखला भी घूमने जाया करते थे । यह सम्पूर्ण घूमना पैदल ही हुआ करता था । गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में पाँच वर्ष रहते हुये हम आश्रम के तंग बरामदों में ही हाँकी, बालीवाल तथा फुटवाल खेल लिया करते थे । नियमित खेल तो हॉकी के मैदान में ही पहाड़ी से नीचे खेला करते थे । वस्तुतः हम सभी का निर्माण इसी गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में हुआ करता था । आज गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ उस रूप में नहीं रहा । गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ समाप्त हो चुका है । गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की छठी से १० वीं तक की श्रेणियाँ अब गुरुकुल काङ्गड़ी में ही लगती हैं । गुरुकुल सूपा से भी अब ब्रह्मचारी आने बन्द हो गये हैं । हाँ, गुरुकुल कुरुक्षेत्र अब भी यथापूर्व चल रहा है । अस्तु

मैं सन् १९३५ में गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में छठी श्रेणी में आया था । छठी श्रेणी में हमको श्री पं० विक्रमादित्य जी संस्कृत व्याकरण पढ़ाया करते थे । ये बाबा जी के नाम से प्रसिद्ध थे । हम सभी ब्रह्मचारी इनको बाबा जी कहा करते थे । इन्होंने मुझे कभी भी निरूपण नहीं कहा, ये मुझे निरूपक कहा करते थे । धर्मशिक्षा स्वामी (श्री रामानन्द जी) पढ़ाया करते थे । संस्कृत साहित्य श्री पं० धर्मदेव जी वेदवाचस्पति पढ़ाया करते थे । अपनी छठी श्रेणी की एक बात स्मरणीय है कि उस वर्ष ओलम्पिक हॉकी में भारत विश्व विजेता बनकर लौटा था । लौटकर आने पर विश्व विजयी भारत हाँकी टीम और शेष एकादश हॉकी टीम का मैच दिल्ली में हुआ था । मैं अपनी सारी श्रेणी के साथ इस मैच को देखने के लिये दिल्ली गया था । उस समय मेरा पहला नाम्ना परिचय हॉकी जादूगर ध्यानचन्द्र जी तथा रूपचन्द्र जी से हुआ था । गुरुकुल में अध्ययन नियमित होता था । पढ़ाई और खेल का समय निर्धारित था । व्याकरण में हमने ऋषि दयानन्द प्रणीत आख्यायिक पढ़ी थी । ७ वीं, ८ वीं, ९ वीं और दशवीं श्रेणी तक आते आते सम्पूर्ण काशिका उदाहरण-प्रत्युदाहरण सहित पढ़ ली थी । काशिका हमको पढ़ाई थी श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालङ्कार ने । इन्होंने ही हमको श्रीमद्भगवद्गीता सम्पूर्ण पढ़ाई थी। बाणभट्ट प्रणीत कादम्बरी का अध्ययन हमने श्री पं० धर्मदेव जी वेद वाचस्पति से किया था । मुझे आज भी खूब अच्छी प्रकार से याद है कि कादम्बरी पढ़ते-पढ़ते एक स्थल पर यह विरोधाभास आया था कि **"महिषीसम्भवोऽपि वृषोत्पादी ।"** बस, फिर क्या था । पण्डित जी के साथ-साथ सारी श्रेणी हँसती रही

और उस दिन फिर पाठ आगे चला ही नहीं। इसीप्रकार छठी श्रेणी में पढ़ते हुये वार्षिक मौखिकी परीक्षा में दो वाक्यों का अर्थ हमारी सामूहिक कक्षा से बाबा जी ने पूछा था, जिसका हम सब मिलकर भी उत्तर नहीं दे पाये थे। वे वाक्य थे—

(क) अस्यायुधमस्य तत्।

(ख) एकाहमेकाहम पाठयन्तम्।

आज भी यदा कदा मेरठ कालिज में एम. ए. के छात्रों को पढ़ाते समय प्रकरण बताते हुये उपर्युक्त दोनों वाक्यों का अर्थ पूछ लेता हूँ और सभी के मौन रहने पर स्वयं ही अर्थ बता देता हूँ। इसीप्रकार हमारी श्रेणी में हमारा एक साथी था जयकृष्ण। आज तो ये केन्द्रीय हिन्दी विद्यापीठ आगरा से हिन्दी विभाग में रीड़र पद पर रहते हुये रिटायर्ड हो चुके हैं। इनको आज भी अपनी छठी श्रेणी में पढ़ने वाले सभी साथियों के नाम उसी क्रम से याद हैं, जिस क्रम से विद्यालय में उपस्थिति ली जाती थी। अब भी जब कभी आगरा जाकर डॉ० जयकृष्ण विद्यालङ्कार से मिलने का अवसर मिलता है तो मैं जयकृष्ण से कहता हूँ कि अपनी सारी श्रेणी के नाम सुना दो और फिर हम दोनों अपनी छठी श्रेणी में पढ़ने वाले सभी साथियों को एक-एक करके याद कर लेते हैं।

गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के पाँच वर्ष के जीवन की अनेक स्मृतियाँ मानस पटल पर चलचित्र के समान घूम रहीं है। संस्कृत साहित्य और व्याकरण के साथ-साथ अंग्रेजी, धर्मशिक्षा, विज्ञान, इतिहास और भूगोल आदि १० विषय पढ़ाये जाते थे। खेल की दृष्टि से हॉकी, वालीबाल और फुटबाल इन्द्रप्रस्थ की अपनी विशेषता थीं। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में उस समय बिजली नहीं थी। परिणामतः हम रात्रि को लैम्प से ही पढ़ा करते थे। मेरे जीवन में एक क्षण ऐसा भी आया था जब कि मैंने यह निर्णय कर लिया था कि मैं अब गुरुकुल में नहीं पढ़ूंगा। परन्तु आज मैं अपने उस साथी मित्र ओम्प्रकाश (क्वेटा) को नहीं भूल सकता हूँ जिसने मुझे फुसलाकर और समझाकर पुनः गुरुकुल में ही पढ़ने के लिये प्रेरित किया था। आज वह ओम्प्रकाश इस नश्वर संसार में नहीं है, परन्तु उसकी स्मृति आज भी हृदय में सुरक्षित है। इसीप्रकार गुरुकुल इन्द्रप्रस्थीय जीवन में मेरे जीवन का निर्माण करने वाले श्री पं० महामुनि जी तथा श्री पं० कृष्णराव जी को नहीं भूल सकता हूँ। शनैः-शनैः मैं समय के साथ नौवीं श्रेणी में आ गया। यहीं से मेरा साहित्यिक एवं खेल का जीवन प्रारम्भ होता है। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की साहित्यिक संस्था का नाम **साहित्य संजीवनी** था। इसीके निर्देशन में एक **साप्ताहिक हस्तलिखित** पत्रिका निकाली जाती थी। इसीके माध्यम से हम सभाओं में बोलना और लिखना सीखते थे। अस्तु

स्वतन्त्रता आन्दोलन महात्मा गान्धी के नेतृत्व में चल रहा था। प्रायः गान्धी जी वर्धा से दिल्ली और दिल्ली से वर्धा आते-जाते रहते थे। इसीप्रकार किसी प्रसङ्ग में महात्मा गान्धी जी दिल्ली से वर्धा जा रहे थे। मैं "**साहित्य संजीवनी**' का मन्त्री था। श्रेणी के सभी साथियों का विचार बना कि चलो, तुगलकाबाद रेलवे स्टेशन पर चलकर गान्धी जी के दर्शन कर आयें और अपनी हस्तलिखित पत्रिका में उनका आशीर्वाद ले आयें। गान्धी जी दिल्ली से वर्धा जा रहे थे। हमारी सारी श्रेणी अपने पण्डित जी के साथ समय पर तुगलकाबाद रेलवे स्टेशन पर पहुँच गई। ट्रेन आई और हम गान्धी जी के डिब्बे में थे। हमको पण्डित जी ने बता रखा था कि गान्धी जी अपने हस्ताक्षर करने के पाँच रुपये लेते हैं। मैं मन्त्री होने के नाते हाथ में ५ रु० और हस्तलिखित पत्रिका लेकर गान्धी जी के पास गया। उन्होंने हम सबको प्लेटफार्म पर पंक्ति में खड़े होने को कहा और पूछने लगे कि बोलो, क्या तुम अपने भोजन के बर्तनों को स्वयं अपने आप मांजते हो। हमारे मना करने पर कहने लगे कि यदि तुम सभी अपने भोजन के बर्तनों को स्वयं

मांजने का वचन देते हो तब तो मैं अपने हस्ताक्षर देता हूँ अन्यथा नहीं। हममें उत्साह था और हमने आगे बढ़कर स्वयं बर्तन मांजने का उनको वचन दिया और उन्होंने हमारी पत्रिका में "मो० क० गान्धी" हस्ताक्षर कर दिये। यह हमारा उस राष्ट्रपिता का पहला दर्शन था, जिसके नेतृत्व में भारत ने अहिंसा के माध्यम से स्वतन्त्रता प्राप्त की।

उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन में काँग्रेस का वर्चस्व था। उस समय, जिस समय की घटना मैं लिख रहा हूँ, कांग्रेस के राष्ट्रपति (तब राष्ट्रपति होते थे, अध्यक्ष नहीं) श्री सुभाषचन्द्र बोस थे। एक दिन सुना कि राष्ट्रपति श्री सुभाषचन्द्र बोस अपनी कार से गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के सामने से गुजरेंगे। समय का ठीक पता नहीं था। अतः गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के हम ब्रह्मचारी उनके दर्शन करने और अपनी हस्तलिखित पत्रिका पर उनका सन्देश लेने के लिये सड़क पर प्रातःकाल से ही जाकर बैठ गये और अपने राष्ट्रपति श्री सुभाषचन्द्र बोस के आने की उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे। शनैः-शनैः दिन व्यतीत होने लगा, मध्याह्न हो गया और अपराह्न भी अपनी गति से सायंकाल की ओर बढ़ने लगा। श्री सुभाषचन्द्र बोस नहीं आये और नहीं ही आये। हम ब्रह्मचारियों का धैर्य क्षीण होने लगा और शनैः-शनैः ब्रह्मचारी आश्रम की ओर लौटने लगे। सूर्यास्त होते-होते हम चार-पाँच ब्रह्मचारी रह गये और शेष लौट गये। आज भी वह दृश्य आँखों के सामने प्रत्यक्षवत् घूम रहा है। हमको कार आती दिखाई दी, कार के ऊपर सामने तिरङ्गा ध्वज फहरा रहा था। कार पास आई, हमने हाथ दिया और कार रुक गई। हम सभी ब्रह्मचारियों ने आगे बढ़कर अपने कांग्रेस के राष्ट्रपति श्री सुभाषचन्द्र बोस के प्रणतभाव से चरणस्पर्श किये। मैंने उनके सम्मुख अपनी **हस्तलिखित पत्रिका** बढ़ा दी। उन्होंने लिखा—

"Service and Suffering should be your motto"

आज इस आदर्श वाक्य को हम तत्कालीन गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के ब्रह्मचारी कितना अपने जीवन में चरितार्थ कर पाये हैं, यह आर्य जगत् के सन्मुख है। मैंने प्रयत्न किया है कि इस आदर्श वाक्य को अपने जीवन में यथाशक्ति ढाल सकूँ। अस्तु,

मैं उस समय नौवी श्रेणी में पढ़ता था, जबकि आर्यसमाज की ओर से हैदराबाद सत्याग्रह का आन्दोलन श्री नारायण स्वामी के नेतृत्व में प्रारम्भ होने जा रहा था। इस आन्दोलन में प्रथम आहुति आर्यसमाज की एकमात्र शिरोमणि संस्था गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय के ब्रह्मचारियों ने श्री नारायण स्वामी जी के नेतृत्व में जत्थे के रूप में हैदराबाद जाकर सत्याग्रह करके दी। यह आर्यसमाज का यशस्वी और अनुपम सत्याग्रह था। इस समय गुरुकुल काङ्गड़ी के आचार्य जी अभयदेव जी थे। हमने और हमारी श्रेणी के ब्रह्मचारियों ने बड़ी कोशिश की कि हमको हैदराबाद सत्याग्रह में जाने की अनुमति मिल जावे, परन्तु आचार्य जी से हमको हैदराबाद सत्याग्रह में जाने की अनुमति नहीं मिली और इसप्रकार हम उस सत्याग्रह में जाने से रह गये।

गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में पढ़ते हुये खेल के क्षेत्र में मेरे जीवन में एक नया मोड़ आया। डा० हरिप्रकाश जी आयुर्वेदालंकार गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में चिकित्सालय में डाक्टर पद पर नियुक्त होकर आये थे। आप हॉकी और बॉलीबॉल के अप्रतिम खिलाड़ी थे। ये अपने गुरुकुलीय जीवन में अनेक टूर्नामेंण्ट खेल चुके थे। ये हमारे बीच प्रतिदिन सायंकाल हॉकी और बॉलीबॉल खेलने आते थे। मैंने जो कुछ भी हॉकी और बॉलीबॉल सीखी है, वह इन्हीं की देन है। मुझे गर्व है कि मैंने क्रीड़ा जगत् में इनका शिष्यत्व स्वीकार किया और मैं इस दिशा में कुछ प्रगति कर सका। उन्हीं दिनों गुरुकुल डौरली (मेरठ) ने **"सत्यपाल मेमोरियल हॉकी टूर्नामेंण्ट"** प्रारम्भ किया था। हमारी गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की टीम इस टूर्नामेंण्ट में भाग लेने आई थी। मैं भी इस हॉकी टीम का एक सदस्य था। मैं हॉकी में राइट-आउट फार्वर्ड खेलता था। हमारी टीम का कैप्टेन पूर्णसिंह था। और हम इस डौरली के टूर्नामेंण्ट को जीतकर इन्द्रप्रस्थ

लौटे थे। इसप्रकार गुरुकुल इन्द्रप्रस्थीय जीवन में मैंने जो कुछ भी पढ़ा और सीखा वह सब तत्कालीन गुरुओं का ही आशीर्वाद है। क्रीड़ा के क्षेत्र में मेरा एकमात्र निर्देशन डा० हरिप्रकाश जी ने ही किया। है आज मैं उन सभी के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिनसे मैंने कुछ सीखा है और जिनसे मेरे जीवन का निर्माण हुआ। इसप्रकार मैं सन् १९३६-३७ से लेकर १९४०-४१ तक गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में रहा हूँ। अस्तु—

सन् १९४१ में गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ से दशम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर मैं पुनः ग्यारहवीं श्रेणी में पढ़ने के लिये गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार) में आ गया। अभी तक तो हम सामान्यभाव से दसवीं श्रेणी तक उस अनिवार्य पाठचक्रम को पढ़ते आये थे, जो हम सभी ब्रह्मचारियों के लिये आवश्यक और अनिवार्य था। सम्प्रति महाविद्यालय में आकर हमको यह निर्णय स्वतः लेना था कि हमको किस कालिज में पढ़ना है। गुरुकुल की शिक्षा पद्धति के अनुसार महाविद्यालय में तीन प्रकार के पाठचक्रम चल रहे थे। जो ब्रह्मचारी कला महाविद्यालय में प्रवेश लेते थे, उनको वेद, संस्कृत, भारतीय दर्शन, आर्यभाषा=हिन्दी और अर्थशास्त्र, इतिहास, विज्ञान, तुलनात्मक धर्म- इनमें से कोई एक विषय लेना होता था। कहने का आशय यह है कि कला महाविद्यालय में कुल ६ विषय लेने होते थे और **विद्यालङ्कार** की उपाधि मिलती थी। इसीप्रकार वेद महाविद्यालय में प्रवेश लेने वाले ब्रह्मचारियों को वे सभी विषय लेने होते थे, जो कि एक कला महाविद्यालय के विद्यार्थी को लेने होते थे। हाँ, इतना पाठचक्रम में अन्तर अवश्य था कि वेद महाविद्यालय के पाठचक्रम में वेद और वैदिक व्याकरण अधिक होता था। आर्यभाषा=हिन्दी विषय इनको नही लेना होता था। इनको **वेदालङ्कार** की उपाधि मिलती थी। जो ब्रह्मचारी आयुर्वेद महाविद्यालय में प्रवेश लेते थे उनका सम्पूर्ण पाठचक्रम आयुर्वेदीय होता था किन्तु इनको भी **वेद विषय** अवश्य लेना होता था। इनको **आयुर्वेदालंकार** की उपाधि मिलती थी। मेरे महाविद्यालय में आने से पूर्व **सिद्धान्तालंकार** की उपाधि भी मिलती थी। किन्तु कालान्तर में यह उपाधि समाप्त कर दी गई। इस समय गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय की तीन ही उपाधियाँ चल रही थी। विद्यालंकार, वेदालंकार और आयुर्वेदालंकार, विद्यालंकार और वेदालंकार का पाठचक्रम जहाँ चार वर्ष का था, वहाँ आयुर्वेदालंकार का पाठचक्रम एम० बी० बी० एस के समान पाँच वर्ष का होता था। कालान्तर में आयुर्वेदालंकार भी समाप्त हो गया और गुरुकुल का अपना आयुर्वेदिक कालिज समाप्त होकर गवर्नमैण्ट के पास चला गया और इस समय गुरुकुल का अपना यह आयुर्वेदिक कालिज अपना अस्तित्व समाप्त कर चुका है और सम्प्रति कानपुर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध है। मैंने सन् १९४१ में ग्यारहवीं श्रेणी में आकर कला महाविद्यालय में प्रवेश लिया और मेरे पास विषय थे—वेद, संस्कृत, आर्यभाषा=हिन्दी, अंग्रेजी, भारतीय दर्शन और अर्थशास्त्र।

ग्यारहवीं श्रेणी में हमको वेद श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यालंकार पढ़ाते थे, संस्कृत साहित्य और आर्यभाषा=हिन्दी–इन दो विषयों को श्री पं० वागीश्वर जी विद्यालंकार पढ़ाते थे। आंग्लभाषा पढ़ाते थे श्री लालचन्द्र जी, जो उपाचार्य भी थे, भारतीय दर्शन को पढ़ने का सौभाग्य हमको श्री पं० सुखदेव जी वेद-वाचस्पति से मिला और श्री पं० केशवदेव जी हमको अर्थशास्त्र पढ़ाया करते थे। उस समय गुरुकुल के आचार्य श्री पं० अभयदेव जी विद्यालंकार थे और हमारे आश्रमाध्यक्ष श्री पं० जगन्नाथ जी थे। इसप्रकार मेरा योग्य प्रोफेसरों से महाविद्यालय में अध्ययन प्रारम्भ हुआ। अस्तु—

ग्यारहवीं श्रेणी में आश्रम में एक कमरे में हम तीन ब्रह्मचारी रहते थे, मैं, ब्रह्मदत्त और जयदेव। इसी वर्ष गुरुकुल काङ्गड़ी में यह व्यवस्था प्रारम्भ की गई कि गुरुकुल से बाहर से दसवीं श्रेणी पास करके आने वाला विद्यार्थी ग्यारहवीं श्रेणी में आयुर्वेदिक कालिज में प्रवेश ले सकता है, यदि उसके पास दसवीं में संस्कृत विषय है। इसी नियम के अनुसार हमारी श्रेणी में दो ब्रह्मचारियों ने आयुर्वेद कालिज में प्रवेश

लिया था। उस समय गुरुकुल काङ्गड़ी में ग्रीष्मावकाश अगस्त और सितम्बर इन दो महीनों का हुआ करता था। इसी वर्ष हम अपनी श्रेणी के ६ ब्रह्मचारियों के साथ गंगोत्री की यात्रा पर गये थे। हमारा नेतृत्व श्री भाई सत्यदेव जी कर रहे थे, जो उस समय चौदहवीं श्रेणी में पढ़ रहे थे और कुलमन्त्री थे। शेष हम निम्न साथी थे—मैं, ओम्प्रकाश, जयकृष्ण, ब्रह्मदेव तथा एक अन्य, जिसका नाम इस समय मुझे स्मरण नहीं आ रहा है। हरिद्वार से गंगोत्री और गोमुख की यात्रा हमने पैदल बाईस दिनों में पूरी की थी। गंगा का उद्गम स्थल गंगोत्री न होकर गोमुख है, गंगोत्री से गोमुख १८ मील दूर है। आना-जाना ३६ मील पड़ता है। इस गंगोत्री से गोमुख की यात्रा दो दिन में पूरी करनी पड़ती है। बीच में विश्राम करने के लिये एक कुटिया बनी हुई है। हमने गंगोत्री से चलकर रात्रि में यहीं विश्राम किया है, यह सारा मार्ग पत्थरों तथा जमी हुई बर्फ से ऊबड़-खाबड़ था। इस कुटिया में हमने वह रात्रि जागते और आग तापते बिताई थी क्योंकि ठंड बहुत है और ओढ़ने के नाम पर हम केवल एक कम्बल ले गये थे। अगले दिन हम ग्यारह बजे के आस-पास गोमुख थे, जहाँ से गंगा निकलती है। इसीके विषय में पाणिनि की अष्टाध्यायी में अपादान कारक के प्रकरण में **"भुवः प्रभवः"** सूत्र के उदाहरण में हमने **"हिमवतो गंगा प्रभवति"** पढ़ रखा था। यहाँ पहुँचकर हमारी प्रसन्नता का पारावार नहीं था। ग्लेशियर टूट-टूट कर गंगा की धारा में गिर रहे थे। सूर्य का प्रकाश फैल रहा। सारा हिमालय हिमाच्छादित था। हम स्वयं जमी हुई बर्फ की चट्टान पर खड़े थे। गंगा के उस शीतलमय प्रवाह में हमने स्नान करने का विचार बनाया। हमको डर लग रहा था कि कहीं पैर न फिसल जाये और हम गंगा में बह जायें। परन्तु स्नान करना था, अतः एक युक्ति सूझी। जो स्नान करेगा उसे दो व्यक्ति पकड़ रहेंगे। सबसे पहिले स्नान किया जयकृष्ण ने। पानी इतना ठण्डा था कि हमारा रक्त जम गया। गर्मी लाने के लिये हमने एक दूसरे को पकड़कर दण्ड बैठक लगवाई तब कहीं जाकर हम स्वस्थ और सामान्य होते थे। इसप्रकार हम सबका स्नान पूर्ण हुआ। स्नान के पश्चात् यह सोचा गया कि इस समय गंगा के माहात्म्य वर्णन के अनुसार हमने गंगा का दर्शन, स्पर्शन और मज्जन कर लिया है फिर क्यों न गंगा के जल का पान भी कर लिया जाये। जल की शीतलता को देखते हुये यह हिम्मत नहीं पड़ रही थी कि जल का पान करने के लिये चुल्लू में जल को लिया जाये। किन्तु गंगा के जल का पान करना था, अतः सभी ने हिम्मत करके जल को पिया। सबसे अधिक डेढ़ चुल्लू जल जयकृष्ण ने पिया था। मैं तो केवल जल को चुल्लू में लेकर ओष्ठों से स्पर्श भर कर सका। यह गंगोत्री और गोमुख की यात्रा हमारे लिये अविस्मरणीय ऐतिहासिक घटना थी। बाईस दिन की यात्रा के पश्चात् हरिद्वार में आकर हमने फोटो भी खिंचवाया था, जो अब भी कहीं सुरक्षित है।

षाण्मासिक परीक्षा में संस्कृत साहित्य में मेरा शून्य अङ्क था। मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। हमारी षाण्मासिक परीक्षा की उत्तरपुस्तिकायें प्रो० वागीश्वर जी विद्यालंकार ने देखी थीं। जब उत्तरपुस्तिकायें हमको अपनी श्रेणी में देखने को मिली तो देखा कि मेरी कापी में प्रत्येक प्रश्न के विषय में **"पठितुं न पारितम्"** लिखा हुआ था, और प्रत्येक प्रश्न के अन्त में शून्य अङ्क दिया हुआ था। मैंने प्रोफेसर जी से अपनी व्यथा कही। फिर उन्होंने मेरी सारी कापी को मुझसे ही पढ़वाया और पुनः अङ्क दिये। इस अपने **न पढ़े जाने वाले लेख** के कारण मुझे अपनी सम्पूर्ण परीक्षाओं में हानि उठानी पड़ी है। आज भी मुझे अपने अपाठ्य लेख के कारण अपने किसी योग्य विद्यार्थी से, जो मेरा लेख पढ़ सकता है और जिसका लेख सुलेख होता है, अपने लेख की प्रतिलिपि करानी पड़ती है तब कहीं जाकर वह प्रैस के योग्य हो पाता है। हॉकी के क्षेत्र में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मैं ग्यारहवीं श्रेणी से ही गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय की "ए टीम" में था। इसी वर्ष मैं बलरामपुर में आयोजित टूर्नामैण्ट में भाग लेने के लिये गुरुकुल की टीम में गया था और हमारी टीम बलरामपुर से जीतकर वापिस गुरुकुल आई थी। इस गुरुकुल की टीम के कैप्टेन श्री दिलीप जी थे, जो चौदहवीं श्रेणी में पढ़ते थे।

ग्यारहवी श्रेणी को उत्तीर्ण करने के पश्चात् सन् १९४२–४३ में मैं द्वादश श्रेणी में आ गया। द्वादश श्रेणी में हमको वेद प्रो० रामनाथ जी वेदालंकार पढ़ाने लगे थे। अपने विद्यार्थी जीवन में भी और इस समय भी प्रो० रामनाथ जी का स्नेह और कृपाभाव मुझे प्राप्त होता रहा है। मेरे जीवन के निर्माण में उनका अप्रतिम योगदान है। अब भी मैं उनका कृपापात्र और स्नेहभाजन हूँ। मेरी कोई साहित्यिक गतिविधि उनके परामर्श के बिना नहीं होती है। संस्कृत साहित्य और हिन्दी साहित्य प्रो० वागीश्वर जी विद्यालंकार पढ़ाते थे। मुझे खूब अच्छी प्रकार स्मरण है कि प्रोफेसर जी ने हमको भवभूति प्रणीत उत्तररामचरितम् को पढ़ाया था। पढ़ाया क्या था उन्होंने सम्पूर्ण वर्ष उत्तररामचरितम् की विभिन्न पक्षों को लेते हुये समालोचना की थी। उनकी समालोचना के नोट्स लेते-लेते हमारी कई कापियाँ भर गई थीं किन्तु वर्ष समाप्त हो जाने पर भी प्रोफेसर जी की समालोचना समाप्त नहीं हुई थी। हमारे आश्रमाध्यक्ष इस समय श्री शंकरदेव जी विद्यालंकार थे। इनको गुजराती भाषा और बंगलाभाषा पर अभूतपूर्व अधिकार था। इनकी प्रेरणा से हमने गुजराती और बंगलाभाषा सीखी। इन भाषाओं को हमने सीखा ही नहीं अपितु इन भाषाओं में हमारी गति भी हो गई थी अर्थात् हम इन दोनों भाषाओं को पढ़ और लिख भी लेते थे। इन भाषाओं को सीखने में मेरा साथ दिया शचीन्द्रमोहन, अर्जुनदेव और प्रताप ने। सन् १९४२ में गुरुकुल के आचार्य पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार हो गये थे और इनके सहयोगी के रूप में आश्रमाध्यक्ष श्री पं० रामेश्वर जी स्नातक थे।

जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ कि गुरुकुल काङ्गड़ी में ग्रीष्मावकाश अगस्त-सितम्बर में हुआ करता था। इस वर्ष हमारी श्रेणी ने काश्मीर भ्रमण का पुरोगम बनाया। हमारी आठ व्यक्तियों की पार्टी काश्मीर भ्रमण के लिये चल पड़ी। सन् १९४२ का स्वतन्त्रता आन्दोलन "करो या मरो" के गान्धी जी के आह्वान के साथ ९ अगस्त से प्रारम्भ हो गया। हमारी पार्टी रावलपिण्डी पहुँच कर दो भागों में विभक्त हो गई। एक पार्टी काश्मीर के लिये कूच कर गई थी और दूसरी पार्टी को रावलपिण्डी से अगले दिन काश्मीर के लिये प्रयाण करना था। मेरे कपड़े काश्मीर के लिये जा चुके थे कि इसी बीच ९ अगस्त का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया और हममें से जो जहाँ था वहीं से गुरुकुल के लिये लौट पड़ा। गुरुकुल (हरिद्वार) आकर सारा गुरुकुल स्वतन्त्रता आन्दोलन में कूद पड़ा। मैं तो इसे दुर्भाग्य ही कहूँगा कि मैं इस आन्दोलन में गिरफ्तार नहीं हुआ और मैं स्वतन्त्रता सेनानी बनने से रह गया। हमारी श्रेणी से ओम्प्रकाश, विद्यारत्न और जयकृष्ण इस आन्दोलन में गिरफ्तार होकर जेल चले गये। आज ये तीनों ही स्वतन्त्रता सेनानी हैं और पैंशन पा रहे हैं। हमको आज इन अपने साथियों पर गर्व है।

सन् १९४३-४४ में मैं द्वादश श्रेणी में उत्तीर्ण होकर त्रयोदश श्रेणी में आ गया। इस वर्ष गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य पद पर नियुक्त होकर श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति आये थे। तेरहवीं और चौदहवीं श्रेणी में हमने आचार्य प्रियव्रत जी से ही वेद पढ़ा था। आचार्य प्रियव्रत जी द्वारा लिखाये गये वेदमन्त्रों के अर्थ आज भी मेरी कापी में सुरक्षित हैं। उन कापियों को देखकर मैं आज भी अपने ब्रह्मचारी जीवन की याद कर लेता हूँ। इसी वर्ष मैं गुरुकुल काङ्गड़ी के महाविद्यालय के ब्रह्मचारियों के प्रतिनिधि के रूप में **कुलमन्त्री** बना था। क्रीडा के क्षेत्र में मैं क्रीडोपमन्त्री था और मनोहर मन्त्री था। यह समय हॉकी में गुरुकुल का स्वर्णयुग था। डॉ० हरिप्रकाश जी, श्री पं० गणपति जी, दिलीप, महेन्द्रनाथ, मनोहर आदि सभी एक से एक अच्छे खिलाड़ी थे। महेन्द्रनाथ के नेतृत्व में हम डी० ए० वी० कॉलिज, देहरादून द्वारा आयोजित बॉलीबाल टूर्नामैण्ट में भाग लेने के लिये गये थे। टीम के सदस्य थे— डॉ० हरिप्रकाश जी आयुर्वेदालङ्कार, महेन्द्रनाथ, धर्मचन्द्र, वेदभूषण, केवलकृष्ण, मनोहर और मैं। इस टूर्नामैण्ट में हम विजयश्री प्राप्त कर गुरुकुल लौटे थे। इस बॉलीबाल और हॉकी के क्षेत्र में मैं अपने

अभिन्न मित्र पूर्णसिंह को नहीं भूल सकता। ये गुरुकुल से बीच में छोड़कर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पढ़ने चले गये थे। त्रयोदश श्रेणी में हमको इतिहास प्रो० वेदव्रत जी वेदालङ्कार पढ़ाते थे। वाद-विवाद प्रतियोगिताओं के लिये ये ही हमें तैयार करते थे। मेरे अन्दर वक्तृत्व शक्ति का यत्किंचित् भी विकास हुआ प्रतीत होता है वह आपके और पं० वागीश्वर जी के ही निर्देशन का प्रभाव है। मैं इन दोनों के प्रति ही नतमस्तक हूँ। इसी वर्ष हमारे गुरुकुल की हॉकी की टीम ऑल इण्डिया सिन्धिया हॉकी टूर्नामेंण्ट ग्वालियर में भाग लेने गई थी, जिसका एक मैं भी सदस्य था। इसी मध्य हॉकी के क्षेत्र में कृष्णकुमार, वेदभूषण और व्रजनन्दन आदि उदीयमान खिलाड़ियों को उत्पन्न करने का श्रेय गुरुकुल को है। जिस समय मैं तेरहवीं श्रेणी में कुलमन्त्री था, ग्यारहवीं श्रेणी में राजेश्वर, चन्द्रकेतु और कृष्ण आयुर्वेद कॉलिज में आये थे। राजेश्वर हॉकी, बॉलीबाल का खूब अच्छा खिलाड़ी था। गुरुकुल काङ्गड़ी के वार्षिकोत्सव पर व्यायाम के जो प्रदर्शन आयोजित होते थे उनमें राजेश्वर का प्रमुख पार्ट हुआ करता था। गुरुकुल के जीवन के अनेक वर्षों तक मैं और राजेश्वर एक साथ एक ही टीम में हॉकी और बॉलीबॉल खेलते रहे हैं।

सन् १९४४-४५ के सत्र में मैं त्रयोदश श्रेणी में उत्तीर्ण होकर चतुर्दश श्रेणी में आ गया था। यह गुरुकुल के जीवन का हमारा अन्तिम वर्ष था। मैंने निरन्तर बारह वर्ष रहते हुये गुरुकुल में पढ़ा था। आज भी जब गुरुकुल के अपने ब्रह्मचारी काल को स्मरण करता हूँ तो ऐसा मालूम पड़ता है मानों कल की बात है। गुरुकुल के नियम के अनुसार हमको अपने घर जाने की अनुमति नहीं थी। मुझे खूब अच्छी प्रकार से याद है कि जब मैं छठी श्रेणी में गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ पढ़ रहा था, तब मैं प्रथम बार अपने घर गुढ़ा गया था। ठीक है, गुरुकुल से पढ़कर घर आया था। और मुझे देखने के लिये सारा गाँव उमड़ पड़ा था। मैं तो अपने घर को ही नहीं पहचान पाया था। मैं एक अजीब से वातावरण में आ गया था। इसीप्रकार जब मैं नवीं श्रेणी में पढ़ रहा था, तब पिताजी ने मेरी वहिन वेदवती की शादी की थी। पिताजी ने मुझे शादी में बुलाना तो दूर मुझे सूचना तक नहीं दी थी क्योंकि गुरुकुल के नियमों के अनुसार इसप्रकार के अवसरों पर ब्रह्मचारी को घर अवकाश पर नहीं भेजा जाता था। इसप्रकार के कठोर नियमों के नियन्त्रण में रहकर मेरी गुरुकुल काङ्गड़ी में शिक्षा-दीक्षा हुई थी। सन् १९४५ में मैं गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय के वार्षिकोत्सव पर स्नातक निकला और मुझे **विद्यालङ्कार** की उपाधि मिली। इस वर्ष हमारे दीक्षान्त भाषण देने के लिये **श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन** आये थे। उन्होंने हमको अपने दीक्षान्त भाषण में उपदेश दिया था कि हे ब्रह्मचारियो, तुम कभी अपने जीवन में मूढ़ग्राह न बनना। आज भी मेरे जीवन में उनका यह उपदेश पग-पग पर मेरा मार्गदर्शन कर रहा है। मैंने अपने जीवन में यह प्रयत्न किया है कि मैं मूढ़ग्राह न बनूँ। आज गुरुकुल से विदा हुये मुझे लगभग ३९ वर्ष व्यतीत हो गये हैं किन्तु अब भी मेरा गुरुकुल से अविच्छिन्न सम्बन्ध बना हुआ है। ठीक है, हम गाया करते थे—

सम्बन्ध यह तेरा हमारा नित्य है निष्काम है।

आज भी प्रत्येक गुरुकुल काङ्गड़ी के स्नातक का गुरुकुल के साथ सम्बन्ध नित्य है और निष्काम है। १२ वर्ष गुरुकुल में रहने के उपरान्त कुलभूमि और कुलमाता से पृथक् होते हुये उस समय जो अनुभूति और वेदना हुई थी, उसे आज शब्दों में बाँध पाना मेरे लिये कठिन ही नहीं असम्भव है। इसप्रकार मेरी गुरुकुलीय शिक्षा सन् १९४५ में १३ अप्रैल को वार्षिकोत्सव पर स्नातक बनने के साथ समाप्त हो गई। अस्तु—

गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार से **विद्यालङ्कार** की उपाधि प्राप्त कर पुनः अपनेघ र

गाँव में आने पर मैंने अद्‌भुत अनुभव किया। **"तं जातं द्रष्टुमसंयन्ति देवाः"** इस वेदमन्त्र की सूक्ति के अनुसार सारा गाँव मुझे देखने के लिये उमड़ पड़ा था क्योंकि मैं गुरुकुल से लगातार १२ वर्ष पढ़ने के पश्चात् अपने घर आया था। गाँव में मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गई थी। मेरे माता-पिता और चाची की प्रसन्नता का पारावार नहीं था। अपने घर गाँव में आने पर मुझे अनेक जीवन के यथार्थ तथ्यों का ज्ञान हुआ। गुरुकुल में हम, जो हमको पढ़ाते थे उनको, पण्डित जी कहा करते थे। **जातिवाद** का हमको पता ही नहीं था। बाह्य संसार में आने पर मुझे मालूम पड़ा कि जाति भी कुछ होती है। मेरे गाँव का सहपाठी था डम्बरसिंह। वह जात्या चमार था। मुझे वह दद्दा-दद्दा कहता हुआ मेरे कमरे में चला आया करता था। मैं उससे सहज स्नेह भाव से मिलता था, परन्तु उसके मेरे कमरे से चले जाने के बाद मेरी माताजी मेरे कमरे को धोया करती थीं। मुझे यह बड़ा अटपटा लगता था। मेरे पौनःपुन्येन विरोध करने पर उन्होंने फिर कमरे को धोना बन्द कर दिया था। इसीप्रकार एक बार मैंने डम्बरसिंह की टोकरी में से भुने हुये चने खा लिये थे, जिसकी सारे गाँव में चर्चा हुई थी। परन्तु क्योंकि गाँव में पिताजी का पर्याप्त मान था, अतः मुझे किसीने कुछ भी नहीं कहा। परन्तु गुरुकुलीय शिक्षा का प्रभाव मेरे जीवन में इतना गहरा था कि यह जातिवाद अब भी मुझसे कोसों दूर है। आज जब भारतवर्ष जातिवाद के कठोर बन्धन में जकड़ा हुआ है तब भी हम गुरुकुल के स्नातक इसकी पकड़ से दूर हैं। कालान्तर में मुझे ज्ञात हुआ कि हमारा वंश का मूल स्थान चित्तौड़गढ़ है और हमारा गोत्र **विजयपाणि सीसोदिया** है। चित्तौड़गढ़ से हमारे वंश के दो पूर्वज इस तरफ आये थे, जहाँ कि इस समय हम रह रहे हैं। इनमें से एक पूर्वज वर्तमान पुन्नछा गाँव में आये थे, जिनका नाम जगतसिंह था। इसीप्रकार चित्तौड़गढ़ से आने वालों में **फाटकदेव** थे, जिनके नाम से हम फाटक कहलाते हैं। मैंनपुरी जिले में शिकोहाबाद तहसील में फाटकों के ८४ गाँव हैं। चित्तौड़गढ़ से इधर चले आने पर सीसोदिया वंश न होने के कारण यादवों से सम्बन्ध होने लगे। इसीप्रकार मुझे पता लगा कि हमारे वंश में लगभग आज से १०० वर्ष पूर्व एक महिला सती हुईं थी। आज गाँव में किसी को भी इन सती होने वाली महिला का नाम नहीं मालूम है। इस समय वे **सती** नाम से ही जानी जाती हैं। सती होने की इनकी कहानी भी अद्‌भुत और चामत्कारिक है। ये रहने वाली **ग्राम नहला** (कानपुर) की थी। जिस समय ये सती हुई थीं, ये अपने माता-पिता के घर नहला में ही थीं। श्रावण का महीना था। ये झूला झूल रही थीं। उसी समय इनके पैर का बिछुआ बिना किसी कारण के पृथिवी पर गिर पड़ा। इन्होंने इसको अपशकुन माना और श्रावण की उस अन्धकारमयी रात्रि में ही अपनी ससुरालगुढा जाने का निश्चय कर लिया। इसी समय इनकी ससुराल = गुढ़ा से भेजा हुआ नाई पहुँच गया। उस समय आज-कल के समान आवागमन के साधन नहीं थे। परिणामतः नाई गुढ़ा से नहला तक की लगभग ७५ कि० मी० तक की दूरी पैदल ही चलकर आया। श्रान्त, क्लान्त, बुझे मन वाले उस नाई ने इनके पति की मृत्यु का समाचार सुनाया। इस दुःखद समाचार को सुनकर सारा परिवार शोक-सागर में निमग्न हो गया। सभी किंकर्त्तव्य विमूढ़ थे। किन्तु सती ने एक क्षण का भी विलम्ब किये विना घोड़े पर सवार होकर गुढ़ा के लिये चल पड़ी। नाई भी उनके साथ ही गुढ़ा लौटा उस घोड़े की पूँछ पकड़कर, जिस पर सती सवार थीं। खाई-खन्दक और नालों को पार करती हुईं वे प्रातःकाल गुढ़ा आ गईं थी। सारे गाँव के देखते-देखते अपने सोलह शृंगार किये अपने पति के साथ चिता में बैठ गईं और **सती** के रूप में प्रसिद्ध हो गईं। उनकी स्मृति में पिताजी (चौ० बाबूसिंह) ने सन् १९२० में गाँव से बाहर एक मन्दिर का निर्माण कराया, जो **सती का मन्दिर** नाम से प्रसिद्ध है। इन **सती** की स्मृति को अक्षुण्ण और चिर-स्थायी बनाने के लिये पिताजी ने मेरे बड़े भाई का नाम **सती = सत्यनिरूपण** रखा। आज भी परम्परागत रूप से रामनवमी के पुण्य पर्व पर इस

सती के मन्दिर पर मेला लगता है, जो **"सती का मेला"** नाम से जाना जाता है और प्रसिद्ध है। पिताजी ने इस **सती के मन्दिर** के साथ ही १२ बीघा का आम का बाग भी लगवाया था। मेले पर पानी की असुविधा को दूर करने लिये एक कुआँ भी है। इस **सती के मन्दिर** की गाँव में और आस-पास दूर-दूर तक बड़ी मान्यता है।

मेरे अपने गुढ़ा ग्राम का अलग से भी महत्त्व है। महात्मा गान्धी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने वालों में चार व्यक्तियों के नाम बड़ी श्रद्धा से लिये जाते हैं और वे हैं—मेरे पूज्य पिता चौ० बाबूसिंह जी (दिवगत), श्री शिवदयाल जी, श्री गीतम सिंह जी (दिवगत) और श्री बैजनाथ सिंह जी। इन सभी को स्वतन्त्रता सेनानी होने के कारण पैंशन मिलती है। ये सन् १९३०–४२ तक कांग्रेस के कर्मठ सदस्य रहे। सन् १९२२ में विदेशी कपड़ों की होली मनाई, सन् १९३० में अस्पृश्यता निवारण में सक्रिय भाग लिया और सन् १९३२ तथा १९४२ में जेल यात्रा की। इसप्रकार गुढ़ा ग्राम का स्वतन्त्रता संग्राम में भी महान् योगदान रहा है।

सन् १९४५ में गुरुकुल से घर आने पर मेरा १ जुलाई १९४५ को ग्राम भारौल (मैंनपुरी) में चौ० देवदत्त जी की सुपुत्री कुमारी यतीन्द्रा देवी से विवाह हुआ। यह भारौल ग्राम शिकोहाबाद-मैंनपुरी बस मार्ग पर शिकोहाबाद से १० मील दूर है। चौ० देवदत्त जी का परिवार एक प्रतिष्ठित परिवार था। इस परिवार में अपना सम्बन्ध पाकर मुझे आज भी गर्व का अनुभव होता है। मेरा विवाह वैदिक रीति से आर्यसमाज की पद्धति से हुआ था। मेरे विवाह में मेरे गुरुकुल के दो अभिन्न साथी मित्र सम्मिलित हुये थे। उनमें से एक थे श्री यशपाल जी वेदालंकार, जो इस समय असार संसार को छोड़कर हमसे विदा हो चुके हैं और दूसरे थे श्री कृष्णकुमार, जिनका मुझे इस समय कुछ भी अता-पता मालूम नहीं है। इन दो गुरुकुलीय साथियों के अतिरिक्त मुझे पढ़ाने वाले मेरे गुरु श्री भगीरथ जी शास्त्री भी विवाह में सम्मिलित हुये थे। इन्होंने ही हमारा विवाह कराया था। हमारी बारात की शोभायात्रा में एक विशालकाय उत्तुंग शिखर वाला हाथी भी था, जिस पर मैं अपने दोनों साथियों और श्री पं० भगीरथ जी शास्त्री के साथ बैठा था। शास्त्री जी उस हाथी पर बैठकर बड़े प्रसन्न थे। उसकी ऊँचाई, विशालता और गति का वर्णन करते हुये वे थकते नहीं थे। आज वे इस नश्वर संसार में नहीं हैं। मेरी उनके प्रति प्रणतभाव से श्रद्धाञ्जलि है। इसप्रकार १ जुलाई १९४५ को मैंने गृहस्थ आश्रम में प्रवेश किया।

गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार की उपाधि सरकार द्वारा मान्य नहीं थी, परिणामतः सर्विस के क्षेत्र में हम गुरुकुल के स्नातकों के लिये कोई स्थान नहीं था। सन् १९४५–४६ में मैं अपने ग्राम में ही रहा और इस मध्य मेरा अध्ययन रुका रहा। सन् १९४६–४७ में मेरे बड़े भाई श्री सत्यनिरूपणसिंह आगरा कालिज, आगरा में M. A. (हिन्दी) करने लगे। मेरे बहिनोई श्री दुर्बीनसिंह जी B. R. College से B. A. कर रहे थे। बी० ए० में इनके पास संस्कृत थी। इनको संस्कृत पढ़ाते थे तत्कालीन संस्कृत-हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० नरेन्द्रदेव सिंह जी तथा डा० हरिदत्त जी शास्त्री। मैं अपने बहिनोई श्री दुर्बीनसिंह जी के माध्यम से डा० नरेन्द्रदेव सिंह जी तथा डा० हरिदत्त जी शास्त्री के सम्पर्क में आया। मैं सन् १९४६ में पढ़ने के लिये पुनः अपने बड़े भाई सत्यनिरूपणसिंह के पास आ गया। मैंने अपने दो वर्ष के आगरा प्रवास में सन् १९४७ में **नागरी प्रचारिणी** सभा से **हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद** की हिन्दी साहित्य में **साहित्यरत्न** की परीक्षा डा० पद्मसिंह जी शर्मा "कमलेश" के निर्देशन में तथा डा० हरिदत्त जी शास्त्री के निर्देशन में **गवर्नमैण्ट संस्कृत कालिज**, वर्तमान समय में

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से शास्त्री परीक्षा सन् १९५० में उत्तीर्ण की। इस समय मुझे अध्ययन करने की प्रवृत्ति मुझे निरन्तर प्रेरित कर रही थी। इसीका यह परिणाम था कि मैं साहित्यरत्न (हिन्दी) और शास्त्री (संस्कृत) कर सका। शिकोहाबाद में मैं गुरुकुल से निकलने के बाद से ही शास्त्री नाम से विख्यात हो गया था, जबकि मैं शास्त्री नहीं था। इसी शास्त्री न होने के कारण और शास्त्री नाम से प्रचलित होने के कारण मुझे बाध्य होकर शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ी।

गुरुकुल काङ्गड़ी में हॉकी, वॉलीबॉल तथा खेल-कूद में अभिरुचि होने कारण गुढ़ा ग्राम में ही गुढ़ा क्लब नाम से एक बॉलीबॉल की टीम बना ली थी, जिसके प्रमुख खिलाड़ी सदस्य श्री सत्यनिरूपण, श्री देवेन्द्रसिंह, श्री श्रीनाथदेव, श्री सहदेव और मैं थे। एक बार A. K. College शिकोहाबाद में आयोजित बॉलीबॉल टूर्नामेण्ट में हमारे "गुढ़ा क्लब" ने टूर्नामेण्ट जीतकर गाजे बाजे के साथ गुढ़ा ग्राम में प्रवेश किया था। हमने फाइनल मैच में नारायण कालिज, शिकोहाबाद को हराया था। तेज दौड़ में रमेशचन्द्र मास्टर सबसे तेज दौड़ने वाले थे, जिसे हम प्रेम और उत्साह से चैम्पियन कहा करते थे। इसप्रकार सन् १९४५–४८ तक अपने ग्राम और आगरा प्रवास में मैंने अपना अध्ययन और खेल दोनों ही जारी रखे। अस्तु—

सन् १९४८–४९ के शैक्षणिक सत्र से आगरा विश्वविद्यालय, आगरा ने गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार की अलङ्कार की डिग्री को बी० ए० के समकक्ष मान्यता प्रदान कर दी, जिसके परिणामस्वरूप प्रायः सभी विद्यालङ्कार, वेदालङ्कार और आयुर्वेदालङ्कार स्नातकों ने आगरा विश्व-विद्यालय से सम्बद्ध कालिजों में एम० ए० में प्रवेश ले लिया। गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय की डिग्री को आगरा विश्वविद्यालय की बी० ए० के समकक्ष मान्यता दिलाने में डा० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री, डा० नरेन्द्रदेव सिंह और डा० हरिदत्त जी शास्त्री का महान् सहयोग रहा है। इनके ही प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप यह मान्यता प्राप्त हो सकी। मैंने भी जुलाई १९४८ में **V. S. S. D. College** (विक्रमाजीतसिंह सनातन धर्म कालिज) कानपुर में M. A. (संस्कृत) प्रथम वर्ष में प्रवेश ले लिया। साथ ही मैं प्रोफसर्स क्वार्टर्स् में (Hostel) रहने लगा। यहाँ रहते हुये मेरा दो व्यक्तियों से परिचय हुआ। एक तो थे श्री मुन्नालाल जी अग्रवाल, जो उस समय P. C. S. की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे। आप M. Com. LL. B, थे। और दूसरे प्रो० ओ० के० सक्सेना, जो उस समय अर्थशास्त्र में एम० ए० कर रहे थे और इस समय N. A. S. College, मेरठ में अर्थशास्त्र विभाग में अध्यक्ष हैं। श्री मुन्नालाल जी के साथ मेरे परिचय की एक विशिष्ट घटना है। श्री मुन्नालाल जी एक दिन सायंकाल अपने कमरे में बैठे हुये पढ़ रहे थे। मैं प्रतिदिन के नियम के अनुसार अपने खेलने के लिये ग्राउन्ड में जा रहा था। इनको शान्त-भाव से बैठा हुआ देखकर मेरे मुख से अनायास ये शब्द निकल पड़े—"आज कैसी गम्भीर मुद्रा में बैठे हुये हैं।" मेरे इस वाक्य में Mood के लिये प्रयुक्त मुद्रा शब्द उनको इतना सटीक लगा कि उसी क्षण से वे मेरे अपने हो गये। आज भी मेरा, मेरे परिवार का और मेरे बच्चों का उनके और उनके परिवार के साथ वही अभिन्न आत्मीय सम्बन्ध है, जो सन् १९४८ में होस्टल में हुआ था।

V. S. S. D. College, कानपुर में M. A. Pre (संस्कृत) में हम दो स्नातक थे, मैं और ज्ञानेन्द्र विद्यालङ्कार। हमको पढ़ाते थे प्रो० चन्द्रशेखर पाण्डेय, अध्यक्ष-संस्कृत विभाग। मुझे याद नहीं आता कि उन्होंने कभी भी हमारी Class कालिज में ली हो। हम उनके घर पर ही सदा पढ़ने जाया करते थे। मेरा M. A. (Pre) करते हुये यह नित्य नियम था कि मैं प्रातः काल प्रो० चन्द्रशेखर पाण्डेय जी के घर पढ़ने जाया करता था और सायंकाल नियमित रूप से हॉकी खेलने के लिये ग्राउण्ड में जाया करता था। मेरे अध्ययन और खेल दोनों साथ-साथ चल रहे थे।

गुरुकुल काङ्गड़ी में अध्ययन करते हुये कभी सिनेमा देखा ही नहीं था और यहाँ कानपुर में होस्टल में रहते हुये प्रतिदिन सायंकाल कोई न कोई साथी आकर कहता कि शास्त्री जी, चलो सिनेमा देख आयें ? और मैं उसको यह कहकर टाल देता कि यह पिक्चर तो मेरी देखी हुई है। वस्तुतः मैं करता यह था कि प्रतिदिन प्रातःकाल दैनिक कृत्य से निवृत्त होकर वाचनालय में चला जाता और कानपुर में चल रही सभी पिक्चर्स की समालोचनायें पढ़ लेता, जिसके परिणामस्वरूप मुझे प्रत्येक पिक्चर की जानकारी अच्छी होती। मेरे होस्टल के साथी प्रायः कहते होते कि शास्त्री जी, आप बड़ी पिक्चर देखते हो, जब कि मैंने तब तक एक भी पिक्चर नहीं देखी थी। पिक्चर देखना तो दूर रहा मुझे उस समय तक यह ज्ञान नहीं था कि सिनेमा की टिकट कैसे खरीदी जाती है। इस क्रम में एक दिन ऐसा हुआ कि दो-तीन होस्टल के साथी आये और कहने लगे कि शास्त्री जी, आज तो हम आपको अपने साथ पिक्चर ले ही जायेंगे भले ही आपने इस पिक्चर को देख रखा हो और बलात् मुझे अपने साथ ले गये। मुझे अपने साथ ले ही नहीं गये अपितु सिनेमा हॉल पर जाकर मुझे १०) का नोट देते हुये कहने लगे कि जाओ टिकट ले आओ। मैं बड़े असमञ्जस में पड़ा। मुझे टिकट लेना ही नहीं आता था और वे समझते थे कि मैं सिनेमा खूब देखता हूँ। मैंने अपनी अज्ञानता उन पर प्रकट नहीं होने दी। मैंने रुपये लिये और उनको ऐसा दिखाया कि मैं टिकट लेने जा रहा हूँ और मैं बाहर आकर सड़क पर खड़ा हो गया। मुझे विलम्ब करते देख एक लड़का मुझे खोजने चला तो उसने देखा कि मैं सड़क पर खड़ा हूँ। मुझे डाँटते हुये कहने लगा कि तुम यहाँ खड़े हो और हम तुम्हारी प्रतीक्षा वहाँ कर रहे हैं। इससे पूर्व कि मैं कुछ कहता वह मेरा हाथ पकड़कर मुझे खींचता हुआ वहाँ ले गया जहाँ सिनेमा के टिकट बँट रहे थे। वह मेरा **"टिकट कैसे खरीदते हैं"** से प्रथम परिचय था और उस दिन मैंने अपने जीवन की पहली पिक्चर देखी, यदि मैं भूल नहीं करता हूँ तो, **"कादम्बरी"**। यह सन् १९४८ की बात है।

मैं पूर्व ही लिख चुका हूँ कि हम अपने प्रोफेसर चन्द्रशेखर जी पाण्डेय के घर पढ़ने जाया करते थे, जिससे हमारा कालिज में आना-जाना नहीं के बराबर था। एक दिन मैं और ज्ञानेन्द्र प्रोफेसर जी के घर से पढ़कर लौट रहे थे तो सोचा कि चलो आज कालिज के अन्दर चलकर नोटिस-बोर्ड ही देख लें कि सम्भवतः कोई नई सूचना मिल जाये। हम दोनों अभी कालिज के गेट में घुसे ही थे कि एक चपरासी हमसे कहने लगा कि तुमको प्रोफेसर जी ने बुलाया है ? हम असमञ्जस में थे कि हम अभी तो प्रोफेसर जी से उनके घर पढ़कर ही आ रहे हैं और यह कह रहा है कि हमको प्रोफेसर जी बुला रहे हैं ? मेरे यह कहने पर कि किसी और को बुला रहे होंगे, तुमको भ्रान्ति हुई है। वह कहने लगा आप रोज़ हॉकी खेलने आते हैं न ? और मेरे हाँ कहने पर वह कहने लगा कि मैं कई दिन से आपको खोज रहा था, आज आप मिले हैं। आपको ही प्रोफेसर जी ने बुलाया है, चलिये, हम दोनों उसके साथ हो लिये। प्रोफेसर जी से मिलने पर मुझे ज्ञात हुआ कि कालिज की हॉकी की टीम इटावा में हो रहे हॉकी टूर्नामैण्ट में भाग लेने के लिये निकट भविष्य में जाने वाली है और वे एक हॉकी के खिलाड़ी को ढूंढ रहे है, जो राइट आउट फार्वर्ड खेलता हो। उन्होंने मुझसे हॉकी खेलने और उसकी पृष्ठभूमि के विषय में विस्तार से पूछ-ताछ की। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि मैं गुरुकुल काङ्गड़ी से आ रहा हूँ तो वे आश्वस्त हो गये और उन्होंने मुझे निश्चित दिन हॉकी ग्राउण्ड में आने के लिये कहा। यह मेरी हॉकी परीक्षा का प्रथम दिन था।

मैं नियत समय पर हॉकी ग्राउण्ड पर उपस्थित हो गया। हॉकी कप्तान किशोरीलाल थे, राइट इन फार्वर्ड बाबूलाल यादव खेल रहे थे और मैं राइट आउट फार्वर्ड था। प्रोफेसर जी ने इन मंजे हुये खिलाड़ियों को पहले से ही निर्देश दे रखा था कि वे सभी अकेले मुझे ही पास देंगे और किसी को नहीं।

मेरी परीक्षा जो हो रही थी। खेल प्रारम्भ हुआ और गेंद प्रत्येक कार्नर से मेरे पास आने लगी। इधर एकाकी मैं और मुझे हूटिंग करने वाले कालिज के छात्र। जैसे-जैसे मेरा गेंद पर नियन्त्रण बढ़ता गया वैसे-वैसे मेरे विरोध में शोर कम होता गया। एक बार गेंद मेरे पास आई, मैंने राइट इन को दी और उन्होंने लम्बी राइट आउट कार्नर में गेद को फैंक दिया। आकाश को छूने वाले शोर के मध्य दौड़कर मैंने उस गेंद पर नियन्त्रण किया और डी में जाकर जो सैण्टर फार्वर्ड को पास दिया कि गेंद गोल में जाकर फट्टे से जा टकराई। इस पास ने प्रोफेसर जी को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने उसी क्षण हॉकी में मेरा चयन कर लिया। कहना न होगा कि V. S. S. D. College की हॉकी टीम में एक सदस्य के रूप में मैं इटावा हॉकी टूर्नामैण्ट में गया और वहाँ से हमारी टीम विजयश्री लेकर लौटी थी। लौटने पर प्रिंसीपल के साथ जब हॉकी टीक का फोटो ग्रुप हुआ था, तब उनसे सभी खिलाड़ियों का परिचय कराया गया था। मेरे साथ हुये परिचय में जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि मैं संस्कृत का विद्यार्थी हूँ तो उनको आश्चर्य मिश्रित हर्ष हुआ था। उनके मुख से अनायास निकल पड़ा था कि संस्कृत और हॉकी। परन्तु उनको क्या मालूम था कि गुरुकुल काङ्गड़ी के स्नातकों ने सभी क्षेत्रों में प्रगति कर संस्कृत के विषय में उत्पन्न सभी भ्रान्त धारणाओं का खण्डन किया है। इसके पश्चात् तो मुझे कालिज की प्रत्येक टीम में स्थान मिल गया अर्थात् हॉकी, वॉलीवॉल और फुटबाल में। यहाँ तक कि उन्होंने मुझे **बॉस्केट बॉल** में भी रख लिया था। मैं बड़ी कठिनाई से उनको यह विश्वास दिला पाया कि मुझे बॉस्केट बॉल नहीं आती है।

मेरठ विश्वविद्यालय के समान कानपुर विश्वविद्यालय के निर्माण का भी उस समय आन्दोलन चल रहा था। इसी आन्दोलन को चरितार्थ करने के लिये खेल के क्षेत्र में Kanpur University Colleges Athietic Association (K. U. C. A. A) का गठन हो चुका था और इसकी ओर से प्रमाणपत्र भी दिया जाता था। सन् १९४९ में एक प्रमाणपत्र हॉकी के क्षेत्र में मुझे भी मिला था।

सन् १९४९ में किशोरी रमण कालिज, मथुरा में एक संस्कृत वाद-विवाद प्रतियोगिता में V. S. S. D. College का प्रतिनिधित्व करते हुये मैं और जगदीशप्रसाद द्विवेदी वाद-विवाद प्रतियोगिता में भाग लेने मथुरा गये थे और ट्रॉफी जीतकर लाये थे। इसप्रकार सन् १९४८–४९ का शैक्षणिक सत्र M. A. Pre की मार्च में परीक्षा देने के साथ समाप्त हो गया।

सन् १९४९–५० के शैक्षणिक सत्र के प्रारम्भ होने पर हमारे प्रोफेसर चन्द्रशेखर जी पाण्डेय हमसे विदा हो चुके थे। उनकी लम्बी बीमारी से मृत्यु हो चुकी थी। यदि उनकी असमय में मृत्यु न हो गई होती तो आज से कई वर्ष पूर्व उनके निर्देशन में मेरी Ph. D. हो चुकी होती। उन्होंने मेरा Ph. D. का विषय **हास्य रस** से सम्बन्धित निश्चित भी कर दिया था। आज उनकी केवल स्मृतियाँ ही शेष हैं। अस्तु

प्रो० चन्द्रशेखर जी पाण्डेय के पश्चात् डा० सत्यनारायण पाण्डेय संस्कृत विभाग के अध्यक्ष बने। इनकी मुझ पर बड़ी कृपा थी और इनका स्नेह मुझे हमेशा मिलता रहा। सन् १९४९ में मैं पटियाली (एटा) में संस्कृत-हिन्दी का अध्यापक हो गया था। उस समय पटियाली में श्री सोनेलाल जी प्रिंसीपल थे। पटियाली में रहते हुये मैंने जिन विद्यार्थियों को पढ़ाया है, उनमें से कोई भी इस समय मेरे सम्पर्क में नहीं है। मैं दिसम्बर १९४९ तक पटियाली रहा। दिसम्बर के पश्चात् मैं पुनः अपना M. A. Final करने के लिये कानपुर चला गया। सन् १९४९–५० में मेरे बड़े भाई सत्यनिरूपण डी० ए० वी० कालिज,

कानपुर से एल० टी० कर रहे थे। वे एल० टी० की पढ़ाई से, पढ़ाई की प्रक्रिया से बड़े दुःखी थे। वे प्रतिदिन और बार-बार मुझसे कहा करते थे कि निरूपण, भीख माँग लेना पर एल० टी० मत करना। तब B. Ed. नहीं थी एल० टी० थी। और सचमुच मैंने उनके इस उपदेश को सर्वात्मना हृदयंगम कर लिया और मैंने अपने जीवन में B. Ed. और एल० टी० करना तो दूर, करने की सोची भी नहीं। आज भी मैं अपने योग्य छात्रों को B. Ed. करने की सलाह नहीं देता हूँ। सन् १९५० में मैंने संस्कृत में एम० ए० प्रथम श्रेणी में पास किया। इस एम० ए० को करते हुये मैंने पग-पग पर यह अनुभव किया कि मैंने एम० ए० करते हुये कुछ ऐसा नया नहीं पढ़ा या सीखा जो मैंने गुरुकुल में न पढ़ रखा हो। सन् १९५० में मेरा अध्ययन काल समाप्त होता है और अध्यापन काल प्रारम्भ होता है। इस अध्ययन के समय मुझे मेरी अपनी धर्मपत्नी श्रीमती यतीन्द्रा देवी का पग-पग पर साहाय्य और सहयोग मिलता रहा है। यह उनका ही वर्चस्व है कि मैं अपने गृहस्थ धर्म का भार उनके कन्धों पर डालकर निश्चिन्त होकर अपना अध्ययन कर सका।

जैसा कि मैं प्रारम्भ में ही उल्लेख कर चुका हूँ कि हम चार भाई और चार बहिनें थे। मुझसे छोटे भाई ब्रह्मनिरूपण का देहावसान मेरे गुरुकुल में अध्ययन करते समय ही हो गया था। ब्रह्मनिरूपण की ही स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये पिताजी ने अपने नवनिर्मित मकान का नाम **ब्रह्मनिवास** रखा था, जो आज भी उनकी स्मृति दिला रहा है। इसीप्रकार मेरी छोटी बहिन वेदवती का विवाह सन् १९३९ में, जिस समय मैं गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में नवम श्रेणी में पढ़ रहा था, खेतूपुर (एटा) निवासी चौ० मुलायमसिंह के सुपुत्र श्री दुर्वीन सिंह के साथ हुआ था। इन्हीं श्री दुर्वीन सिंह जी के साथ मैं गुरुकुल से स्नातक निकलने के पश्चात् सन् १९४६–१९४८ तक आगरा में रहा था। इनके माध्यम से ही मैं डा० हरिदत्त जी शास्त्री के सम्पर्क में आया था। इसे मैं अपने परिवार का दुर्भाग्य ही कहूँगा कि सन् १९४८ में बीमारी के कारण इनका खेतूपुरा में ही देहावसान हो गया और मेरी बहिन अनाथ हो गई। मैं इनकी अन्त्येष्टि में सम्मिलित होने के लिये कानपुर से आया था क्योंकि मैं उस समय V. S. S. D. College कानपुर से M. A. (Pre) कर रहा था। पिताजी श्री दुर्वीन सिंह जी की मृत्यु के अन्तिम क्षणों में उनके पास खेतूपुरा में ही थे। यह पिताजी पर मैं समझता हूँ कि पहला हृदय विदारक आघात था। अस्तु—

मेरा विवाह १ जुलाई १९४५ को हुआ था। दिसम्बर सन् १९४६ में हम दोनों की हृदय-ग्रन्थि एक बालिका का जन्म हुआ था, जो असमय में ही खिलने से पूर्व मुरझा गई। मैं उस समय **श्रद्धानन्द सप्ताह** में सम्मिलित होने के लिये गुरुकुल काङ्गड़ी, हरिद्वार गया हुआ था। वहाँ से लौटकर जब मैं शिकोहाबाद आया, उस समय मेरे छोटे भाई स्वतन्त्रनिरूपण ए० के० कालिज में पढ़ रहे थे, मैं रात्रि को उन्हीं के पास ठहरा। प्रातः घर गुढ़ा जाने के समय मेरी मुलाकात बाबा (रुस्तमसिंह जी) से हो गई। स्वतन्त्रनिरूपण ने मुझे बालिका की मृत्यु के विषय में कुछ भी नहीं बताया था। और बाबा यह सोचकर कि मुझे उसकी मृत्यु का पता है, सारे रास्ते में मुझे संसार की असारता का उपदेश देते रहे और मैं सहज मुग्ध भाव से उनकी हाँ में हाँ मिलाता रहा। १० मील का लम्बा रास्ता पैदल पार करने के पश्चात् जब मैं घर पहुँचा उस समय पिताजी पशुओं के लिये मशीन से चारा कटवा रहे थे। उन्होंने मुझे बुला लिया और मैं चारा काटने में लग गया। उस समय पुनः पिताजी मुझे ढाढ़स बँधाने वाली बातें कर रहे थे किन्तु मुझे तो कुछ पता ही नहीं था। घर पहुँचने पर माताजी द्वारा सारा समाचार मिला। मेरी श्रीमती जी उस समय घर पर ही थीं। हम दोनों मिले, दुःख मनाया और फिर सामान्य हो गये।

तदनन्तर सन् १९४८ में हम दोनों के परिवार में एक बालक ने जन्म लिया, जिसका नाम हमने बड़े प्रेम और उत्साह से **शशाङ्क** रखा। कालान्तर में इसका लालन-पालन इसकी बुआ और मेरी बहिन वेदवती के पास हुआ। इससे वेदवती का मन बहल गया और शशाङ्क को पाकर वे अपना दुःख यत्किञ्चित् भूल गई। जिस समम १९५० में मैंने अध्यापन क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय मेरे परिवार की स्थिति यह थी, जिसका उल्लेख मैंने संक्षेप में ऊपर की पक्तियों में किया है।

आज-कल के समान सन् १९५० में सर्विस की परेशानी नहीं थी। मुझे साक्षात्कार के लिये भी उस समय कहीं नहीं जाना पड़ा। कई **नियुक्ति पत्र** मेरे पास उस समय केवलमात्र आवेदन पत्र देने के साथ ही आ गये थे। मैंने पर्याप्त सोच विचार के पश्चात् जुलाई १९५० में **शम्भूदयाल इण्टर कालिज, गाजियाबाद** में **संस्कृत-हिन्दी प्राध्यापक** के रूप में कार्यभार ग्रहण कर लिया। गाजियाबाद में रहकर सर्विस करने का एकमात्र सुविधाजनक आधार यही था कि यहाँ से हरिद्वार गुरुकुल काङ्गड़ी भी आसानी से जाया जा सकता था और मैं अपने घर शिकोहाबाद भी आसानी से जा सकता था। परन्तु मेरा यह दुर्भाग्य ही रहा कि **शम्भूदयाल इण्टर कालिज** को इण्टर की कक्षायें खोलने की अनुमति नहीं मिली और मुझे एक मास के अन्दर ही अन्दर गाजियाबाद छोड़ना पड़ा। मैं अपनी सर्विस के लिये चिन्तित था कि इसी बीच मेरे पास **श्रीकृष्ण इण्टर कालिज, बदायूँ** से साक्षात्कार के लिये पत्र आ गया। जिस समय मैं बदायूँ में साक्षात्कार के लिये गया वहाँ श्री मुन्नालाल जी अग्रवाल A. D. M. के रूप में कार्य कर रहे थे। ये वे ही श्री मुन्नालाल जी अग्रवाल थे, जिनका उल्लेख मैं V. S. S. D. College कानपुर में हॉस्टल में रहते हुये आत्मीय के रूप में कर चुका हूँ। मैं इन्हीं के पास ठहरा था। इनका ही चपरासी मुझे श्रीकृष्ण इण्टर कालिज में छोड़कर आया था। मेरे भाग्य से मेरी नियुक्ति **श्रीकृष्ण इण्टर कालिज** में **संस्कृत-हिन्दी प्राध्यापक** के रूप में हो गई। दूसरे शब्दों में मैं यह कह सकता हूँ कि इस सर्विस के साथ ही मुझ पर मेरे सम्पूर्ण परिवार के उत्तरदायित्व का भार आ पड़ा। इसप्रकार बदायूँ से मेरे **अध्यापन-जीवन** का प्रारम्भ होता है।

जिस समय मैंने **श्रीकृष्ण इण्टर कालिज, बदायूँ** में अपना कार्यभार ग्रहण किया, उस समय प्रिंसीपल श्री शिवदत्त जी पाठक और वाइस प्रिंसीपल श्री एन० एम० पाण्डेय थे। मैं बदायूँ में अनेक महीनों तक रेलवे स्टेशन के पास ही **जगत् प्याऊ** नामक धर्मशाला में रहा और वहीं एक होटल में भोजन करता रहा। मेरा नित्य का नियम था कि मैं स्वयं अपने स्थान की सफाई करता, बाहर से हैण्ड पम्प से पानी भरकर लाता, स्नान करता और भोजन करने के पश्चात् अपने कालिज पढ़ाने के लिये चला जाता। सायंकाल को प्रतिदिन घूमने के लिये चला जाता। शनैः शनैः दिन व्यतीत होते गये। स्टाफ के साथ अभी अपनी आत्मीयता नहीं हो पाई थी, अतः जब भी मेरे पास समय होता मैं श्री मुन्नालाल जी अग्रवाल के घर चला जाता। इनके घर जाना भी मेरा एक नित्य नियम था। श्री मुन्नालाल जी के सहयोग से ही मुझे शहर में मकान मिल गया था किन्तु मैं गया उस मकान में तब जब **जगत् प्याऊ** में मेरी चोरी हो गई। एक दिन **जगत् प्याऊ** के मैनेजर मेरे पास प्रातःकाल ही आ गये। मैं अपने सन्ध्या-वन्दन से उठा ही था। आकर कहने लगे कि मास्टर जी क्या आपने एम० ए० किया है? मैंने आश्चर्य के साथ उनसे पूछा कि इसमें आपको सन्देह क्यों होता है? क्या मैं अपना प्रमाण-पत्र आपको दिखाऊँ? वे बड़े व्यथित मन से कहने लगे कि मैं आपको प्रतिदिन देखता हूँ कि आप अपना प्रत्येक कार्य अपने हाथ से ही करते हैं। झाड़ू भी लगाते हैं और पानी भी स्वयं बाहर से भरकर लाते हैं और आपने एम० ए० भी कर रखा है। इसके विपरीत एक मेरा लड़का है जो अभी नौवीं कक्षा में पढ़ रहा है और अपने हाथ से न अपना ही काम करता है और न अपने घर का ही। मैंने सान्त्वना देकर उनको

अपने पास बिठाया और अनेक प्रकार से समझा-बुझाकर उनको विदा किया। उनके जाने के पश्चात् मैंने अपनी गुरुकुलीय शिक्षा को धन्यवाद दिया, जिसने मुझे इस योग्य बनाया कि मैं अपना काम स्वयं अपने हाथ से कर सकूं।

श्रीकृष्ण इण्टर कालिज, बदायूं में मैं सन् १९५० से लेकर जुलाई १९५४ तक चार वर्ष रहा। इन चार वर्षों की श्रीकृष्ण इण्टर कालिज की स्मृतियां अमिट हैं। बदायूं में स्टाफ में से जिससे सबसे पहले मेरा परिचय हुआ था, वे थे श्री **राजेन्द्रपाल यादव**। ये मेरे बड़े भाई सत्यनिरूपण को जानते थे। नाम सादृश्य के कारण इन्होंने ही पहले मुझसे परिचय किया था। फिर तो मैं और ये बहुत दिनों तक साथ-साथ भोजन करते रहे। इनकी शिक्षा-दीक्षा शिकोहाबाद में हुई थी, अतः ये मेरे गाँव से खूब अच्छी तरह से परिचित थे। इनकी शादी गढ़सान (शिकोहाबाद) में श्री गंगासहाय यादव की सुपुत्री कमला से हुई थी। श्री गंगासहाय जी पारिवारिक सम्बन्ध से मेरे भाई लगते हैं। परिणामतः इनके बच्चे मुझे भी नाना ही कहते हैं। ये श्रीकृष्ण इण्टर कालिज में अर्थशास्त्र पढ़ाते थे। आज इनसे, इनके परिवार से मेरे परिवार का आत्मीय सम्बन्ध है। इसके बाद मेरा परिचय हुआ श्री **मंगलसेन जी अग्रवाल** से। शनैः शनैः श्रीकृष्ण इन्टर कालिज की गतिविधियों में हम दोनों का योगदान बढ़ने लगा। श्री मंगलसेन जी के साथ मिलकर बॉलीबाल की टीम का निर्माण किया था। ये वॉलीबाल के अप्रतिम खिलाड़ी थे। इनको साथ लेकर मैं वॉलीबाल और क्रिकेट की टीम को टूर पर भी ले गया। इस टीम ने बरेली, मुरादाबाद, चन्दौसी, गाजियाबाद और कासगञ्ज के इण्टर कालिज की टीमों के साथ मैच खेलते हुये अपने अभ्यास को बढ़ाया था। बिसौली का हॉकी टूर्नामेण्ट स्मरणीय रहेगा। आज भी श्री मंगलसेन जी से गहरा आत्मीय सम्बन्ध है। कालान्तर में मैं जब मेरठ कालिज, मेरठ में आ गया तब इनके सुपुत्र अनिल कुमार, अरविन्द कुमार और सुपुत्री कु० पुष्पा ने मेरे ही संरक्षण में रहकर मेरठ में अपना अध्ययन किया है। आज भी इनके सम्बन्ध को भुलाया नहीं जा सकता। इसी श्रेणी में आते हैं **डॉ० गोपीनाथ जी**। आज श्रीकृष्ण इण्टर कालिज में नागरिकशास्त्र और इतिहास पढ़ाते थे। आपकी अपनी विचारधारा थी और ये मेरी आर्यसमाजी विचारधारा से जैसे-जैसे परिचित होते गये वैसे-वैसे समीप और समीपतर आते रहे। मैं इनको **श्रीकृष्ण इण्टर कालिज** का मस्तिष्क कहा करता था। ये सन् १९५० में आगरा कालिज, आगरा में **राजनीति शास्त्र** के प्रवक्ता होकर चले गये और मैंने सन् १९५४ में बदायूं छोड़ दिया। विभिन्न स्थानों पर रहते हुये हम दोनों ने एक दूसरे को कभी नहीं भुलाया है। आज भी हम उसीप्रकार एक हैं जिसप्रकार सन् १९५० में बदायूं में एक थे। **श्री विश्वम्भरदत्त जी मिश्र** भूलने का व्यक्तित्व नहीं है। आप भी **संस्कृत-हिन्दी** के प्रवक्ता थे। काव्य आपका प्राण है। आपकी दैनिक चर्या में कभी कोई व्यतिक्रम नहीं आया। प्रतिदिन सायंकाल मन्दिर जाना आपका एक अटूट नियम था। हम सभी इनको पण्डित जी कहा करते थे। आप आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने में लगे हुये हैं। गृहस्थी न होते हुये भी आप अपने भाई के परिवार के भरण-पोषण में लगे हैं। मेरी प्रबल इच्छा थी कि इनको गृहस्थ-धर्म में दीक्षित हुआ देखता, पर शीघ्र बदायूं के छूट जाने के कारण मैं अपनी इस इच्छा को पूर्ण हुआ नहीं देख पाया। पण्डित जी की कृपा और स्नेह आज भी मुझ पर पूर्ववत् बना हुआ है। **श्रीविशुद्धानन्द जी मिश्र** मेरे आर्यसमाज के क्षेत्र के साथी हैं। यद्यपि ये श्रीकृष्ण इण्टर कालिज में मेरे बाद में आये, तथापि श्रीकृष्ण इण्टर कालिज के जीवन में ये मेरे अभिन्न साथियों में रहे हैं। आपकी पत्नी और आपकी पुत्री मेरे ही निर्देशन में आगरा विश्वविद्यालय से Ph. D. कर रही हैं। आपका परिवार संस्कृतमय है। इस समय भी यदि आप इनके घर जायेंगे तो इनको अपने परिवार में संस्कृत भाषा का व्यवहार करते हुये पायेंगे। इनके जीवन

की मधुर स्मृतियाँ मेरे पास सुरक्षित हैं। **श्री नारायण दास जी गुप्त** भी भुलाये जाने वाला व्यक्तित्व नहीं है। अट्टहास इनका स्वभाव है। रबड़ी और खीर इनके साथ मुझे भी प्रिय हैं। ये Ph. D. हैं और डिग्री कालिज में जाने को इन्होंने कभी पसन्द नहीं किया है। ये मथुरा के रहने वाले हैं, अतः व्रज की पूरी-पूरी छाप इनके जीवन में है। **श्री पं० रामनाथ जी शर्मा** मुझसे पहले अवकाश ग्रहण कर चुके हैं। इनकी पत्नी मेरी शिष्या रह चुकी हैं। मैं श्रीकृष्ण इण्टर कालिज के किन-किन साथी अध्यापकों को याद करूँ। **श्रीरामेश्वर सिंहचौहान, श्री धारेश्वरसिंह चौहान, सुधिशंकर**—क्या कभी जीवन में भुलाये जा सकते हैं। **श्री हरिश्चन्द्र रस्तोगी** भोजन के लिये हमेशा स्मरण किये जायेंगे। आज भी, जबकि मुझे बदायूँ छोड़े हुये तीस वर्ष हो चुके हैं, बदायूँ मुझे अपना लगता है। आज भी बदायूँ जाने के लिये मन लालायित हो उठता है।

सन् १९५० से सन् १९५४ तक **श्रीकृष्ण इण्टर कालिज, बदायूँ** में संस्कृत और हिन्दी विषय लेकर मुझसे पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या पर्याप्त है। उन सभी विद्यार्थियों को स्मरण रखना मेरे लिये सम्भव नहीं है, पुनरपि उन मेधावी छात्रों की यत्किञ्चित् छवि स्मृति-पटल पर अंकित हो ही जाती है, जो निरन्तर किसी न किसी रूप में सम्पर्क में आते रहते हैं। यदि मैं भूल नहीं करता हूँ तो **श्रीकृष्ण इण्टर कालिज, बदायूँ** में जिस समय मैं आया था उस समय ग्यारहवीं कक्षा में **संस्कृत** लेकर पढ़ने वाले कुल ६ विद्यार्थी थे, जिनमें **भास्कर शर्मा** और **सन्तोषकुमार** भी थे। **भास्कर शर्मा** खेल में प्रवीण थे। हॉकी में गोलकीपर थे और वॉलीबॉल तथा क्रिकेट के मंजे हुये खिलाड़ी हैं। तेज दौड़ने में इन्होंने उत्तरप्रदेश की प्रान्तीय और राष्ट्रीय पुरस्कार भी प्राप्त किये हैं। आजकल ये आगरा कालिज, आगरा में फिजिकल इंस्ट्रक्टर हैं। **सन्तोषकुमार** गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक वैद्य निरञ्जनदेव जी के पुत्र थे। इनकी असमय में ही मृत्यु हो गई थी। इसीप्रकार श्रीयुत धर्मपाल जी विद्यालङ्कार के सुपुत्र **महेन्द्र** को भी मैंने पढ़ाया है। आजकल यह बदायूँ में वकील हैं। **श्री कुँवरपाल गुप्त** जिला बुलन्दशहर में बचत अधिकारी हैं। **मनोहर सिंह** बिजनौर में अध्यापक हैं। **भगवतस्वरूप रस्तोगी** पढ़ने के साथ-साथ वॉलीबॉल भी अच्छी खेलते हैं। अब भी जब कभी बदायूँ जाता हूँ इनको वॉलीबॉल खेलता देखकर मैं प्रसन्न हो लेता हूँ। आजकल ये बदायूँ-बरेली मार्ग पर चलने वाली अपनी बसों को देखते हैं। इसप्रकार बदायूँ के जीवन-काल के विद्यार्थियों से मैंने श्रद्धा और आदर पाया है। मुझे अपने इन विद्यार्थियों पर गर्व है। एक बार मैं इनको हरिद्वार-ऋषिकेश और देहरादून-मसूरी भ्रमण कराने के लिये भी ले गया था। आज भी मेरे मन और मस्तिष्क में बदायूँ छाया हुआ है।

शैक्षणिक दृष्टि से मैंने सन् १९५३ में आगरा विश्वविद्यालय, आगरा से **हिन्दी विषय** लेकर एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। **डॉ० हरिदत्त जी** शास्त्री की प्रेरणा से मैंने बदायूँ में रहते हुये आचार्य विश्वनाथ प्रणीत **साहित्यदर्पण** का हिन्दी अनुवाद किया था, जिसका प्रकाशन सन् १९७४ में साहित्य-भण्डार के अध्यक्ष **श्री रतिराम जी शास्त्री** के सौजन्य से हुआ। इसके प्रकाशन के समय मैं मेरठ कालिज, मेरठ में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य कर रहा था। इस **साहित्यदर्पण** के प्राक्कथन में मैंने **डॉ० हरिदत्त जी शास्त्री** को इन शब्दों में स्मरण किया है—**"आज आचार्य विश्वनाथ-कृत अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थ "साहित्यदर्पण" का हिन्दी अनुवाद अध्येताओं के सामने प्रस्तुत करते हुये मुझे महती प्रसन्नता हो रही है। इस प्रसन्नता का एकमात्र कारण यह है कि यह हिन्दी अनुवाद प्रकाश में आ गया है। वस्तुतः आज से अनेक वर्ष पूर्व श्रद्धेय डॉ० हरिदत्त जी शास्त्री, भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डी० ए० वी० कालिज, कानपुर की प्रेरणा से इस ग्रन्थ का यह हिन्दी-अनुवाद किया गया था।**

कालचक्र के प्रवाह में इसको शीघ्र पूरा न कर सका। अनेक वर्षों के सतत प्रयत्न से येन केन प्रकारेण इसको पूरा किया तो इसके प्रकाशन की व्यवस्था न हो पाई। एक बार डॉ० हरिदत्त जी शास्त्री इस ग्रन्थ के हिन्दी-अनुवाद की पाण्डुलिपि को मेरे पास से ले भी गये थे, परन्तु उसका क्या हुआ इसका मुझे आज तक भी कुछ पता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि न तो वह पाण्डुलिपि मेरे पास आई और न ही साहित्यदर्पण का वह हिन्दी-अनुवाद ही प्रकाशित हुआ।"

बदायूँ में किये गये हिन्दी-अनुवाद की पाण्डुलिपि तत्कालीन मेरी शिष्या **कुमारी गिरीशरानी रस्तोगी** ने तैयार की थी। आज वह गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर में हिन्दी विभाग में काम कर रही हैं।

पारिवारिक दृष्टि से सन् १९५१–५२ से प्रारम्भ होने वाले शैक्षणिक सत्र से मैं अपनी धर्मपत्नी को भी अपने साथ रहने के लिये गुढ़ा (ग्राम) से ले आया था। तब से निरन्तर वह मेरे साथ रह रहीं हैं, यद्यपि मुझे अपनी अध्यापन-मञ्जिल को पूरा करने के लिये अनेक स्थानों के चक्कर काटने पड़े हैं। इनके साथ ही इनका भाई **गिरीशचन्द्र यादव** भी हाई स्कूल करने के लिये मेरे पास आ गया था। मेरी बहिन **वेदवती** को भी हाई स्कूल करने का उत्साह हुआ था। वे मेरे पास बदायूँ आईं भी, उन्होंने नवम कक्षा में प्रवेश भी लिया परन्तु दुर्भाग्य से उनकी इच्छा पूरी न हो सकी और उनकी पढ़ाई बीच में ही रुक गई। मेरे छोटे भाई **स्वतन्त्रनिरूपण** सन् १९५० में हाई स्कूल की परीक्षा A. K. College शिकोहाबाद से दे चुके थे। पिताजी की बड़ी उत्कट इच्छा थी कि स्वतन्त्र-निरूपण गुरुकुल काङ्गड़ी से आयुर्वेदालङ्कार करें। परिणामतः पिताजी ने हाई-स्कूल के पश्चात् उनको पढ़ाने का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर डाल दिया क्योंकि मैं गुरुकुल काङ्गड़ी में पढ़ चुका था। उस समय मेरी आर्थिक स्थिति इस प्रकार की नहीं थी कि मैं स्वतन्त्र को उच्च शिक्षा दिला सकता। हाँ, इच्छा मेरी अवश्य थी कि वे पढ़ें। इन सभी इच्छाओं को मूर्त रूप देने का एकमात्र श्रेय मेरी श्रीमती जी को है। उन्होंने क्या और किसप्रकार स्वतन्त्र को गुरुकुल में पढ़ाने की व्यवस्था की, यह सब कुछ लिखने का विषय नहीं है, केवल अनुभवगम्य ही कहा जा सकता है। गुरुकुल काङ्गड़ी के अन्दर स्वतन्त्र को आयुर्वेद कालिज में प्रविष्ट कराने में आश्रमाध्यक्ष श्री पं० शङ्करदेव जी विद्यालङ्कार, तत्कालीन मुख्याधिष्ठाता श्री विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार और तत्कालीन प्रस्तोता श्री प्रो० वागीश्वर जी विद्यालङ्कार जी का सर्वात्मना सहयोग मुझे प्राप्त हुआ। स्वतन्त्र का आयुर्वेद कालिज में प्रथम वर्ष में प्रवेश हो गया। सायकाल भोजन के समय स्वतन्त्रनिरूपण जब अपनी श्रेणी के साथ भोजन करने बैठे तब उन्हें पता लगा कि जो व्यक्ति उन्हें भोजन खिला रहा है वह हरिजन है और प्रातः-सायम् शौचालय को साफ़ करता है। स्वतन्त्र के मन और मस्तिष्क में परम्परागत जातिवाद के संस्कार उद्बुद्ध हो गये और वे बिना भोजन किये भूखे ही भोजन की पंक्ति से उठ आये। रात्रि को जब मुझे इस घटना का पता लगा तो मैंने उनको समझाया, गुरुकुल के आदर्श से परिचित कराया तब कहीं जाकर वे प्रकृतिस्थ हुये। सन् १९५४ में उन्होंने गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय से **आयुर्वेदालङ्कार** की सम्मानित डिग्री प्राप्त की थी। सन् १९५१ में **श्रद्धा** के जन्म लेने के साथ मेरे परिवार की वृद्धि हो चली। **श्रद्धा** ही एकमात्र ऐसी हमारी सन्तान है, जो जन्म से लेकर विवाह तक हमारे साथ रही है। सन् १९५३ में विक्रमाङ्क का जन्म हुआ। विक्रमाङ्क का पालन-पोषण भारौल (मैनपुरी) में अपने नाना-नानी के पास हुआ।

इसप्रकार पारिवारिक वृद्धि, अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में तथा साथी अध्यापकों के साथ आत्मीयता की दृष्टि से बदायूँ मेरे लिये चिरस्मरणीय रहेगा। अस्तु

सन् १९५४–५५ से प्रारम्भ होने वाले सत्र में जिस समय मैं सपरिवार बदायूँ लौटा, उस समय तक मेरी **डो० ए० वी० कॉलिज, अजमेर में संस्कृत-हिन्दी प्राध्यापक के** रूप में नियुक्ति हो चुकी थी। इस नियुक्ति के मूल में "**श्री बिहारीलाल जी शास्त्री**, जो उझानी (बदायूँ) के रहने वाले थे और जिनका सुपुत्र **अरविन्दकुमार** मेरा **श्रीकृष्ण इण्टर कालिज** में शिष्य रह चुका था, थे। **श्री बिहारीलाल जी** ने मेरी नियुक्ति के लिये **श्री जियालाल जी** को, जो डी० ए० वी० कॉलिज, अजमेर के सर्वेसर्वा थे, मेरी संस्तुति करते हुये पत्र लिखा था। उनके इस पत्र से ही मेरी नियुक्ति हुई थी, यह मुझे अजमेर जाने पर पता लगा। डी० ए० वी० कॉलिज अजमेर, क्योंकि आर्यसमाज की संस्था थी और मैं क्योंकि स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा संस्थापित गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय का स्नातक था, अतः मेरी नियुक्ति हो गई। यह मेरा विश्वविद्यालय अध्यापन क्षेत्र में प्रथम प्रवेश था। **श्रीकृष्ण इण्टर कालिज, बदायूँ** के मेरे सभी साथी अध्यापक मेरी इस नियुक्ति से प्रसन्न थे। जुलाई १९५५ की समाप्ति पर मैंने बदायूँ से विदा ली और मेरा कार्यक्षेत्र सम्प्रति इण्टर से डिग्री हो चला। अस्तु—

अगस्त १९५८ के प्रथम सप्ताह में मैंने अजमेर जाकर डी० ए० वी० कॉलिज में **संस्कृत-हिन्दी प्राध्यापक** के रूप में अपना कार्यभार संभाल लिया। उस समय डी० ए० वी० कालिज, अजमेर के प्रिंसीपल श्री कृष्णराव वाल्ले थे। मैं यहाँ रात्रिकालीन कक्षाओं में हिन्दी-संस्कृत पढ़ाने के लिये नियुक्त हुआ था, अतः पढ़ने वाले छात्र प्रौढ़ आयु के तथा सर्विस करते हुये थे। अध्यापन में मेरी अपने विषय में गति होने के कारण मेरे सम्मुख विषय की कोई समस्या नहीं थी और क्योंकि विद्यार्थी सर्विस क्षेत्र के थे अतः अनुशासन की भी कोई समस्या नहीं थी। उस समय अजमेर राजस्थान से पृथक् अस्तित्व रखने वाला राज्य था। इसके सभी कालिज **आगरा विश्वविद्यालय**, आगरा से सम्बद्ध थे, परिणामतः डी० ए० वी० कालिज, अजमेर भी आगरा विश्वविद्यालय, आगरा से सम्बद्ध कालिज था। रात्रिकालीन स्टाफ की संख्या छः थी। इनमें से प्रो० बी० एन० खण्डेलवाल के परिवार से मेरे परिवार का आत्मीय सम्बन्ध हो गया था। ये कामर्स पढ़ाते थे। मैं इसे अपना दुर्भाग्य ही कहूँगा कि स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू जी की अन्त्येष्टि संस्कार में सम्मिलित होने को गये प्रो० खण्डेलवाल जन सम्मर्द के अपार समुद्र में दबकर असामयिक मृत्यु को प्राप्त हो गये। इनके परिवार से मेरा आज भी सम्बन्ध बना हुआ है। अजमेर में मैं केवल एक वर्ष १९५४-५५ में रहा। इस बीच मुझे अपने सभी साथी अध्यापकों का स्नेह और आदर मिला। गुरुकुल काङ्गड़ी में अध्ययन करते हुये जो वेष मेरा था, अजमेर में भी मेरा वही वेष था अर्थात् कमीज और धोती। यहीं से मेरा आर्यसमाज में कार्य करने का क्षेत्र आरम्भ होता है। जिस समय में अजमेर में सर्वप्रथम रविवार को साप्ताहिक सत्संग में आर्यसमाज, केसरगंज गया, उस समय **श्री पं जियालालजी** ने मुझे अकस्मात् ही बोलने के लिये कह दिया था। सम्भवतः वे मेरे वक्तृत्व की परीक्षा लेना चाहते थे। सम्प्रति मैं यह तो नहीं कह सकता कि उस दिन मैं किस विषय पर बोला, पर बोला अवश्य था। उसके पश्चात् तो आर्य-समाज में प्रवचन सामान्य बात हो गई थी। अजमेर में मेरा नियमित जीवन चल रहा था। सारे दिन अपना पुस्तकीय अध्ययन, रविवार को प्रातः आर्यसमाज में सत्सङ्ग में सम्मिलित होना। बस, यही मेरा कार्यक्रम था।

शनैः शनैः दिन पक्ष में और पक्ष मास में परिवर्तित होते गये। इसी क्रम में **ऋषि बोधोत्सव-शिवरात्रि** का आर्यसमाज का जागरण पर्व आ गया। इसी दिन महर्षि दयानन्द जी को वास्तविक शिव का ज्ञान हुआ था। ऋषि बोधोत्सव पर्व पर मेरा विशिष्ट व्याख्यान आर्यसमाज में रखा गया था। मैं इसके लिये पहले से ही अपने अध्ययन और प्रवचन की तैयारी में लग गया। ठीक **ऋषि बोधोत्सव** की पूर्व संध्या

को जब मैं कालिज गया तो प्रिंसीपल श्री दत्तात्रेय वाब्ले ने मुझे यह सुखद समाचार दिया कि मैं अजमेर बोर्ड की परीक्षा का परीक्षक बना दिया गया हूँ। मेरी प्रसन्नता का पारावार नहीं था। उस समय में रामगञ्ज में मकान लेकर रह रहा था। उस समय मेरे परिवार के निम्न सदस्य थे:—मैं, मेरी धर्मपत्नी, मेरा छोटा भाई डा० स्वतन्त्रनिरूपण आयुर्वेदालङ्कार, गिरीशचन्द्र यादव और हमारी पुत्री कुमारी श्रद्धा। कालिज से घर आने पर मैंने यह सुखद समाचार अपने परिवार को सुनाया। सभी प्रसन्न थे और प्रसन्न भी क्यों न होते, मैं पहली बार अपने अध्यापन जीवन में परीक्षक बना था। रात्रि को भोजन करने के पश्चात् सभी सो गये। मेरी आँखों में नींद नहीं थी। मैं पहली बार जो परीक्षा का परीक्षक बना था। मैंने अपनी श्रीमती जी को जगाया और कहा कि तुम सो रही हो और मुझे परीक्षक बनने की खुशी में नींद नहीं आ रही है। उसके बाद न मालूम हम दोनों कितनी रात्रि तक परस्पर इधर-उधर की और परीक्षा की बातें करते रहे। अन्त में, हम दोनों भी यह सोचकर निद्रादेवी की गोद में सोने चले गये कि कल प्रातः मुझे **ऋषिबोधोत्सव** पर आर्यसमाज में प्रवचन करना है। मैं अभी पूरी तरह से सो भी नहीं पाया था कि मुझे कुछ खट-पट की आवाज सुनाई दी। सहसा मैंने खिड़की खोला तो देखा कि एक व्यक्ति पानी के पाइप के साथ ऊपर को चढ़ रहा है। मैं मकान की दूसरी मञ्जिल पर रह रहा था। मेरी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ सतर्क हो गई और मैं **चोर-चोर** कहता हुआ अपनी चारपाई से उछलकर दरवाजे को खोल ही पाया था कि बाहर खड़े हुये दो व्यक्तियों ने लाठियों से मेरे सिर पर प्रहार किया। मेरा सिर चक्कर खा गया, मैं भूमिसात् हो गया, परन्तु गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में लङ्काविजय खेल चुका था अतः उठा और उन दोनों के साथ मेरी गुत्थमगुत्था हो गई। मुझ पर लाठियाँ पड़ रहीं थीं और मैं उनसे द्वन्द्व युद्ध लड़ रहा था। मेरे पीछे मेरी श्रीमती जी जगकर भागी और उनके पीछे मेरा छोटा भाई स्वतन्त्र। मैंने एक चोर को पकड़ लिया था और उससे मेरी गुत्थमगुत्था हो रही थी। मकान के सभी किरायेदार जाग गये थे। स्वतन्त्र मेरे पास आकर कहने लगे कि भैय्या, क्या कर रहे हो, इसे छोड़ दो। कुछ क्षण पश्चात् स्वतन्त्र को यथार्थ स्थिति का ज्ञान हुआ। पास-पड़ौस के सभी व्यक्तियों ने उस चोर को दबोच लिया। मुझे कुछ राहत मिली और मैंने चोर के हाथ से लाठी छीन ली और जिस किसी को भी अपनी ओर आता देखता उसी पर लाठी लेकर मारने दौड़ पड़ता। मुझे क्या मालूम था कि जो व्यक्ति मेरी सहायता के लिये आ रहे हैं मैं उन्हीं पर बरस रहा हूँ। गुरुकुल में लाठी चलाना सीखा था, वह आज काम आया। यह सब कुछ घटना चक्र लगभग आधा घण्टे तक चलता रहा। अकस्मात् स्वतन्त्र का ध्यान मेरी ओर गया तो उन्होंने मुझे रक्त से लत-पथ पाया। उन्होंने मुझे पकड़ा और कमरे में ले जाकर चारपाई पर लिटा मेरी मरहम-पट्टी करने लगे। उस चोर की उस समय कितनी पिटाई हुई यह मैं नहीं कह सकता। पुलिस भी आ गई थी। उसने चोर को अपने अधिकार में लिया और मुझे हॉस्पिटल ले गये। इस सम्पूर्ण घटना-चक्र में मेरे साथ डा० स्वतन्त्रनिरूपण, प्रो० बी० एन० खण्डेलवाल और मेरे साथ ही किरायेदार के रूप में रह रहे श्री राजेन्द्रसिंह जी थे। अगले दिन प्रातःकाल सारे **रामगञ्ज** में इस घटना की चर्चा थी प्रत्येक व्यक्ति की जिह्वा पर मेरा नाम था। जिस समय मैं पुलिस की गाड़ी में बैठकर हॉस्पिटल से घर आया तो मुझे देखने के लिये सड़क पर वृद्ध नर-नारी खड़े थे। अपार जन समूह था। वह दृश्य आज भी भुलाये नहीं भूलता।

यह दिन **ऋषिबोधोत्सव** का था। आर्यसमाज में मेरा व्याख्यान था। मैं वहाँ नहीं पहुँचा परन्तु मेरे चोर पकड़ने की गाथा वहाँ पहुँची। आर्यसमाज के सत्संग के पश्चात् प्रत्येक आर्यसमाज का सदस्य मुझे देखने के लिये मेरे घर आया। मेरा यह सारा दिन व्यक्तियों के मुझे आकर देखने और कुशल समाचार पूछने में व्यतीत हुआ। मेरी छोटी बच्ची श्रद्धा की समझ में नहीं आ रहा था कि यह सब क्या हुआ और

क्या हो रहा है। इस सम्पूर्ण घटना को देखते हुये **अजमेर सरकार** ने मुझे मेरे इस अभूतपूर्व साहस के लिये पुरस्कारस्वरूप एक रिवाल्वर तथा कुछ धन दिया था। धन्यवाद के साथ मैंने रिवाल्वर स्वीकार नहीं की क्योंकि मेरी यह मान्यता है कि अध्यापक के लिये **लेखनी** आवश्यक है, रिवाल्वर नहीं। इस विशिष्ट घटना के साथ यह १९५४-५५ का सत्र सामान्यतया अपनी गति से चला आ रहा था कि सत्र की समाप्ति पर आगरा विश्वविद्यालय के एक आदेश के द्वारा डी० ए० वी० कालिज की रात्रि कक्षायें समाप्त कर दी गयी। परिणामतः विवश होकर प्रबन्धसमिति ने रात्रिकालीन कालिज की सेवा में रत हम सभी अध्यापकों की सेवायें समाप्त कर दी। परन्तु प्रिंसीपल दत्तात्रेय वाब्ले ने सत्र की समाप्ति पर मुझे आश्वासन दिया था कि वे दिन के कालिज के हिन्दी विभाग में येन केन प्रकारेण अगले सत्र से ले लेगें। मुझे सान्त्वना मिली और मैं सर्विस की चिन्ता से मुक्त हो गया।

सन् १९५५ में मेरी छोटी बहन सत्यवती का विवाह खेतूपुरा (एटा) के मेरे बड़े बहिनोई के छोटे भाई **श्री रघुवीरसिंह जी** के साथ सम्पन्न हुआ। इस विवाह का पर्याप्त और प्रत्येक प्रकार का उत्तरदायित्व हम दोनों को ही वहन करना पड़ा।

सन् १९५५-५६ से प्रारम्भ होने वाले सत्र में मैं पुनः **डी० ए० वी० कॉलिज अजमेर**, में **हिन्दी-संस्कृत प्राध्यापक** के रूप में वापिस आ गया। किन्तु यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो इसी वर्ष अजमेर राज्य को राजस्थान में विलीन करने की प्रक्रिया शुरू हो गई, जिसका सीधा प्रभाव हम अध्यापकों के वेतन पर पड़ा अर्थात् कालिज को मिलने वाले अनुदान के अकस्मात् रुक जाने के कारण वेतन का मिलना अनियमित हो गया। इसप्रकार वेतन न मिलने के कारण होने वाली आर्थिक कठिनाई को ध्यान में रखकर मैंने अजमेर को छोड़ने का निश्चय कर लिया। दैवयोग से और भाग्य की अनुकूलता के कारण मेरी नियुक्ति **डी० ए० वी० कालिज**, जालन्धर (पञ्जाब) में हो गई। मैं अजमेर छोड़ना नहीं चाहता था पर आर्थिक कठिनाई की विवशता के कारण मैं एक वर्ष का अवैतनिक अवकाश लेकर जालन्धर चला गया। मैंने २९ सितम्बर १९५५ को D. A. V. College जालन्धर में अपना **हिन्दी प्राध्यापक** का कार्यभार ग्रहण किया। इसके विपरीत मैं अजमेर में अपने छोटे भाई स्वतन्त्रनिरूपण की देखरेख में अपनी धर्मपत्नी को हस्पताल में छोड़कर जालन्धर गया था। २२ सितम्बर ५५ को हिमाङ्क ने इस नवीन संसार में अपनी आँखें खोली। इसप्रकार अपने हृदय में एक वर्ष की डी० ए० वी० कालिज की मधुर स्मृतियों को संजोये हुये छः दिन के अपने नवजात शिशु हिमाङ्क की, अपनी धर्मपत्नी की और स्वतन्त्रनिरूपण तथा श्रद्धा की चिन्ता को मन में लिये हुये मैं जालन्धर चला गया। अस्तु

२९ सितम्बर १९५५ को डी० ए० वी० कालिज, जालन्धर में जिस समय मैंने हिन्दी-प्राध्यापक के रूप में अपना कार्यभार ग्रहण किया उस समय श्री सूर्यभानु जी प्रिंसीपल थे, प्रो० राकेशमोहन जी, जो हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखते थे, हिन्दी विभागाध्यक्ष थे और इनके वरिष्ठ सहयोगी प्रो० सत्यदेव जी विद्यालङ्कार थे। मेरी डी० ए० वी० कालेज में नियुक्ति के जहाँ अन्य कारण थे वहाँ एक प्रमुखतम कारण मेरा गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय का स्नातक होना तथा आर्य-समाज के क्षेत्र में सक्रिय कार्यकर्त्ता होना भी था। शैक्षणिक दृष्टि से मेरा सीधा सम्बन्ध बी० ए० के विद्यार्थियों को पढ़ाना था। यद्यपि मेरी नियुक्ति एम० ए० की कक्षाओं को पढ़ाने के लिये हुई थी तथापि न मालूम किन अज्ञात कारणों से मुझे एम० ए० की कक्षाओं को पढ़ाने का अवसर नहीं मिला। यहीं पर रहते हुये मुझे **डा० सत्यदेव कोहली आयुर्वेदालङ्कार, प्रो० सहदेवजी चक्रवर्ती वेदालङ्कार** और विशिष्ट रूप श्री **पं० भीमसेन जी विद्यालङ्कार** का और इनके परिवार का संरक्षण प्राप्त हुआ। मैं यहाँ सपरिवार **पक्का बाग** में रहता था और यहाँ श्री सोमप्रकाश और इनके परिवार का संरक्षण मेरे परिवार को प्राप्त था। मेरे परिवार में मैं,

श्रीमतीजी, स्वतन्त्रनिरूपण और श्रद्धाकुल चार सदस्य थे। मेरे गुरुकुलीय जीवन के साथी मित्र **श्री रमेशचन्द्र अग्रवाल** का छोटा भाई **वेदप्रकाश** और **सोमप्रकाश** मेरे पास ही रहकर हिन्दी में एम० ए०कर रहे थे। इसप्रकार मेरा अध्ययन और अध्यापन का कार्य अपनी सामान्य गति से चल रहा था। इसी समय मेरा घनिष्ठ परिचय **श्री मनमोहन सूद** से हुआ, जो उस समय जालन्धर शहर स्टेशन पर टिकट कलैक्टर थे। यद्यपि मैं इनको गुरुकुलीय जीवन से ही जानता था तथापि इस समय वह परिचय पुनः नवीन हो गया था। ये मेरे सहाध्यायी **डा० ओम्प्रकाश आयुर्वेदालङ्कार** के पारिवारिक भाई थे और होशियारपुर के रहने वाले थे तथा गुरुकुल में पढ़ते हुये बीच में से ही गुरुकुल छोड़कर चले आये थे।

इस समय पंजाब में जिसप्रकार का वातावरण है, उसके बीज सन् १९५५ के वातावरण में देखे जा सकते हैं। मैं जिस जगह **पक्का बाग** में रहता था, उसके सामने एक विशाल मैदान था। सभीप्रकार की सभायें इसी मैदान में हुआ करती थीं, सर्वप्रथम मैंने और मेरे परिवार ने इसी मैदान में आयोजित होने वाली सभाओं में **खालिस्तान** के पक्ष और विपक्ष में भाषण और पथराव होते हुये अपने घर में बैठे हुये ही देखे थे। यदा-कदा पथराव में प्रयुक्त ईंट-पत्थर मेरे मकान के अन्दर भी आ जाते थे। इसप्रकार के वातावरण का मेरा परिवार अभ्यस्त नहीं था। परिणामतः हमने जालन्धर छोड़ने का निर्णय कर लिया। सर्विस की दृष्टि से मुझे इसलिये कोई चिन्ता नहीं थी क्योंकि मैं एक वर्ष का अवैतनिक अवकाश लेकर **डी० ए० वी० कालिज, अजमेर** से जालन्धर आया था।

एक दिन देखता क्या हूँ कि प्रो० रामपाल विद्यालङ्कार अपनी स्वाभाविक तीव्रगति से चले आ रहे हैं। घर आकर मेरे हाथों में Hindustan Times देते हुये कहने लगे कि भाई जी, मेरठ कॉलिज, मेरठ में संस्कृत प्राध्यापक की Want निकली है, Apply कर दो। मेरठ कॉलिज अपने उच्च-स्तरीय शिक्षण संस्था के रूप भारतवर्ष में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। मैंने उनसे कहा कि मुझे वहाँ कौन लेगा, व्यर्थ में रुपये खराब होंगे। मैंने उनसे Hindustan Times ले लिया और वे मुझे विभिन्न प्रकार से Apply करने की प्रेरणा देकर चले गये। इधर **मनमोहन सूद** प्रतिदिन अपनी ड्यूटी समाप्त करके मेरे घर आया करता था। मेरी श्रीमती जी ने उनसे कहा देख मनमोहन, तेरे भाई जी Meerut College में Apply ही नहीं करते हैं। फिर क्या था जिस समय भी वह घर आता उसका एक ही वाक्य सारे घर में गूंज जाता कि भाई जी, Apply, उसकी इस प्रेरणा ने मुझे मेरठ कालिज में Apply करवा दिया। शनैः शनैः व्यतीत होते दिनों में एक दिन ऐसा भी आया कि मेरे पास मेरठ कालिज का Interview letter आ गया। अनमने भाव से Apply किया था और अब जब कि Interview letter आ गया तो जालन्धर से मेरठ आने-जाने के व्यय को देखकर Interview में जाने की मेरी हिम्मत ही नहीं होती थी। इस मेरी आर्थिक समस्या का समाधान भी **मनमोहनसूद** ने किया।

मैं समय पर जालन्धर से मेरठ Interview देने के लिये मेरठ कैण्ट स्टेशन पर प्रातः Frontir mail से आ पहुँचा। यहाँ से मैं अपने गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक प्रो० अनिल विद्यालङ्कार के घर आया। ये उस समय मेरठ कालिज, मेरठ में शिक्षा विभाग में प्राध्यापक थे और **पत्ता मुहल्ला** में रहते थे। इन्होंने मुझे मेरठ कालिज की सम्पूर्ण स्थिति से परिचित कराया। उस स्थिति में मैंने यह निर्णय लिया कि Interview देने से कोई लाभ नहीं। किन्तु इस निर्णय के लेने पश्चात् भी जालन्धर नहीं लौट सकता था क्योंकि जालन्धर के लिये मेरठ से ट्रेन रात्रि को ही जाती थी। परिणामतः फिर अपना निर्णय बदल दिया और Interview देने का निश्चय किया। मैं अपनी योजनानुसार **प्रो० अनिल विद्यालङ्कार के साथ प्रो० सूर्यकान्त जी के पास मिलने के लिये आया। प्रो० जी गुरुकुल**

काङ्गड़ी के सुयोग्य स्नातक हैं और उन्होंने वेदालङ्कार की उपाधि गुरुकुल से प्राप्त की थी। गुरुकुलीय बन्धु होने के कारण उन्होंने मेरा हार्दिक स्वागत किया। आत्मीय भाव से वे मुझे **प्रो० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री** अध्यक्ष-संस्कृत-विभाग, मेरठ कालिज से मिलाने के लिये ले गये। मैं प्रो० धर्मेन्द्रनाथ जी के पास से सन्तुष्ट होकर वापिस लौटा।

सायंकाल मेरठ कालिज में साक्षात्कार था। समय पर कालिज आ गया। Interview लेने के लिये बोर्ड में कौन-कौन बैठे थे, यह मुझे नहीं मालूम परन्तु प्रिंसीपल के रूप में **प्रो० मदनमोहन जी** तथा संस्कृत विभागाध्यक्ष के रूप में **डॉ० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री** अवश्य थे। साक्षात्कार के पश्चात् प्रिंसीपल मदनमोहन ने मुझे बुलाकर यह सुखद समाचार सुनाया था कि मेरी नियुक्ति हो गई है। मैं अन्दर ही अन्दर प्रसन्न था, परन्तु मैं अपनी इस प्रसन्नता को किसी के सन्मुख प्रकट नहीं कर सका क्योंकि मेरे लिये उस समय वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति अपरिचित थे। पुनरपि वहाँ उपस्थित जिन महानुभावों ने मुझे सर्वप्रथम बधाई दी वे थे **डॉ० विष्णुशरण इन्द्र**, जो उस समय मेरठ कालिज में हिन्दी विभाग के प्राध्यापक और श्री महानन्द जी वर्मा, जो उस समय देवनागरी इण्टर कालिज के प्रवक्ता थे। मुझे क्या मालूम था कि बधाई देने वाले ये दोनों महानुभाव कालान्तर में मेरे अपने हो जायेंगे। आज ये दोनों महानुभाव मेरे और मेरे परिवार के सुख-दुःख के अभिन्न साथी हैं। इसप्रकार मेरी मेरठ कालिज में नियुक्ति हो गई और मैं आनन्दातिरेक से उल्लास के साथ मेरठ से जालन्धर वापिस आ गया।

समय पर मेरठ कालिज, मेरठ से मेरे पास नियुक्ति पत्र आ गया। मैं उस नियुक्ति पत्र के आधार पर अपने हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो० राकेशमोहन जी को सारी स्थिति से अवगत कराकर डी० ए० वी० कालिज जालन्धर से त्यागपत्र दे दिया और वह मेरा त्यागपत्र स्वीकृत भी हो गया किन्तु **मेरे मन कुछ और हैं विधिना के मन और**—इस सूक्ति के आधार पर कुछ ही दिनों पश्चात् मेरठ कालिज से एक रजिस्टर्ड पत्र मुझे प्राप्त हुआ जिसमें मुझे सूचित किया गया था कि "जिस पद पर आपकी नियुक्ति की गई थी। वह पद समाप्त हो गया है। अतः अब आपकी सेवाओं की आवश्यकता नहीं है। आपको एक मास का वेतन भेजा जा रहा है।" पत्र के पढने के साथ ही मेरे पैरों के नीचे से पृथिवी खिसक गई। मैं किंकर्त्तव्य विमूढ़ था, मुझे कुछ सूझता नहीं था। इधर तो मैं कालिज से त्यागपत्र दे चुका था और उधर मेरठ कालिज ने मेरे पद को ही समाप्त कर मेरी नियुक्ति को समाप्त कर दिया था। मैं निराधार बिना आश्रय के खड़ा था। ठीक है, **'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का'** सूक्ति मेरे ऊपर सटीक घटित हो रही थी। कुछ स्वस्थ होने पर मैं अपने अध्यक्ष प्रो० राकेशमोहन जी के पास गया। उनसे मैंने अपनी सम्पूर्ण व्यथा कहीं और उनसे निवेदन किया कि यदि सम्भव हो सके तो आप प्रिंसीपल से मिल-कर मेरे त्यागपत्र को वापिस करा दीजियेगा। मुझे उन्होंने आश्वासन दिया कि वे ऐसा करने का प्रयत्न करेंगे। मैं कुछ आश्वस्त हुआ।

दो-तीन दिन के अन्तराल से श्रीयुत प्रिंसीपल सूर्यभानु जी ने मुझे अपने कार्यालय में बुलाकर मुझे सूचित किया कि प्रो० राकेशमोहन जी की स्तुति पर और उनसे हुई बातचीत के आधार पर आपका त्यागपत्र वापिस किया जा रहा है। उस समय मेरी प्रसन्नता का पारावार नहीं था। मैंने अनेकशः अपना आभार **प्रो० राकेशमोहन जी** के प्रति व्यक्त किया। आज यद्यपि वे इस नश्वर संसार में नहीं हैं किन्तु उन्होंने उस समय जो मेरा उपकार किया था, उसके लिये अपनी भावना व्यक्त करने के लिये आज भी मेरे पास शब्द नहीं है। मैं उनको और उनके उदार व्यवहार को कभी भूल नहीं सकता हूँ। मैं प्रसन्न-प्रसन्न कालिज से घर लौटा। घर आने पर मुझे एक रजिस्टर्ड पत्र मिला। यह पत्र डी० ए०

वी० कालिज, अजमेर के प्रिंसीपल का था। इस पत्र के माध्यम से मुझसे पूछा गया था कि आपका एक वर्ष का अवैतनिक अवकाश समाप्त हो रहा है। क्या आप पुनः यहाँ आना पसन्द करेंगे। मैं बड़ी दुविधा में पड़ गया कि क्या करूं। इधर अभी-अभी मेरा त्यागपत्र वापिस हुआ है और उधर डी० ए० वी० कालेज, अजमेर से आने का निमन्त्रण पत्र प्राप्त हुआ है। ठीक है, **परमेश्वर जब देता है तब छप्पर फाड़कर देता है।** मैंने परमेश्वर को बार-बार धन्यवाद दिया और मन ही मन अजमेर लौट जाने का निर्णय ले लिया। अस्तु—

डी० ए० वी० कालिज, जालन्धर में उस समय १५ जुलाई से १५ सितम्बर तक ग्रीष्मावकाश हुआ करता था। अतः मैं सपरिवार १४ जुलाई १९५६ को जालन्धर से अजमेर के लिये चल पड़ा। मुझे दिल्ली तक छोड़ने के लिये श्री मनमोहन जी सूद आये थे। दिल्ली स्टेशन पर मनमोहन से पुनः जालन्धर न आने के साथ विदा ली। इसप्रकार २९ सितम्बर १९५५ से १४ जुलाई १९५६ तक की डी० ए० वी० कालिज, जालन्धर का अध्याय समाप्त हो गया।

मैंने अजमेर लौट कर पुनः जुलाई १९५६ में डी० ए० वी० कालिज में अपने पद का कार्यभार संभाल लिया। अभी अधिक दिन व्यतीत नहीं हुये थे कि अकस्मात् एक दिन मुझे अपने कालिज के स्टाफ रूम में बैठे हुये रद्दी की टोकरी में पड़ा हुआ मेरठ कालिज, मेरठ से भेजे गये किसी तार को सम्पुष्ट करने वाला पत्र मिला। उसमें लिखा था कि जिस पद पर आपकी नियुक्ति हुई थी, वह पद पुनः उज्जीवित हो गया है, अतः आप शीघ्र अपने पद के कार्यभार को ग्रहण कर लीजियेगा। मैंने इस पत्र को अपने साथी अध्यापकों को दिखाया। सभी ने मुझे यह परामर्श दिया कि मेरठ कालिज शीघ्र ही विश्वविद्यालय बनने जा रहा है, अतः आपको चला जाना चाहिये। मैं उसी दिन रात्रि की ट्रेन से मेरठ के लिये चल पड़ा। मेरठ आकर मैं प्रिंसीपल मदनमोहन जी से मिला और संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री से मिला। सभी प्रकार से अनुकूल परिस्थिति पाकर मैं इस निर्णय के साथ अजमेर वापिस लौटा कि मैं अगस्त १९५६ में कालिज आकर अपना कार्यभार ग्रहण कर लूँगा। अजमेर न चाहते हुये भी मुझे छोड़ना पड़ा क्योंकि मेरे मन में उच्च से उच्च कक्षा पढ़ाने की प्रवल इच्छा थी। अजमेर में मैं बी० ए० की कक्षाओं को पढ़ा रहा था और यहाँ मेरठ में एम० ए० की कक्षाओं को पढ़ाने का प्रलोभन था। आज भी मैं अजमेर के लिये पछता लेता हूँ। अस्तु—

अगस्त १९५६ में मैंने मेरठ कालिज, मेरठ के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक के रूप में अपने पद का भार ग्रहण किया। तब से लेकर आज तक अर्थात् अवकाश ग्रहण करने की अवधि ३० जून १९८४ तक मैं संस्कृत विभाग में प्राध्यापक, रीडर-अध्यक्ष के रूप में २८ वर्षों तक निरन्तर मेरठ कालिज में कार्य करता रहा हूँ। मेरठ कालिज में आने के पश्चात् इन २८ वर्षों की लम्बी अवधि की अपनी सारस्वत यात्रा का वर्णन करना इन सीमित पृष्ठों में मेरे लिये सम्भव नहीं है पुनरपि अपनी विभिन्न गतिविधियों का एक संक्षिप्त सा चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा। यहाँ आकर मेरी गतिविधियों का क्षेत्र तीन दिशाओं में प्रवहमान होकर रहा है। आर्यसमाज, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार और मेरठ कालिज से सम्बन्धित संस्कृत विभाग को केन्द्र बनाकर किया गया संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार का क्षेत्र। सम्प्रति मैं इसी क्रम में अपनी यात्रा प्रारम्भ कर रहा हूँ—

(१) आर्यसमाज सदर, मेरठ—

जैसा कि मैं पूर्व ही लिख चुका हूँ कि प्रो० अनिल विद्यालङ्कार मेरठ कालिज, मेरठ में शिक्षा विभाग में प्राध्यापक थे। ये आर्यसमाज सदर, मेरठ के सक्रिय सदस्य थे। इनके माध्यम से ही मैं आर्य-

समाज सदर के साप्ताहिक सत्संगों में प्रति रविवार को जाया करता था। उस समय आर्यसमाज का संचालन श्री रामचन्द्र जी मित्तल, श्री रामजी लाल जी, श्री शिवदयालु जी, श्री भगवानचन्द जी और श्री रघुनन्दनस्वरूप जी गोयल के हाथों में था। प्रारम्भ में अनेक वर्षों तक मैंने आर्यसमाज सदर की सदस्यता स्वीकार नहीं की। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो उस समय आर्यसमाज, सदर के प्रधान श्री रोशनलाल जी थे। मैं प्रारम्भ में आर्यसमाज सदर के साथ केवल साप्ताहिक सत्संगों में प्रति रविवार को जाने और प्रवचन करने तक का सम्बद्ध था। इसीप्रकार एक बार मेरे किसी प्रवचन में श्री रोशनलाल जी के सुपुत्र श्री विश्वामित्र जी उपस्थित थे। उनको मेरा प्रवचन रुचिकर लगा। उन्होंने मुझे अपनी झाँसी की आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर आने के लिये निमन्त्रित किया। मैंने उनके निमन्त्रण को सहर्ष स्वीकार कर वार्षिकोत्सव पर आने का वचन दे दिया। झाँसी के वार्षिकोत्सव पर जाने का परिणाम यह हुआ कि वहाँ हुये मेरे भाषणों से प्रभावित होकर बुन्देलखण्ड डिग्री कालिज की कमेटी के प्रधान और मैनेजर ने मुझे संस्कृत विभाग के अध्यक्ष के रूप में आने का निमन्त्रण दे दिया। यह सब कुछ मेरे गुरुकुल काङ्गड़ी के स्नातक होने का फल था। इसके पीछे श्री विश्वामित्र तथा गुरुकुल काङ्गड़ी के सुयोग्य स्नातक प्रो० सुरेन्द्रनाथ जी वेदालङ्कार, अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, बुन्देलखण्ड कालिज, झाँसी का विशेष प्रयत्न था। मैं बुन्देलखण्ड कालिज के औपचारिक साक्षात्कार में भी सम्मिलित हुआ परन्तु मैं इस आग्रहपूर्वक ससम्मान प्राप्त होने वाले संस्कृत विभागाध्यक्ष के पद को केवल इसलिये स्वीकार नहीं कर सका क्योंकि वहाँ संस्कृत में एम० ए० की कक्षायें नहीं थीं। यह मेरी आर्यसमाज के क्षेत्र में पहली उपलब्धि थी। इस झाँसी के आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर सम्मिलित होने के कारण मैंने वहाँ के ऐतिहासिक स्थानों का भ्रमण किया। उन दिनों राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त अपने चिरगाँव (झाँसी) में हीं निवास कर रहे थे। मैं उनके पास गया और अत्यन्त श्रद्धा के साथ मैंने उनके दर्शन किये। उन्होंने मुझे अपने पास बिठाया और बड़ी देर तक मुझसे गुरुकुल काङ्गड़ी, आर्यसमाज और मेरठ कालिज के विषय में बातचीत करते रहे। वहीं मुझे उनके छोटे भाई श्री सियारामशरण जी गुप्त से भी मिलने का सौभाग्य मिला। उनसे विदा होते हुये उन्होंने मुझे अपनी **जयभारत** नामक पुस्तक भेंट की। मैंने अपने आपको धन्य समझा। मेरी इस झाँसी यात्रा की दूसरी उपलब्धि थी, उपन्यासकार श्री वृन्दावनलाल जी वर्मा से मेरा मिलना। उनसे मिलने के लिये भी मैं प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथ जी वेदालङ्कार के साथ गया था। उनके साथ जलपान करते हुये विभिन्न विषयों पर चर्चा होती रही। झाँसी की आर्यसमाज ने मुझे दो महान् काव्यकारों से मिला दिया। ये स्मृतियाँ मेरे लिये आज भी कल के समान प्रतीत हो रही है। शनैः-शनैः मैं आर्यसमाज सदर, मेरठ का नियमित सदस्य हो गया। पुनः आर्यसभासद बना। इसप्रकार **आर्यसभासद्** हो जाने पश्चात् मैं आर्यसमाज सदर की प्रत्येक गतिविधि में सक्रिय भाग लेने लगा। मैं आर्यसमाज सदर की अन्तरंग सभा का अनेक वर्षों से सदस्य चला आ रहा हूँ। एक समय ऐसा भी आया कि मैं सर्वसम्मति से आर्यसमाज सदर का प्रधान निर्वाचित हुआ। मेरे ही प्रधानत्व में समाज की ७५ वीं वर्षीय **हीरक जयन्ती** मनायी गयी। इस हीरक जयन्ती के उपलक्ष्य में मैंने आर्यसमाज सदर का इतिहास लिखा था, जिसका विमोचन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्कालीन प्रधान **श्री प्रताप जी भाई थूर** ने किया था। श्री माधोप्रसाद जी ने सन् १९६९ में **'वेद प्रचार संस्थान'** नामक संस्था का निर्माण वेद प्रचार के लिये किया था, जिसका प्रारम्भिक **मन्त्री** मैं ही था और इस समय मैं आर्यसमाज सदर का प्रधान भी था। आज भी यह संस्था अपनी प्रगति पर है। आर्यसमाज के सत्संगों में प्रवचन करने के साथ-साथ मैंने धारावाहिक रूप से आर्यसमाज सदर में सत्यार्थप्रकाश की कथा भी की थी। आर्यसमाज सदर का इतिहास लिखने की

प्रेरणा मुझे **श्री रतनलाल जी,** जो जज रह चुके थे, से मिली थी। इस इतिहास के लिखने में मुझे पर्याप्त लेखन सामग्री इनके संस्मरणों से प्राप्त हुई थी। सत्यार्थप्रकाश की कथा करने के मेरे प्रेरणा-स्रोत श्री ओम्प्रकाश मित्तल, श्री आनन्दप्रकाश मित्तल और श्री शान्तिप्रकाश जी मित्तल के श्रद्धेय पिता स्वर्गीय श्री रामचन्द्र जी मित्तल थे। वे मेरी सत्यार्थप्रकाश की कथा के नियमित श्रोता थे। उनके असामयिक देहावसान के अवसर पर उनको श्रद्धांजलि समर्पित करते हुये मैंने भावविभोर होकर कहा था कि आज मेरी सत्यार्थप्रकाश की कथा का एक श्रोता उठ गया। इसीप्रकार सन् १९६५ मे मेरठ कालिज, मेरठ में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद के रिक्त होने पर इस पद के लिये प्रत्याशी होने तथा सर्वात्मना प्रयत्न करने की प्रबल प्रेरणा मुझे वर्तमान काल के आर्यसमाज सदर के प्रधान श्री वेदप्रकाश जी गर्ग के श्रद्धेय पिता स्वर्गीय श्री रामजीलालजी से मिली थी। वे जब भी मिलते थे स्थिति का पता करते थे। आज उन्हीं की प्रेरणा और आशीर्वाद का परिणाम है कि मैं इस समय संस्कृत विभागाध्यक्ष के रूप में मेरठ कालिज, मेरठ से अवकाश ग्रहण कर रहा हूँ। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के सिरसागंज में हुये वार्षिक उत्सव के अवसर पर आर्यसमाज सदर, मेरठ के प्रतिनिधि होकर मैंने और **श्री रघुनन्दन स्वरूप जी गोयल** ने भाग लिया था। तब से निरन्तर मैं **श्री रघुनन्दन स्वरूप जी गोयल** के साथ आर्यसमाज सदर का प्रतिनिधित्व आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर-प्रदेश में कर रहा हूँ। जिस समय आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश का **श्री सच्चिदानन्द जी शास्त्री** के बहिर्गमन करने के साथ सहारनपुर में विभाजन हुआ था, हमारी समाज शास्त्री जी के साथ थी। इस विभाजित आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश के **श्री रघुनन्दनस्वरूप जी गोयल** प्रधान भी रह चुके हैं। आर्यसमाज सदर के प्रतिनिधि के रूप में मैंने आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश के विभिन्न स्थानों में होने वाले अधिवेशनों में भाग लिया है। इस समय भी जबकि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली के प्रधान **श्री रामगोपाल जी शाल वाले वानप्रस्थ** ने अनियमितताओं को देखकर आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश की अन्तरंग सभा को भङ्ग कर जिस **तदर्थ समिति** का गठन किया है, उसका मैं एक सदस्य हूँ। आर्यसमाज सदर की देखरेख में तीन संस्थायें चल रही थीं। तद्यथा- **महर्षि दयानन्द इण्टर कालिज गोविन्दपुरी, आर्य कन्या इण्टर कालिज, सदर मेरठ** तथा **श्रद्धानन्द शिशु विहार**, आर्यसमाज सदर, मेरठ। मैं इन सभी संस्थाओं से किसी न किसी प्रकार से जुड़ा रहा हूँ। इस समय आर्य कन्या इण्टर कालिज, सदर मेरठ की विद्या सभा का सदस्य हूँ और श्रद्धानन्द शिशु विहार का मैं सन् १९८१ से प्रशासक हूँ। आर्य समाज से सम्बन्धित साहित्य के निर्माण की दृष्टि से **श्री रामजी लाल जी** ने **सन्ध्या सुधा** पुस्तक की रचना की थी। उसकी पाण्डुलिपि मैंने आद्योपान्त देखी थी। इस वर्ष १९८४ में **डा० भूपेशचन्द्र जी सक्सेना,** अध्यक्ष-इतिहास विभाग, मेरठ कालिज, मेरठ ने अपने दिवगंत पूज्य माता-पिता की पावन स्मृति को चिर-स्थायी बनाने के लिये **सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत वैदिक मन्त्र** नामक पुस्तक का सम्पादन किया है इसकी सम्पूर्ण रूपरेखा का निर्माण मेरे द्वारा ही किया गया है। इसीप्रकार **श्रद्धानन्द शिशु विहार** की दशाब्दी उत्सव को आयोजित करने के लिये निकट भविष्य में **श्रद्धानन्द संस्करण स्मारिका** का प्रकाशन मेरे द्वारा ही किया जा रहा है। मैंने आर्यसमाज सदर के सदस्य के रूप में आर्यसमाज के क्षेत्र में कई दिशाओं में सक्रिय कार्य किया है। सम्प्रति ३० जून १९८४ को मेरठ कालिज, मेरठ से अवकाश ग्रहण कर लेने के उपरान्त भी आर्यसमाज का विस्तृत क्षेत्र मेरा कार्य-क्षेत्र रहेगा, ऐसी मैं आशा करता हूँ।

गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय

सन् १९४५ में गुरुकुल काङ्गड़ी से **विद्यालंकार** की उपाधि लेकर स्नातक बनने के पश्चात् आज

तक भी गुरुकुल से मेरा अविनाभाव सम्बन्ध बना हुआ है। प्रारम्भ में तो मेरा गुरुकुल से इतना मात्र ही सम्बन्ध था कि वर्ष में दो बार गुरुकुल काङ्गड़ी हो आया करता था। एक बार तो स्वामी श्रद्धानन्द जी की स्मृति में दिसम्बर मास में २३ **दिसम्बर से ३१ दिसम्बर** तक आयोजित होने तथा धूमधाम से मनाये जाने वाले **श्रद्धानन्द सप्ताह** पर तथा दूसरी बार **११ अप्रैल से १४ अप्रैल तक** होने वाले वार्षिकोत्सव पर। वर्ष में इन दोनों अवसरों की मैं बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा किया करता था। **श्रद्धानन्द सप्ताह** पर खेलकूद के आयोजनों के साथ-साथ **अखिल भारतीय श्रद्धानन्द हाकी टूर्नामेंण्ट** और **श्रद्धानन्द बॉलीबॉल टूर्नामेंण्ट** हुआ करते थे, जिनमें मैं सक्रिय भाग ही नहीं लेता था, अपितु इन टूर्नामेंण्टों के सफलता-पूर्वक सम्पन्न होने के लिये सर्वात्मना प्रयत्न भी करता था। आज यह **श्रद्धानन्द सप्ताह** अतीत की वस्तु बन गया है। यदि मैं यह कहूँ कि आज के गुरुकुल के अधिकारियों को **श्रद्धानन्द सप्ताह** के महत्व का ही ज्ञान नहीं है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। **वार्षिकोत्सव** बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ करते थे। वार्षिकोत्सव का सबसे प्रमुख आकर्षण का केन्द्र हुआ करता था **दीक्षान्त संस्कार**। इसमें गुरुकुल के **नवीन स्नातक** निकला करते थे और उनको **वेदालंकार, विद्यालंकार** और **आयुर्वेदालंकार** की उपाधि दी जाती थी। आज ये दोनों ही उत्सव अपनी मर्यादा और आकर्षण खो चुके हैं। मुझे स्मरण नहीं आता कि गुरुकुल काङ्गडी का कोई ऐसा भी वार्षिकोत्सव रहा है जिसमें मैं सपरिवार सम्मिलित नहीं हुआ हूँ। सन् १९५६ में मेरठ में आ जाने के पश्चात् मैं हरिद्वार के और भी अधिक निकट हो गया परिणामतः मेरा गुरुकुल आना-जाना बढ़ गया। इसीप्रकार गुरुकुल काङ्गड़ी से **विद्यालंकार** और **वेदालंकार** करके निकले हुये स्नातकों की एक अविच्छिन्न परम्परा एम० ए० करने के लिये मेरठ कालिज आती रही और इसप्रकार गुरुकुल और गुरुकुल के स्नातकों से मेरा सम्बन्ध घनिष्ठ और घनिष्ठतर होता गया। गुरुकुल काङ्गड़ी से निकले हुये स्नातकों का अपना एक संगठन है, जो '**अखिल भारतीय स्नातक मण्डल**' नाम से जाना जाता शनैः शनैः मैं इस '**अखिल भारतीय स्नातक मण्डल**' का अङ्ग और अन्तरङ्ग होता गया। मुझे संगठन के के अन्दर लाने और प्रोत्साहन देने का एक मात्र श्रेय भाई **श्री सत्यदेव जी विद्यालंकार** और **डा० हरिप्रकाश जी आयुर्वेदालंकार** को है। सन् १९६२ में मैं इस **अखिल भारतीय स्नातक मण्डल** का **मन्त्री** बन गया। मन्त्री बनने के साथ ही मेरा **गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय** की प्रत्येक प्रकार की गतिविधि में, प्रत्येक प्रकार कीराजनीति में प्रवेश हो गया। **गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय की** स्वामिनी सभा **आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब** है। गुरुकुल का संचालन करने के लिये गठित **सीनेट** और **विद्यासभा** में **अखिल भारतीय स्नातक मण्डल** की ओर से दो स्नातक प्रतिनिधित्व करते हैं। मैं उन दो स्नातकों में से एक हूँ, जो स्नातकों का **सीनेट** और **विद्यासभा** में प्रतिनिधित्व करते है। सदस्य के रूप में मैं अनेक वर्षो तक सीनेट और विद्यासभा में कार्य करता रहा हूँ। **अखिल भारतीय स्नातक मण्डल** का मन्त्री और सीनेट तथा विद्यासभा का सदस्य होने के कारण मैंने गुरुकुल काङ्गड़ी के अनेक उतार चढ़ावों को देखा है। गुरुकुल काङ्गडी की उन्नति और अवनति का साक्षी रहा हूँ। जो स्नातक गुरुकुल काङ्गडी के परम्परागत स्वरूप को अक्षुण्ण रखने के लिये सतत संघर्ष और प्रयत्न करते रहे हैं, उनमें निम्न स्नातकों का योगदान अविस्मरणीय है। तद्यथा —**डा० सत्यकेतु जी** विद्यालंकार, श्री सत्यदेव जी विद्यालंकार, श्री मनोहर जी विद्यालंकार, प्रो० वेदव्रत जी वेदालंकार, डा० हरिप्रकाश जी आयुर्वेदालंकार, डा० देवेन्द्रकुमार जी वेदालंकार, श्री विद्यासागर जी विद्यालंकार, डा० कृष्णकुमार आयुर्वेदालंकार, डा० सत्यकाम वर्मा आयुर्वेदालंकार और डा० जयदेव विद्यालंकार। इनमें से **डा० हरिप्रकाश जी आयुर्वेदालंकार** का नाम गुरुकुल के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा,

जिन्होंने गुरुकुल के स्वरूप की रक्षा करने के लिये अपने प्राणों की भी बाजी लगा रखी है। उन्होंने ऐसे भी क्षण देखे है जबकि मृत्यु उनके सामने खड़ी है। ऐसे विषम क्षणों में उन्होंने मृत्यु का वरण करना उचित समझा किन्तु गुरुकुल के स्वरूप को बिगाड़ने के लिये किये जा रहे प्रयत्नों के साथ समझौता नहीं किया। **सन् १९७७ से ८० तक** का काल इसका साक्षी है। मैं अपने आपको धन्य समझता हूँ कि मैंने उपर्युक्त स्नातकों के साथ मिलकर गुरुकुल के स्वरूप को बनाये रखने के लिये संघर्ष और कार्य किया है। मैंने गुरुकुल के लिये अपनी धर्मपत्नी श्रीमती यतीन्द्रादेवी जी के साथ अनशन भी किया है और जेल भी गया हूँ। सन् १९८०–८१ में मैं **गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय का आचार्य** और उपकुलपति नियुक्त होकर गया था। मैं उस समय के गुरुकुल के स्वरूप को देखकर स्तम्भित सा रह गया था। उस समय गुरुकुल में **सहशिक्षा** चल रही थी। मुझे **सहशिक्षा** समाप्त करने के लिये संघर्ष करना पड़ा था। न मालूम तत्कालीन गुरुकुल के अधिकारी और आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के अधिकारी आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रतिकूल **सहशिक्षा** को क्योंकर और कैसे सहन कर रहे थे। **ऋषि दयानन्द** ने अपने **सत्यार्थप्रकाश** के दशम समुल्लास में भक्ष्याभक्ष्य विषय पर लिखा है। गुरुकुल काङ्गडी में वर्तमान काल में ऐसा प्रतीत होता है कि उनको इस भक्ष्याभक्ष्य का कुछ ज्ञान ही नहीं है। अधिक क्या कहूँ, मैं जिसप्रकार के गुरुकुल के स्वरूप के निर्माण का स्वप्न लेकर गुरुकुल गया था, वह पूरा नहीं हो सका और मैं एक वर्ष के पश्चात् पुनः **मेरठ कालिज,** मेरठ में वापिस आ गया। आज गुरुकुल का अपना कहने के लिये **आयुर्वेद कालिज** नहीं है, परिणामतः **आयुर्वेदालंकार** की उपाधि लेकर निकलने वाले स्नातक समाप्त हो चुके हैं। आज भी गुरुकुल के अन्दर कुछ इसप्रकार के तत्व हैं जो गुरुकुल के अवशिष्ट स्वरूप को भी नष्ट करना चाहते हैं। आज गुरुकुल से क्रमशः गुरुकुलीयता नष्ट होती जा रही है। इसी बात की कल्पना करके सन् १९७७ में गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय के सन् १९१२–७६ तक के स्नातक-स्नातिकाओं का संक्षिप्त परिचय को बताने वाला 'स्नातक-परिचायिका' ग्रन्थ प्रकाशित किया गया था। मैं अब भी जबकि मेरठ कालिज, मेरठ से अवकाश ग्रहण कर रहा हूँ गुरुकुल की भावी स्थिति और स्वरूप के लिये चिन्तित हूँ। सोचता हूँ कि **कुलमाता** के लिये यदि कभी यत्किञ्चित् भी कर सका तो इसे मैं अपना सौभाग्य ही समझूँगा। **कुलमाता** का अस्तित्व येन केन प्रकारेण सुरक्षित रहे, यहीं परमेश्वर से नित्य प्रार्थना करता रहता हूँ। अस्तु—

मेरठ कालिज, मेरठ

सन् १९५६ में जिस समय मैंने मेरठ कालिज में प्राध्यापक के रूप में कार्यभार संभाला था, उस समय मेरे पास **तीन कालिजों** के नियुक्ति पत्र थे। तद्यथा-डी०ए०वी० कालिज, जालन्धर, डी० ए० वी० कालिज, अजमेर और मेरठ कालिज, मेरठ। जैसे-जैसे मेरठ कालिज में मुझे अपने प्रति अनुकूलता प्रतीत होती गई वैसे-वैसे क्रमशः मैं जालन्धर और अजमेर से त्याग पत्र देता गया। मेरठ कालिज में आकर भी मैं जहाँ कहीं भी अपने लिये अनुकूल Want देखता था वहाँ Apply करता था। मेरे अपने सम्पूर्ण प्रयत्न करने पर भी मेरठ मुझसे नहीं छूट सका और कालान्तर में जब मैंने देख लिया कि मेरठ मुझसे नहीं छूटेगा तब मैंने अन्यत्र Apply करना बन्द कर दिया और मैंने अपने भाग्य को मेरठ के साथ जोड़ लिया। अस्तु—

जिस समय मैं मेरठ कालिज में आया था उस समय मुझे मिलाकर संस्कृत विभाग में तीन प्रोफेसर थे। डा० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री अध्यक्ष थे तथा डा० शिवराज शास्त्री और मैं प्राध्यापक थे। प्रारम्भ में

मुझे पढ़ाने के लिये बी० ए० तथा एम० ए० (पूर्वार्द्ध) की कक्षायें दी गई थीं। सन् १९५६ में प्रिंसीपल **प्रो० मदनमोहन जी** थे। **एम० ए० पूर्वार्द्ध** की कक्षा को पढ़ाने के लिये मुझे **श्री विशाखदत्त प्रणीत मुद्राराक्षसम्** नामक नाटक दिया गया था। **एम० ए० उत्तरार्द्ध** में मेरा कोई पीरियड नहीं था। उस समय **गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय**, हरिद्वार से एम० ए० (संस्कृत) करने के लिये **भूदेव पाटिल विद्यालंकार** और हिन्दी में एम० ए० करने के लिये **दिवाकर विद्यालंकार**-ये दो विद्यार्थी आये हुये थे। मार्च में व्यक्तिगत रूप से संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा देने के लिये ब्यावर से **वासुदेव आर्य** आये हुये थे। **भूदेव** हॉकी का श्रेष्ठ खिलाड़ी था। वह **मेरठ कालिज** की हॉकी की ए टीम में ही नहीं था अपितु **आगरा विश्वविद्यालय** की टीम में भी श्रेष्ठ खिलाड़ी के रूप में विख्यात था। **आगरा विश्वविद्यालय** की टीम में एक सदस्य के रूप में भूदेव उत्तर-दक्षिण विश्वविद्यालयों के हुये हॉकी टूर्नामेंण्ट में मद्रास में फाइनल मैच खेलने के लिये भी गया था। इस समय मुझे अपने सभी विद्यार्थियों के नामों का स्मरण तो नहीं है, परन्तु जिन दो चार विद्यार्थियों के नाम मुझे याद आ रहे हैं उनमें **महेशचन्द्र भारतीय, श्रीमती ब्रजरानी कपूर विद्यालंकृता** और **कुमारी लक्ष्मीदेवी यादव** प्रमुख हैं। ये सभी एम० ए० पूर्वार्द्ध के छात्र थे। **महेशचन्द्र भारतीय** बी० एससी० करके एम० ए० संस्कृत में करने आये थे। ये मेधावी और परिश्रमी छात्र थे। आज ये पी-एच० डी० हैं और **महानन्द मिशन हरिजन कालिज, गाजियाबाद** में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं। इन्होंने अनेक संस्कृत ग्रन्थों की व्याख्यायें लिखी है, जिनका संस्कृत जगत् में पर्याप्त मान है। इस समय इनके ही प्रयत्न से **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत शोध पत्रिका** प्रकाशित हो रही है। ये इस **शोधपत्रिका** के सम्पादक है। इनको शिष्य के रूप में पाकर मुझे गर्व है। **श्रीमती ब्रजरानी कपूर विद्यालंकृता** इस समय **आर्य कन्या इण्टर कालिज, मेरठ शहर** में **संस्कृत प्रवक्ता** हैं। इनके पति **श्री घनश्यामसिंह कपूर मेरठ कालिज कार्यालय** में प्रतिष्ठित पद पर कार्य कर रहे हैं। सन् १९५६ में मध्यान्तर पूरा एक घण्टे का हुआ करता था। इस मध्यान्तर में मैं विद्यार्थियों को **व्याकरण** पढ़ाया करता था। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो इसी वर्ष **डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री रूस** गये थे। इनके रूस चले जाने पर मुझे **एम० ए० उत्तरार्द्ध** की कक्षा पढ़ाने के लिये मिली थी। **भूदेव पाटिल** एम० ए० उत्तरार्द्ध का छात्र था। यह मेरा प्रिय छात्र था क्योंकि यह गुरुकुल काङ्गड़ी का स्नातक था। मुझे एम० ए० उत्तरार्द्ध की कक्षा को व्याकरण पढ़ाना था। जिस दिन मैं पहली बार **एम० ए० उत्तरार्द्ध** की कक्षा को पढ़ाने के लिये गया मैं यह अपने मन में निश्चय करके गया था कि आज इस कक्षा को नहीं पढ़ाऊंगा और उपस्थिति लेकर छोड़ दूंगा। मेरी विचार धारा के ठीक विपरीत एम० ए० उत्तरार्द्ध के छात्र यह योजना बनाकर कक्षा में आये थे कि उपस्थिति हो जाने के पश्चात् हममें से प्रत्येक छात्र एक-एक करके कक्षा में से उठ आयेगा और इसप्रकार हम **श्री निरूपण विद्यालंकार** से नहीं पढ़ेंगे (इस योजना का मुझे काफी दिनों के पश्चात् पता लगा था) उपस्थिति लेने के पश्चात् मैं मन में यह सोच रहा था कि इनको कैसे कहूँ कि आज नहीं पढ़ाऊंगा और कक्षा यह सोच रही थी कि कैसे अपनी पूर्व योजना के अनुसार एक-एक करके कक्षा से उठें। इससे पूर्व कि मैं कुछ कहता उनमें से एक छात्र बोला कि प्रोफेसर जी, मुझे एक काम है मैं चला जाऊं ? मैंने भी सहज भाव से (क्योंकि मुझे पढ़ाना नहीं था) उससे कहा कि हाँ, चले जाओ और अपने साथ इन सबको भी लेते जाओ। उसने यह समझा कि मुझे उनकी योजना का पता है। अतः वह थोड़ी बहुत ननुनच करने के बाद बैठ गया। उसके पश्चात् किसी छात्र ने मुझसे जाने लिये नहीं पूछा। कक्षा बैठी थी क्योंकि उनकी योजना असफल हो चुकी थी और मैं, जो न पढ़ाने की सोचकर आया था, पढ़ाने लगा। यह मेरठ कालिज में विद्यार्थियों के मध्य मेरा प्रथम घटना चक्र था।

सन् १९५७ में ही **डा० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री** के निर्देशन में महाकवि कालिदास प्रणीत **"अभिज्ञानशाकुन्तलम्"** (अतिरञ्जित शृंगारांश विवर्जितम्) का प्रणयन हुआ था। जिसमें संस्कृत टीका लिखने में मेरा योगदान था। यह मेरा प्रथम लेखन था। सन् १९५७ में ही **डा० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री** को गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय से विद्या की उपाधि दी गई थी। डा० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री की सम्पूर्ण सेवा का उत्तरदायित्व **प्रो० वागीश्वर जी विद्यालंकार** ने मुझे ही सौंपा था।

सन् १९५८ में डॉ० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री के अवकाश ग्रहण करने के उपलक्ष में जो मेरठ कालिज, संस्कृत विभाग की ओर से विदाई समारोह किया गया था, उसमें मेरा डा० विष्णुशरण जी इन्दु से परिचय हुआ था। वह परिचय शनैः-शनैः प्रगाढ़ और प्रगाढ़तर होता गया और हम दोनों की वह आत्मीयता अभी तक भी बनी हुई है। इस वर्ष जून १९८४ में हम दोनों ही अवकाश ग्रहण कर रहे हैं। सन् १९५८ में ही मैं आगरा विश्वविद्यालय में पी- एच० ड़ी० के पंजीकृत हुआ था। मेरा पी- एच० डी० का विषय, **"प्राचीन भारतीय धर्मशस्त्र साहित्य में शूद्रों की स्थिति"** था।

डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के सन् १९५८ में अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् **डा० शिवराज शास्त्री** संस्कृत विभाग में अध्यक्ष बने और **डॉ० केशवरामपाल जी** संस्कृत प्राध्यापक होकर स्टाफ में आये। इस प्रकार **डॉ० शिवराजशास्त्री, मैं** और **डॉ० केशवरामपाल**—ये तीन संस्कृत विभाग में अध्यापक थे। यहाँ यह कह देना अप्रासङ्गिक न होगा कि **मेरठ कालिज** में आकर मेरा हॉकी, वॉलीबाल और फुटबाल सभी प्रकार का खेलना छूट गया और अब मैं केवल अध्येता और अध्याअक रह गया। **मेरठ कालिज संस्कृत परिषद** की गतिविधियों का केन्द्र केवल मैं था। अर्थात् **संस्कृत परिषद** की ओर से होने वाले सभी आयोजन मैं ही कराया करता था। इस प्रकार **संस्कृत-परिषद** की ओर से भिन्न-भिन्न विद्वानों को निमन्त्रित कर उनके विद्वत्तापूर्ण भाषण संस्कृत विभाग में हुआ करते थे। इसका एक लाभ मुझे यह हुआ कि मेरा विभिन्न विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों और विद्वानों से व्यक्तिगत परिचय हो गया। उस समय मेरठ कालिज की छात्र यूनियन की ओर से प्रतिवर्ष दिसम्बर मास में उत्साह के साथ उत्सव हुआ करते थे। उस समय एक बार मैंने भी अपने संस्कृत विभाग की ओर से महाकवि भासप्रणीत दूतवाक्यम् नाम के नाटक का अभिनय कराया था, जिसको दर्शकों ने अत्यधिक पसन्द किया था। इसीप्रकार प्रतिवर्ष संस्कृत परिषद की ओर से **सरस्वती यात्रा** का भी आयोजन किया जाता रहा है। इन सरस्वती यात्राओं में मेरठ नगरी में **भोला की झाल, सरधना, बरनावा-वारणावत** और हस्तिनापुर प्रमुख ऐतिहासिक स्थान थे और मेरठ से बाहर दिल्ली, बड़की झील, आगरा, सिकन्दरा, फतेहपुरसीकरी, हरिद्वार, ऋषिकेश, देहरादून, मसूरी—ये पर्यटकस्थल थे। मैं बाल्यकाल से ही भ्रमणप्रिय रहा हूँ, अतः मैं विद्यार्थियों को घुमाने में भी रस और आनन्द लेता रहा हूँ।

सन् १९५८ में ही मेरठ कालिज संस्कृत विभाग में ट्यूटोरियल कक्षायें आरम्भ हुई जिनसे छात्रों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क और अधिक घनिष्ठ होने लगा। मैं अपनी प्रकृति के अनुसार छात्र और छात्राओं के अध्ययन, छात्रवृत्ति तथा उनकी पारिवारिक आर्थिक स्थिति से अपने आपको परिचित रखता था। और मुझ से जो कुछ भी उनके लिये हो सकता था, उनकी सहायता करता था। सन् ६३-६४ में डा० केशवरामपाल जी के अवकाश पर चले जाने पर डा० श्रीमती रमादुबलिश की संस्कृत विभाग में नवीन नियुक्ति हुई। ये **कन्या गुरुकुल, देहरादून** की स्नातिका और **विद्यालंकृता** थी। वर्तमान काल में डा० श्रीमती रमा दुबलिश मुन्नालाल गर्ल्स कालिज, सहारनपुर में संस्कृत विभाग की अध्यक्षा हैं। सन् १९७३-७४ के सत्र में डा० शिवराज शास्त्री की कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र में रीडर पद पर नियुक्ति हो गयी। मैं सोचता यह था कि अपनी सामाजिक उन्नति की प्रबल कामना के कारण मुझे ही मेरठ

कॉलिज छोडकर जाना पड़ेगा। किन्तु हुआ मेरी इस विचारधारा के ठीक विपरीत। अर्थात् ड़ा० शिवराज शास्त्री कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में रीडर पद पर नियुक्त होकर चले गये, परिणामतः उनके जाने के पश्चात् मैं ही संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुआ। इस समय डा० के० के० शर्मा प्रिंसीपल थे। सस्कृत विभागाध्यक्ष के रूप में मेरठ कालिज में मेरा कार्यकाल नवीन उत्तरदायित्व के साथ प्रारम्भ होता है। इस प्रकार मैं अध्यक्ष और ड़ा० केशवरामपाल प्राध्यापक थे। संस्कृत विभाग में तीसरे प्रवक्ता के रूप में डा० यज्ञदेव जी की नियुक्ति हुई। संस्कृत विभाग में मैं अपनी नियुक्ति के लिये स्व० श्री वेदप्रकाश जी गर्ग, और तत्कालीन प्रिंसीपल डा० के० के० शर्मा को नहीं भूल सकता, जिनके अथक प्रयत्न और प्रवल सहयोग के विना मैं इस पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता था। मैं आज इनके प्रति अपने आपको महान्-कृतज्ञ और आभारी अनुभव करता हूँ। मेरे संस्कृत विभाग के अध्यक्ष बनने पर सबसे अधिक प्रसन्नता मेरे छोटे भाई स्व० डा० स्वतन्त्र निरूपण और मेरी धर्मपत्नी श्रीमती यतीन्द्रादेवी जी को हुई थी। मैं इसे अपने संस्कृत विभाग का दुर्भाग्य ही समझता हूँ कि किसी अज्ञात कारण से प्रो० यज्ञदेव जी को मेरठ कालिज छोड़ना पड़ा और इनके स्थान पर सन् १९६५-६६ में संस्कृत विभाग में ड़ा० अवनीन्द्र कुमार जी की नियुक्ति हुई। कालान्तर में डा० अवनीन्द्रकुमार जी की भी अन्यत्र नियुक्ति हो गयी और उन्होंने मेरठ कालिज छोड़ दिया। इनके स्थान पर सन् १९६६–६७ में डा० कर्णसिह जी वर्मा हिन्दी विभाग, मेरठ कॉलिज से स्थानान्तरित होकर संस्कृत विभाग में आ गये। इसीप्रकार डा० केशवरामपाल जी की वदायूँ रीड़र पद पर नियुक्त होकर चले जाने के वाद डा० कुमारी अदिति भट्टाचार्य की संस्कृत विभाग में नियुक्ति हुई जिस समय डा० कर्णसिह जी हिन्दी विभाव से स्थानान्तरित होकर संस्कृत विभाग में आये थे उस समय डा० वी० पुरी० प्रिंसीपल थे। डा० कर्णसिह जी मेरे शिष्य हैं। इन्होंने मेरठ कालिज से ही संस्कृत में एम० ए० किया था। परिणामतः इनके हिन्दी विभाग से संस्कृत विभाग में आने से मुझे स्वाभाविक प्रसन्नता हुई। मैंने डा० कर्णसिह जी को अपने शिष्य की अपेक्षा अपना मित्र और सहयोगी ही अधिक समझा है और इनके साथ मैंने इसप्रकार का व्यवहार किया है। जिस समय डा० कुमारी अदिति भट्टाचार्य संस्कृत विभाग में नियुक्त होकर आयी थी उस समय डा० परमात्मा शरण ही प्रिंसीपल थे। इस प्रकार मैंने डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, डा० शिवराज शास्त्री के साथ कार्य किया है और डा० श्रीमती रमादुवलिश प्रो० यज्ञदेव जी, प्रो० धीरजप्रकाश गोयल, प्रो० अमीचन्द, डा० अवनीन्द्र कुमार, डा० कर्णसिह जी और डा० कुमारी अदिति भट्टाचार्य ने मेरे साथ कार्य किया है। चिरकाल से मेरठ कालिज के संस्कृत विभाग के अन्दर हम तीन ही प्रोफेसर चले आ रहे हैं—

यथा—

डा० निरूपण विद्यालङ्कार (अध्यक्ष)
डा० कर्णसिह जी वर्मा
डा० कुमारी अदिति भट्टाचार्य

सन् १९५८ में आगरा विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० के लिये पंजीकृत हो जाने के पश्चात् मेरा शोध का कार्य बड़े शिथिल भाव से चल रहा था। सन् १९६४–६५ में संस्कृत विभाग में अध्यक्ष होने के बाद मेरे शोध कार्य में कुछ गति आयी। उस समय मैं खैर नगर गेट में रहता था। खैर नगर गेट से मेरठ से मेरठ कॉलिज की लाइब्रेरी में प्रतिदिन शोध करने के लिये जाना और वह भी दिन में दो बार, एक कष्ट साध्य काम था। इस अपने कष्ट को दूर करके के लिये मैंने मेरठ आकर ही साइकिल चलाना सीखा। मैं साइकिल से लाइब्रेरी आया और जाया करता था। इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं कि शोध का कार्य समाप्त हो जाने के पश्चात् मैंने फिर साइकिल चलाना छोड़ दिया और अब भी नहीं चलाता हूँ।

उस समय लाइब्रेरी सर्दियों में रात्रि के ११ बजे तक खुला करती थी । मैं कॉलिज में पढ़ाने के बाद जो भी समय पाता अपने शोध-कार्य में लगाता । इसका यह परिणाम हुआ कि मुझे सन् १९६७ मैं आगरा विश्वविद्यालय से P.h.D. की उपाधि मिली । दिसम्बर में आयोजित आगरा विश्वविद्यालय के Convocation में मैं बड़े उत्साह के साथ सपरिवार सम्मिलित हुआ था । यदि में भूलता नहीं हूँ तो उस Convocation में मैं, पिताजी, मेरी पत्नी, मेरा छोटा भाई डा० स्वतन्त्र निरूपण, कु० सुषमा, शशाङ्क और हिमाङ्क सम्मिलित हुये थे । मुझे अपनी इस P-h.D. मिलने की अपार प्रसन्नता थी । मैंने अपने शोध-प्रबन्ध को अगस्त १९६६ में आगरा विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया था । मेरे निर्देशक डा० नरेन्द्रदेव सिंह, अवकाश प्राप्त अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बलवन्त राजपूत कॉलिज, आगरा थे । यह मेरा दुर्भाग्य ही था कि जब मेरा P-h.D. का VIVA होने जा रहा था तब आपका असामयिक देहावसान हो गया और मेरी भविष्य की योजना पर अकस्मात् तुषारापात हो गया । मैंने अपने इस शोध-प्रबन्ध के **किञ्चित्प्रास्ताविकम्** के अन्दर आपके प्रति निम्न शब्दों में अपनी कृतज्ञता प्रकट की है—

"यह शोध-कार्य संस्कृत-जगत् के प्रसिद्धि मनीषी एवं दार्शनिक विचारक स्वर्गीय डा० नरेन्द्रदेवसिंह, अवकाश प्राप्त अध्यक्ष, संस्कृत-हिन्दी-विभाग, बलवन्त राजपूत कॉलिज, आगरा के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है । आपने मेरे शोध-अध्ययन की दिशा तो निर्धारित की ही थी, साथ ही सभी प्रकार की सुविधा एवं सहायता प्रदान करने की भी कृपा की थी । यद्यपि इस समय आप इस भौतिक नश्वर जगत् में नहीं हैं, तथापि यह आपके ही विद्वत्तापूर्ण मार्गदर्शन का परिणाम है कि यह कार्य इस रूप में प्रस्तुत हो सका है । इनके प्रति अपनी साभार कृतज्ञता प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ ।"

मेरे इस शोध-प्रबन्ध **"भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति"** को श्री रतिराम जी शास्त्री, **व्यवस्थापक-साहित्य-भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ** ने सन् १९७१ में प्रकाशित किया था । इसको मैंने अपने पूज्य माता-पिता के श्री चरणों में निम्न शब्दों में समर्पित किया है—

"वैदिक आर्य संस्कृति के आदर्शों से अनुप्राणित स्वर्णिम महत्वाकांक्षाओं के साथ जिन्होंने मुझे गुरुकुल काङ्गड़ी में प्रविष्ट किया, उन्हीं परम पूज्य पिता श्री बाबूसिंह जी एवं स्वर्गीया पूज्या माता कलावती देवी जी के श्री चरणों में यह अभिनव-प्रबन्ध-पुष्पाञ्जलि सादर सविनय समर्पित है ।"

इस प्रबन्ध के प्रकाशन में मेरे प्रिय शिष्य **प्रो० ब्रजेश विद्यालंकार**, **श्री प्रेमनारायण पालीवाल** और **श्री धीरजप्रकाश गोयल** का अप्रतिम योगदान है । इनमें से **प्रो० ब्रजेश विद्यालंकार** महाराजपुर (छतरपुर म० प्र०) में गवर्नमैण्ट डिग्री कॉलिज के प्रिंसीपल हैं, **प्रेमनारायण पालीवाल** कवि हैं, संस्कृत के प्रति अनुरागी तथा संस्कृत साहित्य के प्रति समर्पित हैं किन्तु इनकी जीवन की दिशा संस्कृत से भिन्न है । **धीरजप्रकाश गोयल** एक वर्ष मेरठ कॉलिज में संस्कृत प्रवक्ता रहकर सम्प्रति कानपुर में वकालत कर रहे हैं । इस प्रकार Ph.D. होने की दृष्टि से मेरे लिये ये वर्ष महत्वपूर्ण हैं ।

आगरा विश्वविद्यालय से पृथक् होकर **मेरठ विश्वविद्यालय** की स्थापना हुई । इस विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति डा० आर० के० सिंह थे । इन्होंने मेरठ विश्वविद्यालय को शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी बनाने के लिये **सत्रप्रणाली** का प्रारम्भ किया । इन्होंने मेरठ विश्यविद्यालय के **अभिनव-पाठ्यक्रम** निर्धारण करने के लिये सभी विषयों के लिये तदर्थ समितियों का निर्माण किया । संस्कृत विषय की पाठ्यक्रम समिति का संयोजक मैं था । इसप्रकार मेरठ विश्वविद्यालय के लिये संस्कृत विषय का जो का पाठ्यक्रम सर्वप्रथम लागू हुआ, उस पाठ्यक्रम के निर्माण में मेरी अहं भूमिका थी । कालान्तर में जब पुनः मेरठ विश्वविद्यालय की **पाठ्यक्रम समिति का संयोजक** बना, तब मैंने बड़े प्रयत्न से **"विशेष योग्यता पाठ्यक्रम"** का निर्माण कर उसे मूर्त रूप दिया । आज जो मेरठ विश्वविद्यालय में पाठ्यक्रम चल रहा है, वह मेरे ही **संयोजकत्व** में बना था । **मेरठ विश्वविद्यालय** के सर्वात्मना अस्तित्व में आ जाने के पश्चात् सन् १९९७ में **अध्ययन-अध्यापन** की दिशा में मेरे लिये एक नई उपलब्धि यह हुई कि शोध के क्षेत्र में मेरी **प्रथम**

शिष्य कु० **सुषमा अरोड़ा** को **"संस्कृत साहित्य के लक्षण ग्रन्थ और लक्ष्य ग्रन्थों में रूपकालंकार"** विषय प Ph.D. की डिग्री मिली। ये मूलरूप से लखनऊ विश्वविद्यालय की छात्रा थी। मेरे पास जिस समय ये शोध करने के उद्देश्य से आईं उस समय ये आर्य कन्या डिग्री कॉलिज, खुर्जा में संस्कृत विभाग की अध्यक्ष थीं। सम्प्रति ये सनातन धर्म कॉलिज मुजफ्फरनगर में संस्कृत की प्राध्यापिका हैं। यहीं पर मेरे निर्देशन Ph.D. की उपाधि प्राप्त करने वाले अपने विद्यार्थियों की चर्चा कर लेना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। इसी प्रकार **डा० श्रीमती वीरबाला** को **"षड्दर्शनों में सृष्ट्युत्पत्तिविचार का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन"** विषय पर Ph.D. की उपाधि मिली। इनको मैंने एम० ए० में व्यक्तिगत रूप से पढ़ाया था। एम० ए० करने के बाद **डा० विष्णुशरण जी "इन्दु"** की प्रेरणा से इन्होंने मरे निर्देशन में Ph.D. की। **डा० रामकिशोर मिश्र** ने **"संस्कृत छन्दों का उद्भव तथा विकास"** विषय पर शोध कर Ph.D. की उपाधि ग्रहण की। ये एम० एम० कॉलिज, खेकड़ा (मेरठ) में संस्कृत के प्राध्यापक हैं। ये संस्कृत के सुन्दर कवि हैं तथा **संस्कृत काव्य** की रचनाकर उनको प्रकाशित कराने में लगे हुये हैं। **डा० रणजित शर्मा** देवनागरी कॉलिज, गुलावठी में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं। इन्होंने **"आधुनिक संस्कृत महाकाव्यों में राष्ट्रिय चेतना"** विषय पर विद्वत्तापूर्ण शोधप्रबन्ध प्रस्तुत कर Ph.D. की उपाधि ली है। ये मेरे पास **डा० मानसिंह वर्मा**, जो मेरठ कॉलिज में हिन्दी के प्रवक्ता हैं और मेरे शिष्य भी हैं, के माध्यम से शोध करने के प्रवक्ता हैं और मेरे शिष्य भी हैं, के माध्यम से शोध करने के लिये आये थे। मैं समझता हूँ कि जब इनका यह शोधप्रबन्ध प्रकाशित होकर संस्कृत जगत् के मनीषी विद्वानों के मध्य आयेगा, उस समय यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान शरेगा। **डा० राजेन्द्र शास्त्री** ने **"लघु चम्पूकाव्यों"** पर अभिनव शोध प्रस्तुत कर Ph.D. की उपाधि प्राप्त की है। ये मेरे पास समाचार पत्रों के माध्यम से एम० ए० संस्कृत में करने आये थे। वस्तुतः हुआ यह कि समाचार पत्रों में इन्होंने मेरे Ph.D. होने का समाचार पढ़ा। उस समाचार को पढ़कर ये मेरे पास एम०ए० करने आये थे। इनके निवास की व्यवस्था मैंने **आर्यसमाज सदर, मेरठ** में कर दी। आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्सङ्गों में सम्मिलित होने से और मेरे सान्निध्य में रहने से इन पर आर्यसमाज के सिद्धान्तों और विचारों का प्रभाव पड़ा। ये राष्ट्रिय विचारों के हैं। इनमें हिन्दुत्व की भावना कूट कूट कर भरी है। इनकी यह प्रवल इच्छा है कि ये एम० एल० ए० होकर राष्ट्र की और अधिक सेवा कर सकें। इनका जीवन सामाजिक है। सम्प्रति ये **एम० एम० कॉलिज, मोदीनगर** में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं। इसी परम्परा में आते हैं **डा० विजेन्द्र कुमार शर्मा**। ये **रासना (मेरठ)** के रहने वाले हैं। इन्होंने B.A. हापुड़ से किया है। ये मेरे पास **संस्कृत परिषद्** के माध्यम से आये थे। जिस समय ये **सरस्वती डिग्री कॉलिज, हापुड़** में पढ़ते थे, उसी समय संस्कृत परिषद् के अध्यक्ष के रूप में अपनी **संस्कृत परिषद्** का मुझसे उद्घाटन कराने के लिये निवेदन करने आये थे। मैं इनकी संस्कृत परिषद् में गया। तभी से से मेरे सम्पर्क में हैं। इन्होंने फिर मेरठ कॉलिज से **एम० ए०** करने के बाद **"कालिदास प्रणीत संस्कृत काव्यों में अन्तः कथायें"** विषय पर मेरे निर्देशन में शोध कर सन् १९८२ में Ph.D. की उपाधि **मेरठ** विश्वविद्यालय से प्राप्त की है। जिस समय मैं सन् १९८०-८१ में **गुरूकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय**, हरिद्वार में **आचार्य और उपकुलपति** पद पर नियुक्त होकर चला गया था, उस समय मेरे स्थान पर प्राध्यापक के रूप में इनकी **मेरठ कॉलिज, मेरठ** में नियुक्ति हुई थी। इस समय भी ये **मेरठ कॉलिज, मेरठ** में संस्कृत विभाग में कार्य कर रहे हैं। मैं **आगरा विश्वविद्यालय** तथा **गढ़वालविश्वविद्यालय** में शोध कराने के लिये स्वीकृत निर्देशक हूँ। इसी सन् १९८४ में मार्च मास में मेरे निर्देशन में **श्रीमति चन्द्रश्री** ने जैन साहित्य में Ph.D. की उपाधि आगरा विश्वविद्यालय से प्राप्त की है।

मैं All India Criental Conference तथा All India Philosophilcal Conference. का नियमित सदस्य हूँ। मैं इनके विभिन्न अधिवेशनों में भाग लेने के लिये **कलकत्ता, हैदराबाद, पूना, शिमला और इलाहाबाद** जाता रहा हूँ। इसीप्रकार मैं **कानपुर विद्यालय, आगरा विश्वविद्यालय, रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, कुमायू विश्वविद्यालय, गढ़वाल विश्वविद्यालय** तथा **मेरठ विश्वविद्यालय** का अनेक वर्षों तक Board of Studies तथा Research degree Committee का सदस्य रहा हूँ और हूँ। उत्तर भारत का सम्भवतः कोई ऐसा विश्वविद्यालय नहीं है जिसका कि मैं **प्राश्निक** एवं **परीक्षक** नहीं रहा हूँ। साहित्यिक क्षेत्र के अन्दर मेरी निम्न टीकाये विभिन्न विश्वविद्यालयों में पाठचक्रम के रूप में चल रही हैं। तद्यथा—महाकवि कालिदास प्रणीत **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, श्री विशाखदत्त प्रणीत **मुद्राराक्षसम्** तथा कविविश्वनाथ प्रणीत **साहित्यदर्पण**। मेरठ कॉलिज में आने के साथ ही सर्वप्रथम मैंने एम० ए० के छात्रों को **मुद्राराक्षसम्** पढ़ाया था, परिणामतः इसकी टीका, हिन्दी अनुवाद, भूमिका तथा समालोचनात्मक एवं व्याख्यात्मक टिप्पणियों को लिखने में मैंने विशेष प्रयत्न किया था। इसी का यह परिणाम है कि इस टीका ने मुझे विशेष सम्मान दिया है। सर्वप्रथम यह १९६२ में प्रकाशित हुई थी। तदनन्तर तो इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। मेरी परेशानी यह है कि मेरा लेख सुलेख नहीं है, परिणामतः मेरा लिखा हुआ प्रेस के कर्मचारियों के लिये कठिनाई पैदा करता है। इसलिये मुझे अपने लिखे हुये ग्रन्थ की Press-Copy तैयार कराने के लिये अपने शिष्यों पर आश्रित रहना पड़ता है। इस **मुद्राराक्षसम्** की Press-Copy मेरे तत्कालीन एम० ए० के अन्तिम वर्ष के छात्र **कुमारी सतीश भाटिया** और **प्रेमनारायण पालीवाल** ने अहर्निश और अनथक परिश्रम करके तैयार की थी। **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** का प्रथम संस्करण सन् १९६९ में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् इसके आठ संस्करण निकल चुके हैं इस मेरी पुस्तक की Press-Copy तैय्यार करने के लिये **डा० विजेन्द्र कुमार शर्मा, कु० दुर्गेश माहेश्वरी** और **कु० अनुराधा माहेश्वरी** ने कष्ट उठाया है। इसके अन्दर समीक्षात्मक भूमिका, संस्कृत टीका, हिन्दी-अनुवाद, व्याख्यात्मक टिप्पणी तथा परिशिष्ट दिया हुआ है। विद्यार्थियों की सुविधा के लिये टिप्पणी के अन्तर्गत मूलपाठ मे विद्यमान पद्यों में आये हुये **अलङ्कारों** का विवेचन तथा **छन्दों** का उल्लेख वहीं कर दिया गया है। **साहित्य-दर्पण** का प्रथम संस्करण सन् १९७४ में प्रकाशित हुआ था और इसका नवीन संस्करण पुनः सन् १९८३ में हुआ है। इसकी भी Press-Copy मेरे एम० ए० प्रथम वर्ष की छात्रा **कु० सुधा गुप्ता** और मेरे ज्येष्ठ पुत्र **शशाङ्ककुमार** बी० ए० प्रथम सत्र ने तैय्यार की थी। इस **साहित्यदर्पण** की विषय वस्तु को स्पष्ट करने के लिये **अवतरणिका, हिन्दी अर्थ** और **टिप्पणी**—ये तीन शीर्षक दिये हैं। इन तीन टीकाओं से भिन्न मेरा अपना शोध प्रबन्ध है, जिसका उल्लेख मैं पहिले कर चुका हूँ। **काव्यदीपिका** की भी मैंने टीका की है। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा इण्टरमीडिएट के लिये हिन्दी विषय के अन्तर्गत अनिवार्य रूप से विद्यमान संस्कृत के पाठचक्रम में जिस **"संस्कृत दिग्दर्शिका"** का प्रणयन कराया गया था, उसके **सम्पादक-मण्डल** का मैं भी एक सदस्य था।

साहित्यिक क्षेत्र में मेरे द्वारा सम्पादित पुस्तकों को प्रकाशित करने का एकमात्र श्रेय **श्री रतिरामजी शास्त्री**, व्यवस्थापक-साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ को है। इसी माध्यम से **श्री रतिराम जी शास्त्री** मेरे इतने अन्तरंग हो गये हैं कि मैं उनको अपने परिवार का ही एक अंग समझता हूँ। वे मेरी **श्रीमती जी** को **देवी** कहकर सम्बोधित करते हैं। **शास्त्री जी** के घर आने पर **देवी जी** उनके आतिथ्य का पूर्ण ध्यान रखती हैं। मैं उनके लिये प्रायः कहता हूँ कि यदि **शास्त्री जी, साहित्यभण्डार** और **सर्वोदय प्रेस** न होता तो उत्तरप्रदेश का यह **पश्चिमी क्षेत्र** संस्कृत साहित्य की पुस्तकों से सर्वथा अछूता ही रह जाता। विद्यार्थियों को और संस्कृत विषय में अभिरूचि रखने वालों को संस्कृत साहित्य की पुस्तकों के लिये

भटकना पड़ता और कठिनाई होती। **शास्त्री जी** की यह विशेषता है कि इनकी दुकान पर केवल **संस्कृत विषय** की ही पुस्तकें मिलेंगी और किसी विषय की नहीं। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र में ये ही एकमात्र संस्कृत के रक्षक हैं। मैं इनके साथ उत्तरप्रदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में **संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य** के प्रचार-प्रसार के लिये गया हूँ। अस्तु

सन् १९५६ में मेरठ कॉलिज, मेरठ में आने से लेकर ३० जून, १९८४ को अवकाश ग्रहण करने तक संस्कृत विषय लेकर बी० ए० और एम० ए० करने वाले विद्यार्थियों की एक लम्बी शृङ्खला है। उन सभी को नाम्ना स्मरण करना इस समय मेरे लिये लिये सम्भव नहीं है, पुनरपि कुछ विद्यार्थी इस प्रकार के होते हैं, जो शिष्यत्व की कोटि में स्वतः आ जाते हैं। उनका उल्लेखमात्र कर देना मैं आवश्यक समझता हूँ। सन् १९६४-६५ में मैं अपनी Ph .D. करने के लिये कॉलिज से ६० दिन का अवकाश ले चुका था, उस समय जो एम० ए० के विद्यार्थी थे उनकी स्मृति उनके अध्ययन तथा अनुशासन के कारण आज भी नवीन बनी हुई हैं। तद्यथा—**ब्रजेश विद्यालङ्कार,** ये आज **महराजपुर** (उतरपुर—म० प्र०) में डिग्री कॉलिज में प्रिंसीपल हैं, सङ्गीत प्रिय हैं, **श्री रवीद्रसिंह यादव, श्रीमती उमा माथुर, विष्णुदत्त शर्मा**—ये आजकल N. A. S. कॉलिज, मेरठ में प्रवक्ता हैं। इसी प्रकार **कु० दुर्गेश माहेश्वरी, कु० अनुराधा माहेश्वरी,**—ये दोनों बहिने हैं, श्रीरतिराम शास्त्री की सुपुत्री **श्रीमती पद्माशर्मा, ओंकार-सिंह त्यागी**—ये आजकल **रासना** में डिग्री कॉलिज में संस्कृत प्रवक्ता हैं। दुर्भाग्य इनके साथ लगा हुआ हैं, पर ये संघर्ष से घबराते रहे हैं। इनकी धर्मपत्नी **श्रीमती ममता** इस समय सन् १९८३-८४ में एम० ए० प्रथम वर्ष की छात्रा हैं। **सोमदेव शर्मा, सोमदेव**—ये आजकल आर्यसमाज शहर, मेरठ में **आर्यपुरोहित हैं। वेदपाल विद्याभास्कर**—ये गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर से विद्याभास्कर करके मेरठ कॉलिज में एम० ए० करने आये। इस समय ये **जनता वैदिक कॉलिज, बड़ौत** (मेरठ) में संस्कृत विभागाध्यक्ष हैं। **वीरसेन, कु० कुसुम, कु० मञ्जुला त्यागी**—ये विवाहोपरान्त विदेश में अपने पति के साथ चली गई हैं, **रामभरोसे शर्मा**—ये उस श्रेणी में आते हैं जिनकी गुरुभक्ति प्रसिद्ध है। अपने आपको सर्वात्मना गुरु श्री चरणों में समर्पित कर देना इनका स्वभाव है। दुर्भाग्य ने कभी इनका पीछा नहीं छोड़ा, पर ये हैं कि अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करने में लगे हैं। **गौरीशंकर शर्मा** १९७२-७३ के सत्र में मेरठ कॉलिज में संस्कृत विषय लेकर एम० ए० करने आये थे। ये पुलिस में थे इन्होंने अपने जीवन-पथ का निर्माण स्वयं किया है। संस्कृत में एम० ए० करने के पश्चात् इन्होंने मेरठ कॉलिज से ही LL. B. किया। सम्प्रति ये गाजियाबाद में कोर्ट इन्सपेक्टर हैं। **कप्तानसिंह** ने **A. K. College** शिकोहाबाद से **B. A.** किया था। **प्रो० रामसिंह यादव,** अध्यक्ष संस्कृत विभाग, ए० के० कॉलिज, शिकोहाबाद की प्रेरणा से मेरे पास मेरठ कॉलिज से संस्कृत में एम० ए० करने आये थे। ये गाँव के रहने वाले थे और कभी शिकोहाबाद से बाहर नहीं निकले थे। मेरठ इनके लिये सर्वथा अपरिचित था, परिणामतः इनका कॉलिज में प्रवेश, निवास एवं भोजन की व्यवस्था—सबका उत्तरदायित्व मेरा ही था। इनकी **आर्यसमाज** सदर, मेरठ में रहने की व्यवस्था कर दी थी। आर्यसमाज में रहने के कारण तथा आर्यसमाज के सत्सङ्गों में नियमित आने के कारण इनके हृदय और मस्तिष्क पर आर्य सिद्धान्तों की छाप पड़ी। ये जिस समय मेरठ से गये थे, आर्यविचारों से ओतप्रोत थे। रुग्ण होने की स्थिति में **डॉ० राजेश्वरनाथ त्यागी**—इनकी देखभाल करते थे। सम्प्रति ये **A. K. College** शिकोहाबाद में संस्कृतविभागाध्यक्ष हैं। इसी प्रकार **राजकुमार त्यागी** और **श्रीमती वीणा शर्मा** का आदर भाव अब भी मेरे प्रति पूर्ववत् बना हुआ है।

मेरठ कॉलिज, मेरठ में संस्कृत में एम० ए० करने के लिये भिन्न-भिन्न स्रोतों से विद्यार्थी आते रहे हैं। **तद्यथा —गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार गुरुकुलमहाविद्यालय, ज्वालापुर' कृषक डिग्री कॉलिज, मवाना**

(मेरठ) और **गुरुकुलप्रभाताश्रम, भोलाझाल** (मेरठ)। इनमें से क्योंकि मैं गुरुकुल काङ्गड़ी का स्नातक था, अतः गुरुकुलकाङ्गड़ी और गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर से क्रमशः विद्यालङ्कार, वेदालङ्कार और विद्याभास्कर करके आने वाला विद्यार्थी अविच्छिल रूप से मेरठ कॉलिज, मेरठ में संस्कृत विषय लेकर एम० ए० करने के लिये आता है। किन्तु गुरुकुल काङ्गड़ी के स्वयं विश्वविद्यालय बन जाने के उपरान्त यह अविच्छिन्न परम्परा क्रमशः क्षीण होती हुई समाप्त हो गई। **कृषक डिग्री कॉलिज, मवाना** से बी० ए० करने के पश्चात् प्रायः सभी छात्र एम० ए० करने के लिये मेरठ कॉलिज में आते रहे हैं और आ रहे हैं। इनका एकमात्र श्रेय **प्रो० रामकृपालु जी शास्त्री** को है। इन्हीं की प्रेरणा से इनका प्रत्येक छात्र-छात्रा बाद में मेरा भी शिष्य बना है। यद्यपि **प्रो० रामकृपालुजी शास्त्री** मुझसे पूर्व अवकाश ग्रहण कर चुके हैं तथापि उनके द्वारा प्रतिपादित यह परम्परा अब भी अविछिन्न रूप से चल रही है अर्थात् मवाना का प्रत्येक छात्र-छात्रा संस्कृत में एम० ए० करने के लिये मेरठ कॉलिज, मेरठ में आ रहा है। यही कारण हैं कि मेरा मवाना के छात्र-छात्राओं के प्रति अहैतुक पक्षपात रहा है, है, और रहेगा। पिछले दो तीन वर्षों से **गुरुकुल प्रभाताश्रम** से ब्रह्मचारी मेरठ कॉलिज में एम० ए० करने के लिये आ रहे हैं। इनके प्रति भी गुरुकुलीयबन्धु होने के कारण मेरा स्वाभाविक स्नेह है। मैं इनकी सर्वतोभावेन सहायता करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

मेरठ कॉलिज, मेरठ अपनी प्रसिद्धि के कारण देश-विदेश में विख्यात है। यही कारण है कि संस्कृत और संस्कृति का अध्ययन करने के लिये **थाईलैण्ड से स्थनोम** नामक विद्यार्थी आया था, जो यहाँ से संस्कृत में एम० ए० करने के पश्चात् **थाईलैण्ड** में इस समय संस्कृत का प्रोफेसर है। इस समय भी सन् १९८२–८३ में **दक्षिण- अफ्रीका** में अवस्थित **डरबन विश्वविद्यालय** ने संस्कृत और भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने के लिये **श्री विश्रामरामविलास** को अध्ययन में आने वाले पूर्ण व्यय को वहन करते हुये यहाँ **भातवर्ष** में भेजा है। ये **मेरठ कॉलिज, संस्कृत-विभाग** की विभूति हैं। संस्कृत विभाग को इन पर गर्व है। फोटोग्राफी और सङ्गीत इनके प्रिय विषय हैं। ये भारतीय सङ्गीत सीख रहे हैं और इनका विचार यहाँ से अपना अध्ययन समाप्त करके दक्षिण अफीका लौटकर डरबन विश्वविद्यालय में **भारतीय सङ्गीत** की कक्षायें आरम्भ करने का है। ये इस समय सपरिवार बेगमबाग में रह रहे हैं। इनकी पत्नी का नाम **श्रीमती सरिता** है और सुपुत्री का नाम **मृदु** है, जिसे मैं मृदुला कहता हूँ। इनकी माताजी, भाईजी, भाभीजी तथा अन्य परिजन दक्षिण अफीका से आकर इनको देख गये हैं। मैं इनको पुत्रवत् मानता हूँ। इसी प्रकार **श्रीनगर काश्मीर** से एम० ए० संस्कृत में करने के पश्चात् आई हुई **गुड्डी कौल "हिमा"** जिसका मैंने नामकरण **'हिमानी'** किया हुआ है, मेरे निर्देशन में Ph. D कर रही है। इसका शोध का विषय **"आचार्य क्षेमेन्द्रकृत रामायणमञ्जरी समीक्षात्मक अध्यनय"** है।

सन् १९५६ में मेरठ कॉलिज में आने के पश्चात् जो भी छात्र-छात्रा संस्कृत में एम० ए० करने के लिये मेरठ कॉलिज में आये हैं, उनके प्रति मेरा सदैव स्नेह और सभी प्रकार से उनकी सहायता कर सकूं—ऐसा भाव रहा है। उन सभी का नाम्ना मुझे स्मरण भी नहीं है न मेरे लिये यह सम्भव ही है। पुनरपि अब जबकि मैं अवकाश ग्रहण कर रहा हूँ तब जो एम० ए० पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के छात्र-छात्रायें हैं, उनका नाम्ना निर्देश कर रहा हूँ —

एम० ए० उत्तरार्द्ध

१. साहबसिंह (मन्त्री, संस्कृत-परिषद्)
२. कु० शुभला गुप्ता
३. अशोक कुमार
४. विश्राम रामबिलास
५. ब्रह्मचारी शिवशंकर
६. ब्रह्मचारी देवेन्द्रकुमार
७. कु० रश्मि रस्तोगी
८. कु० मञ्जु शर्मा
९. चन्द्रकिरण माहुर
१०. धनवीरसिंह (प्रचारमन्त्री, संस्कृत परिषद्,
११. महेशचन्द शर्मा
१२. श्रीमती शीलवन्ती

एम० ए० पूर्वार्द्ध

१. कु आरती कपूर
२. कु० अनिता सारस्वत
३. कु० निर्मल शर्मा
४. श्रीमती ममता त्यागी
५. कु० पूनम जैन
६. कु० रश्मि कौशिक (कोषाध्यक्ष, संस्कृत-परिषद)
७. कु० रूपम रस्तोगी
८. कु० साधना सक्सैना
९. कु० शालिनी रस्तौगी (i)
१०. कु० शालिती रस्तौगी (ii)
११. कु० कविता रानी
१२. कु० सुधा त्यागी
१३. नरेन्द्र कुमार
१४. उदयसिंह पोसवाल
१५. सुरेन्द्रसिंह यादव
१६. विनोद कुमार
१७. क्रपाल सिंह
१८. रामप्रकाश वर्णी

सन् १९५६ में जिस समय मैं मेरठ में आया था, उस समय मेरे परिवार में कुल छह प्राणी थे अर्थात् मैं, **मेरी धर्मपत्नी, शशाङ्क कुमार, कुमारी श्रद्धा, विक्रमाङ्क कुमार** और **हिमाङ्क कुमार**। सभी की जो कुछ नियमित पढ़ाई हुई, वह वस्तुतः मेरठ आकर ही हुई। शशाङ्क को पढ़ने के लिये गुरुकुल कुरुक्षेत्र में भेज दिया और वहाँ से आठवीं श्रेणी पास करने के उपरान्त इस उद्देश्य से निकाल लिया था कि आगे उसे साइंस में पढ़ायेंगे किन्तु मेरी यह इच्छा पूरी नहीं हुई और साइंस में गति न होने के कारण उसे आर्टस से पढ़ाकर बी० ए० करा दिया। पुनः एक बार यह इच्छा हुई कि यदि शशाङ्क संस्कृत विषय लेकर एम० ए० कर ले तो कम से कम मेरी अपनी घरेलू संस्कृत क लाइब्रेरी का मेरे अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उपयोग हो जायेगा। परन्तु परमेश्वर को यह स्वीकार नहीं था और शशाङ्क ने एम० ए० पूर्वार्द्ध करके पढ़ना छोड़ दिया। इस समय वह घर गुड़ा (मैनपुरी) रहकर खेती की व्यवस्था देख रहा है। उसका विवाह शिकोहाबाद निवासी **श्री बंगाली बाबू** की सुपुत्री **कुमारी कमलेश** से हो चुका है। उसके परिवार में दो छोटे-छोटे बालक है। श्रद्धा की पढ़ाई नियमित रूप से चलती रही। उसकी प्रारम्भिक सम्पूर्ण शिक्षा **आर्यकन्या इण्टर कालिज मेरठ शहर** में हुई। यहाँ से इण्टर करने के पश्चात् **मेरठ कालिज**, मेरठ से बी० ए० किया। इसी बीच इसका विवाह **खजूरी** निवसी **चौ० स्व० शम्भूसिंह जी** के सुपुत्र **श्री यशपालसिंह जी यादव** के साथ हो गया। इस विवाह का आयोजन कैसे हुआ इसको मेरी अपेक्षा **श्री रतिरामजी शास्त्री** अधिक जानते हैं। श्रद्धा के

विवाह के अवसर पर मैंने **"वैदिक विवाह गीताञ्जलि"** नाम से एक पुस्तिका प्रकाशित की थी, जिसमें **विवाह संस्कार** में प्रयुक्त होने वाले वैदिक मन्त्रों का **काव्यमय** पद्यानुवाद है। इस समय **श्रद्धा** पिलानी में है और उसके दो बालक **सौरभ-गौरव** हैं। **श्री यशपालजी** पिलानी में भूगोल के अध्यापक हैं। शशाङ्क के समान हमारी **विक्रमाङ्क** के विषय में भी यह प्रबल इच्छा थी कि यह कृषि स्नातक बने और घर की खेती देखे और उसमें उन्नति करे, परन्तु परमेश्वर ने हमारी यह इच्छा भी पूरी नहीं की और इसने भी सामान्य विद्यार्थी के समान मेरठ कालिज से बी० ए० कर लिया। प्रतिवर्ष एम० ए० करने की सोचता है, परन्तु **"अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति"** उक्ति के अनुसार एम० ए० करने की दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई है। देखें, परमेश्वर इसकी इस इच्छा को कब पूर्ण करता है। हाँ, **विक्रमाङ्क** इस विषय में भाग्यशाली है कि उसका विवाह **डॉ० हरिप्रकाश जी आयुर्वेदालङ्कार** की सुपुत्री **कुमारी सरिता** से हुआ है, जो कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए०, एम० फिल्० है, स्वर्णपदक विजेता है। **सरिता** को पाकर सम्प्रति मुझे यह सन्तोष हुआ है कि मेरी अपनी व्यक्तिगत लाइब्रेरी का समुचित उपयोग हो सकेगा। हिमाङ्क ने दशमी कक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् हमारा उस समय में ही साथ छोड़ दिया था। सम्भवतः परमेश्वर को यही अभीष्ट था। उसका **दिसम्बर १९७५** में **देहावसान** हो गया। संक्षेप में यह परिवार की कहानी है। अस्तु—

इससे पूर्व कि मैं अपनी **सारस्वत यात्रा** को समाप्त करूँ मैं **"मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्"** के विषय में भी यत्किञ्चित् लिख देना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ—

अनेकशः पारस्परिक विचार विनिमय के अवसर पर यह आवश्यकता अनुभव की जाती थी कि हम संस्कृत अध्यापकों का एक ऐसा मञ्च होना चाहिये जहाँ बैठकर संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार के विषय में तथा संस्कृत साहित्य के निर्माण के विषय में विचार-विनिमय किया जा सके। इसी अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के लिये आज से ठीक ग्यारह वर्ष पूर्व १३ फरवरी १९७२ में इस परिषद् की विधिवत् स्थापना मेरठ कालिज के संस्कृत-विभाग के विशाल सभागार में हुई थी। उस समय इस परिषद् के अध्यक्ष **डॉ० दीपचन्द्र शर्मा**, प्रिंसीपल-नानकचन्द कालिज मेरठ, मन्त्री और कोषाध्यक्ष स्वर्गीया डॉ० श्रीमती चन्द्रकान्ता, अध्यक्षा—संस्कृत विभाग, रघुनाथ गर्ल्स कालिज मेरठ, थीं। इसका प्रारम्भिक प्रथम उद्घाटन १३ फरवरी १९७२ में तत्कालीन कुलपति **डॉ० जगतनारायण कपूर** की अध्यक्षता में मेरठ कालिज, मेरठ के भूतपूर्व संस्कृत विभाग के अध्यक्ष तथा भारतीय प्राच्यविद्या संस्थान, दिल्ली के निर्देशक **डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री** के करकमलों से हुआ था। प्रारम्भ में इस परिषद् के अन्दर शोध गोष्ठी, पाठ्यक्रम गोष्ठी तथा संस्कृत प्रचार-प्रसार गोष्ठी होती रहीं। आज मेरठ विश्वविद्यालय में जो पाठ्यक्रम चल रहा है, वह इन्हीं पाठ्यक्रम गोष्ठियों में हुये विचार मन्थन का परिणाम है। **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** का द्वितीय अधिवेशन १४, १५ एवं १६ अप्रैल १९७३ को नगाधिराज देवात्मा हिमालय की पावन उपत्यका में अवस्थित डी० ए० वी० कालिज, देहरादून में हुआ था। आज यह कालिज गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल) का अग्रगण्य कालिज है। यहाँ पर हुये **संस्कृत अध्यापक परिषद्** के अधिवेशन एवं संस्कृत संगोष्ठी का उद्घाटन सुप्रसिद्ध इतिहासविद् एवं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक **डॉ० सत्यकेतु जी विद्यालङ्कार** के करकमलों से सम्पन्न हुआ था। इस अधिवेशन की यह विशेषता रही थी कि इसमें **"शोधपत्रिका"** को प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया था।

इस **संस्कृत अध्यापक परिषद् एवं संस्कृत संगोष्ठी** का तृतीय अधिवेशन ७, ८ एवं ९ अप्रैल १९७४ को सनातनधर्म कालिज, मुजफ्फरनगर में हुआ था। इस अधिवेशन का उद्घाटन **डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय**, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष–दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ने किया था। **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** का चतुर्थ अधिवेशन गंगनहर के सुरम्य तट पर अवस्थित बी० एस० एम० कालिज, रुड़की में २०, २१ और २२ दिसम्बर १९७५ को मेरठ विश्वविद्यालय के कुलपति **प्रो० बी० एस० माथुर** की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ था। **प्रो० बी० एस० माथुर, कुलपति** इस परिषद् के अधिवेशन से इतने अधिक प्रभावित हुये थे कि उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में परिषद् के अगले अधिवेशन को मेरठ विश्वविद्यालय परिसर में आयोजित करने का बड़े प्रेमपूर्वक निमन्त्रण दे डाला, जिसे संस्कृत अध्यापक परिषद् ने सोत्साह स्वीकार कर अपना पञ्चम अधिवेशन मेरठ विश्वविद्यालय परिसर में २७–२८ फरवरी एवं १ मार्च १९७७ को सम्पन्न किया। इस अधिवेशन का उदघाटन आधुनिक संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ अनुसन्धाता **डॉ० रामजी उपाध्याय** प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सागर ने किया। मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ के चतुर्थ कुलपति के रूप में संस्कृत के जगत् के लब्धप्रतिष्ठ यशस्वी विद्वान् एवं नानकचन्द कालिज, मेरठ के सफल प्रिंसीपल **डॉ० दीपचन्द्र शर्मा** के पदभार ग्रहण करने के कुछ समय पश्चात् "**मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्**" का षष्ठ अधिवेशन एम० एम० एच० कालिज, गाजियाबाद में २१, २२ और २३ अप्रैल १९७८ को आपकी ही अध्यक्षता में हुआ था। इस अधिवेशन एवं संस्कृत संगोष्ठी का उद्घाटन दर्शनशास्त्र के मनीषी विद्वान् **श्री उदयवीर जी शास्त्री** ने किया। इस **परिषद्** का सप्तम अधिवेशन कृषक डिग्री कालिज, (मेरठ) में २३, २४, २५ फरवरी १९८० को सम्पन्न हुआ, जिसका उद्घाटन **डॉ० सत्यव्रत शास्त्री**, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष–दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ने किया। इस अधिवेशन की विशेषता थी, **प्रो० रामकृपालु शास्त्री–अध्यक्ष–संस्कृत विभाग कृषक डिग्री कालिज, मवाना का सेवा निवृत्त होने पर किया गया अभिनन्दन।** इस **संस्कृत अध्यापक परिषद्** का अष्टम अधिवेशन **श्री कुन्द-कुन्द जैन डिग्री कालिज, खतौली** के सुरम्य एवं चित्ताकर्षक प्राङ्गण में हुआ था, जिसका उद्घाटन मेरठ विश्वविद्यालय के कुलपति **डॉ० रामलोचन सिंह** ने किया था। इसप्रकार यह **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** मेरठ विश्वविद्यालय के क्षेत्र में अवस्थित विभिन्न कालिजों में अपनी संगोष्ठियों का आयोजन करती हुई १० वर्ष के सुदीर्घ अन्तराल के अनन्तर इसने पुनः अपनी जन्मस्थली **मेरठ कालिज के संस्कृत विभाग** में अपना नवम अधिवेशन **दशाब्दि समारोह** के रूप में मनाया था, जिसका उद्घाटन राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली के निदेशक तथा दरभंगा विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति **डॉ० रामकरण शर्मा** ने किया था। **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** के दशम अधिवेशन का पूर्वार्द्ध २४ तथा २५ मार्च १९८४ को **लाजपतराय कालिज, साहिबाबाद** में सम्पन्न हो चुका है। परिषद् के इस अधिवेशन की अध्यक्षता **डॉ० बी० एस० त्यागी**, प्रिंसीपल–लाजपतराय कालिज, साहिबाबाद ने तथा उद्घाटन संस्कृत जगत् में लब्धप्रतिष्ठ, संस्कृतानुरागी एवं बरेली कालिज, बरेली के सस्कृत विभागाध्यक्ष **डॉ० कृष्णकान्त शुक्ल** ने किया था आपने जिस सहज भाव से उदारमना होकर हमको अपनाया और हमारे निमन्त्रण को स्वीकार किया, उसके लिये संस्कृत अध्यापक परिषद् की कार्यकारिणी और स्वयं संस्कृत अध्यापक परिषद् आभारी हैं और आशा करती है कि आपका यह सहज स्नेहभाव परिषद् को निरन्तर प्राप्त होता रहेगा। इस परिषद् के अधिवेशन की अपनी विशेषता थी। **डॉ० हरिनारायण दीक्षित**, रीडर कुमायूँ विश्वविद्यालय,

नैनीताल का सम्मिलित होना, जिन्होंने हमारे निमन्त्रण को स्वीकार हमारे गौरव को बढ़ाया था। इस परिषद् का उत्तरार्द्ध २० मई १९८४ को मेरठ कालिज, संस्कृत विभाग में होने जा रहा है।

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत शोधपत्रिका

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् के डी० ए० वी० कालिज, देहरादून में सम्पन्न हुये द्वितीय अधिवेशन में "**शोध पत्रिका**" के प्रकाशन का निर्णय लिया गया था, जिसकी क्रियान्विति **बी० एस० एम० कालिज**, रुड़की में आयोयिजत चतुर्थ अधिवेशन में हुई। इस अधिवेशन में "**मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत शोध पत्रिका**" का विमोचन **प्रो० बी० एस० माथुर**, कुलपति मेरठ विश्वविद्यालय ने किया। इसप्रकार परिषद् ने जो एक स्वप्न देखा था उसे इस अधिवेशन में जीवन मिल गया। इस **शोध-पत्रिका** के प्रारम्भिक प्रधान सम्पादक **प्रो० कुन्दनलाल शर्मा**, सम्पादक **डॉ० महेशचन्द्र भारतीय** तथा प्रबन्ध-सम्पादक **डॉ० सुधाकराचार्य** थे। "**संस्कृत शोधपत्रिका**" का दूसरा अङ्क "**प्रो० कुन्दनलाल शर्मा अभिनन्दनग्रन्थ**" के रूप में मेरठ विश्वविद्यालय परिसर में आयोजित पञ्चम अधिवेशन के अवसर पर प्रकाशित किया गया। तब से लेकर निरन्तर शोध पत्रिका के सम्पादक **डॉ० महेशचन्द्र भारतीय** अपने कभी क्षीण न होने वाले उत्साह के कारण प्रतिवर्ष दो अङ्क आर्थिक संकट को झेलते हुये भी निकाल रहे हैं। उनकी इस अप्रतिम सेवा के लिये परिषद् और संस्कृत जगत् उनका चिर ऋणी रहेगा। मैं आशा करता हूँ कि **संस्कृत अध्यापक परिषद्** के वर्तमान अधिकारी इस पत्रिका पर आये आर्थिक संकट का कोई समाधान निकालने का प्रयत्न करेंगे।

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् द्वारा प्रकाशित साहित्य

(१) **संस्कृत शोध-प्रबन्ध परिचायिका**—शोध के क्षेत्र में शोधार्थी को पग-पग पर यह कठिनाई अनुभव होती है कि किस विश्वविद्यालय में किस विषय पर क्या शोधकार्य हो रहा है। इसी कठिनाई को मध्येदृष्टि रखकर परिषद् की ओर से यह योजना बनाई गई कि ऐसी पुस्तिका का प्रणयन किया जाये, जिसमें सम्पूर्ण भारतीय विश्वविद्यालयों में जो भी संस्कृत में शोधकार्य चल रहा है तथा जो शोध-कार्य हो चुका है उस सबका एक समग्र सूचनात्मक निर्देश प्राप्त हो सके। यह अपने आप में एक विशाल योजना है, जिसके क्रियान्वयन के लिये लगन, अध्यवसाय एवं अर्थ की विपुल राशि अपेक्षित है। यह योजना कब मूर्त रूप लेती है यह सब कुछ भविष्य के गर्भ में है। परन्तु इस योजना की पूर्व पीठिका के रूप में सन् १९७४ में परिषद् के सनातन धर्म कालिज, मुजफ्फरनगर में आयोजित तृतीय अधिवेशन में "**संस्कृत शोध प्रबन्ध परिचायिका**" नाम से पुस्तक प्रकाशित की गई। इस "**संस्कृत शोध प्रबन्ध परिचायिका**" के अन्दर मेरठ विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कार्यरत प्राध्यापकों के ही सोलह शोध प्रबन्धों का सारांश संकलित है। इसके प्रकाशन का सर्वाधिकार "**मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्**" को है। मेरठ कालिज में हुये दशाब्दी–समारोह में "**संस्कृत शोध प्रबन्ध परिचायिका भाग** (२) के रूप में प्रकाशित हो चला है। इसके अन्दर मेरठ विश्वविद्यालय में सन् १९७४ के पश्चात् पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त करने वाले मेरठ विश्वविद्यालय से सम्बद्ध विभिन्न कालिजों के संस्कृत अध्यापकों तथा शोधछात्रों के लगभग पैंतीस शोध-प्रबन्धों का सारांशा संकलित है। शोध की दृष्टि से यह परिषद् का अप्रतिम प्रकाशन है।

(२) **स्मारिका—मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** की ओर से B. S. M. College रुड़की में आयोजित चतुर्थ अधिवेशन की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिये दिसम्बर १९७५ में इस **स्मारिका** का प्रणयन एवं प्रकाशन किया गया था। इस **स्मारिका** की अपनी प्रमुख विशेषता यह है कि इसके अन्दर मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ के महाविद्यालयों में कार्यरत संस्कृत प्राध्यापकों का संक्षिप्त परिचय दिया हुआ है।

(३) **प्रो० कुन्दनलाल शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ**—यह ग्रन्थ अपने आप में अप्रतिम है। संस्कृत जगत् में प्रचलित अभिनन्दन ग्रन्थों की परम्परा में यह अद्वितीय साहित्य है। **प्रो० कुन्दनलाल शर्मा**, जो अपने साठ वर्ष पूरे करके सनातन धर्म कालिज, मुजफ्फरनगर से अवकाश ग्रहण कर रहे थे, का सम्मान करने के लिये उनके श्रद्धालु छात्रों, स्नेही मित्रों तथा साथी अध्यापकों द्वारा किया गया अभिनन्दन है। इस अभिनन्दन ग्रन्थ को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग में शुभ कामना सन्देश है, द्वितीय भाग में प्रो० कुन्दनलाल जी शर्मा से सम्बन्धित संस्मरण हैं। तीसरे भाग में प्रो० कुन्दनलाल जी शर्मा द्वारा अपने आप लिखी हुई "**मेरी सारस्वत यात्रा**" नाम से उनकी अपनी जीवनी है। चतुर्थ भाग में उनकी कृतियाँ हैं और पाँचवे भाग में **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** द्वारा निकाली जाने वाली **शोध-पत्रिका** है। इस अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन एवं विमोचन मेरठ विश्वविद्यालय परिसर में प्रो० कुन्दनलाल शर्मा के जन्म दिवस १ मार्च १९७७ को आयोजित परिषद् के पञ्चम अधिवेशन के अवसर पर किया गया था।

(४) **डॉ० दीपचन्द्र शर्मा अभिनन्दन**—प्रो० बी० एस० माथुर ने ३ वर्ष ७ मास तक कुलपति पद पर रहकर विश्वविद्यालय का मार्ग प्रशस्त किया। उनके उत्तराधिकारी के रूप में संस्कृत जगत् के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् एवं नानकचन्द कालिज मेरठ के प्रिंसीपल डॉ० **दीपचन्द्र शर्मा** कुलपति पद पर नियुक्त हुये। डॉ० **दीपचन्द्र शर्मा** की ही प्रेरणा एवं सहयोग से "**मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्**" की स्थापना सन् १९७२ में हुई थी। आप इस परिषद् के निरन्तर पाँच वर्षों तक अर्थात् कुलपति पद पर नियुक्त होने से पूर्व तक प्रधान रहे थे। अतः आपके सम्मान में परिषद् की ओर से प्रकाशित किया गया **अभिनन्दन ग्रन्थ** है। आपका १०.९.१९७८ रविवार को संस्कृत अध्यापक परिषद् की ओर से अभिनन्दन किया गया था। इस अभिनन्दन स्मारिका को पाँच खण्डों में विभाजित किया गया है—(१) शुभकामना सन्देश, (२) स्वागताभिनन्दन गीति, (३) जीवन परिचय, (४) संस्मरण और (५) लेखमाला।

(५) **संस्कृत विशेषाङ्क—मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्**, के पञ्चम, षष्ठ एवं सप्तम अधिवेशन एवं संस्कृत संगोष्ठी के अवसर पर मेरठ विश्वविद्यालय की **न्यूज एण्ड व्यूज** नामक पत्रिका को **संस्कृत विशेषाङ्क** के रूप में निकाला गया था, जिसके अन्दर उन-उन अधिवेशनों की विभिन्न गोष्ठियों में पढ़े गये शोध-पत्र एवं अध्यक्षीय भाषण संगृहीत हैं।

(६) **अनुसन्धानम्**—कुन्द-कुन्द जैन डिग्री कालिज, खतौली में आयोजित में हुये अष्टम अधिवेशन में इस **नाम** का प्रारम्भ किया गया था। "**यथा नाम तथा गुणाः**" के अनुसार इस **अनुसन्धानम्** के अन्दर उन सभी शोध-पत्रों का संकलन तथा संगोष्ठियों का विवरण रहता है, जो **संस्कृत अध्यापक परिषद्** के वार्षिक अधिवेशन में होता है। इस **अनुसन्धानम्** का प्रथम प्रकाशन **कुन्द-कुन्द जैन डिग्री कालिज, खतौली** में हुआ था। मेरठ कालिज में सम्पन्न हुये **दशाब्दी-समारोह** में इस **अनुसन्धानम् (भाग २)** का प्रकाशन भी हो चुका है। इसके अन्दर शोध-पत्र तथा भाषणों का संग्रह है ही, परन्तु इसके साथ ही

इसके अन्दर मेरठ विश्वविद्यालव से सम्बद्ध जिन कालिजों में **संस्कृत विषय** है, उन कालिजों में **संस्कृत विभागों** का संक्षिप्त इतिवृत्त तथा उनकी प्रगति का पूर्ण विवरण है। इस **अनुसन्धानम्** की यही प्रमुख विशेषता है।

(७) **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् : मेरठ विश्वविद्यालय से प्राप्त होने वाला अनुदान**—सन् १९७२ में तत्कालीन कुलपति डॉ० जगन्नारायण कपूर की प्रेरणा से ही "**मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्**" का गठन हुआ था। अतः परिषद् के प्रथम अधिवेशन को सफल बनाने के लिये **डॉ० जे० एन० कपूर** ने बड़े उदारभाव से ५०० रु० की आर्थिक सहायता दी थी। इसीप्रकार **डॉ० जे० एन० कपूर** से "**मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्**" के द्वितीय एवं तृतीय अधिवेशन के अवसर पर क्रमशः ५०० रु० और ८०० रु० का आर्थिक अनुदान बिना किसी विघ्न बाधा के अनायास निवेदन करने के साथ ही उदारमना होकर दिया। इसके विपरीत प्रो० ब्रह्मस्वरूप माथुर के कुलपति काल में मेरे अनथक परिश्रम करने के उपरान्त भी **संस्कृत अध्यापक परिषद्** को किसीप्रकार का कोई आर्थिक अनुदान प्राप्त नहीं हुआ। **डॉ० दीपचन्द्र शर्मा** के चतुर्थ कुलपति के रूप में पदभार ग्रहण करने के पश्चात् प्रो० बी० एस० माथुर के कुलपति काल में अवरुद्ध अनुदान अनायास प्रार्थना मात्र से षष्ठ और सप्तम अधिवेशनों में क्रमशः १००० रु० और २००० रु० प्राप्त हुआ। सन् १९८१ में **संस्कृत अध्यापक परिषद्** का अष्टम अधिवेशन श्री कुन्दकुन्द जैन डिग्री कालिज, खतौली में सम्पन्न हुआ, जिसमें इस **संस्कृत अध्यापक परिषद्** को विश्वविद्यालय से कोई आर्थिक अनुदान प्राप्त नहीं हुआ। **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** के दशाब्दी के रूप में हुये नवम अधिवेशन के लिये परिषद् को उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी लखनऊ से ३००० रु० का अनुदान प्रदान हुआ था। संक्षेप में, इस समय यह परिषद् लगभग १००००) दस हजार रुपये के आर्थिक घाटे में चल रही है।

मैंने अभी-अभी आपके सम्मुख **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** द्वारा प्रकाशित साहित्य की चर्चा की है। इस सम्पूर्ण प्रकाशित साहित्य के लिये यदि किसी का निःस्वार्थभाव से अयाचित सहयोग मिला है तो मुझे यह कहने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है कि वे हैं **एक मात्र श्री रतिराम शास्त्री और उनके दोनों पुत्र श्री राजकिशोर शर्मा और श्री सतीशचन्द्र कौशिक**। इस परिवार ने अहर्निश काम करते हुये, अपने अन्य कामों को स्थगित करते हुये, परिषद् के कार्य को आर्थिक हानि को सहते हुये भी वारीयता दी है।

मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् मेरी प्राण है। मैं अपना सभी कुछ छोड़कर भी इसके संवर्धन एवं इसकी गतिशीलता के लिये प्रयत्नशील रहा हूँ। मैं मेरठ विश्वविद्यालय से सम्बद्ध प्रत्येक कालिज के संस्कृत विभाग के प्रत्येक अध्यापक-अध्यापिका के पास समान भाव से एक बार नहीं अपितु अनेक बार गया हूँ। अपने लिये नहीं अपितु **संस्कृत अध्यापक परिषद्** के लिये। मुझे यह कहने में गर्व का अनुभव होता है कि प्रत्येक संस्कृत अध्यापक-अध्यापिका ने मुझे आदर, स्नेह और सम्मान दिया है। मैंने प्रत्येक को अपना समझा है और उनसे मैंने अपनत्व पाया है। **मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद्** द्वारा प्रकाशित साहित्य को बेचने के लिये मैं मेरठ विश्वविद्यालय से सम्बद्ध प्रत्येक कालिज में तथा वाह्य विश्वविद्यालयों तथा कालिजों में गया हूँ, मुझे सभी से अपेक्षित सहयोग मिला है किन्तु पुनरपि मैं **संस्कृत अध्यापक परिषद्** को आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ा नहीं कर पाया हूँ।

मेरठ विश्वविद्यालय **संस्कृत शोध पत्रिका** निरन्तर आर्थिक हानि में चल रही है। यह पत्रिका के सम्पादक **डॉ० महेशचन्द भारतीय** की सामर्थ्य ही है कि वे व्यक्तिगत आर्थिक हानि उठाकर भी इसको प्रकाशित कर रहे हैं। इस समय **डॉ० महेशचन्द भारतीय** ने मेरे साथ मिलकर एक अभियान चला रखा है कि हम दोनों प्रत्येक परिषद् के सदस्य के पास जाते हैं और उसे अनिवार्य रूप से **शोधपत्रिका** का वार्षिक सदस्य बनाते हैं। हमको इसमें सफलता भी मिल रही है, परन्तु क्या **शोधपत्रिका** को आर्थिक संकट से मुक्त कर सकेंगे—यह हमारे सन्मुख एक ज्वलन्त प्रश्न है। मेरे अवकाश ग्रहण कर लेने के पश्चात् मैं आशा और विश्वास करता हूँ कि वर्तमान परिषद् के अधिकारियों के हाथों में **संस्कृत अध्यापक परिषद्** का भविष्य उज्ज्वल है। अस्तु

मैं इस परिषद् का अनेक वर्षों तक मन्त्री और अध्यक्ष रहा हूँ। प्रारम्भ में मैं इसका मन्त्री और **डॉ० दीपचन्द्रजी शर्मा** इसके अध्यक्ष थे। **डा० दीपचन्द्रजी शर्मा** के मेरठ विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हो जाने पर मैं **अध्यक्ष** और **डा० गणेशदत्त शर्मा** मन्त्री बने। तदनन्तर **मैं अध्यक्ष** तथा **डा० उमाकान्त शुक्ल** मन्त्री थे। सन् १९८३ में मेरठ कालिज में दशाब्दी अधिवेशन के निर्वाचन के समय **डा० केशवरामपाल जी**, अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, लाजपतराम कालिज, साहिबाबाद, अध्यक्ष तथा **डा० उमाकान्त शुक्ल**, प्राध्यापक-संस्कृत विभाग, सनातन धर्म कालिज, मुजफ्फरनगर, मन्त्री निर्वाचित हुये। इन्हीं दोनों की क्रमशः **अध्यक्षता** और **मन्त्रित्व** में लाजपतराय कालिज, साहिबाबाद में २४ तथा २५ मार्च १९८४ को दशम अधिवेशन का पूर्वार्द्ध हुआ था, जिसमें ३० जून १९८४ को अवकाश ग्रहण करने के उपलक्ष्य में लाजपतराय कालिज, साहिबाबाद के संस्कृत विभाग ने मेरा अभिनन्दन और मुझे विदाई दी थी। मैं इसे उनका अपने प्रति स्नेह और आदरभाव ही मानता हूँ। उन्होंने मुझे **अभिनन्दन पत्र** और उपहार के रूप में एक **दुशाला** दिया था जो मेरे भावी जीवन के लिये अमिट स्मृति रहेंगे। मैं लाजपतराय कालिज के प्रिंसीपल **डा० बी० एस० त्यागी** का तथा संस्कृत विभाग के अपने साथी **डा० केशवरामपालजी, डा० विशनलाल गौड** और **प्रो० सभापति शर्मा** का किन शब्दों में आभार और कृतज्ञता प्रकट करूँ यह मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। हृदय में भावनायें उठती हैं, पर शब्द उनको अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं। इसीप्रकार ६ **अप्रैल १९८४** को मेरठ कालिज संस्कृत विभाग की ओर से मुझे विदाई दी गई थी। संस्कृत विभाग मेरा है और मैं उनका हूँ। कौन किसका अभिनन्दन और धन्यवाद करे, मुझे स्वयं नहीं मालूम है। संस्कृत विभाग ने मुझे एक **दीवारघड़ी** उपहार में दी है और मेरे अभिनन्दन में एक **स्मारिका** प्रकाशित की है। संस्कृत विभाग की यह भेंट मेरे लिये पाथेय का काम करेगी, ऐसा मैं अनुभव करता हूँ। इसके लिये मैं **डा० कर्णसिंह जी, डा० कुमारी अदिति भट्टाचार्य** और **डा०विजेन्द्र कुमार शर्मा** को पौनःपुन्येन और अनेकशः आभार प्रकट करता हूँ कि उन्होंने मुझे जो स्नेह और आदर दिया है, उसके लिये मैं उनका पात्र बन सकूँ। विदाई और अभिनन्दन की इस परम्परा में यदि मैं अपने प्रिय छात्रों को स्मरण न करूँ तो यह मेरे लिये अनुचित होगा। उन छात्रों को तो मेरा यही आशीर्वाद है कि वे अपने भावी विद्या जीवन में यशोभागी बने। किं बहुना—

२० मई १९८४

———

डॉ निरूपण विद्यालङ्कार
अध्यक्ष-संस्कृत विभाग,
मेरठ कालिज, मेरठ

विद्यालयः पवित्रीकृतान्तःकरणानां गीर्वाणवाणीसमुपासकानां सकलशास्त्रकाव्यादिग्रन्थपारङ्गतानां मेरठविश्वविद्यालयान्तर्गतमेरठमहाविद्यालयस्य संस्कृतविभागाध्यक्षपदमलङ्कुर्वाणामथ च षष्टिपूर्त्यन्तर मेरठमहाविद्यालयतः सेवानिवृत्तिं भजमानानामत्रभवतां परमादरणीयानां श्रीमतां डाक्टरनिरूपणविद्यालङ्काराणां करकमलयोः सादरमिदम्—

"अभिनन्दनपत्रम्"

श्रीमन्,

वयमद्य मेरठविश्वविद्यालयान्तगंत विविधमहाविद्यालयेषु संस्कृताध्यापनरताः संस्कृताध्यापकाः मेरठविश्वविद्यालयस्यसस्कृताध्यापकपरिषदश्च सदस्याः भवतां षष्टिपूर्त्यन्तरं सेवानिवृत्तिं भजमानानाम-भिनन्दनं कुर्वन्तो महतीमान्तरिकीं प्रसन्नतामनुभवामः । नास्त्यविदितमेव किल कस्यापि यद् भवद्भि-र्देवतात्मरूपस्य नगाधिराजस्य हिमवतः पादप्रदेशेष्ववस्थिते हरिद्वारनगरीये गुरुकुलकाङ्गड़ीविश्वविद्यालये ब्रह्मचर्यव्रतपालनरतैः स्वकीया सम्पूर्णशिक्षाधिगता । न केवलं बौद्धिकीशिक्षा तत्र भवता समधिगता, अपितु क्रीडाक्षेत्रेऽपि महत्कौशलं सम्प्राप्तम् । विगतेषु वर्षेषु गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयाचार्यपदमपि भवद्भिः समलङ्कृतम् ।

सम्प्रति च भवन्तो मेरठविश्वविद्यालयान्तर्गतमेरठमहाविद्यालयस्य संस्कृतविभागाध्यक्षपदमलं-कुर्वन्तो येन दाक्षिण्येन कौशलेन, योग्यतया, क्षमतया, सुष्ठुरीत्या चाध्यापनकार्यं निर्वाहयन्नासन्निति पौनः-पुन्येन स्मारं स्मारमस्माकं चेतः नितरां प्रसीदति ।

भवन्तः सर्वदैवाग्रे भूत्वा सर्वेषामेव साहाय्यकरणे तत्पराः सन्तो दृश्यन्ते सर्वेषां च समस्यानां समाधानं कुर्वन्ति । महाविद्यालयस्य बी० ए०, एम० ए० छात्राणां शोधछात्राणां च कृते सततं प्रयतमाना अपि भवन्तः संस्कृताध्यापकानां समस्यापूरणेऽपि सर्वदैव संलग्नाः दरीदृश्यन्ते । अधुनैव किञ्चित्समयानन्तरमेवास्यैव वर्षस्य जूनमासस्य त्रिंशत्तिथौ भवन्तः सेवानिवृत्ता भविष्यन्तीति श्रुत्वेवेदतदस्माक हृदयानि परमोच्छ्वासभा-जनानि संजायन्ते नयनानि चाश्रुभिः परिपूर्यन्ते । सर्वाः दिशः शून्या इव प्रतिभासन्ते ।

संस्कृतसाहित्यस्य समृद्धयै, छात्राणां सौकर्याय विदुषां च हृदयानामवर्जनाय भवद्भिरनेकेषां ग्रन्थानां रचना कृता, अनेकेषां च प्राचीनप्रौढग्रन्थानां टीका विलिखिताः । पी-एच० डी० इत्युपाधये भवतां "प्राचीने भारतीये धर्मशास्त्रसाहित्ये शूद्राणां स्थितिरिति शोधप्रबन्धे विदुषां समाजेषु सर्वदैव प्रशस्यते । सर्वथा मौलिकीं गवेषणां प्रस्तुवता ग्रन्थेनैतेन उत्तरप्रदेशसर्वकारात् पारितोषिकमप्यधिगतम् । साहित्यदर्पणादिकाव्यशास्त्र-ग्रन्थानां मुद्राराक्षसाभिज्ञानशाकुन्तलादिनाटकानां टीकाः सर्वत्र छात्राणामुपकारकाः विदुषां च हृदयानां सभावर्जकाः सन्ति ।

भवान् संस्कृतसाहित्यस्य मर्मज्ञो मनीषी प्रकृत्या मधुरः सुन्दरः सौम्यश्च । निराशाणां निराश-भञ्जको निरुत्साहानामुत्साहसञ्चारको भवान् सर्वेषामेव सदुःखानामपि जनानां सुखदायकः । "परोपकाराय सतां विभूतयः" इति सूक्तिः सर्वथा भवत्सु घटते ।

किमधिकेन, भवान् मतिमान् उत्साहसम्पन्नः, अधीतधर्मशास्त्रः, सततभ्रमणशीलः, नित्यं शिष्यानुगतः, संस्कृताध्यापकानां सदा सहायकः । महत्स्वपि कार्यसङ्कटेष्वविषण्णधीः, धाम धैर्यस्य, सर्वेषूत्सवेस्वाहितमतिः, देवमात्रादित्या कृतजलपानचित्तः, व्रजाधिपतेः कुमार इव सततं भवान् आर्यसमाजसेवानिरतोऽपि लक्ष्यते ।

भवतां कार्यकाले मेरठविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागेन अथ च संस्कृतपाध्यापकपरिषदा च या उल्लेख-नीयाः सफलताः समधिगतास्तासां गणना न केनापि कर्तुं शक्या सामर्थ्यवतापि । नात्र कापि शङ्का ।

अन्ते च निवेदनमिदमेव यत् नास्मान् विस्मरन्तुभवान् कदापि । सततं च संस्कृताध्यापकपरिषदश्च मार्गनिर्देशः भवतैव करणीयः । अस्यां विदावेलायां पुनः पुनरपि प्रणमन्तोऽभिनन्दनं च कुर्वन्तो वयं सर्वदैव भवन्मुखाः स्याम इत्येवास्माकं निवेदनम् ।

भवतां वशंवदाः

२० मई १९८४ रविवासरः

मेरठ विश्वविद्यालयसंस्कृतपरिसत्सदस्याः ।

□ मनोहर विद्यालङ्कार

वेद में रूप निरूपण की चर्चा

वेदों में निरूपण शब्द का प्रयोग कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ, किन्तु रूप शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। रूप शब्द 'रूप रूपक्रियायाम्' धातु से बनता है। उणादिकोशकार ने रूप शब्द के तीन अर्थ—आकृति, स्वभाव और सौन्दर्य दिये हैं। काशकृत्स्न ने इस धातु के उदाहरण देते हुये—निरूपम्, निरूपणम् तथा निरूपितम—तीनों का प्रयोग गुरु वाक्य में माना है।

इस प्रकरण में ऋग्वेद के एक मन्त्र का मनन किया जाता है—

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥ (ऋ० १.१६४.१५ ॥)

ऋषिः—दीर्घतमा औचथ्यः। देवता—विश्वे देवाः। छन्दः—जगती।

शरीर में प्रतिष्ठित सात इन्द्रियों को ऋषि और देवसन्तान कहा गया है।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ (यजु० ३४.५५ ॥)

ऋषिः—कण्वः। देवता—अध्यात्मं प्राणाः।

प्राणापान देव हैं, इनके विना इन्द्रियाँ रहती नहीं इसलिये इन्द्रियों को देवज कहा है। इन सात में से छः तो यमज (जुड़वा) हैं—१. हाथ, २ पैर, ३. पायूपस्थ, ४. आँख, ५. कान ६. नाक। सातवाँ मन अकेला उत्पन्न हुआ है किन्तु वह सबमें गया हुआ है। इन सातों इन्द्रियों के इष्ट पदार्थ धाम और रूप के भेद से विकृत होकर बने हैं। ये पदार्थ जगद् व्यवहार को चलाने के लिये पुनः पुनः प्रकट होते रहते हैं। इन पदार्थों से ये सातों ऋषि मुदित होते रहते हैं। लेकिन वास्तव में कर्ता, धर्ता द्रष्टा, मन्ता इनसे परे है।

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्।

तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन्पर एकमाहुः ॥ (यजुः० १७.२६ ॥)

ऋषिः—विश्वकर्मा। देवता—विश्वकर्मा।

इस शरीर रूपी रथ में सात घोड़े जुड़े हुये हैं। यदि इसे गोष्ठ मानों तो इसमें सात रूपों (रंगों) वाली सात गायें हैं। और यदि इसे परमधाम में पहुँचने का राकेट मानों तो इसमें सात चक्र हैं। ऋषि कहो, देवता कहो, अश्व कहो, गौ कहो, नदी कहो, बहिन कहो—ये सातों मिलकर इस रथ को आगे और आगे ले जाते हैं; या इस गोष्ठ या आश्रम को नया-नया रूप प्रदान करते हैं; या इस राकेट को एक के बाद दूसरा चक्र ऊपर और ऊपर भेजता रहता है।

इमं रथमधि सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम ॥ (ऋक् १.१६४.३ ॥)

इसी प्रकरण में एक दूसरा मन्त्र ऋक् ३–५३–८ ऋक् ६–४७–१८ के साथ-साथ देखिये।

रूपं रूपं मघवा बोभवीति माया कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।

त्रिर्यद् दिवः परि मुहूर्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ (ऋक् ३-५३-८ ॥)

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः प्रतिरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ।। ऋक् ६-४७-१८ ।।

इन्द्र (ब्रह्म) अनन्त ऐश्वर्यों का स्वामी होने से मघवा है । वह अपनी तनू (प्रकृति) को अपनी माया के द्वारा, नाम रूप वाले प्रत्येक पदार्थ में प्रविष्ट होकर—तद्रूप हो जाता है । इन पदार्थों में प्रविष्ट रूप को ही देखा जा सकता है । सैंकड़ों, हजारों—अनन्त जीव (हरयः) इससे जुड़े हुये हैं, उसके समान चेतन होने से उसके सखा हैं । उन्हें अपना रूप दिखाने के लिये ही वह प्रत्येक पदार्थ में प्रविष्ट होकर तद्रूप (प्रतिरूप) हुआ हुआ सर्वत्र गति करता हुआ विद्यमान है । इसीलिये ऋतों का स्वामी होते हुये भी अपने लिये किये गये मननों द्वारा, काल का विचार छोड़कर—(अनृतुपा बनकर) तीनों लोकों में किसी भी स्थान पर क्षणभर में प्रकट हो जाता है (त्रिर्यद् दिवः परिमुहूर्तमागात्) ।

(हरयः) का अर्थ जीव किया है, क्योंकि वे ही कर्मों की ओढ़नी ओढ़ इधर-उधर उत्पन्न होकर विचरते रहते हैं (हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।' भी यही संकेत करता है कि (हरयः सुपर्णाः) जीवात्मा हैं ।

इसी तत्त्व की दूसरे शब्दों में निम्नप्रकार स्थापना की गई है ।

त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभि र्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ।। ऋक् १-१६४-४४ ।।

इस जगत् में, अपनी रश्मियों को प्रसृत करने वाले तीन पदार्थ—(ब्रह्म, जीव और प्रकृति) हैं । ये अपने ऋत के अनुसार दिखाई देते हैं । इनमें से एक जीवात्मा, जीवनभर अपने कर्मों की खेती बोता और काटता रहता है (तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति) । और दूसरा परमात्मा अपने सामर्थ्यों के कारण—सृष्टि का निर्माण-संहार करते हुये भी—केवल द्रष्टा बना रहता है (अनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति) ।

इन तीन को जड़ और चेतन की दृष्टि से दो में विभक्त कर दें तो इनमें से एक जड़ प्रकृति का रूप और गति (हलचल) दोनों दिखाई देते हैं । किन्तु दूसरे चेतनतत्व की गति या हलचल तो दिखाई देती है किन्तु रूप दृष्टिगोचर नहीं होता ।

वे जीव अपने ऋत के सदन (परमधाम–परमात्मा) से बार-बार आकर जन्म लेते रहते हैं; और तब उनकी दीप्ति से यह पृथिवी नाना रूपों में (वि-विविध) उदित होती हुई दिखाई देती है (उद्यते) ।

श्यामसुन्दर राधेश्याम
५२२, ईश्वर भवन
खारी बावड़ी, दिल्ली ।

□ डॉ० प्रशान्त वेदालङ्कार

वेद में--ऊँचा जीवन; उच्च विचार

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने वेद में वर्ग-संघर्ष, बर्बरता, स्त्री-अपहरण, व्यभिचार, भ्रूणहत्या, चोरी-डकैती, धोखाधड़ी, मांसभक्षण तथा सुरापान आदि बातों को सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1] किन्तु वेद का अनुशीलन इन बातों को सर्वथा मिथ्या प्रमाणित कर देता है। सब प्राणियों में समान आत्मतत्त्व के दर्शन द्वारा विश्वात्मा व ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले, ऋत और सत्य के पुजारी, वर्णाश्रम व्यवस्था की पद्धति पर समाज की संरचना करने वाले ऋषिजन किसीप्रकार की संकीर्णता, जातिवाद अथवा वर्ग-संघर्ष का षड्यन्त्र रचें अथवा दुराचारों की शिक्षा दें व उनमें प्रवृत्त हों—इसप्रकार का विचार तर्कसंगत नहीं माना जा सकता। वेद में तो मानव के यथार्थ विकास के लिये, उसके शारीरिक और आत्मिक बल के लिये अत्यन्त उदात्त आचार-शास्त्र का निरूपण है।

वैदिक दर्शन बतलाता है कि प्रकृति की अपनी सत्ता है, किन्तु वही अपने में चरम सत्ता नहीं है। उसके मूल में एक चेतन सत्ता है 'आत्मा'='विश्वात्मा' व 'परमात्मा'। इसीप्रकार इस पार्थिव शरीर व जीव के पीछे भी चेतन एवं सुख-दुःख आदि लिंगों से युक्त एक सत्ता है 'आत्मा'=जीवात्मा। सृष्टि-चक्र में वर्तमान शाश्वत कारणकार्यश्रृंखला (Law of Causation) तथा भौतिक जगत् में विद्यमान कुछ अटल नियमों (Laws of Nature) पर गहराई से विचार करने पर यह भी सहज प्रतीत होता है कि इस सृष्टि की रचना कुछ शाश्वत एवं अटल नियमों के आधार पर सोद्देश्य बुद्धिपूर्वक हुई है। यह कार्य जड़ प्रकृति का नहीं। न ही सृष्टि की निर्मात्री तथा उसकी नियामिका इस शक्ति को जीवात्मा ही माना जा सकता है। क्योंकि शरीरी अनेक हैं, सीमित शक्ति वाले हैं, सीमित ज्ञान वाले हैं तथा ये समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त नहीं हो सकते। इसके लिये तो एक विभु-आत्मा=विश्वात्मा की सत्ता आवश्यक प्रतीत होती है।

यदि चर्मचक्षुओं को गोचर यह शरीर और प्रकृति ही सब कुछ है एवं इस सृष्टि का संचालन बिना किसी निश्चित नियम के उद्देश्यहीन हो रहा है तब तो 'खाओ-पीओ मौज़ उड़ाओ' का सिद्धान्त ही अनुकरणीय हो जाता है। उस अवस्था में जीवन के उदात्तीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यह सहज प्रतीत होता है कि क्षण-क्षण परिवर्तनशील जगत् के मूल में कोई ध्रुवतत्त्व अवश्य है। यह प्रत्यक्ष दृश्यमान ब्रह्माण्ड भौतिक पदार्थों से, सम्पूर्ण भौतिकप्रपञ्च प्राणी-समूह से और फिर जड़-चेतनरूप उभयविध सृष्टि किसी परात्पर सूत्र —'सूत्रस्य सूत्रम्' (अथ० १/८/३८) से परस्पर आबद्ध है। चर्मचक्षुओं एवं तर्कादि से अगोचर इस तत्त्व का मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अन्तःप्रत्यक्ष द्वारा दर्शन प्राप्त किया—

अन्तरिच्छन्ति तं जनं रुद्रं परो मनीषया। (ऋ० ८/७२/३)

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा यत्। (यजु० ३२/८)

मनुष्य के सम्मुख सृष्टि का जो अनन्त विस्तार है वह उसी सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्विकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता विश्वात्मा की कृति है। सृष्टिकर्ता परमात्मा की

यह जड़-चेतन सृष्टि उसकी माया या छाया नहीं अपितु उसके कुछ शाश्वत नियम सूक्ष्म और विराट् विश्व के अनन्त रूपों को ग्रथित किये हैं।

वैदिक दर्शन इस विश्व को मिथ्या, भ्रम अथवा ब्रह्म की माया या छाया नहीं मानता। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति भी ब्रह्म की तरह अनादि और अनन्त है। इसमें उत्पन्न होने वाले जीवों की भी अपनी पारमार्थिक सत्ता है। यहाँ पर हर जीवन की सार्थकता है। ईश्वर द्वारा प्रदत्त शरीर प्राणी के लाभ एवं उपयोग के लिये है। उसकी दी हुई अन्य भौतिक वस्तुयें भी जीव के उपयोग के लिये हैं। उनमें हेयता या तुच्छता कैसी? इसप्रकार यह विश्व दुःखरूप, मिथ्या व भ्रान्ति नहीं हो सकता। अतः संसार को दुःख-मय मानकर उससे डरकर भागने का उपदेश यहाँ नहीं मिलता। यहाँ तो हर ऋषि अपनी सब इन्द्रियों के उपयोग-सामर्थ्य को रखते हुये पूरे सौ वर्ष व इससे भी अधिक ही जीना चाहता है। उसे जीवन के सब वैभव चाहिये—दुधारु गौएँ चाहिये, प्रजननशक्तिसम्पन्न सांड चाहिये, तीव्रगामी बलवान् घोड़े चाहिये, उत्तम रथ चाहिये, अन्न चाहिये, धन चाहिये, स्वर्ण चाहिये, वीर पुत्र चाहिये।

यह सृष्टि जैसी दिखाई देती है वैदिक दर्शन उसे वैसा ही मानता है। उसकी सत्ता को सर्वथा स्वीकार करता है। इससे आँखें मूँदने अथवा भाग जाने का उपदेश नहीं देता। किन्तु वेद इस ध्रुव सत्य को भी बतलाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी दिन इस संसार को छोड़ना भी पड़ता है। यह संसार और सांसारिक विषय ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। अतः जीवन का सुख इसीमें है कि मनुष्य भोगों को भोगता हुआ भी उनमें लिप्त न हो—एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे (यजु० ४०/२)। संसार को भोगो किन्तु त्यागपूर्वक—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः (यजु० ४०/१)। इसप्रकार वेद भोग और त्याग के संतुलित समन्वय द्वारा मानव की ऐहिक और पारलौकिक उभयविध उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। वैदिक संस्कृति मानवजीवन में पुष्टि का, पवित्रता का, समता का, माधुर्य का संचार करती हुई अमृतत्त्व के उदात्ततम लक्ष्य की ओर उसे प्रेरित करती है।

अत एव वेद में धर्म-कर्म, विज्ञान-दर्शन एवं उपासना-योग कोई पृथक् विषय नहीं हैं। वहाँ जीवन एक अविच्छिन्न इकाई है। वहाँ व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्तियों का उपयोग कर एक ऐसी पूर्ण और सहज जीवन-पद्धति के विकास पर बल दिया जाता है जो भौतिक एवं मानसिक शक्तियों के सर्वांगसुन्दर विकास और समाजनिर्माण के मार्ग में सहयोगी बन सके। वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि हे अग्ने (अग्रणी देव)! मुझे दुश्चरित से पृथक् करो और सब ओर से सदाचार का भागी बनाओ—

परिमाऽग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज। (यजु० ४/२८)

वेद में चरित्र की उदात्तता के लिये एक ओर द्वेष व पाप के त्याग का उपदेश है तो दूसरी ओर सत्याचरण, विद्याप्रेम सद्बुद्धि, निर्भयता, स्वस्तिकामना, भद्रभावना तथा मन का शिवसंकल्प आदि चरित्र के उदात्त गुणों के धारण करने की प्रार्थनायें हैं।

(१) ऊँचा जीवन

प्रस्तुत लेख में हम जीवन के लिये अपेक्षित तत्त्वों का अध्ययन करेंगे—

ऋत और सत्य—वेद के जीवन का मूल आधार ऋत और सत्य का व्यापक सिद्धान्त है। इस विश्व में प्रत्येक पदार्थ में जो व्यवस्था पाई जाती है वह ऋत (त्रिकालाबाधित सत्यरूपी नियम) के ही कारण है। हम देखते हैं कि दसों दिशाओं और सभी कालों में विश्व-प्रवाह की एक अखण्ड धारा बह रही

है । करोड़ों प्रकाशवर्षों की दूरी पर स्थित नीहारिकाओं (Netulare) में भी परमाणु के विकास व विलय के जो नियम कार्य कर रहे हैं वे ही हमारी इस पृथ्वी पर भी हैं । अगणित परीक्षणों के उपरान्त भी इन नियमों में किसी तरह का उलटफेर नहीं पाया जा सका । इसका एकमात्र कारण ब्रह्माण्ड का अखण्ड व अटल नियम है जो कि सर्वत्र व्याप्त दीख पड़ता है । आधुनिक विज्ञानवेत्ता इसे चरम नियम (Supreme Law) कहकर इसके सम्मुख नतमस्तक होते हैं । वैदिक शब्दावली में इसे ही 'ऋत' (Cosmological Order) का नाम दिया गया है ।[३] वेदमन्त्र इसप्रकार है—

ऋतस्य दृलहा धरुणानि सन्ति, पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि ।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष, ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ॥ (ऋ० ४/२३/६)

"ऋत की जड़ें सुदृढ़ हैं, विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में ऋत मूर्तिमान् हो रहा है । ऋत के आधार पर ही अनादि खाद्य पदार्थों की कामना की जाती है । ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियाँ जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती हैं ।"

ऋत का ही दूसरा रूप सत्य है । ऋत प्राकृतिक नियम हैं और सत्य आध्यात्मिक । मनुष्य का कल्याण इन दोनों की अभिन्नता समझने में है । जिसप्रकार द्युलोक का धारण ऋत के अनुसार सूर्य द्वारा हो रहा है वैसे ही वास्तविक रूप से इस भूमि का धारण सत्य के आश्रय से ही हो रहा है—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः । (ऋ० १०/८५/१)

वस्तुतः यदि इस संसार से सत्य को समाप्त कर दिया जाय तो कोई किसी पर भी विश्वास न करे तथा इसप्रकार सब लोक-व्यवहार ही समाप्त हो जाय । अतः सत्य पर ही भूमि का आधार है— यह वैदिक उपदेश पूर्णतः यथार्थ है । अथर्ववेद के भूमिसूक्त में भी पृथिवी के धारण करने वाले पदार्थों में सर्वप्रथम सत्य का ही परिगणन किया गया है—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति । (अथ० १२/१/१)

सत्य वस्तुतः अपने स्वरूप को यथावत् रूप में अनुभव करने का नाम है । मानव जीवन के जितने भी प्रेरक नैतिक आदर्श हैं वे सभी सत्य हैं । एक मन्त्र में कहा गया है—"व्रताचरण से ही मनुष्य की दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है । दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है । दक्षिणा से अपने जीवन के आदर्शों में श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ (यजु० १९/३०)

इसलिये यह प्रार्थना की गई है कि मैं अपनी वाणी में सत्य को प्राप्त करूँ—

वाचः सत्यमशीय । (यजु० ३९/४)

समस्त शक्तियाँ मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य में तत्पर रहने की शक्ति प्रदान करें—

देवा देवैरवन्तु मा······ सत्येन सत्यम् । (यजु० २०/११-१२)

यह ऋत और सत्य की भावना ही वस्तुतः अन्य उदात्त विचारों की जननी है । समस्त

सृष्टिप्रपञ्च एक निश्चित एवं शाश्वत नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित है, यह भावना मनुष्य में स्वभावतः समुज्ज्वल आशावाद, भद्र-भावना और आत्म-विश्वास आदि उदात्त-भावनाओं को उत्पन्न करती है।

(क) विद्या व बुद्धि—वेद में विद्या को अभ्युदय (सांसारिक प्रगति) और निःश्रेयस् (पारलौकिक उन्नति) की प्राप्ति का प्रधान साधन माना गया है। वाजसनेयिसंहिता के चालीसवें अध्याय तथा अनेक उपनिषदों में ऐहिक भौतिक सुख-समृद्धि की साधिका विद्या को "अपरा विद्या" अथवा "अविद्या" तथा अक्षरतत्त्व की प्राप्ति द्वारा अमृतत्व का मार्ग प्रशस्त करने वाली विद्या को "परा विद्या" अथवा "विद्या" कहा गया है। यद्यपि इन दोनों प्रकार की विद्याओं में ब्रह्म-साक्षात्कार की साधिका 'परा' उत्कृष्टतर है, तथापि वैदिक ऋषियों की दृष्टि में सांसारिक अभ्युदय भी अभीष्ट है। अतः दोनों के समन्वय पर ही बल दिया गया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ (यजु० ४०/१४)

······वेद में अच्छी बुद्धि एवं मेधा (तर्कशक्ति को धारण करना) के लिये भी प्रार्थना की गई है। बुद्धि व मेधा जहाँ विद्याप्राप्ति में सहायक हैं, वहाँ जीवन में संतुलन बनाये रखने के लिये भी आवश्यक हैं। हिन्दुओं का सर्वप्रिय गायत्रीमन्त्र बुद्धि-प्रेरणा की ही प्रार्थना करता है, "धियो यो नः प्रचोदयात्"। बुद्धिबल से ही मनुष्य सत् और असत् का विवेक कर सन्मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।[३] अतः वेद में स्थान-स्थान पर अच्छी बुद्धि के लिये प्रार्थना की गई है—

धियं वनेम ऋतया सपन्तः। (ऋ० २/११/१२)

'सदाचरण से परस्पर प्रेम करते हुये हम बुद्धि प्राप्त करें'—

चोदय धियमयसो न धाराम्। (ऋ० ६/४७/१०)

'हे प्रभो! मेरी बुद्धि को लोहे से बने शस्त्र की धार के समान अति तीक्ष्ण बना'।

मन की उदात्तता—जीवन में उच्चता व उदात्तता के लिये संतुलित व शिवसंकल्प वाले मन की बहुत आवश्यकता है। वाजसनेयिसंहिता के मनःसम्बन्धी प्रस्तुत सूक्त के प्रत्येक मंत्र में मन के शिवसंकल्प होने की प्रार्थना की गई है। इन मंत्रों का सार यह है कि मन इस विश्व में बहुत बड़ी शक्ति है। सूक्त इसप्रकार है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥१॥

अर्थात् मेरा मन विचित्र प्रकाश है। जब मैं दिन को जाग रहा होता हूँ, तो यह दूर निकल जाता है। जब रात को सोता हूँ, तब भी यह वैसे ही घूमता है। दूरगामी, ज्योतियों में अद्भुत ज्योतिरूप यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो, यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥२॥

जिसके द्वारा कर्म-परायण मनीषी, सज्जन यज्ञों में और बुद्धिमान् विद्वान् विज्ञान सभाओं में

पवित्र कर्मों को विस्तृत करते हैं, जो सब उत्पन्न हुये-हुये प्राणियों के अन्दर अपूर्व और आदरणीय पदार्थ के रूप में विराज रहा है, वह यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च, यज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३॥

जो जानने, पहचानने और धारण करने में मुख्य साधन है; जो उत्पन्न हुये-हुये प्राणिवर्ग के अन्दर अमृत ज्योति के रूप में विराज रहा है; जिसके बिना कोई भी कर्म करना असम्भव हो जाता है, वह यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्, परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥

जिस इस एक अमृत पदार्थ ने अतीत, अनागत और वर्तमान, इस सत्य संसार को धारण कर रखा है और जो सात स्तुति-पाठकों वाले जीवनरूपी यज्ञ को विस्तृत कर रहा है, वह यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन्, प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्त ँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥

जिसमें रथ-नाभि में अरों के समान, ऋचाएँ, यजु और साम प्रतिष्ठित हो रहे हैं, जिसमें उत्पन्न हुये-हुये प्राणिवर्ग का सब ज्ञान ओतप्रोत हो रहा है, वह यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्, नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥ (यजु० ३४।१-६।

जो चतुर सारथी की तरह बलवान् घोड़ों के समान मनुष्यों को (मानों) रासों द्वारा लगातार हाँकता है, जो हृदय स्थान में रहता है, जो कभी घिसने में नहीं आता और जो वेग में सबके आगे रहता है, वह यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

"मनुष्य का मन सबसे अधिक प्रभावशाली है। इसकी शक्ति अपरिमित है, अतः यह दिव्य है। मनुष्य के सोते होने पर भी मन का गतिशील होना अवचेतन मन की ओर संकेत करता है। जिसप्रकार बड़ी ज्योतियों (ग्रह नक्षत्रों) से मनुष्य का जीवन प्रभावित होता है, उसीप्रकार मन से भी होता है। साररूप में कह सकते है कि मनुष्य वह है, जो उसका मन। यदि प्रत्येक व्यक्ति के मन में कल्याण की भावना आ जाये, तो सारे संसार का चित्र परिवर्तित हो जाये।" अतएव वैदिक ऋषि मनः शुद्धि के लिये उपर्युक्त मन्त्रों में शिव-सङ्कल्प करता है।

वेद में मनोबल को क्षीण करने की कोशिश करने वाले की दुर्गति करने का प्रयत्न कया गया है। वैदिक वीर कहता है—

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति ।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ (अथ० २।१२।३)

हे देवो ! सुन लो, मेरी इस भीष्म-प्रतिज्ञा को सुन लो। आज मेरे बलवान् मन में प्रबल संकल्प उठ रहे हैं। जो कोई मेरे मनोबल की हिंसा करने आयेगा वह पाशबद्ध होकर दुर्गति को पायेगा।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये वृक्षाँ वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥ (अथ० ३।४५।१)

ओ मन के पाप ! चल दूर हट मेरे पास से, क्यों निन्दित सलाहें दे रहा है ? चल दूर हट यहाँ से, वृक्षों से जाकर टकरा, जंगलों में भटकता फिर । मुझे फुरसत कहाँ है जो तेरा स्वागत करूँ । मेरा मन तो गृह-कार्यों में और गो-सेवा आदि शुभ-कार्यों में लगा हैं ।

कैसी आत्म विश्वास-भरी वीरतापूर्ण और सजीव उक्ति है । क्या ऐसे सतर्क और साहसी व्यक्ति के मन में पाप कभी डेरा डाल सकता है ।

आगे देखिये, अपने संकल्प बल को जागृत करता हुआ वह वीर कह रहा है—

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् ।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥ (अथ० ९।२।१०)

जाग, जाग ओ मेरे संकल्प-बल, तू जाग । राक्षसों को मार गिरा, उन्हें घोर अन्धकार में धकेल दे । वे आततायी निरिन्द्रिय और निर्वीर्य हो जायें, एक दिन को भी जीवित न बचने पावें ।

इसप्रकार स्पष्ट है कि व्यक्ति मन को वश में रखकर व मन में अनेकप्रकार के शिवसंकल्पों को उत्पन्न कर अपने जीवन को उदात्त बनाता है । मन में शिवसंकल्पों के होने पर ही उसकी इन्द्रियाँ भी संयम में रहती हैं तब मनुष्य कल्याण के ही काम करता है । वैदिक पुरुष की कामना है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥३॥
विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥४॥ (ऋ० १।८९। १-२,८-९)

अर्थात्—"हे देवताओ ! हम कानो से भला सुनें । हे पूजनीयो ! हम आँखों से भला देखें । हमारा अंग-अंग स्थिर हो । हम सदा स्तुति शील बने रहें । हमारे तन देव-प्रदत्त आयु भर ठीक चलें ।

हे सर्वजगदुत्पादक परमेश्वर, आप हमारे सब दुःखों और दुर्गुणों को दूर भगा दो । जो कुछ मंगल-कारक हो, उसे हमारे यहाँ ले आओ ।"

नित्य-नैमित्तिक यज्ञों में 'स्वस्ति-वाचन' का महत्वपूर्ण स्थान है । वस्तुतः स्वस्ति-कामना संपूर्ण वैदिक धारा में प्रवहमान है । यहाँ हम निदर्शनार्थ दिङ्मात्र उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु, स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति ।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु, स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥१॥

अर्थात्—'सुविस्तृत मार्गों पर हमारा कल्याण हो । भूमि के मरुभागों पर हमारा कल्याण हो । जलप्रधान प्रदेशों में हमें कल्याण हो । खुले मैदानों में हमारा कल्याण हो, घनी वस्तियों में हमारा कल्याण हो, सन्ततिकारक गृह—सम्बन्धों में हमारा कल्याण हो, हे मरुतो ! सर्वत्र सुख-समृद्धि व कल्याण ही कल्याण करो ।'

द्वेष-त्याग—जिसप्रकार कीट वस्त्रों को कुतर डालता है उसीप्रकार द्वेष मनुष्यों को नष्ट कर देता है । द्वेषी व्यक्ति की अपनी तो कोई महत्त्वाकांक्षा होती नहीं, वह तो दूसरे को गिराकर अपने स्तर पर ले आना चाहता है । अतः द्वेष की भावना पाप है । वेद में अनेक मन्त्रों में ईश्वर से द्वेषमुक्त होने की प्रार्थना की गई है—

विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् । (ऋ० ४।१।४)

"हे प्रभो ! हमसे सब द्वेषों को पूरी तरह छुड़ा दो ।"

स नः पर्षद् अतिद्विषः । (अथ० ६।३४।१)

"ईश्वर हमें द्वेषों से पृथक् कर दे ।"

मा नो द्विक्षत कश्चन ।

"हमें कोई भी द्वेष करने वाला न हो ।"

असपत्नाः प्रदिशो भवन्तु । (अथ० १६।१४।१)

"सभी दिशायें मेरे लिये शत्रु-रहित हों ।"

अनमित्रं नो अधराद्, अनमित्रं न उत्तरात् ।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चाद् अनमित्रं पुरस्कृधि ।। (अथ० ६।४०।३)

"हे इन्द्र ! नीचे से हमें शत्रुता से मुक्त करो । ऊपर से हमें शत्रुता से मुक्त करो । पीछे से हमें शत्रुता से मुक्त करो । आगे से हमें शत्रुता से मुक्त करो ।"

मन में कल्याण की भावना होने पर व्यक्ति सब प्रकार के मानसिक और तज्जन्य शारीरिक पापों से बच जाता है ।

जीवन में सम्मानपूर्वक रहने के लिये निर्भय होना अत्यावश्यक है ।[४] मन में उदात्तवृत्तियों के होने पर भी व्यक्ति सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत कर ले, यह आवश्यक नहीं । संसार के दुष्ट वृत्ति के लोग साधु वृत्ति के लोगों के जीवन में बाधक हैं ।

वेद पापवृत्तियों रूपी असुरों को नष्ट करने के लिये जहाँ मनुष्य के सङ्कल्पबल को जागरित करता वहाँ अन्याय और अत्याचार का प्रतीकार करने के लिये मनुष्य में वीरता की भावना को भी प्रेरित करता है । वेद का संदेश है कि अन्याय और अत्याचार को नष्ट करने के लिये यदि हिंसा भी करनी पड़ती है तो वह हिंसा नहीं अपितु वीरता है । अतः वेद मनुष्य का उद्‌बोधन करता है—

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ।। (ऋ० १।३६।२)

हे वीरो ! सुदृढ़ हों तुम्हारे हथियार शत्रु को दूर भगा देने के लिये सुदृढ़ हों शत्रु के वार को रोकने के लिये । तुम्हारी सेना, तुम्हारा संगठन, प्रशंसा के योग्य हो ।

ये शत्रु बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार के होते हैं । मनुष्य को दोनों ही प्रकार के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनी है ।

केवल वेद के पुरुषों में ही ऐसी वीर-भावना नहीं भरी है, अपितु वेद की नारियाँ भी ऐसे ही वीर-भावों से ओतप्रोत हैं । एक नारी के उद्‌गार देखिये—

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते ।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।। ऋक्.१०८६.९ ।।
मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् ।
उताहमस्मि सञ्जया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ।। (ऋ० १०।१५६।३)

अरे, यह घातक मुझे अबला समझे बैठा है ? मैं अबला नहीं, वीरांगना हूँ, वीर की पत्नी हूँ । मौत से न डरने वाले वीर मेरे सखा हैं । मेरा पति संसार में अपनी तुल्यता नहीं रखता ।

मेरे पुत्र शत्रु के छक्के छुड़ा देने वाले हैं, मेरी पुत्री अद्वितीय तेजस्विनी है । मेरे पति में उत्तम

कीर्ति का निवास है और मैं अपनी क्या बताऊँ ? कोई मेरी तरफ आँख उठा कर तो देखे, ऐसा परास्त होकर लौटेगा कि सदा याद रखेगा।

जीवन में वीरता धारण करने के लिये वैदिक पुरुष ओजपूर्ण तेजस्वी जीवन की कामना करता है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि॥ (यजु० १६।६)

हे प्रभो !

आप तेज-स्वरूप हैं, मुझमें तेज को धारण कीजिये !
आप वीर्य-रूप हैं मुझे वीर्यवान् कीजिये !
आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइये !
आप ओज-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइये !
आप मन्यु-रूप हैं, मुझमें मन्यु की धारणा कीजिये !
आप सहस्-स्वरूप हैं मुझे सहस्वान् कीजिये !

शारीरिक स्वास्थ्य व दीर्घायुष्य की कामना—वैदिक ऋषि कामना करता है कि उसके समस्त अंग पूर्ण स्वास्थ्य से अपना-अपना कार्य करें। वाणी, प्राण, आँख और कान अपना-अपना काम ठीक तरह से कर सकें। बाल काले रहें। दाँतों में कोई रोग न हो। बाहुओं में बहुत बल हो। ऊरुओं में ओज, जाँघों में वेग और पैरों में दृढ़ता हो—

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोश्श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥१॥
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा।
अरिष्टानि (मेऽङ्गानि) सर्वाऽऽत्मा (ऽतिपुष्टः)॥२॥ (अथ० १६।६०।१,२)

अर्थात्—'मेरे मुख में उत्तम वक्तृत्व शक्ति रहे, मेरे नाक में बलवान् प्राण संचार करता रहे, मेरी आँखों में उत्तम दर्शन शक्ति रहे, मेरे कानों में उत्तम श्रवणशक्ति रहे, मेरे बाल श्वेत न हों, मेरे दाँत मलिन न हों, मेरे बाहुओं में बहुत बल रहे, मेरी जाँघों में बड़ी शक्ति रहे, मेरी पिंडरियों में बड़ा वेग रहे, मेरे पाँवों में स्थिरता रहे, पांव कभी कांपने न लगें, मेरे सभी अंग अच्छी अवस्था में रहें—रोगी न हों, मेरा आत्मा अति पुष्ट हो तथा निरुत्साहित न हो।'

प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक कामना है कि वह दीर्घजीवी बने। यह भावना जीवन के प्रति मोह के कारण होने पर उदात्त प्रतीत नहीं होती। किन्तु वेद में मानवशरीर को एक 'ऋषि-आश्रम' व 'देवमन्दिर' माना गया है तथा उसे चिरस्थायी बनाने का उपदेश दिया गया है। इसीलिये वेद में स्थान-स्थान पर दीर्घ जीवन की कामना की गई है—

पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्, शृणुयाम शरदः शतम्,
प्रब्रवाम शरदः शतम्, अदीनाः स्याम शरदः शतम्, भूयश्च शरदः शतात्॥
(ऋ० ७।६६।१६; यजु० ३६।२४)

"हम सौ वर्ष तक देखें, हम सौ वर्ष तक सुनें, हम सौ वर्ष तक भली-भाँति बोलें, हम सौ वर्ष तक अदीन बने रहें, हम सौ वर्ष से भी अधिक समय तक उन-उन कार्यों को करते रहें।

पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।।
बुध्येम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।।
पूषेम शरदः शतम् । भवेम शरदः शतम् ।।
भूयेम शरदः शतम् । भूयसी शरदः शतात् ।।

"हम सौ वर्ष पर्यन्त इन आँओं से देखने वाले बनें । सौ शरद् ऋतु पर्यन्त अक्षुण्ण जीवन वाले हों । सौ वर्ष तक हमारा बोध बुद्धि को प्राप्त होता चले । सौ वर्ष तक हम उन्नति-पथ पर ही बढ़ते चलें । सौ वर्ष तक हम पोषण को प्राप्त होते चलें । सौ वर्ष तक बने ही रहें । सौ वर्ष तक ही क्यों ? इससे भी अधिक हमारा जीवन चलने वाला हो ।

वेद मनुष्य के स्वस्थ व दीर्घ जीवन के साथ मनुष्य में माधुर्य व पवित्रता का भी संचार करता है ।

(२) उच्च विचार

अब तक हमने वेद द्वारा व्यक्ति के जीवन को ऊँचा बनाने वाले तत्वों का अध्ययन किया है, किन्तु इस ऊँचे और महान् जीवन का लाभ तभी है जब कि व्यक्ति स्वार्थ से परमार्थ के क्षेत्र में पहुँच जाये । इस दृष्टि से वेद का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि वेद में उच्च व उदात्त विचारों का वर्णन है जोकि मनुष्यों को परस्पर व्यवहार में स्वार्थ का त्याग कर परमार्थ में लीन हो जाने का उपदेश देते हैं ।

वेद सब प्राणियों में एक ही आत्मतत्त्व के दर्शन कराता है । यजुर्वेद में कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। (यजु० ४०।६)

अर्थात् 'जो तो सब प्राणियों को आत्मा में ही देखता है और सब प्रणियों में अपनी आत्मा को देखता है वह उस आत्मदर्शन के पश्चात् आत्मा की सत्ता में संदेह नहीं करता ।' फिर अगले मंत्र में कहा गया है कि जब सब प्राणी अपने आत्मा के समान ही हो जाते हैं, उस समय सब प्राणियों में आत्मदृष्टि से एकता का अनुभव करने वाले ज्ञानी के लिये कोई मोह और शोक नहीं रह सकता—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।। (यजु० ४०।७)

आत्मदर्शी व्यक्ति के लिये भेद की सब दीवारें ढह जाती हैं । वह सब प्राणियों में समभाव रखकर लोकोपकार में प्रवृत्त होता है ।

वैदिक दर्शन के अनुसार परमेश्वर ही समस्त जड़-चेतन सृष्टि का जनक होने से सब छोटे-बड़े प्राणियों का पिता व माता है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे । (ऋ० ८।९८।११)

हे प्रकाशस्वरूप सर्वशक्तिमान् परमेश्वर, तुम ही हमारे सच्चे पिता हो और तुम ही हमारी सच्ची माता हो । अतः हम तुमसे यही वरदान मांगते हैं कि तुम्हारी प्रसाद भरी दृष्टि हम पर सदा पड़ती रहे ।

इत्यादि सैकड़ों मंत्रों में परमपिता परमेश्वर को सब प्राणियों का पिता तथा सब प्राणियों को उसी परमपिता की संतान घोषित कर प्राणीमात्र के प्रति समदृष्टि की भावना उत्पन्न की गई है । इसप्रकार वेद समता, संगठन, भ्रातृभाव एवं विश्वबन्धुत्व की उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण है । वेद स्वयं

कहता है कि आत्मदर्शी के लिये तो समस्त विश्व एक घोंसले की तरह बन जाता है—'**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्** ।' वस्तुतः वेद में किसी वर्ग, जाति व सम्प्रदाय को लक्ष्य करने का विचार नहीं किया गया अपितु समस्त मानवजाति को लक्ष्य मानकर व्यष्टि के अभ्युदय और निःश्रेयस् का मार्ग बतलाया गया है ।

परिवार के सदस्यों में सौमनस्य—वेदों में सांमनस्य-सूक्तों में गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में जो उदात्त भाव प्रकट किये गये हैं, वे वैदिक धारा की महान् निधि हैं । यह अभिलाषा प्रकट की गई है कि परिवार के सभी सम्बन्धी प्रेम-पूर्वक मिल जुलकर रहें, क्योंकि समाज का मूल परिवार ही है । सब एक दूसरे से मधुर वाणी में बोलें और सबके मन एक-समान हों । उनमें एक दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति हो । स्नेह और सौहार्द्र का यह संदेश आज के स्वार्थपरक युग में और भी आवश्यक है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।।१।।

अर्थात्—मैं तुमको समान हृदय और सम-मन-भाव वाला बनाता हूँ । मैं तुम्हें विद्वेष से मुक्त करता हूँ । तुम एक दूसरे से इसप्रकार प्रेम करो जिसप्रकार गाय अपने नवजात बच्चे से प्रेम करती है ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।।२।।

पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता के साथ समान मन वाला (प्रीति युक्त) हो । पत्नी अपने पति के साथ मधुर एवं शांतसुखद भाषण करने वाली हो ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।३।।

भाई-भाई के साथ और वहिन के साथ द्वेष न करे । भाई वहिन भी परस्पर द्वेष न करें । वे सब समानगति और समव्रत होकर एक दूसरे के साथ सुखदायक प्रेमपूर्वक भाषण करें ।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ।।४।।

जिसप्रकार के व्यवहार से विद्वान् लोग परस्पर पृथक् भाव वाले नहीं होते और परस्पर में कभी द्वेष नहीं करते, मैं उसी व्यवहार को समान ज्ञान (गृहस्थ) पुरुषों के लिये निश्चित करता हूँ ।

जन-कल्याण की भावना—ऋग्वेद में कहा है कि मनुष्य को मनुष्य की सब ढंग से रक्षा और सहायता करनी चाहिये **पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः** (ऋ० ६।७५।१४) । अथर्ववेद में भी कहा है कि आओ हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यो में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो—

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः । (अथ० ३।३०।४)

वेद इस तथ्य से अपरिचित नहीं है कि मनुष्यों के विभिन्न वर्गों में अनेकप्रकार के विरोध या संघर्ष रहते ही हैं—

पुरुद्रुहो क्षितयो जनानाम् । (ऋ० ३।१८।१)

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषाद इस पाँचों प्रकार के मानव संघों का हित करना 'पाँचजन्य' शब्द ने वेद में बताया है । इसीप्रकार नरों का जो हित करता है वह '**नर्य**' (**नरेभ्यः हितः**) कहलाता है ।

त्वम् आविथ नर्यम् । (ऋ० १।५४।६)

तू नरों का हित करने वाले का संरक्षण करता है ।

भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु । (ऋ० १।१६६।१६)

वीरों के बाहु मानवों का हित करने वाले हैं और उन बाहुओं में बहुत कल्याण करने वाले सामर्थ्य हैं ।

इन्द्राय नरे नर्याय नृतमाय नृणाम् । (ऋ० ४।२५।४)

यह नेता इन्द्र लोगों को सन्मार्ग से ले चलता है, मानवों का हित करता है (नर्याय) और मानवों में सर्वश्रेष्ठ है (नृणां नृतमाय) ।

सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव । (ऋ० ६।७५।५)

मित्र जिसप्रकार मित्र का सहायक होता है वैसा तू सब मानवों का हित करने वाला बन और उनका तेज वढ़ा ।

नृणां नर्यो नृतमः । (ऋ० १०।२९।१)

मानवों में श्रेष्ठ मनुष्य मानवों का हित करता है ।

इसीप्रकार वेद में 'मर्य' शब्द का प्रयोग भी मनुष्यों का हितकारक है ।

इस तरह 'पांचजन्य, नर्य और मर्य' इन पदों से जनहित करने का व्रत जीवन में ढालने का उपदेश किया गया है ।

अकेले खाना पाप है—वेद में सहभाव के लिये सहभोजन पर बहुत बल दिया गया है । अथर्ववेद में कहा है—**सह भक्षः स्याम** (अथ० ६।४७।१) अर्थात् हम मिलकर खान-पान करने वाले हों । इसीप्रकार यजुर्वेद में भी कहा है **सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे** (यजु० १८।९) अर्थात् अपने साथियों के साथ में सह-पान और सहभोज मुझे प्राप्त हों ।

वेद कहता है **केवलाघो भवति केवलादी** अर्थात् "अकेला भोग भोगने वाला व्यक्ति पाप को ही भोगता है ।" संसार में भूखे ही मरते हों ऐसा नहीं है । भरे पेट मनुष्य भी तो मर जाते हैं । अनेक व्यक्ति तो अधिक खाने से ही मर जाते हैं । इसलिये वेद में कहा गया है विद्वानों ने भूख को ही वध नहीं माना योंकि खा चुके हुये मनुष्य के पास भी मृत्युयें नाना रूप में प्राप्त होती हैं तथा दूसरे को निज अन्न आदि धन से तृप्त करते हुये अन्न आदि धन क्षीण नहीं होता अपितु दूसरे की तृप्ति या बुभुक्षा-शान्ति न करता हुआ व्यक्ति सुख देने वाले परमात्मा को प्राप्त नहीं करता—

न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुरुताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्युपृणन् मर्डितारं न विन्दते ।।१।।

जो अन्न वाला होता हुआ भी दरिद्र या अपाहिज के लिये रोग आदि के द्वारा पीड़ित व्यक्ति के लिये, शरणागत कृश व्यक्ति के लिये तथा अन्न की कामना करते हुये विद्वान् भिक्षु के लिये अपने मन को ढीठ बनाये रखता है और स्वयं ही प्रथम अन्न का सेवन करता है । वह सुखदाता परमात्मा को प्राप्त नहीं करता—

य आध्राय चकमानस्य पित्वो ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतोचित् स मर्डितारं न विन्दते ।।२।।

यहाँ वेद में चार प्रकार के व्यक्तियों को अन्न आदि देने का पात्र बतलाया है तथा कहा है कि जो इन चार प्रकार के व्यक्तियों को प्रथम भोजन न देकर इनसे पूर्व खा लेता है वह सुख देने वाले

परमात्मा को प्राप्त नहीं करता । वेद कहता है कि वह मित्र नहीं जो साथ रहने वाले सखा के लिये अन्न नहीं देता है । उसका मित्र उससे अलग हो जाता है और यह मानता है कि वह रहने का स्थान नहीं है ।

सहयोग और संगठन—ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त समता, सहयोग और संगठन का अत्यन्त दिव्य वर्णन प्रस्तुत करता है—

सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इलस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ।।१।।
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।२।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।।३।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।४।। (ऋ० १०।१९१।१-४)

हे अग्ने ! तू सबका प्रेरक होकर समस्त प्राणियों और समस्त तत्त्वों को मिलाता है । प्रज्ज्वलित वह तू हमे नाना ऐश्वर्य प्राप्त करा ।

हे मनुष्यो ! आप लोग परस्पर अच्छीप्रकार मिलकर रहें । परस्पर मिलकर प्रेम से बातचीत करो । विरोध छोड़ कर एक समान वचन कहो । आप लोगों के सब मन एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें । जिसप्रकार पूर्व के विद्वान् जन सेवनीय और मनन करने योग्य प्रभु का ज्ञान सम्पादन करते हुये अच्छी प्रकार उपासना करते रहे हैं उसीप्रकार आप लोग भी ज्ञान सम्पन्न होकर सेवनीय अन्न और उपास्य प्रभु का सेवन और उपासना करो।

इन सबका वचन एक और विचार एक समान हो । परस्पर संगीत (मेल जोल) व संगठन भी एक समान एवं भेद-भाव से रहित हो । इनका मन एक समान हो । इनका चित्त एक दूसरे के साथ मिला हो । मैं आप लोगों को एक समान विचारवान् करता हूँ और एक समान अन्नादि पदार्थ प्रदान कर आप लोगों को पालित पोषित करता हूँ ।

आप लोगों का संकल्प और भाव-अभिप्राय एक समान रहें । आपके हृदय एक समान रहें । आप लोगों के मन समान हों जिससे तुम्हारी शोभन संगति हो (जनहित में) और आप लोगों का परस्पर का कार्य सदैव सहयोगपूर्वक अच्छे प्रकार हो सके ।

प्राणीमात्र में मित्रदृष्टि—सब भूतों में व्यापक एक परमात्मा को मानने वाला और सब प्राणियों में अपने ही समान सुख-दुःख अनुभव करने वाला आत्मा विद्यमान है—इस तथ्य को जानने वाला व्यक्ति कभी किसी से घृणा नहीं करता और न ही कभी शोकग्रस्त व मोहग्रस्त होता है । आत्मदर्शी व्यक्ति के लिये भेद की सब दीवारें ढह जाती हैं और वह सब प्राणियों में एक ही आत्मतत्त्व के दर्शन करता हुआ सब में समभाव रखकर उद्घोष कर उठता है—

सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें । मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं । हम सब परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।। (यजु० ३६।१८)

अथर्ववेद में गौओं, जगत् के अन्य प्राणियों एवं मनुष्यमात्र के कल्याण की कामना की गई है—

स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः । (अथ० १।३१।४)

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि प्रभु हमारे दोपाये और चौपाये पशुओं के लिये कल्याणकारी और सुखदायी हो—

"शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ।" (यजु० ३६।८)

इसप्रकार यहाँ दोपाये मनुष्य, पक्षी आदि तथा चौपाये पशुओं की कल्याण-कामना की गई है ।

शान्तिमन्त्र (विश्वशान्ति)–मिल्टन ने कहा था 'शांति की विजय भी युद्ध की विजयों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं । वेद शांति के अग्रदूत बनकर हमारे सामने आते हैं और वहाँ भूमि, आकाश, सूर्य-चाँद-तारे, बादल-बिजली, वन-उपवन-तरु-लता, नदी-पर्वत आदि प्रकृति की एक-एक वस्तु के आगे शान्ति की पुकार मचाई गई है। **शान्ति-प्रकरण** आर्यों के हवन का महत्त्वपूर्ण अंग है । यहाँ इस विस्तार से बचने के लिये आर्यों द्वारा प्रत्येक आयोजन के अन्त में बोले जाने वाले **'शान्ति-मन्त्र'** से ही प्रस्तुत लेख का उपसहार करते हैं—

ॐ द्यौः शान्तिर्, अन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिर्, आपः शान्तिर्, ओषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर् विश्वेदेवाः शान्तिर्, ब्रह्म शान्तिः, सर्वँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः, सा मा शान्तिरेधि ।।१।। (यजु०।३६।१७)

द्यौ शान्ति से युक्त है, अन्तरिक्ष शान्ति से युक्त है, पृथिवी शान्ति से युक्त है, जलधारायें शान्ति से युक्त हैं, ओषधियें और वनस्पतियें शान्ति से युक्त हैं, विश्वेदेव (संसार के विकास में लगी हुई विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीकस्वरूप अलग-अलग दीखने वाले सब देवगण) शान्ति से युक्त हैं, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म शान्ति से युक्त है, यहाँ जो कुछ भी है, वह सब शान्ति से युक्त है, यहाँ जिधर भी देखो उधर ही सर्वत्र शान्ति विराज रही है । वह सर्वत्र व्याप रही शान्ति मुझे भी सदा प्राप्त होती रहे ।।

संदर्भ संकेत

१. (i) Religion des veda (Berlin, 1984)

(ii) History of Indian Literature Vol I, Pt. I—Winternitz.

२. यूनानी दार्शनिक प्लेटो इसे ही व्यापक नियमों के नाम से पुकारता है । चीनी संत लाओ त्सू सृष्टि में व्याप्त एक विशेष व्यवस्था 'ता ओ' को मानता है, जो कि उसके नीतिशास्त्र, दर्शन एवं धर्म की नींव है ।

३. विदुर नीति में एक स्थान पर कहा गया है कि देवजन किसी की रक्षा दण्ड लेकर नहीं किया करते प्रत्युत जिसकी रक्षा करनी होती है उसको बुद्धि दे देते हैं और जिसका नाश करना होता है उसकी बुद्धि खींच लेते हैं —

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्धया संविभजन्ति तम् ।।

४. इमर्सन की यह उक्ति सर्वांशतः यथार्थ है कि, "भय सदैव अज्ञानता से उत्पन्न होता है ।"

———

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली ।

□ डॉ० कैलाश विद्यालङ्कार

'स्कम्भ : एक मनन'

वैदिक ऋषियों ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका से भौतिक जगत् में विद्यमान दिव्य सत्ता की अभिव्यक्त विभूतियों के दर्शन किये। प्रत्येक बाह्य वस्तु में उसे उसी परमात्मतत्त्व का रूप दिखाई दिया। वह गा उठा—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश।। ऋक्० ६.४७.१८ ।।

'वह प्रत्येक बाह्य रूप का प्रतिरूप है। जो दिखाई देता है वह उसी का रूप है। वह इन्द्र अपनी सर्जनशक्ति रूप माया से अनेक रूपों में गति करता है। इसप्रकार उसके रथ में जुड़े हुये घोड़े सैकड़ों हैं।' प्रकृति के विभिन्न मनोरम, ज्योतिर्मय तथा गुणशाली रूपों को देखकर उसे इस विश्व में एक शाश्वत नियम 'ऋत' के दर्शन हुये। उसने समझा कि यह रक्षिका शक्ति 'ऋत' से परिवृत है। उसीके सौन्दर्य से वृक्ष हरे-भरे हैं और हरित हार धारण किये हुये हैं।[१] प्रातःकाल उसी ऋत से द्योतित तथा आकर्षक उषा को देखकर उसके पीछे अनुभासित परम दिव्य सत्ता की अनुभूति से अनुप्राणित होकर ऋषि उसके स्वागत में भावपूर्ण और सरस काव्यात्मक शब्दों में कहने लगा—

द्युतद्यामानं बृहतीमृतेन ऋतावरीमरुणप्सुं विभातीम्।
देवीमुषसं स्वरावहन्तीं प्रतिविप्रासो मतिभिर्जरन्ते।। ऋक्० ५.८०.१ ।।

इसीप्रकार उसने कहीं मरुतों,[२] कहीं अग्नि,[३] कहीं प्रजापति[४] के रूप में उस दिव्य सत्ता का अनुभव करते हुये सर्गरचना के माध्यम से अभिव्यक्त उस सत्ता के महिमामय रूप का प्रतीकात्मक वर्णन प्रसिद्ध पुरुष सूक्त[५] में किया। भौतिक जगत् के ग्रह-नक्षत्र, मानव समाज के वर्ग, ज्ञान के सागर वेद, पशु-पक्षी तथा वनस्पति वर्ग—सभी के माध्यम से उसी परमपुरुष की अनुभूति प्राप्त करते हुये उसने समझा कि इन समस्त विभूतियों में श्रेष्ठ, दिव्यतम, सत्ता वही है।[६] उसको जान लेने पर व्यक्ति मृत्यु को भी अतिक्रान्त कर जाता है। यही सत्य मार्ग है।[७] इसी अनुभूति की परमतीव्रता को अपने हृदय में सीमित न रख पाता हुआ साधक आनन्दविभोर होकर उस परमात्मतत्त्व के स्वरूप को अनेक प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त करने के लिये बाधित हुआ। ऋग्वेद के नासदीय[८] तथा अथर्ववेद के केन[९] आदि सूक्तों में इसी रहस्यानुभूति से प्राप्त परमतत्त्व, आत्मतत्त्व, सर्गोदय, वेदोदय, पुरुषाभ्युदय और निःश्रेयस् के स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न दिखाई देता है।

वेद में स्थान-स्थान पर यह दिखाया गया है कि उस परमतत्व के सहारे ही समस्त विश्व की स्थिति है। यही सर्वाधार ब्रह्म है। अथर्ववेद में सबके आश्रयभूत इस परमात्मतत्त्व का 'स्कम्भ' के रूप में वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद में भी अग्नि[१०], इन्द्र[११], पवमान सोम[१२], अश्विनौ[१३], वरुण[१४] और मरुतों[१५] के रूप में उस दिव्य सत्ता की विभूतियों का वर्णन करते हुये 'स्कम्भ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

'स्कम्भ' शब्द √स्कभ् या स्तभ् धातु से अधिकरण अर्थ में घ प्रत्यय करने से बनता है जिससे

इसका अर्थ स्तभ्नाति या स्कभ्नाति अस्मिन्—अर्थात् जिस पर सब कुछ टिका हुआ है जो मूलाधार है। इसप्रकार स्कम्भ परमात्मतत्त्व का वह स्वरूप है जिस पर समस्त भौतिक और आध्यात्मिक जगत् आधृत है। इसलिये उसे अखिल सृष्टि जगत् का अक्ष कहा जा सकता है। सृष्टि के प्रारम्भ में वह ही हिरण्यगर्भ के रूप में सर्ग रचना का स्वामी (पति) था। उसीने इस पृथिवी और द्युलोक को धारण किया हुआ है।[१६] वही अन्य लोकों को भी सम्भाले हुये हैं।[१७] वह सत्य शक्ति स्कम्भ ही सारी सृष्टि के मूल में है। उसीसे जगत् धारित होता है। पुरुष सूक्त में इस गुण को 'सम्भृतम्' शब्द से प्रकट किया गया है।[१८] वेदान्त सूत्र में 'सम्भृति' शब्द भी इसी भाव को प्रकट करता है।[१९] अथर्ववेद के दसवें काण्ड के सातवें और आठवें सूक्तों में ब्रह्म की धारणात्मक शक्ति का प्रतिपादन करते हुये उसे ही 'स्कम्भ' रूप में दिखाया गया है।

'स्कम्भ-सूक्त' के प्रथम तीन मन्त्रों में उस स्कम्भ रूप विराट् और अनन्त रूप की कल्पना करते हुये ऋषि बड़े आश्चर्य से सोचने लगता है कि व्यक्ति के जीवन तथा समस्त विश्व के नियामक तत्त्व—व्रत, ऋत, श्रद्धा और सत्य—इसके किस भाग में रहते हैं।[२०] अग्नि, वायु आदि तत्त्व तथा चन्द्रमा, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इसके किस भाग में विद्यमान हैं।[२१] इसके अनन्तर वैदिक ऋषि उसके विभिन्न रूपों का वर्णन करते हुये नहीं समझ पाता कि वह स्तम्भ कौन है, अतः आश्चर्य से पूछने लगता है कि अनेक देवताओं में से वह स्कम्भ कौनसा है? मुझे बताओ। वह तो काल की दृष्टि से भी अनादि और अनन्त सत्ता है जिसमें दिन, रात, मास, ऋतुयें, संवत्सर सभी समाहित हैं।[२२] प्रजापति ने भी उस सर्वाधार ब्रह्म में स्थित होकर ही इस विश्व की रचना की जिसमें वह स्कम्भ परिव्याप्त हो गया किन्तु समग्र रूप में नहीं।[२३] पुरुष सूक्त में भी यह कहा गया है कि इस अभिव्यक्त विश्व में उस ब्रह्म का एक चरण ही समाहित है। उसके तीन चरण तो अवशिष्ट ही रह जाते हैं।[२४] ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में आता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में न सत् था और न असत् था क्योंकि वह परब्रह्म तो सत् और असत् दोनों से परे है।[२५] यही स्कम्भ के विषय में भी सत्य है क्योंकि उसमें सत् और असत् दोनों का ही अन्तर्भाव हो जाता है।[२६]

सभी देवता[२७] तथा चारों वेद[२८] उससे ही उत्पन्न हुये और उसमें ही समाहित हैं। ऋग्वेद में गिनाये गये तेंतीस देवता[२९] उसी में विद्यमान हैं। वस्तुतः वे देवता उस स्कम्भ की विभूतियों को ही प्रकट करते हैं। उसी की कृपा से जीव को अमरता अथवा मृत्यु प्राप्त होती है क्योंकि अमृत और मृत्यु दोनों ही उसमें छाया रूप में रहते हैं।[३०] परमेष्ठी, प्रजापति, ज्येष्ठ ब्रह्म सभी उस स्कम्भ के रूप हैं, क्योंकि जो व्यक्ति पुरुष में ब्रह्म को जानते हैं, वे परमेष्ठी को जानते हैं, जो परमेष्ठी, प्रजापति और ज्येष्ठ ब्रह्म को जानते हैं वे स्कम्भ को ही जान जाते हैं।[३१] उस ब्रह्म के स्वरूप को पहचानने के लिये बाह्य प्रकृति के तेजस्वी पदार्थों को ही उसके अङ्ग रूप जान कर कल्पना की जा सकती है कि वह कितना विराट् है तथा ज्योतिम्वरूप है।[३२] इन जड़ वस्तुओं को ही, जो उसकी विभूति के रूप में हैं, कुछ लोग स्थिर जानते हुये परमश्रेष्ठ तत्त्व के रूप में मानने लगते हैं और उनकी उपासना करने लगते हैं।[३३] इसीसे विभिन्न स्थूल देवताओं की पूजा होने लगती है। अनेक समुदाय खड़े हो जाते हैं किन्तु वास्तव में आदित्य, रुद्र, वसु, आदि देवगण, तीनों काल तथा सभी लोक एक स्कम्भ में प्रतिष्ठित हैं।[३४] सभी देवता आदि भी उसी स्कम्भ के स्वरूप को प्रतिष्ठित करते हैं। अतः उस स्कम्भ रूप ब्रह्म को जान लेने पर उसकी अभिव्यक्त विभूतियों में विद्यमान तेंतीस देवताओं को भी जाना जा सकता है।[३५] सृष्टि के आदि निमित्तकारण तप

और ऋत की सत्ता भी उसी स्कम्भ में है।[३६] इन विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होने के कारण ही उस स्कम्भ को अनेक नामों से पुकारा जाता है परन्तु वह है एक ही।[३७]

उस विराट् स्कम्भ का निम्नभाग भूमि है, मध्यभाग अन्तरिक्ष और शीर्षभाग द्युलोक है।[३८] सूर्य और चन्द्रमा आँखें हैं, अग्नि उसका मुख है, वायु प्राण और अपान हैं और सभी दिशाये ज्ञान के साधन कान हैं।[३९] स्कम्भ ने ही इन दोनों पृथ्वी और द्युलोक को धारण किया हुआ है, विस्तृत अन्तरिक्ष भी इसी के सहारे है और छहों दिशायें भी इसी पर आश्रित हैं। इसप्रकार वह समस्त ब्रह्माण्ड में समाया हुआ है।[४०] उसके ही ऋत नियमों के कारण वायु निरन्तर बहता रहता है, मन गतिशील रहता है और पानी भी अपने स्वभाव के अनुसार ठहरता नहीं है।[४१] यह सब उसी के कारण है। अतः वह इस समस्त विश्व के मध्य में स्थित अकेला पूज्य देव है। वही जल की ऊपरी सतह पर विद्यमान है। उसमें सभी देवता इस-प्रकार रहते हैं जैसे एक वृक्ष के तने में से चारों ओर विभिन्न शाखायें निकली होती हैं।[४२]

वे सभी देवता उस स्कम्भ को अपने सभी अंगों से असीम अर्घ्य प्रदान करते हैं। वह सभी प्रकार के अज्ञान को दूर भगाता है, सब बुराइयों से परे है, उसमें वे सभी ज्योतियाँ विद्यमान हैं जो प्रजापति के रूप में भू, भुवः और स्वः में विद्यमान हैं।[४३] इसप्रकार के उस परमज्योतिःस्वरूप ब्रह्म को जो जान लेता है वह रात और दिन के माध्यम से बुने जाते हुये जीवनचक्र को समझ लेता है। दिन-रात नर्तन करते हुये से अनन्त काल से चले आ रहे हैं। कोई नहीं जानता कि इनमें से कौन आगे है और कौन पीछे है। इनको वह परमात्मतत्त्व रूप स्कम्भ ही नियन्त्रित करता है। इसीसे दिशाओं पर आकाश संयमित है।[४४]

इसी स्कम्भ का ज्येष्ठ ब्रह्म[४५] के रूप में वर्णन करते हुये कहा गया है कि वह भूत, वर्तमान और भविष्यत्—तीनों कालों का अधिष्ठाता है।[४६] वह ज्योतिःस्वरूप स्कम्भ भूमि और द्युलोक को नियन्त्रित करते हुये सभी प्राणियों का आश्रयस्थान है।[४७] ये सभी प्राणी दिन, रात, मास, संवत्सर आदि समय की गणना के चक्र में घूमते हुये इसी स्कम्भ में विद्यमान है किन्तु इस स्कम्भ को पूर्णतः जान नहीं पाते। इसके आधे भाग को, जो अभिव्यक्त हुआ दीखता है, उसे तो कुछ-कुछ समझ भी लेते हैं किन्तु शेष अव्यक्त भाग समझ के बाहर है।[४८] इसीलिये मनुष्य की वाणी के तीन भाग तो उसके विषय में मौन ही रह जाते हैं केवल एक भाग ही उसके विषय में कुछ कह पाता है।[४९] कुछ अस्पष्ट सी प्रतीकात्मक भाषा में समझाने का प्रयत्न करता है। वास्तव में वह स्कम्भ अनन्त है, चारों ओर व्याप्त है। प्रजापति भी इसको आधार बनाकर सारी सृष्टि की रचना करता है। किन्तु वह भी इसे सम्पूर्ण रूप से नहीं जान पाता।[५०] जिसप्रकार एक नारी घड़ा भर कर ऊँचाई पर ले जाती है सब उसे देखते तो हैं परन्तु उसकी आत्मा को कोई नहीं जान पाता।[५१] वह ज्येष्ठ ब्रह्म रूप स्कम्भ सब प्रकार से गुण सम्पन्न है उसमें कोई भी कमी नहीं है। समस्त जगत् के मध्य वही एक पूज्य देव है।[५२] सभी मानव उसे उपहार देते हैं। उसको जानने वाले विद्वज्जन मृत्यु से भी नहीं डरते, वे तो धीर वीर लोग अजर और सतत नवीन स्कम्भ को परब्रह्म के रूप में जानते हैं, वे सत्य से ऊपर उच्चता को प्राप्त करते हैं, ज्ञान से नीचे की ओर मर्त्यलोक को देखते हैं और प्राणों से इस संसार में जीवन व्यतीत करते हैं।[५३]

इसप्रकार इन दोनों सूक्तों में 'स्कम्भ' का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है वह इस जगत् का आधार होने के कारण अक्ष रूप तो है किन्तु अन्य धार्मिक परम्पराओं में वर्णित कल्पनापूर्ण, न तो कोई पवित्र स्थान है और न कोई पर्वतविशेष अथवा स्मारक है वह तो अभिव्यक्त भी

है, अनभिव्यक्त भी है, व्याप्त भी है, अव्याप्त शेष भी है, इन परस्पर विरोधी तत्त्वों से परिपूर्ण 'स्कम्भ' सतत गतिशील है। वह जड़ नहीं अपितु प्रकृति के सदातन परम्परा का द्योतक है। उसमें मानव जीवन के सभी उदात्त नैतिक गुण—श्रद्धा, पूजा, यज्ञ आदि विद्यमान हैं तो विश्व की समस्त प्राकृतिक घटनायें और उनके मूल में कारण रूप 'ऋत' से उसीमें यथातथ-रूप में घटित हो रही हैं। उस एक स्कम्भ को अथवा ज्येष्ठ ब्रह्म को जान लेने से समस्त देवता, समस्त प्रकृति और जीवन की सारी उच्चता जान ली जाती है। बृहदारण्यक[५४] और मुण्डक[५५] उपनिषदों में यह स्पष्ट किया गया है कि उस एक सत्ता के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। अतः मनुष्य को उसीको आत्मानुभूति के द्वारा जानने का प्रयत्न करना चाहिये। पूछने से अथवा किसी के बताने से नहीं जाना जा सकता।[५६]

सायण[५७] ने भी स्कम्भ के विषय में लिखा है 'स्कम्भ तो सबसे, सनातन देवता ब्रह्म से भी, पहला है, इसीलिये उसे ज्येष्ठ ब्रह्म कहा जाता है। उसीमें यह सब कुछ स्थित है। ये सब वस्तुयें उसी से आविष्ट अर्थात् व्याप्त हैं। विराट् भी उसमें विद्यमान है। उसीमें सभी देवता समाहित हैं। इसप्रकार स्कम्भ की ज्येष्ठता, श्रेष्ठता और सबका आधार रूप होना यहाँ दिखाई देता है।'

———

संकेत सन्दर्भ—

१. आविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥ अथर्व० १०/८/३१॥

२. ऋग्वेद—१०/७८।

३. वही—२/१।

४. वही—३/५४/१७।

५. वही—१०/९०।

६. श्वेताश्वतरोपनिषद्—३; भगवद्गीता—११/६।

७. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ यजु० ३१.१८।

८. ऋग्वेद १०/१२९।

९. अथर्ववेद—१०/२।

१०. 'दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम्'—ऋग्वेद—४/१३/५।
'सप्तमर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तामेकामिदभ्यं हु रोगात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीले पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥' ऋग् १०/५/६।

११. 'एवापतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्जः स्कम्भं धरुण आ वृषायसे।' ऋग्० १०/४४/४।

१२. 'दिवो यः स्कम्भो धरुणः स्वातत आपूर्णो अंशुः पर्येति विश्वतः।' ऋग्० ९/७४/२।
'असर्जि स्कम्भो दिव उद्यतो मदः परित्रिधातुर्भुवनान्यर्षति।' ऋग्० ९/८६/४६।

१३. ऋग्—१/३४/२।

१४. वही—८/४१/१०।

१५ वही—१/१६६/७।

१६. 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' ऋग्—१०/१२१/१।

१७. 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृलहा, येन स्वः स्तभितम् येन नाकः।' ऋग्—१०/१२१/५।

१८. ऋग्—१०/९०/८।

१९. 'सम्भूतिद्युव्याप्त्यपि चातः'—वेदान्तसूत्र—३/३/२३। यहाँ सम्भूति को ब्रह्म की विभूति माना गया है।

२०. अथर्ववेद—१०/७/१,११ ।
२१. वही १०/७/३,४,१२ ।
२२. वही १०/७/५,६ ।
२३. वही १०/७/८,९ ।
२४. ऋग्०—१०/९०/३,४ ।
२५. वही १/१२९/१ ।
२६. अथर्व०—१०/७/१० ।
२७. वही १०/७/१३ ।
२८. वही—१०/७/१४,२० ।
२९. ये देवासो दिव्येकादशस्य पृथिव्यामध्येकादश स्थ ।
अप्सु क्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥ ऋग्० १/१३९/११ ।
३०. अथर्व० १०/७/१२; ऋग्० १०/१२१/२ ।
३१. ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्,
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ।। अथर्व० १०.७.१७ ।
३२. अथर्व० १०/७/१८,१९ ।
३३. असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः ।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते ।। अथर्व० १०/७/२१; तैत्तिरीयोपनिषद्—२/६ ।
३४. वही १०/७/२२ ।
३५. वही १०/७/२३–२८ ।
३६. वही १०/७/२९–३० ।
३७. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। ऋग्० १/१६४/४६ ।
३८. अथर्व० ३०/७/३२ ।
३९. वही १०/७/३३–३४ ।
४०. स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम् ।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ।। वही १०/७/३५ ।
४१. वही १०/७/३७ ।
४२. वही १०/७/३८ ।
४३. वही १०/७/३९–४० ।
४४. वही १०/७/४१–४४ ।
४५. वही १०/८ ।
४६. यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।। वही १०/८/१ ।
४७. वही १०/८/२ ।
४८. वही १०/८/३–७ ।
४९. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति ।। ऋग्० १/१६४/४५ ।
यजु० ३०/१९ ।
५०. अथर्व० १०/८/१२–१३ ।
५१. ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम् ।
पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ।। अथर्व० १०/८/१४ ।
५२. दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते ।
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ।। वही १०/८/१५ ।

५३. वही १०/८/१६ । ५४. १/४/८–१० ।

५५. मुण्डकोपनिषद्—३/२/१–६ ।

५६. वृहदारण्यकोपनिषद्—३/६/१ । 'अनतिप्रश्नीयम्, माति प्राक्षीः ।'

५७. 'स्कम्भ इति सनातनतमो देवो ब्रह्मणोऽप्याद्यभूतः । अतो ज्येष्ठब्रह्मेति तस्य संज्ञा । तस्मिन् सर्वमेतत्तिष्ठति । एतत्सर्वम् तेनाविष्टम् । विराडपि तस्मिन्नेव समाहितः । तस्मिन्नेव देवादयः सर्वे समाहिताः । ······अत्रापि स्कम्भस्य ज्येष्ठत्वं श्रेष्ठत्वं सर्वेषामाश्रयभूतत्वम् ।"

सायण भाष्य—अथर्ववेद १०/७–८ ।

———

प्रवक्ता—संस्कृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र, हरियाणा ।

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीयति ।
अथर्व० १०.८.३२ ।।

परमात्मदेव के काव्य (वेदरूपी ज्ञान) का दर्शन (स्वाध्याय) करो, क्योंकि यह ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता, न ही जीर्ण होता है ।।

□ डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

वैदिक साहित्य में मरुद्गण

ऋग्वेद में मरुत् किसी देवता का नाम नहीं है, अपितु यह एक जैसे अनेक देवताओं के समूह की संज्ञा है—

क्रीडं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम् ।[1]

इन सबका आकार, रूप, वयस समान है । ऋग्वेद संहिता में एवं अन्य संहिताओं में इनकी जो संख्या बतायी गयी है, उसमें एकरूपता नहीं है । एक स्थान पर[2] इनकी संख्या ६३ बतायी गयी है, अन्यत्र 'त्रिसप्त' अर्थात् २१ अथर्ववेद में[3] 'त्रिषप्तासः' कहा गया है। वाजसनेयी संहिता में सात-सात के गण का उल्लेख है और इसप्रकार इनकी संख्या क्रमशः ७, १४, २१, २८, ३५ तथा ४२ बतायी गयी है ।[4] तैत्तिरीय संहिता[5], तैत्तिरीय ब्राह्मण[6], शतपथब्राह्मण[7] में बतलाया गया है कि मरुतों का गण सात-सात के वर्गों में विभक्त है । तैत्तिरोय संहिता में इनके सात वर्ग बताये गये है तथा इसप्रकार संख्या ४६ बन जाती है । उत्तर वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत तथा पुराणों में इनकी यही संख्या उल्लिखित है ।

इन मरुतों में सभी समान वयस के तथा सभी भाई है । इन भाइयों में न कोई छोटा है और न बड़ा—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वा वृधुः सौभगाय ।[8]

ऋग्वेद संहिता में ३३ सूक्तों में मरुतों का स्वतन्त्ररूप से, ७ में इन्द्र के साथ, १ में अग्नि के साथ और एक में पूषा के साथ वर्णन किया गया है ।

ऋग्वेद संहिता में मरुतों का जो वर्णन है, वह अधिकतर उनके मानवीकृत रूप का है । भौतिक रूप में इन्हें झंझावात अथवा वायु के रूप से सम्बद्ध किया गया है । वस्तुतः इनका यही रूप पुराण साहित्य में अधिक विकसित हुआ है । वैदिक साहित्य में इनका रूपकात्मक रूप अधिक पल्लवित हुआ है ।

जन्म, माता-पिता—इनके जन्म के सम्बन्ध में ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर चर्चा हुई है ।[9] इन्हें रूद्र का पुत्र कहा गया है । इसलिए ऋग्वेद में 'रुद्राः' 'रुद्रियाः' तथा रुद्रासः कहा गया है—

आ वो मक्षू तनाय कंरुद्रा अवो वृणीमहे (१/३९/७) ।

सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिचदा रुद्रियासः (१/३८/७) ।

युष्माकमस्तु तविषी तना युजा रुद्रासो न चिदाधृषे (१/३९/४) ।

ऋग्वेद में रुद्र का भौतिक आधार स्पष्ट नहीं है, फिर भी सामान्यतया उन्हें तूफान का देवता समझा जाता है । मरुतों का वास्तविक रूप भी तूफान या वायु के प्रचण्ड रूप से अधिक सम्बद्ध है । सम्भवतः इसलिए इन्हें रुद्र के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है । रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति सामान्यरूप से रोदनार्थक 'रुद्' धातु से मानी गयी है और 'मरुत' में अन्तिम भाग 'रुत्' भी रुद्र का ही रूप माना गया है, अतः दोनों के नाम और कार्य के साम्य को देखकर ही सम्भवतः इन्हें रुद्र के पुत्र के रूप में परिकल्पित कर लिया गया है । इनकी माता का नाम 'पृश्नि' या 'गौ' बताया गया है । इसलिए इन्हें 'पृश्निमातः' तथा 'गोमातः' कहा गया है । पृश्नि का अर्थ है चितकबरी गाय, पृश्नि का अर्थ पृथ्वी भी किया गया है—

प्रश्नेः पुत्रा उपमासो रभिष्ठाः स्वया मत्या मरुतः सं मिमिक्षुः । (ऋक्० ५/५८/५)
सुजातासो जनुषा प्रश्निमातरो दिवो मर्याः । (५/५६/६)
गोमातरो यच्छुमयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः । (ऋक० १/८५/३)

इसीलिए मरुतों से कहा गया है कि तुम गौ और पृश्नि को अपनी माता समझो और रुद्र को पिता—

प्र ये मे बन्ध्वेषे गां वोचन्त सूरयः पृश्निं वोचन्त मातम् ।
अधा पितरमिष्मिणं रुद्रं वोचन्त शिक्वसः ॥ (ऋ० ५/५२/१६)

ऋग्वेद में मरुतों के मातृत्व का संकेत अनेक स्थलों पर किया गया है ।[10]

मरुतों का भ्रातृत्व—सभी मरुत् आपस में भाई है । उनमें न कोई ज्येष्ठ है, न मध्यम और न कनिष्ठ । सभी समान वयस्क हैं—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः ।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥[11]

तथा—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥[12]

और इन सबकी वयस् भी समान है—

कया शुभाः सवयसः सनीला, समान्या मरुतः सं मिमिक्षुः ।[13]

सभी मरुत् एक साथ ही बड़े हुए हैं—

उत्तिष्ठ नूनमेषां स्तोमैः समुक्षितानाम् ।
मरुतां पुरुतममपूर्व्यं गवां सर्गमिव ह्वये ।[14]

जन्म स्थान एवं निवास—सभी मरुतों का जन्म स्थान एक ही है ।[15] निवास भी इन सबका एक ही स्थान पर है ।[16] एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि ये उत्तम, मध्यम एवं अधम तीनों प्रकार के द्युलोकों में निवास करते हैं—

यदुत्तमे मरुतो मध्यमे वा यद् वावमे सुभगासो दिविष्ठ ।
अतो नो रुद्रा उत वा न्वस्याऽग्ने वित्ताद्धविषो यद् यजाम ॥[17]

मरुतों की आभूषणप्रियता—मरुतों के सम्बन्ध में एक बात यह भी है कि ये सभी आभूषण प्रिय हैं । ये अपने-अपने शरीरों को मालाओं एवं विविध प्रकार के आभूषणों से सदा अलंकृत करके रखते हैं । इनके आभूषणों के द्रव्यों में स्वर्ण को प्रमुख स्थान दिया गया है ।[18]

इन्द्र और मरुतों का भ्रातृत्व तथा मित्रता—ऋग्वेद में इन्द्र और मरुतों के सौहार्द का अनेक सूक्तों में वर्णन किया गया है । एक स्थल पर इन्द्र को मरुतों के गण का ज्येष्ठ भाई बताया गया है—

इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणादेवासः पूषरातयः । विश्वे मम श्रुताहवम् ।[19]

अन्य देवताओं के समान मरुत् भी सोमपान करने वाले कहे गये हैं ।[20] इन्द्र ने मरुतों के साथ मित्रता करके बड़ी-बड़ी विजय प्राप्त करने में इनका सहयोग लिया है ।[21] मरुत् इन्द्र को अपना सहयोग

देकर उसकी शक्ति को बढ़ाते रहे हैं।[२२] मरुतों का सहयोग प्राप्त करके ही इन्द्र ने वृत्र और शंबर का वध किया था।[२३] कहा गया है कि इन्द्र ने जो भी पराक्रम के कार्य किये हैं, उन सब में मरुतों का सहयोग अवश्य रहा है।[२४] 'मरुत्वान्' शब्द इन्द्र का विशेषण है। इसका प्रयोग नाम के रूप में हुआ है।

मरुतों के सहयोग के कारण ही इन्द्र का यह नाम पड़ा है। इन्द्र के बहुत से सूक्तों में मरुतों के सहयोग का वर्णन हुआ है।

इन्द्र के साथ विरोध—यद्यपि इन्द्र के साथ मरुतों के मित्रतापूर्ण सहयोग का ही वर्णन मिलता है, तथापि इक्के-दुक्के स्थलों पर विरोध की झलक भी मिलती है। एक बार किसी बात पर क्रुद्ध होकर इन्द्र उन्हें मारने के लिए उद्यत होता है तो मरुत उसे यह कहकर रोकते हैं कि हम तो तुम्हारे भाई हैं, हमें क्यों मारते हो ?

किं न इन्द्रं जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ।[२५]

परन्तु इस प्रकार के प्रसंग अति न्यून हैं। प्रायः इन्द्र के साहसिक कार्यों में मरुतों के सहयोग का ही वर्णन प्राप्त होता है।

मरुतों की तेजस्विता—ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर मरुतों की दीप्तिमत्ता का उल्लेख हुआ है। वे अग्नि तथा सूर्य के समान तेजस्वी हैं—

ये अग्नयो न शोशुचन्निधाना द्विर्यत् त्रिभिर्मरुतो वावृधन्त ।[२६]

तथा—

इहेह वः स्वतवसः कवयः सूर्यत्वचः । यज्ञं मरुत आ वृणे ।[२७]

मरुतों को अग्नि की ज्वालाओं के समान चमकीला बताया गया है—

अग्नीनां न जिह्वा विरोळिणः ।[२८]

मरुतों को जो अग्नि एवं सूर्य के सदृश तेजस्वी कहा गया है, इसका मुख्य कारण उनका विद्युत् से सम्बन्ध है।[२९] जब मरुत् पृथ्वी पर जल की वर्षा करते हैं तो विद्युत् पृथ्वी की ओर मुस्कुराती है—

प्रतिष्टोभन्ति सिन्धवः पविभ्यो यदभ्रियां वाचमुदीरयन्ति ।
अव स्मयन्त विद्युतः पृथिव्यां यदी घृतं मरुतः प्रुष्णुवन्ति ॥[३०]

मरुतों के भालों का उल्लेख भी प्रायः उनके साथ हुआ है। रूपक के रूप में विद्युत् के लिए ही देदीप्यमान भालों का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार मरुतों के रथ का भी उल्लेख हुआ हैं है। यह रथ भी विद्युन्मय ही है—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः ।[३१]

यहाँ ऐसे 'विद्युन्मय' रथों का उल्लेख है जिनमें तेज गति वाले अश्वों के साथ भाले भी लगे हुए हैं। इस रथ के पहिये सोने के बने हैं और जल की वृष्टि करने वाले चर्मपात्र भी रखे हुए हैं तथा इनके रथों में चितकबरी घोड़ियाँ जुती हुई हैं—

प्र यद् रथेषु पृषती रयुग्ध्वं वाजे अद्रिं मरुतो रंहयन्तः ।
उतारुषस्य विष्यन्ति धाराश्चर्मेवोदभिर्व्युन्दन्ति भूम ॥[३२]

मरुतों का पराक्रम—मरुतों का पराक्रम असीम है। उनकी शक्ति का अन्त कोई नहीं पा सका है—

नही नु वो मरुतो अन्त्यस्मे आरात्ताच्चिच्छवसो अन्तमापुः ।
ते धृष्णुना शवसा शूशुवांसोऽर्णो न द्वेषो धृषता परिष्ठुः ।।[३३]

वे वृद्धावस्था रहित सदा युवा बने रहने वाले हैं ।[३४] उनकी गर्जना सिंह के समान होती है ।[३५] उनके पराक्रम से आकाश भी कम्पायमान होने लगता है ।[३६] बड़े-बड़े वन भी उनके शौर्य के समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं ।[३७]

मरुतों का मुख्य कार्य पृथिवी पर वर्षा करना है । वे पृथ्वी पर जल बरसा कर आर्द्र कर देते हैं ।[३८] वे समुद्र के जल को आकाश में ले जाते हैं और वहाँ से उसे पृथ्वी पर बरसा देते हैं ।[३९] वृष्टिकाल में उनकी गर्जना को दृष्टि में रखकर कहा गया है कि वे अपनी वीणा पर विविध प्रकार के गीत गाते हैं । वर्षा उनका अनुगमन करती है । वे जल लाते और वृष्टि को उकसाते हैं । वे वर्षा से अपनी प्रभा को ढक लेते हैं । वे वर्षा द्वारा सूर्य के नेत्र को मूँद देते हैं । जब वर्षा आती है तब मरुत बादलों द्वारा अँधेरा कर देते हैं । वे दिव्य कोश को उड़ेलते और पर्वत स्रोतों को खोल देते हैं । उनकी इसी विशेषता के कारण एक नदी को 'मरुद्वृध' यह नाम मिला है । रुद्रपुत्रों का स्वेद ही वृष्टि है । मरुतों द्वारा की गयी वृष्टि को आलंकारिक रूप से दुग्ध, घृत आदि नाम दिये गये हैं । वे अपनी शक्ति से वायु और विद्युत् को जन्म देते हैं ।'[४०]

ऋग्वेद के अतिरिक्त इतर संहिताओं में भी मरुतों की चर्चा हुई है । किन्तु इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है । यजुर्वेद में उनकी माता पृश्नि तथा उनकी घोड़ियों (पृषतीः) का उल्लेख हुआ है ।[४१] यहीं उनके उग्र रूप का भी वर्णन मिलता है ।[४२] रक्षा करने में उनकी निपुणता का भी उल्लेख किया गया है ।[४३]

इन्द्र को 'मरुत्सखा' तथा 'मरुत्वान्' भी बताया गया है । इन्द्र से मरुतों के साथ आकर सोमपान करने की प्रार्थना की गयी है ।[४४]

अथर्ववेद के बहुत से आभिचारिक मन्त्रों में शत्रुओं को नष्ट करने के लिए मरुतों का आह्वान किया गया है और उनके तेजस्वी, शक्तिशाली तथा युद्ध भूमि में अति प्रचण्ड रूप की चर्चा की गयी है ।[४५] यहाँ भी पशुपति रुद्र को मरुतों का पिता बताया गया है और उनसे सब प्रकार के कष्टों से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना की गयी है ।[४६]

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मरुतों के स्वरूप, संख्या और उनके इन्द्र के साथ सम्बन्ध की यत्र-तत्र चर्चा की गयी है । शतपथ ब्राह्मण[४७] में मरुतों के गण को सात-सात का बताया गया है । इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक उनकी पूर्ण संख्या ४९ मान्य हो चुकी थी । वहीं उन्हें वर्षा का अधिपति बताया गया है ।[४८]

कौषीतकि ब्राह्मण में कहा गया है कि मरुत् जल में निवास करते हैं अतः चातुर्मास्य यज्ञ में उन्हें जल से मिश्रित दूध देना चाहिये ।[४९] इसी में आगे मरुतों का और जल का तादात्म्य स्थापित करते हुए कहा गया है कि 'मरुत् ही जल हैं और जल ही अन्न है, अतः मरुतों को हवि देकर यजमान अन्न प्राप्त करता है ।'[५०] अन्यत्र भी मरुतों को अन्न कहा गया है ।[५१] ऐतरेय ब्राह्मण,[५२] कौषीतकि ब्राह्मण[५३] तथा शतपथ ब्राह्मण[५४] में मरुतों को देवताओं की प्रजा कहा गया है—'विशोवै मरुतो देवविशः' । शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर उन्हें ताप देने वाला भी कहा गया है । उन्होंने हनन के समय वृत्र को प्रतप्त कर दिया था जिससे शिथिल होकर वह दीर्घ श्वासें लेने लगा और तब इन्द्र ने उसका वध कर दिया ।[५५] इन्द्र ने मरुतों

की सहायता से ही वृत्र का वध किया था। इन्द्र मरुतों को अपने पास बुलाते हुए कहता है कि 'तुम मेरे पास ही रहो। तुम्हारे बल से मैं वृत्र का हनन करूँगा।[५६] ऐतरेय ब्राह्मण में भी इस तथ्य की पुष्टि की गयी है।[५७] इसी ब्राह्मण में एक अन्य स्थल पर मरुतों का तादात्म्य मनुष्यों की श्वास-प्रश्वास से किया गया है तथा मरुत् और इन्द्र के सम्बन्ध के विषय में कहा गया है कि इन्द्र को जिस समय सभी अन्य देवता छोड़कर चले गये, केवल मरुत ही उसके पास रहे क्योंकि मरुत् श्वास-प्रश्वास वायु रूप है और वे सदा ही जीवधारी के साथ रहते हैं।[५८]

यहाँ इसी प्रसंग में एक छोटी सी कथा भी दी हुई है कि इन्द्र ने वृत्र वध के समय सभी देवों से इस कार्य में अपनी सहायता करने के लिए कहा। वे सहायता के लिए आगे बढ़े किन्तु वृत्र ने जब देवों को अपनी ओर बढ़ते हुए देखा तो उसने तीव्र गर्जना की, सभी देव भाग गये। केवल मरुत् ही इन्द्र के साथ रहे और उन्होंने इन्द्र का उत्साह बढ़ाया—

इन्द्रो ह वै वृत्रं हनिष्यन् सर्वा देवता अब्रवीत्। अनु या उपतिष्ठध्वम् उप या आह्वयध्वम्। तथेति। तं हनिष्यतः आद्रवन्। सोऽवेद यां वै हनिष्यतः आद्रवन्ति। हन्त इमान् भीषयै। तानभि प्राश्वासीत्। तस्य श्वासथाद् ईषमानाः विश्वेदेवा अद्रवन्। मरुतो ह एनं नाजहुः। 'प्रहर भगवो जहि वीरयस्व' इत्येतां वाचं वदन्तः उपतिष्ठन्त।[५९]

यद्यपि वैदिक संहिताओं में और विशेषतया ऋग्वेद संहिता में मरुत् (झञ्झावात) और वायु देवताओं में अन्तर है। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं-कहीं मरुतों का भी वायु रूप में चित्रण किया गया है। सामान्य वायु का वाचक 'मारुत' शब्द मरुत् से ही बना है—

अन्तरिक्षलोको वै मारुतो मरुतां गणः। तत् यो अन्तरिक्ष लोके तमस्मिन् एतद् दधाति।[६०]

ब्राह्मण ग्रन्थों में मरुतों के स्वरूप एवं विकास के सम्बन्ध में और भी उल्लेख मिलते हैं। यहाँ हम केवल उद्धरण सप्रसंग देना चाहते हैं इन्हे देखकर ब्राह्मणों में गृहीत उनके तत्व को समझने में सहायता मिलेगी—

(१) मरुतो वै रश्मयः (तांड्य ब्राह्मण १४/१२/९),
(२) ये ते मारुता रश्मयस्ते (शतपथ ब्राह्मण ९/३/१/२५),
(३) मरुतो गणानां पतयः (तै० ब्राह्मण ३/११/४/२),
(४) मरुतो ह वै देवविशोऽन्तरिक्ष भाजका ईश्वराः (कौ० ब्रा० ७/८),
(५) विशो वै मरुतो देवविशः (तां० ब्रा० २/५/१/१२),
(६) मरुतो वै देवानां विशः (ऐ० ब्रा० १/९) (तां० ब्रा० ६/१०/१०; १८/१/१४),
(७) कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः (तै० ब्रा० २/४/८/४),
(८) पशवो वै मरुतः (श० ब्रा० ३/१९)
(९) अन्नं वै मरुतः (तै० ब्रा० १/७/३/५, १/७/५/२, १/७/७/३),
(१०) प्राणा वै मरुतः (श० ब्रा० ९/३/१७),
(११) मारुता वै ग्रावाणाः (तां० ब्रा० ९/९/१४),
(१२) मरुतो वै देवानामपराजितमायतनम् (तै० ब्रा० १/४/६/२),
(१३) अप्सुवै मरुतः श्रिताः (गोपथ ब्रा० १/२२, कौ० ब्रा० ५/४),
(१४) आपो वै मरुतः (ऐ० ब्रा० ६/३०, कौ० ब्रा० १२/८),
(१५) इन्द्रस्य वै मरुतः क्रीडिनः (गो० ब्रा० १/२३, कौ० ब्रा० ५/५),
(१६) मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रं हनिष्यन्तमिद्रं आगतं तमभितः परिचिक्रीडुः महयन्तः। (श० ब्रा० २/५/३/२०),

मरुतों के सम्बन्ध में ये उल्लेख विविध रूपों की ओर संकेत करते हैं। इनमें कुछ रूप तो ऐसे हैं जिनका ऋग्वेद संहिता में भी उल्लेख हुआ है।

बृहद्देवता—वैदिक साहित्य का बृहद्देवता एक अतिमहत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जिसमें ऋग्वेदीय देवताओं के स्वरूप की चर्चा की गयी है। इसके चतुर्थ अध्याय के ४२–५२ श्लोकों में मरुत् और इन्द्र के इतिहास का वर्णन है। इसमें मरुतों के जन्म के सम्बन्ध में तो कोई विवरण नहीं दिया गया है, किन्तु उनसे सम्बन्ध कुछ और बातों की चर्चा हुई है। यहाँ हम संक्षेप में इसे नीचे दे रहे हैं—

"एक समय इन्द्र और मरुत् व्योम में जा रहे थे। उस समय उनमें जो संवाद हुआ उसको अगस्त्य ऋषि ने अपने तप से जान लिया और इन्द्र के लिए हवि प्रस्तुत करके उसकी अगवानी करने के लिये आगे गये, तीन सूक्तों से उन्होंने मरुतों की स्तुति की और दो से इन्द्र की। अगस्त्य ने इन्द्र के लिये प्रस्तुत हवि मरुतों को देनी चाही। परन्तु इन्द्र ने अगस्त्य से ऐसा न करने के लिये कहा। इतना ही नहीं, वह मरुतों को मारने के लिए भी उद्यत हुआ। इस पर अगस्त्य ने उससे कहा, अरे, ये तो तुम्हारे भाई हैं, इन्हें क्यों मारना चाहते हो ? इन्द्र के शान्त होने पर वह हवि उन्होंने मरुतों को ही दे दी। इन्द्र ने प्रसन्न होकर मरुतों को 'सोमपीथी' बनाया—

पुते चकार सोमे च तानिन्द्रः सोमपीथिनः। (४/५१)

इसलिए भ्रातृत्व के कारण इन्द्र सम्बन्धी सूक्तों में मरुतों का वर्णन मिलता है।"

बृहद्देवता की इस छोटी सी कथा में मरुतों को इन्द्र का भाई तो बताया है, किन्तु उनके जन्म के सम्बन्ध में कुछ नहीं बताया है। मरुत् इन्द्र के भाई हैं, यह बात तो ऋग्वेद संहिता (१/१७०/२) में भी कह दी गयी है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्र के साथ मरुतों के भ्रातृत्व का इतिहास अतिप्राचीन है। सम्भवतः इसीलिए बृहद्देवताकार आचार्य शौनक ने उसका स्पष्टीकरण नहीं किया है।

बृहद्देवता में श्यावाश्व की कथा (५/४९–७९) के प्रसंग में भी मरुतों का उल्लेख हुआ है—

'वैदिक ऋषि अर्चनाना का पुत्र श्यावाश्व राजा रथवीति की कन्या को चाहता था। किन्तु, उसके ऋषि न होने के कारण राजा ने अपनी कन्या का विवाह उसके साथ नहीं किया। अतः उस कन्या को प्राप्त करने के उद्देश्य से उसने वन जाकर कठोर तप किया। इसी अन्तराल में मरुद्गण मानव शरीरों में उसके सामने उपस्थित हुए। उन सभी का समान रूप और समान अवस्था देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उनकी स्तुति की। उसकी उस स्तुति से प्रसन्न होकर उन्होंने अपने कण्ठों की स्वर्ण मालाएँ उसे दी। उनके आशीर्वाद से वह ऋषि बन गया।'

सर्वानुक्रमणी—आचार्य कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद संहिता (२/३३) सूक्त का 'आ ते पंचाना रौद्रम्' ऐसा संकेत दिया है। किन्तु इस सूक्त का स्पष्टीकरण सर्वानुक्रमणी के भाष्यकार षड्गुरु-शिष्य ने अपनी वेदार्थटीका में किया है। इस सूक्त से सम्बद्ध एक प्राचीन आख्यान का विवरण उन्होंने दिया है, जिसे पृष्ठभूमि में रख करके बिना सूक्त के प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण नहीं होता है। यहाँ पहले छह श्लोकों में तो इस बात पर विचार हुआ है कि रौद्र सूक्त में दो बार मरुतों के गण का उल्लेख क्यों किया गया है ? एवं इन्द्र सूक्त में मरुतों का वर्णन क्यों है ? आगे के श्लोक में बताया गया है कि रुद्र मरुतों का पिता किस प्रकार से है। वेदार्थदीपिका में यह प्रसंग इस प्रकार है—

'असुर शत्रु इन्द्र के वध की कामना से दिति ने गर्भ धारण किया। इन्द्र उसकी सेवा करने लगा। केश फैलाकर सोती हुई दिति देख कर अपना अतिसूक्ष्म रूप बना कर इन्द्र उसके गर्भ में प्रविष्ट हो गया और गर्भस्थ शिशु को उसने वज्र से काट दिया। गर्भ से बाहर निकल आने पर दिति जागी और आर्त-स्वर में रोने लगी। इसी समय पार्वती और शिव अन्तरिक्ष मार्ग से कहीं जा रहे थे। दिति और गर्भ के

आर्तस्वर को सुनकर पार्वती ने शिवजी से प्रार्थना की कि 'गर्भ के सात टुकड़ों वाले जो सात खण्ड हैं, वे सब अपना स्वतन्त्र रूप धारण करें। वे मरुत् कहलाएं, सदा तरुण रहें, आभूषणों से अलंकृत वे आपके पुत्र कहलाएँ, इन्द्र के साथ इनकी मित्रता हो और इनमें कोई छोटा-बड़ा न हो। सभी समान वयस्क हों।' इस प्रकार रुद्र मरुतों के पिता बने।

रुद्र मरुतों के पिता किस प्रकार हैं, इस सम्बन्ध में एक और मत है कि रुद्र ने गौरूप धारिणी पृश्नि के साथ वृष का रूप धारण कर रमण किया और मरुतों की उत्पत्ति हुई। इसलिए मरुत् 'पृश्निपुत्र' भी कहे जाते हैं और 'रुद्रपुत्र' भी। रुद्र सम्बन्धी सूक्तों में और मरुत् सम्बन्धी सूक्तों में दोनों ही प्रकार की कथाएँ जहाँ-तहाँ सुनी जाती हैं।

वेदार्थदीपिका के आख्यान का रूप.क्योंकि ऋग्वेद के सूक्त (२/३३) की व्याख्या के लिए उसकी पृष्ठभूमि में रखा गया है। अतः इसका मुख्य उद्देश्य रुद्र को मरुतों का पिता सिद्ध करना है।

नीतिमञ्जरी—द्याद्विवेद की नीतिमञ्जरी की गणना वेद सम्बन्धी साहित्य में की जाती है। वैदिक आख्यानों की दृष्टि से यह ग्रन्थ अति महत्त्वपूर्ण है। इसके समस्त आख्यानों का आधार ऋग्वेद संहिता है। इसमें मरुतों के आख्यान का उल्लेख इसके इक्कीसवें श्लोक में किया गया है। आख्यान की पुष्टि के लिए ऋग्वेद संहिता की यह ऋचा उद्धृत की गयी है—

इदं पित्रे मरुतामुच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम्।
रास्वा च नो अमृत मर्तभोजनं त्मने तोळाय तनयाय मृड॥ (१/११४/६)

इस मन्त्र के स्पष्टीकरण के लिए इसकी पृष्ठभूमि में जो कथा दी गयी है, वह बृहद्देवता की कथा से मिलती-जुलती है। अन्तर अन्त के अंश में है, जो इस प्रकार है—'शिव ने दिति के उन सब पुत्रों को समान रूप, समान वयस् और समान अलंकारों वाले पुत्र बनाकर पार्वती को सौंप दिया। इसीलिए मरुत् सम्बद्ध सूक्तों में 'मरुत् रुद्र के पुत्र हैं' इस रूप से स्तुति की जाती है एवं रुद्र सम्बद्ध सूक्तों में 'रुद्र मरुतों का पिता है' इस रूप से।

ऐसा प्रतीत होता है कि बृहद्देवता में रुद्र के 'मरुतपितृत्व' के स्पष्टीकरण के लिए ही इस आख्यान का विवरण प्रस्तुत किया गया है और नीतिमञ्जरीकार ने उसका अनुसरण किया है, इसलिए यहाँ वैदिक परम्परा में प्रसिद्ध आख्यान के रूप को ही लिया गया है। मरुत् एवं रुद्र के सूक्तों में रुद्र का उल्लेख किस प्रकार किया जाता है, इसका स्पष्टीकरण भी यहाँ कर दिया गया है।

संकेत संदर्भ

१. ऋग्वेद १/३७/१।
२. वही ८/९६/८।
३. अथर्ववेद १३/१/३।
४. वाजसनेयी संहिता १७/८१–८५।
५. ४/६/५।
६. २/७/५।
७. २/५/१/१३, ५/४/३/१७ तथा ९/३/१/२५।
८. ऋग्वेद ५/६०/२।
९. ५/५७/५ तथा ५/५९/६।
१०. १/२३/१०, १/८५/३, १/८९/७, १/८५/३।
११. ऋक्० ५/५९/६।
१२. ऋ० ५/६०/५।
१३. वही १/१६५/१।
१४. वही ५/५६/५।
१५. वही ५/५३/३।
१६. वही १/१६५/१।
१७. वही ५/६०/६।
१८. वही ५/५३/४।

१९. वही १/२३/८ ।
२०. वही २/३६/२ ।
२१. वही ८/९६/७ ।
२२. वही ३/३५/९ ।
२३. वही ३/४७/४ ।
२४. वही १/१०२/१ ।
२५. वही १/१७०/२ ।
२६. वही ६/६६/२ ।
२७. वही ७/५९/११ ।
२८. वही १०/७८/३ ।
२९. वही ५/५४/२ ।
३०. वही १/१६८/८ ।
३१. वही १/८८/१ ।
३२. वही १/८५/५ ।
३३. वही १/१६७/९ ।
३४. वही १/६४/३ ।
३५. वही १/६४/८ ।
३६. वही ५/५२/९ ।
३७. वही ५/६०/२ ।
३८. वही १/३८/९ ।
३९. अथर्व० ४/२७/३ ।
४०. वैदिक देवशास्त्र पृ० १९८ ।
४१. यजुर्वेद २/१६ ।
४२. वही ३/४४ ।
४३. वही ८/३१ ।
४४. यजुर्वेद ३/३७ ।
४५. अथर्व० ४/२७/७ ।
४६. वही ४/२७।१ ।
४७. शतपथ ब्रा० २/५/१/१३ ।
४८. वही ७/२/२/१० तथा ७/१/२/५ ।
४९. कौ० ब्रा० ४/५, ५/१/३/३ तथा ९/३/१/१३ ।
५०. वही १०/८ ।
५१. तै० सं० २/१/६ ।
५२. ऐ० ब्रा० १/२/३ ।
५३. कौ० ब्रा० ७/८ ।
५४. शत० ब्रा० २/५/१/१२ ।
५५. वही २/५/३/३ ।
५६. वही ४/३/३/७ ।
५७. ३/२/९ ।
५८. ३/२/५ ।
५९. ऐ० ब्रा० ३/२/९ ।
६०. श० ब्रा० ९/४/२/६ ।

भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
(डी० ए० वी० कालिज)
३/१, भगवान् नगर, देहरादून,

□ डॉ० कपिलदेव शास्त्री

वेदों में मांस भक्षण तथा पशु-हिंसा का प्रबल निषेध

वेदों के महत्त्व के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वेदों में किसी भी असत्य, अवांछनीय, अनुचित एवं अहितकर विद्याओं, विधानो एवं तथ्यों का उल्लेख नहीं है। वेदों में कहीं भी अनित्य इतिहास नहीं पाया जाता। वेदों में पशु-हिंसा, मांस-भक्षण तथा सुरा-पान आदि का उल्लेख भी नहीं है। वेदों में भाषा कोः उसके रहस्य को, पूर्णतः न समझ पाने के कारण ही लोगों को इस प्रकार की भ्रान्ति होती है। वेदों में अनेक स्थलों पर मांस-भक्षण एवं पशु-वध का स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है। यजुर्वेद का ऋषि कहता है कि मैं मित्र की दृष्टि से सब प्राणियों को देखता हूँ[1]। अथर्वेद में दो पैर वाले (मनुष्य, पक्षी आदि) और चार पैर वाले (बैल, गाय, बकरा आदि) के वध का निषेध किया गया है[2]। यजुर्वेद में कहा गया है कि अदिति अर्थात् अखण्ड सुख देने वाली एवं विशेष महीमावाली गाय को मत मारो[3]। इसी प्रकार अथर्वेद में ही पशुओं का प्रिय बनने का उपदेश किया गया है[4]। तथा वहाँ यह भी कहा गया है कि पशुओं की रक्षा करने वाले अपने प्रति और पशुओं के प्रति जागृत (उदबुद्ध) रहते हैं[5]।

ऋग्वेद तथा अथर्वेद में यह स्पष्ट निर्देश है कि यज्ञों में मांस को जलाने वाली अग्नि का प्रयोग न कियां जाये[6]। यह मांस जलाने वाली अग्नि प्रायः चिता की अग्नि ही होती है। यह अग्नि देवयज्ञ और पितृयज्ञ आदि में प्रयुक्त नहीं हो सकती। इस प्रकार जब वेदों में पशु-वध का तथा मांस पकाने वाली अग्नि के प्रयोग का निषेध किया गया है तो फिर मांस-भक्षण आदि का विधान उनमें क्यों किया जायेगा। वैदिक कालीन आर्य पशुओं को पालते थे। वे उनकी हिंसा नहीं करते थे। ऋग्वेद में यहाँ तक निर्देश है कि जो राक्षस मनुष्य आदमी का, घोड़े का और अन्य गाय आदि पशुओं का मांस खाता है तथा दूध की चोरी करता है, उसका सिर काट दिया जाना चाहिये[7]। अथर्वेद में भी कहा गया है कि मांसाहारी, शराबी और व्यभिचारी पुरुष समान रूप से मार डालने योग्य है। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि वेद में इन कुरीतियों का प्रबल रूप से निषेध ही किया गया है, विधान नहीं।

महर्षि दयानन्द का यह निश्चित विचार है कि "दयालु परमेश्वर ने वेदों में मांस खाने एवं पशु आदि को मारने की विधि नहीं लिखीं"[8]। स्वामी जी ने यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र के **'यजमानस्य पशून् पाहि'** इस अंश का निर्देश करते हुए उसका अभिप्राय इन शब्दों में स्पष्ट किया है—' हे पुरुष ! तू इन पशुओं को कभी मत मार और यजमान अर्थात् सबके सुख देने वाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे और इसीलिये ब्रह्मा से लेकर आजपर्यन्त आर्य लोक पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे और अब भी समझते हैं'[9]।

जहाँ तक वैदिक यज्ञों में पशु-वध का प्रश्न है, वैदिक यज्ञ-यागों में पहले सतयुग में पशु-हिंसा नहीं होती थी। महाभारत में इस सम्बन्ध में यह कहा गया है—सतयुग में यज्ञ में पशु-हिंसा उचित नहीं है। इस समय धर्म चारों कलाओं से परिपूर्ण है। परन्तु त्रेता युग में धर्म के तीन ही पाद होंगे। अतः उसमें यज्ञों में पशुवध होगा। इससे ज्ञात होता है कि पूर्वयुग (आदिकाल) अथवा संहिता काल में यज्ञ में पशुवध नहीं होता था[10]। भगवान् बुद्ध ने भी यह स्वीकार किया है कि प्राचीन काल के ब्राह्मण गौ को अन्न, बल, कान्ति और सुख देने वाली मानकर उसकी कभी हिंसा नहीं करते थे। परन्तु आज घड़ों दूध देने वाली, पैर और सींग न मारने वाली गाय को गोमेध-यज्ञ में मारते हैं[11]। इससे भी

स्पष्ट है कि बुद्ध के अनुसार पूर्व समय में यज्ञ में गाय का वध नहीं होता था। यज्ञों में मांसाहुति और मांसाहार का प्रचार करने वाले वालों की घोर निन्दा महाभारत में की गयी है। वहाँ यह कहा गया है कि पूर्वकाल में अन्न रूप पशु से ही याज्ञिक लोग यज्ञ करते थे। मद्य मांसादि का प्रचार लोभी, लोलुप एवं धूर्त लोगों ने किया। वेदों में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं है। इस प्रसंग में ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर, जिनमें 'मांस' शब्द का प्रयोग हुआ है, विचार करना आवश्यक है। डॉ० सूर्यकान्त ने अपने वैदिक कोश में यह लिखा है कि मांस-भक्षण वैदिक काल में आम था। (ऋग्वेद ८.४३.११[13]) के आधार पर उन्होंने अग्नि के लिये प्रयुक्त 'उक्षान्न' तथा वशान्न 'विशेषणों का अर्थ 'गौभक्षक' किया है।'A Practical Vedic Dictionary' में वे 'उक्षान्न' का अर्थ करते हैं 'जिसका बैल अदनीय है' और 'वशान्न' का अर्थ करते हैं 'वह अग्नि जो वशा (दूध रहित गाय) खाने वाला है"। (ऋग्वेद १०. १६. ७[13]) में उनके अनुसार अन्तिम संस्कार के समय गौवध आवश्यक था क्योंकि उसके मांस से शव को ढकने का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद १०. ५८. १३[14] में भी डा० सूर्यकान्त के अनुसार अधा नक्षत्र में गायों के वध का उल्लेख है।

इनके अतिरिक्त (ऋग्वेद १. १६. २) के दो तीन मन्त्रों[15] में मांस को पकाने का उल्लेख है, ऐसा सायण के भाष्य से प्रतीत होता है। कुछ विद्वानों ने (ऋग्वेद १०. २७. २) के "अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि" अंश में बैल को पकाने का उल्लेख माना है। इसी प्रकार अथर्ववेद ९. ७. ७ (९. २४) के "एतद् वा उ स्वादियो यदधिगवं क्षीरं वा मांस वा तदेव नाश्नीयात्" में मांस-भक्षण को स्वादिष्ट बताया गया है। डॉ० सूर्यकान्त का यह कथन कि "मांस-भक्षण वैदिक काल में आम था" उनका दुस्साहस मात्र है। ऊपर अनेक ऐसे मन्त्रों का निर्देश किया गया है जिनमें मांस-भक्षण का स्पष्टतः निषेध है। उनकी पृष्ठ-भूमिों में "मांस" शब्द के प्रयोग वाले मन्त्रों के अर्थ पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है तथा कुछ विद्वान ने ऐसा किया भी है। इनमें स्वामी दयानन्द तथा श्री सतवलेकर का नाम उल्लेखनीय है।

यहाँ ऋग्वेद के जिन प्रसंगों का निर्देश किया गया है उनमें प्रथम स्थल (ऋ० ७. ४३. ११) में 'उक्षा' तथा 'वसा' शब्दों को यौगिक मानते हुए और 'अग्नि' शब्द को परमतत्व अथवा भौतिक अग्नि (पार्थिव, वैद्युत, सौर्य इत्यादि) मानते हुए, यह अर्थ करना अधिक उचित प्रतीत होता है कि 'जो अग्नि को रस से सींचता है और अन्न को रमणीय बनाता है उस अग्नि की हम उपासना करते हैं। यह ज्ञातव्य है कि इस मन्त्र का देवता अग्नि है[16]।

दूसरे स्थल (ऋ० १०. १६.७) का सम्बन्ध सायण ने मृत शरीर अथवा प्रेत से माना है। मन्त्र का अर्थ रहस्यात्मक एवं विचारणीय प्रतीत होता है।

तृतीय स्थल (ऋ० १०. ८५. १३) का सम्बन्ध सूर्या के विवाह नामक आख्यान से माना जाता है। इस आख्यान का रहस्य अभी भी अस्पष्ट है। परन्तु यह निश्चित है कि इस मन्त्र के 'सूर्या' तथा 'गावः' इत्यादि सभी पद अलौकिक तत्त्वों के बाधक हैं[17]। 'अधासु हन्यन्ते गावः' का अर्थ करते हुए सायण कहते हैं कि 'सविता के द्वारा सूर्या के विवाह में दी गई गायें अधा नक्षत्र में सूर्या के प्रति सोम के घर की ओर प्रेरित की जाती हैं। यहाँ 'हन्' धातु का अर्थ 'मारना' न हो कर 'प्रेरित करना' है। पाणिनीय धातु पाठ में भी 'हन्' धातु के 'हिंसा' और 'गति' दो अर्थ किये गये हैं[18]। यहाँ मन्त्र के अगले अंश में कहा गया है कि 'अर्जुनी (दोनों फल्गुनी) नक्षत्रों में वे गायें सोम के घर ले जायी जाती हैं। जो भी हो यहाँ 'गाँवों हन्यन्ते' का अभिप्राय गौ-वध कदापि नहीं है।

ऋग्वेद (१. १६१. १०) के **मांसमेकः पिंशति सूनया भृतम्** अंश का अर्थ इस रूप में किया जा सकता है एक पुत्र उत्तम रीति से लाये गये चारे को खिलाकर गाय के शरीर को मांसयुक्त बनाकर उसे रूपवान बनाता है"।

(ऋग्वेद १.१६२) के जिन दो तीन मन्त्रों में सायण भाष्य के अनुसार अश्वमांस-पकाने की बात कही गई है वह पुनः विचारणीय है। इस सूक्त का देवता अश्व है। इस सूक्त के छठे मन्त्र के **'ये अर्वते पचनं सम्भुरन्ति'** का अर्थ 'जो घोड़े के लिये घास आदि अन्न लाते हैं' करना अधिक उचित प्रतीत होता है[19]। इस सूक्त के ग्यारहवें मन्त्र का संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि 'हे अश्व (निरन्तर गति करने वाले) तेरे क्रोधाग्नि से पकने वाले शरीर से निकलता हुआ जो शस्त्र शत्रु की तरफ दौड़ता है वह भूमि पर न गिरे, घासों में न गिरे, अपितु इच्छा करने वाले दिव्य वीरों को वह धन देने वाला हो''[20]। यहाँ के १२वें मन्त्र, जिस में ''मांस-भिक्षा'' शब्द का प्रयोग हुआ है—का संक्षिप्त अभिप्राय है—''जो घोड़े को मांसल बनाने के लिये उसकी सेवा करते हैं और जो यह कहते हैं कि इस घोड़े के लिये उत्तम गन्ध वाले अन्न ले आओ और इस प्रकार जो घोड़े को हृष्ट-पुष्ट देखते हैं उनकी उत्तम बुद्धि हमें प्राप्त हो''[21]। इसी प्रकार १३वें मन्त्र का, जिसमें 'मांस्पचनी-उखा' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा जिसे पूर्वपक्षी विद्वान् प्रायः प्रस्तुत करते हैं, अभिप्राय सातवलेकर जी ने इस रूप में किया है—''फलों के गूदे को पकाने वाले पात्र को देखने का जो साधन और रस को परोंसे जाने वाले जो पात्र हैं, भाप को रोके रखने वाले ढक्कन, चरुओं को काटने के साधन छुरी, आदि घोड़े को भूषित करते हैं[22]।

स्वामी दयानन्द ने (ऋग्वेद के १.१६१.१०) तथा ऋग्वेद १.१६२ के जिन मन्त्रों में 'मांस' शब्द का प्रयोग हुआ है उनकी संगति कुछ और रूप में लगायी है। उनके अनुसार (ऋग्वेद १.१६१.१०) के **''मांसमेकः पिंशति सूनया भृतम्''** का अर्थ है—''जैसे अकेला, हिंसा से अच्छे प्रकार से धारण किये हुए, मरे हुए के अंश को अलग करता है। वे इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार मानते हैं और इस अंश की संगति लगाते हुए कहते हैं कि जैसे बहेलिया शरीर के मांस को लेकर अनिष्ट को छोड़ देता है वैसे पुत्रों को दुर्गुणों से पृथक् कर जो लोग उन्हें शिक्षा और विद्या से युक्त करते हैं वे सन्तान के सुख को प्राप्त करते हैं।[23]

(ऋग्वेद १.१६२.१२) के 'मांसभिक्षा' शब्द का अर्थ स्वामीजी[24] ने मांस का परित्याग किया है, क्योंकि 'भिक्ष्' धातु का अर्थ लाभ (प्राप्ति) और अलाभ (त्याग) दोनों ही हैं। मन्त्र के भावार्थ में स्वामी जी कहते हैं कि ''जो लोग अन्न और जल को शुद्ध करना, पकाना, उसका भोजन करना जानते हैं वे उद्यमी होते हैं।'

इसी प्रकार इस सूक्त के १३वें मन्त्र के 'मांसपचन्या उखाया' इत्यादि की संगति स्वामीजी ने इस प्रकार लगाई है कि 'मांसाहारी जिसमें मांस पकाते हैं उस पात्र का परीक्षण करके, उसे दूर करके जो लोग उससे भिन्न पात्र का प्रयोग करते हैं और अश्व आदि को स्वस्थ और सुशोभित करते हैं, वे प्रत्येक काम में सफल होते हैं[25]।

(ऋग्वेद १०.२७.२) के **'अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि'** इस अंश में वृषभ (बैल) को पकाने की बात भी कुछ विद्वानों ने कही है। यहाँ 'वृषभ' बैल का ही वाचक हो और 'पच्' धातु का अर्थ आग पर पकाना ही हो, यह नहीं कहा जा सकता। इस मन्त्र की संगति इस रूप में प्रस्तुत की गई है—'यदि में आसुरी प्रवृति वाले शक्तिशाली शत्रुओं को युद्ध के लिये ललकारूँ—उनके साथ संघर्ष करूँ तो में तुरन्त ही अपने (वृषभं) अतिशय उत्साह सम्पन्न पराक्रम को अपने अन्दर पचा लूँ—परिपका कर लूँ। क्योंकि मैंने तीव्र साधना से निष्पादित वीर्य को—ओज को अपने शरीर के रोम-रोम में निषिञ्जत-अभिरक्षित कर रक्खा है[26]।

ऋग्वेद ६. ३. ६ (६. २४) में सूक्त का देवता अतिथि है। विद्वनों के अनुसार इस मन्त्र से पूर्व का प्रसंग यह है कि अतिथि को भोजन कराने से पूर्व गृहस्थ स्वयं भोजन न करे। गाय से प्राप्त होने वाला क्षीर (दूध) और मांस सबसे अधिक स्वादिष्ट होते हैं अतः उन्हें पहले न खावे। यहाँ 'मांस' शब्द को खीर (पायस्) का वाचक मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण में मांस का अर्थ करते हुए उसे परम अन्नाद्य (अन्न) कहा गया है। अमरकोश (२. ७. २८) में परम अन्न का अर्थ पायस् किया गया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अथर्ववेद के इस सूक्त से अगले सूक्त में उपसेचन की बात कही गई है। वहाँ भी 'मांस' शब्द का प्रयोग हुआ है और वह निश्चित रूप से खीर का वाचक है क्योंकि सिचन करने का साधन-भूत पदार्थ द्रव (गीली) वस्तु ही हो सकता है। इस सूक्त में उपसेचन के जो पाँच पदार्थ गिनाये गये हैं, वे हैं—दूध, धृत, जल, शहद तथा मांस। इस कारण यहाँ 'मांस' को खीर का वाचक मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार के मन्त्रों एवं मन्त्रांशों का अर्थ करते समय विशेष चिन्तन, निष्ठा एवं सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि वेदों की शब्दावली लौकिक संस्कृत की शब्दावली से भिन्न अर्थ की वाचक है। लोक प्रचलित पुरीष, योनि जैसे शब्द वेदों में सर्वथा भिन्न अर्थ के वाचक स्वीकार किये गये हैं। इस लिये यदि लौकिक अर्थों की दृष्टि से वेदार्थ किया गया तो महान् अनर्थ होगा, जैसे कि सायण आदि के भाष्यों से हुआ है—यह सदा ध्यान रखना चाहिये।

---

१. यजुर्वेद, ३६/१८, मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
२. अथर्ववेद, १/२/१, मा नौ हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः।
३. यजु०, १३/४३, गौ मा हिंसीः अदिति विराजम्।
४. अथर्ववेद, १७/१/४, प्रियः पशूनां भूयासम्।
५. पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति ते नः आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति।
६. ऋग्वेद १०/१६/६,

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥
तथा तुलना करो अथर्ववेद, १२/२/८-६।

७. ऋग्वेद, १०/८७/१६
८. यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा परिदेवने। यथा पुंसो वृषणयते स्त्रिमं निहन्यते मा।
९. गोकरुणानिधि, द० ल० पृ० ५५६। १०. वही, पृ० ५५०-५१।
११. द्र० वैदिक सम्पत्ति, पृ० ४६७।
१२. उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे।
स्तोमैर्विधेमाग्नये।
१३. अग्नेर्वर्मपरि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च।
तेन त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते॥
१४. सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावो र्जुन्योः पर्युह्यते॥
१५. ऋग्वेद १/१६२/६, १०, १२, १३ इत्यादि।

१६. द्र०–ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, सातवलेकर ।
१७. प्र०–वैदिक ऋषि एक परिशीलन, पृ० १७९–८२ ।
१८. पाणिनीय धातुपाठ, हन् हिंसातत्योः ।
१९. द्र०–ऋग्वेद का सुबोध भाष्य ।
२० द्र०–वही ।
२१. द्र०– वही ।
२२. द्र०– वही ।
२३. द्र० ऋग्वेदभाष्य, भा० ३, अजमेर संस्करण पृ० ३०९ ।
२४ द्र०– वही पृ० ३२३ ।
२५. वही, पृ० ३०९, ३१३, ३२४ ।
२६. द्र०–वेदवाणी (बहालगढ़, सोनीपत, वर्ष, ३४, अंक १०), पृ० ९ ।

———

अध्यक्ष एवं प्रोफेसर,
दयानन्द अनुसंधान पीठ
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, हरियाणा ।

□ डा० गणेशदत्त शर्मा

वेदानामपौरुषेयत्वम्

दिव्यज्ञानस्वरूपा वेदाः "पौरुषेया अपौरुषेया वा" इति विषयमवलम्ब्य वेदविद्याविशारदैर्वैदिक-समालोचकैश्च विविधप्रबन्धेषु विद्वद्गोष्ठीषु च बहुवारं स्वकीया विचारततिः प्रस्तुता। नास्तिकाः, पाश्चात्यास्तन्मतानुसारिणश्च विद्वांसो वेदान् पौरुषेयान् मन्यन्ते। किन्तु वेदानामन्तःसाक्ष्येण षड्दर्शनाचार्यविवेचनेन ईश्वरीयज्ञाननिकषोपलपरीक्षणेन च वेदानामपौरुषेयत्वमेव सिद्ध्यति।

वेदानामन्तः साक्ष्यम्:—वेदमन्त्रेषु सुस्पष्टं वर्णितं यद् वेदा ईश्वरादेव प्रादुर्भूताः। तद्यथा—ऋग्वेदे:—

"तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।[1]
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

इत्थमेवाथर्वे—यस्मादृचो अपाक्षतन् यजुर्यस्मादपाकशन्।

सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥[2]

अन्यस्मिन्नथर्वमन्त्रे कथितं यदीश्वरः ऋग्भ्योऽजायत ताश्च ऋचः ईश्वराज्जनिमलभन्तः—

"स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्माद् ऋचोऽजायन्त"।[3]

परमेश्वरो मन्त्रेषु "वाचस्पतिः"—बृहस्पतिः"—इत्यादिविशेषणैर्विभूषितः। स एव बृहस्पतिर्वस्तुतो वेदावाण्या पतिः स्वामीति वा। सा दैवी वागीशकृपया ऋषीणामन्तः करणेषु प्रादुर्भवति। ऋषयश्च तां स्वात्मान्तःकरणन्निःसार्य तया वस्तूनां नामादीन्युच्चारयन्तीनि ज्ञानप्राप्तिपरम्परा सम्यक् प्रस्तुता ऋङ्मन्त्रेः—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।[4]
यदेषां श्रेष्ठं यदरि प्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहा विः॥

ऋग्वेदे बहुशो विशेषतया स्तुताया वेदवाण्या ऋषीणामभ्यन्तरे प्रवेशोऽग्रिमायां ऋचि—इत्थं चित्रितः—

"यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्"[5]

अन्यस्यां ऋचि तु सुस्पष्टमेव व्याहृतम्—

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः"[6]

एभिस्सन्दर्भैः सिद्धान्तोऽयं निष्पन्नतां याति यत् परमकारुणिकः सच्चिदानन्दस्वरूपो वागीशः परमेश्वर एव जगद्धिताय सर्वभूतहितसाधिकाममृतमयीं वेदवाणीं नवनवोन्मेषशालिनिप्रतिभावतां तपः—पूतमानसानां ऋषीणां हृदयेषु प्रकाशयति ऋषयश्च तामन्यानुपदिशन्ति सर्वत्र च प्रचारयन्ति।

यथा—ईश्वरो नित्यः परिपूर्णश्च तथैव—ईश्वरीयवाग्भूता वेदा अपि नित्याः परिपूर्णाश्च। वेदवाचो नित्यत्वं—"वाचा विरूपनित्यया"[7] इत्यादिरूपेण मन्त्रे प्रतिपादितम्।

वेदोत्तरसाहित्येऽपि वेदानामपौरुषेयत्वमनादित्वं नित्यत्वं च समर्थितम्। तैत्तिरीयब्राह्मणे वेदवाण्याः अविनाशित्वमित्थं वर्णितम्—

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य ।[८]
वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषदि कथितं यत्सर्गादौ परमेश्वरो ब्रह्माणमुत्पादयति तत्कृते च वेदानुपदिशति—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै"[९]

बृहदारण्यकानुसारं चत्वारो वेदाः ईश्वरस्य निःश्वासभूताः—

"एवं वा महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः"[१०]

वेदभाष्यकारः सायणाचार्योऽप्यमुमेव विचारमनुमोदयामास—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ।।[११]

महाभारते वेदानामनाद्यनन्तत्वं, नित्यत्वं, ईश्वरीयत्वं, सर्वप्रवृत्तिप्रकाशकत्वं च प्रतिपादितम्—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।[१२]
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ।।

कुल्लूकभट्टमते प्रलयकालेऽपि वेदराशिः सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि स्थितो भवति । मेधातिथिनापि—"नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि"—इत्युक्त्वा वेदानां नित्यत्वं निष्पादितम् । श्रीमद्भगवद्गीतायां—"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्" इति वाक्येन वेदानामीश्वरोद्भवत्वं संस्थापितम् । सायणाचार्येण "नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः"—इत्यादितैत्तिरीयारण्यकवाक्ये भाष्यं कुर्वता लिखितम्—"यद्यप्यपौरुषेये वेदे कर्तारो न सन्ति तथापि कल्पादावीश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्रकृत उच्यन्ते" ।।[१४] एवमेवैतरेयब्राह्मणे—"सर्वर्षिर्मन्त्रकृत्[१५]"—इति वाक्यस्य टीकायां "कृ"—धातुं दर्शनार्थे स्वीकुर्वन् सायणः "मन्त्रकृत्"—इति पदस्य "मन्त्रद्रष्टा"—इत्यर्थं जग्राह । यास्काचार्यस्तु—मन्त्रद्रष्टृत्वेनैव ऋषीणां ऋषित्वं स्वीचकार ।[१६] इत्थं वेदमन्त्रैः वेदोत्तरकालिकभारतीयग्रन्थसन्दर्भैश्च वेदानामनादिता, नित्यता, अपौरुषेयता च प्रमाणिता भवति ।

वेदानामपौरुषेयत्वे दार्शनिकमतानि:—षड्दर्शनसूत्रकारैस्तद्भाष्यकृद्भिश्च युक्तिप्रमाणोपन्यासपुरःसरं वेदानां प्रामाण्यं अपौरुषेयत्वं च साधितम् । न्यायदर्शने—"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्"[१७]—इति गौतमसूत्रे आप्तप्रामाण्यादेव वेदानां प्रामाण्यमङ्गीकृतम् । अत्र यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा, नित्यः, सर्वज्ञः, परमकारुणिकः परमेश्वर एव आप्तः,—सृष्ट्यादौ तदन्याप्तस्याभावसद्भावात् । अतस्तद्वक्तृत्वेनैव तदुपदेशवाक्यभूता वेदा अपि ईश्वरीयज्ञानस्वरूपा एव । वात्स्यायनमते अतीतानागतेषु युगान्तरेषु वैदिकसम्प्रदायाविच्छेद एव वेदनित्यत्वसाधकः ।[१८] महाप्रलयेऽप्येषा वेदपरम्परा नैव विच्छिन्नतां याति । सर्गादौ परमेश्वरः वेदान् प्रणीय स्वयमेव सम्प्रदायं प्रवर्तयति । इत्थं न्यायनये वेदा अपौरुषेयाः खलु ।

वैशेषिकमतेऽपि वेदा ईश्वरोक्ताः । मुनिना कणादेन सूत्रे कथितम्—"तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्" ।[१९] अस्य व्याख्याने उदयनाचार्यस्तत्पदेन ईश्वरं जग्राह—"तद्वचनात् तेन ईश्वरेण प्रणयनात्" ।[२०] अनेनायमेव सिद्धान्तः सिद्धिमायाति यद्धर्मप्रतिपादकस्य वेदस्यादिवक्ता परमेश्वरस्तत्प्रामाण्यादेव च वेदप्रामाण्यम् ।

सांख्यसिद्धान्ते वेदा न पौरुषेयाः । अस्ति सांख्यसूत्रे तेषां पौरुषेयत्वनिषेधः—"न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्" ।[२१]

वस्तुतः पुरुषे वेद कर्तृत्वस्य संभावनापि न शक्यते कर्तुम् । यतो ह्यल्पज्ञः पुरुषः सर्वज्ञकल्पं सर्व-

विद्यास्थानं वेदं रचयितुं सर्वथा—असमर्थः। कपिलमुनिना—"न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्"[३२] इतिसूत्रे मुक्तामुक्तयोरुभयविधयोरपि पुरुषयोर्वेदरचनायामयोग्यता प्रदर्शिता। पूर्वस्य वीतरागत्वादपरस्य चाज्ञानान्धतमोग्रस्तत्वात्। सांख्यदर्शने वेदानां प्रामाण्यं प्रमाणान्तरं नापेक्षते। यतो हि वेदेषु यथार्थज्ञानोद्भवस्य स्वाभाविकी दिव्यशक्तिर्वरीवर्ति। कपिलेन—"निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्[३३]"—इति व्याहरता श्रुतीनां प्रामाण्यं सुष्ठु प्रमाणितम्। दार्शनिकप्रवरो वाचस्पतिमिश्रोऽपि सांख्यतत्त्वकौमुद्यां वेदानां स्वतस्त्वमपौरुषेयत्वं चाङ्गीचकार[३४]।

योगसूत्रकारेण तत्रभवता भगवता पतंजलिना—"स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्[३५]"—इति सूत्रे वेदोपदेशस्यानादित्वमपौरुषेयत्व चोपपादितम्। नित्यः सर्वज्ञश्च परमेश्वरः पूर्वेषां ब्रह्मादीनामृषीणां गुरुणां वा गुरुः वेदोपदेष्टा अस्ति। स एवात्मनः सर्वशक्तिमत्तया कालानवच्छिन्नः सन् अनादिकालात्प्रवर्तमानेष्वतीता नागत सर्गेषु आद्यर्षीणामात्मनि वेदज्ञानमभिव्यनक्ति। ऋषयश्च तमपौरुषेयं वेदोपदेशं परम्परया प्रसारयन्ति।

वेदान्तिनोऽप्यपौरुषेयवादिनः। महर्षिणा व्यासेन—"शास्त्रयोनित्वात्[३६]"—इति ब्रह्मसूत्रे विद्योतितं यद्—ऋग्वेदादिशास्त्राणां योनिः कारणं ब्रह्म एव। अस्मिन् सूत्रे भाष्यं कुर्वता शंकराचार्येणापि वेदापौरुषेयत्वं प्रमाणीकृतम्[३७]। वस्तुतः सर्वज्ञानमयस्य वेदस्योद्भवः सर्वज्ञादन्यतो न संभवः। वेदा अनायासमेव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद् तस्मात्परब्रह्मणः संभवन्ति। अपौरुषेयत्वादेव वेदानां नित्यत्वमङ्गीकृतं वेदान्तसूत्रकारेण—"अत एव च नित्यत्वम्[३८]"। अस्य भाष्ये शंकराचार्यः कल्पादौ परमेश्वराद् वेदप्रादुर्भावं प्रतिपादयामास[३९]। बादरायणमते—प्रतिकल्पं वेदानां नामरूपयोः समानरूपत्वात् तेषां नित्यत्वे न कश्चिद्विरोधः—"समानरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च[४०]। वेदान्तपरिभाषायां कथितम्—"पौरुषेयत्वं सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारण विषयत्वम्" तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः—पूर्वसर्गसिद्धवेदानुपूर्वी समानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान्, न तु तद्विजातीयं वेदमिति[४१]। एवं पूर्वसर्गानुरूपत्वात् शाश्वतक्रमवत्वाद् सर्वार्थद्योतकत्वाच्च नूनं वेदानामपौरुषेयत्वमेवाभिमत वेदान्तविद्भिः।

मीमांसकानां वेदविषयिका मीमांसाऽतीव विस्तृता प्रशस्ता च। मीमांसादर्शनाचार्यैः विविधविघतर्कोपन्यासपूर्वकं शब्दस्य नित्यत्वं संस्थापितम्[४२]। अतो नित्यशब्दराशिभूतानां वेदानां नित्यत्वं स्वाभाविकमेव। मीमांसकमते वेदानां कर्ता नैव कश्चिपुरुषः। मीमांसादर्शनस्य प्रथमाध्याये पञ्चमसूत्रे भाष्यं कुर्वता शबरस्वामि भणितम्—

"न कृत्वा संबन्धं व्यवहारार्थं केनचित् वेदाः प्रणीताः"।[४३]

मीमांसकानुसारं वेदः स्वयमाविर्भूतः स्वप्रकाशज्ञानराशिः। अपौरुषेयत्वादेव वेदे नास्ति काचिद्दोषसंभावना। यथा चोक्तं कुमारिलभट्टेन श्लोकवार्तिके—

"यद् वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः"

स्वयंप्रकाशत्वादेव वेदानां स्वतःप्रामाण्यमपि स्वभावसिद्धम्।

वैदिकसंहितासु वशिष्ठविश्वामित्रादीनां नामानि दृष्ट्वा वेदानामपौरुषेयत्वे नित्यत्वे च संदिहानानां समाधानं जैमिनिमुनिनाः—आख्या प्रवचनात्"[४४]—इतिसूत्रेण विहितम्। अर्थात् वैदिकसूक्तेषु ऋषीणामाख्यानं प्रवचनादेवास्ति न ग्रन्थकर्तृत्वात्। यतो हि तैरेव प्रथमं मन्त्राणां प्रवचनं कृतम्। एवमेव—'बबरः प्रावाहणिरकामयत[४५]"—इत्यादिसंहितावाक्येषु—"बबरः प्रावाहणि"—नाम नैव कश्चित्पुरुषः। अत्र वस्तुतः "बबरः प्रावाहणिः" सामान्यतो यौगिकशब्दत्वेन—"परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्[४६]" इति जैमिनीसूत्रानुसारं प्रवहणस्वभावशीलस्य बबरध्वनियुक्तस्य च वायोर्वाचकः।

मीमांसकानां मते वेदमन्त्रा एव वेदानां नित्यत्वप्रतिष्ठापकाः। पूर्वोद्धृते—"वाचा विरुपनित्यया" इति ऋग्वेदवाक्ये—"**नित्या वाक्**" इतिपदं वेदमन्त्राणामेव कृते प्रयुक्तम्। जैमिनिना स्वमतसिद्धये–अयमेव चरमों हेतुः स्वीकृतः। निष्कर्षतो वेदा नित्या अपौरुषेयाः स्वतःप्रमाणभूताश्चेति मीमांसकमतम्।

व्यवहारनिकषोपले वेदापौरुषेयत्वपरीक्षणम्ः— वेदशास्त्रप्रमाणैर्वेदापौरुषेयत्वं संस्थाप्य साम्प्रतं व्यवहारदृष्ट्यापि तेषामपौरुषेयत्वपरीक्षणमावश्यकीयम्। तदेव ज्ञानमपौरुषेयमीश्वरीयं वा यत्र शाश्वत-धर्मस्य विश्वजनीनसंस्कृतेश्चोपदेशः स्मात्। अस्ति च वेदेषु विश्वबन्धुत्वस्य सहास्तित्वस्य विश्वशान्तेश्चो-पदेशः। "सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा"—"इति ऋङ्मन्त्रानुसारं वैदिकी संस्कृतिरेव सर्वप्रथमा विश्व-जनीना च संस्कृतिरस्ति। अपरं च—अपौरुषेयमीश्वरीयज्ञानं जातिनिरपेक्षं वर्गनिरपेक्षं च सत् मानव-मात्रस्य कृते भवति। वेदेष्वेतदपि वैशिष्ट्यं वरीवर्ति। यथा च स्वयमेवोद्घोषयति वेदोपदेष्टा वागीश्वरः परमेश्वरः—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥[२७]

अत्र वेदवाण्या सार्वभौमिकता प्रत्यक्षसिद्धा खलु। किमधिकम् ईश्वरीयज्ञानायापेक्षितं—शाश्वत-सत्यप्रतिपादकत्वं, सर्वभूतहितसाधकत्वं, सृष्टिनियमानुकूलत्वं, ज्ञानविज्ञानोद्भासकत्वं, सर्वविद्यासंयुक्त-त्वं, सर्वथा निर्भ्रान्तित्वमित्यादिकं सकलमपि वेदानामङ्गभूतम्। इत्थमीश्वरीयज्ञानस्य सर्वाण्यपि लक्षणानि वेदेषु चरितार्थतां यान्ति।

अन्ततो वेदापौरुषेयत्वमतं वेदान्तःसाक्ष्यसिद्धं शास्त्रप्रमाणपरीक्षितं व्यवहारनिकषनिरीक्षितं चेति दिक्।

संकेत सन्दर्भ

१. ऋक् १०/९०/९ तथा यजु० ३१/७।
२. अथर्व १०/७/२०।
३. अथर्व १३/४/३८।
४. ऋक् १०/१७/१।
५. ऋक् १०/७१/३।
६. यजु २६/२।
७. ऋक् ८/७५/६।
८. तै० ब्रा० २/८/५।
९. श्वे० उ० ६/८।
१०. बृ० उ० २/४/१०।
११. सायणभाष्यमंगलाचरणम्।
१२. म० भा० १२/२३/२४।
१३. भगवद्गीता ३/१५।
१४. तै० आ० ४/१७ सायणभाष्यम्।
१५. ऐ० ब्रा० ६/१/१
१६. "ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान्ददर्शेत्यौ पमन्यवस्तद् यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयमभ्यानर्षत्, ऋषयोऽभवं-स्तदृषीणां ऋषित्वमिति विज्ञायते"—निरुक्त–२/३/२।
१७. न्यायसूत्रम् २/१/६८।
१८. मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेद इति वेदानां नित्यत्वं आप्तप्रामा-ण्याच्च प्रामाण्यम्॥ उपर्युक्तन्यायसूत्रे वात्स्यायनभाष्यम्।
१९. वैशेषिक सूत्रम् १/१/३।
२०. उदयनाचार्यः—किरणावलिः (वै० सू० १/१/३ व्याख्या)।
२१. सांख्यसूत्रम् ५/४६।
२२. सांख्यसूत्रम् ५/४७।
२३. सांख्यसूत्रम् ५/५१

२४. श्रुतिः—वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम् । तच्च स्वतः प्रमाणम् । अौरुषेयवेदवाक्यजनितत्वेन सकल-दोषाशंकाविनिर्भुक्तेर्युक्तं भवति । सां० तत्त्व० कौ० ५ भी कारिका ।

२५. योगसूत्रम् १.२६ ।

२६. ब्रह्मसूत्रम् १/१/२ ।

२७. उपर्युक्त सूत्रें शांकरभाष्यम् ।

२८. ब्रह्मसूत्रम् १/३/२९ ।

२९. उपर्युक्तसूत्रे शांकरभाष्यम् ।

३०. ब्रह्मसूत्रम् १/३/३०

३१. वेदान्तपरिभाषा (आगमपरिच्छेदस्यान्तिमो भागः) ।

३२. मीमांसासूत्रम् १/१/१४, १७, १८, १९ ।

३३. मीमांसासूत्रम् १/५ (शाबरभाष्यम्) ।

३४. मीमांसासूत्रम् १/१/३० ।

३५. तै० सं ७/२/२/१ ।

३६. मीमांसासूत्रम् १/१/३१ ।

३७. यजु० २६/२ ।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
एन. ए. एस. कालिज, मेरठ ।

□ धर्मदेवो वेदवाचस्पतिः

यास्क कालिका विविधा वेदार्थपद्धतयः

वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति नातिरञ्जितं वचो भगवतो मनोः। वेदा हि भारतीयसभ्यतायाः संस्कृतेः धर्मस्य ज्ञानविज्ञानस्य च मूलभूतं स्रोतः। प्राचीनतमत्वात् ज्ञानविज्ञानानां गहनत्वाच्च भारतीया ऋषयो मुनयश्च एतेषामवगाहनाय सुरक्षणाय च विविधानुपायाँश्चक्रुः, वेदाङ्गनाम्ना विख्यातान् विविधान् ग्रन्थाँश्च निर्ममिरे। तेषु प्रधानतममंगं निरुक्तशास्त्रं वर्तते। तत्रादौ निरुक्तशास्त्रस्य यानि प्रयोजनान्युक्तानि तेनाप्यस्य वेदाङ्गस्य महत्त्वं विशदी भवति। तानि प्रयोजनानि प्राधान्येन त्रीणि सन्ति—

(१) मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययः, (२) पदविभागः, (३) मन्त्राणां दैवतज्ञानं च ॥

(निरुक्त, अ० १, पाद ५–६)

श्री यास्काचार्यविरचित-निरुक्तशास्त्राध्ययनेन प्रतीयते यत्ततोऽपि प्राक्तनात् कालात् निरुक्तविद्या विविधा वेदार्थपद्धतयश्च प्रचलिता आसन्। श्रीयास्कमुनिना स्वग्रन्थे चतुर्दशनिरुक्ताचार्याणां नामानि निर्दिष्टानि, स्थाने स्थाने च निर्वचनप्रसङ्गे ब्राह्मणवचनान्युद्धृतानि, तथैव मन्त्रार्थप्रसङ्गे विविधानां सम्प्रदायानामुल्लेख आलोचनं वा कृतमिति। ते च प्राधान्येन पञ्च सन्ति—याज्ञिकाः, आख्यानविदः, ऐतिहासिकाः, अध्यात्मवादिनः, नैरुक्ताश्च। तद्व्यतिरिक्तं कुत्रचित् नैदानमतं वैयाकरणमतमपि प्रदर्शितम्। परं न तयो र्मन्त्रार्थविषये सविशेषं स्थानम्। पूर्वोक्ता पञ्च सम्प्रदायाः प्राचीनात् कालादद्यावध्यपि अस्माकं देशे प्रचलिताः सन्ति।

किं नाम स्वरूपमेतेषां सम्प्रदायानां, कस्मिन् विषये चैतेषां संवादो विसंवादो वा यास्कमुनेरित्येव विचारणीयोऽस्माकम्।

(१) **याज्ञिकसम्प्रदायः**—एष सम्प्रदायो विविधेषु प्रसङ्गेषु निर्दिष्टो दृश्यते। दर्शपौर्णमासादि यज्ञेषु विनियोगार्यैव मन्त्राः सृष्टा इति सिद्धान्तमाश्रित्यैव मन्त्राणामर्थं देवतानां वा स्वरूपं स्थिरी कुर्वन्ति एते याज्ञिकाः।

'ऋचां त्वा पोषमास्ते पुपुष्वान्' इत्यादिषु मन्त्रेषु अधियज्ञमर्थं स्वीकुर्वाणोऽपि यास्काचार्यो विनियोगार्थं मन्त्राः सृष्टा इति सिद्धान्तं नांगीकरोति। अत एव यज्ञविधिमनुसृत्य देवतार्थनिर्णयपद्धतिं नानुमोदते।

(२) **आख्यानसम्प्रदायः**—मन्त्रार्थव्याख्याप्रसङ्गे पञ्चषः वारं अस्य सम्प्रदायस्योल्लेखो विहितो यास्काचार्येण। मन्ये ऋक्षु स्थाने स्थाने आख्यान शैलीं विलोक्य अस्य सम्प्रदायस्य प्रादुर्भावो बभूव। यथाह किल—**'यो जात एव प्रथमो बभूव'**—(ऋक् २/१२/१), **'एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश'**—(ऋक् १०/११४/४) इत्येतयोः मन्त्रयो=व्याख्या प्रसङ्गे यास्को मुनिराह—"**ऋषेः दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यान संयुक्ताः।**" वस्तुतः नैषा वास्तविकी कथा, परं वस्तुवर्णनस्य शैलीविशेष एव। बहवो महात्मानः, बौद्धानां जातकादयो ग्रन्थाः, बाइबलप्रभृतयश्चेमां शैलीमाद्रियमाणा दृश्यन्ते। परं कालक्रमेण आख्यानवादिन एतान्याख्यानि घटनापराणि स्वीकर्तुं प्रवृत्ताः।

एष आख्यानवादश्च कालक्रमेण ऐतिहासिकसम्प्रदायं जन्म प्रादात् । ब्राह्मणग्रन्थानामर्थवादशैली उभयो मंध्यवर्तिनी शृंखला वर्तते । तत्र इन्द्रवृत्रादीनां अधिदैवतमर्थं कुर्वताऽपि ब्राह्मणकारेण वृत्रशब्दस्य निर्वचनसमये भूतकालवाचिनी क्रिया प्रयुक्ता । तद्यथा—"**यदवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्, यदवर्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वम्, यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् ।।**"

इमं भूतकालक्रियायाः प्रयोगं समीक्ष्य ऐतिहासिकाः खलु इमां भूतकालिकां वास्तविकीं घटनाममन्यन्त । 'इति ह–निश्चयेन-आस–बभूव'—इत्येवं मन्यमाना विद्वांसः 'ऐतिहासिका' इति संज्ञामलभन्त । नैरुक्तास्तु एतान्याख्यानानि वस्तु प्रतिपादनस्य शैली विशेष एव मन्यते, न पुनः परमार्थेन घटिता घटनाविशेषाः ।

(३) **ऐतिहासिकसम्प्रदायः**—श्रीमता यास्काचार्येण सर्वतो बहुलमस्यैव सम्प्रदायस्योल्लेखा व्यधायि । मन्ये तस्मिन् युगेऽस्यैव बहुतरः प्रचार आसीत् । निरुक्ते त्रिविधोऽस्योल्लेखः । (क) स्थानत्रये—'**इति नैरुक्ताः, इत्यैतिहासिकाः**' इत्युक्त्वा उभयोः सम्प्रदाययो र्मतमुद्धृतम् । (ख) पञ्चसु स्थलेषु—'**तत्रेतिहासमाचक्षते**' इत्युक्त्वा ऐतिहासिकं मतं संक्षिप्योक्तम् । (ग) कुत्रचिच्च '**ऐतिहासिकाः**' '**इतिहासः**'—इत्येतयोः शब्दयोः प्रयोगमविधाय काचित् कथा वर्णिता । अन्ते च 'तदभिवादिन्येषा ऋग्भवति'–इत्येवमैतिहासिकं मतं प्रदर्शितम् ।

प्रथमे प्रकारे तदितरयोः प्रकारयोश्च भेदद्वयमुपलक्ष्यते । (१) यत्र 'ऐतिहासिकाः' इत्युक्तं तत्र तद्विरोधी नैरुक्तपक्षोऽपि निर्दिष्टः । अथ च एतादृशेषु प्रसङ्गेषु प्रायेण देवतानामर्थविशेष एव विचार्यते । यत्र पुनः 'इतिहासमाचक्षते' इत्युक्तं, केवलं कथा वा वर्ण्यते, तत्र निरुक्तपक्षः पृथक् न प्रदर्श्यते, न च कस्याश्चिद् देवताया विचारः । परं कश्चिद् ऋषिः राजा वा प्रस्तूयते ।

एतेन एतत्तु निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते यत् वृत्र–सरण्यू–सरमा–प्रभृतीनां देवासुराणां इतिहासपरा व्याख्या नानुमोदिता श्रीमतो यास्काचार्यस्य । स किल तेषामधिदैवतमर्थमंगीकुरुते । तेषां देवानां संग्रामं जनकपुत्रादिसम्बन्धं वा औपचारिकम् आलङ्कारिकं वा मन्यते । परं तदतिरिक्ते प्रसङ्गद्वये नैरुक्तानामभिमतस्यार्थस्य निर्देशाभावादस्ति किल सन्देहावकाशो विदुषां यद् यास्काचार्यो वेदे ऋषीणां राज्ञां वैतिहासिकं वर्णनमूरीकरोति न वेति । अस्मिन् प्रसङ्गे वयं पश्यामः, यदा स मुनिः—'**पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे** ।' (नि० १/२), '**तद्यदेनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भू अभ्यानर्षत् ते ऋषयोऽभवन्, तदृषीणामृषित्वम्** ।' (नि० २/११), '**एवमुच्चावचैरभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति** ।' (नि० ७/३)—इत्येवं प्रभृतिषु स्थलेषु वेदानां नित्यत्त्वं ऋषीणां च मन्त्रद्रष्टृत्वमभ्युपगच्छन्नवलोक्यते, तदा यास्कमते देवापि शन्तनु-प्रियमेध-सुदास-विश्वामित्र-त्रितप्रभृतय ऐतिहासिकाः पुरुषाः सन्ति इति न विश्वसिति नश्चेतः । अथ च इदमपि चिन्तनीयं भवति यदन्यथा कुतः खलु यास्काचार्य एषां व्यक्तिविशेषबोधकानां नाम्नां निर्वचनं विधत्ते । यतो हि स खलु जातिवाचकानां संज्ञापदानां (Common Noun) एव सर्वत्र निर्वचनमकरोत्, न पुनः व्यक्तिवाचकानां शाकपूणिस्थौलष्ठीविप्रभृतीनां व्यक्तिवाचकानां पदानाम् । तस्मादिदमनुमातुं शक्यते यन्निरुच्यमानत्वादेतानि नामानि न व्यक्तिविशेषवाचकानि, परं तदन्तर्निहितं गुणं क्रियां वा प्रकाशयितुः यस्य कस्यापि राज्ञो वा ऋषे र्वा बोधकानि सन्ति । मन्ये नेदं यास्कमुनेरभिमतं यत् पुरा कदाचिद् देवापिः शन्तनुः मुद्गलो वा नाम कश्चिद्राजविशेषोऽजायत, प्रत्युत निर्वचननिर्दिष्टैः गुणैरलंकृताः समये समयेऽस्मिन् संसारे जायमाना राजान एव वर्ण्यन्ते । अतएव निरुक्तसमुच्चयग्रन्थप्रणेता वररुचिः स्कन्दस्वामी

चाहुः—"**औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः नित्यत्व विरोधात्, परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।**"—इत्युक्त्वा स्कन्दस्वामी किल ऋषिषेण-देवापि-शन्तनु-प्रियमेध-भृग्वंगिरिस्त्रित-प्रभृतीनि पदानि नित्यपक्षे यजमानवाचकानि नित्यपदार्थवाचकानि च व्याख्यातवान् (पृष्ठम् ७७, ७८, १८०, २१०)। एतदेव क्वचिद् दुर्गाचार्योऽप्यंगीकरोति। '**विश्वकर्मा विमनाः**……' इति मन्त्रे '**तत्रेतिहासमाचक्षते**'—इत्युक्त्वा श्री यास्कः यदा स्वग्रन्थे कमपीतिहासं दर्शितवान्। तस्याभिप्रायं विद्वद्वरेण्यो भाष्यकारो दुर्गाचार्य इत्थं व्याचष्टे—

'तत्रैतस्मिन्नर्थे इतिहासमाचक्षते आत्मविद् इतिवृत्त परकृत्यर्थवादरूपेण। यः कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वाऽर्थ आख्यायते दिष्ट्युदितावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो नित्यमविवक्षितस्वार्थः तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात्।'

इदमपि सम्भोभवीति यद् यास्केन मुनिनैतेषु स्थलेषु इतिहासशब्दप्रयोग इतिवृत्तपरमकृत्वा अर्थान्तर एव कृतो भवेत्। इतिहासशब्दः इतिवृत्तसूचकः सन्नपि प्राचीनसंस्कृतसाहित्येऽनेकेष्वर्थेषु प्रयुज्यते स्म। श्रीमान् मोनियरविलियम्स महोदयः Sanskrit English Dictionary नामग्रन्थे इतिहासपदस्य अधोलिखितानर्थान् दर्शयति—

Talk, legend, tradition, history, traditional, account of formed events, heroic history.

यथा महाभारतेऽनेकत्र 'तत्रोदाहरन्ति हेममितिहासं पुरातनम् इत्युक्त्वा पशुपक्षिणां कथा वर्णिता। अत्र किलेतिहासशब्दः काल्पनिककथामात्रपरो न तु इतिवृत्तसूचकः।

समासत इदमेवास्माभिः वक्तुमिष्यते यत् पुरस्तात् प्रोक्तेषु द्वितीयतृतीयविधेषु प्रसंगेषु ऐतिहासिकमर्थमखण्डयन्नपि यास्काचार्यः तन्निर्वचनव्याजेन तेषां पदानां जातिवाचकत्वं दर्शयति, यद्वा पुरुषविशेषस्येतिहासमनुक्त्वा नित्येतिहासं सूचयति।

इदमपि नाप्रासंगिकं भवेद् यदैतिहासिकसम्प्रदायवादिनो यथा वेदेषु राज्ञामृषीणाञ्चेतिहासं जानन्ति तथैवते इन्द्रादीनां देवतानामपीतिहासं स्वीकुर्वन्ति। इन्द्रदेवस्य सोमपानं, स्वगृहे निवासः, वृत्रेण सह संग्रामः इत्यादीनि पुरुषविधवर्णनानि तदितिहाससूचकान्येव। तथैव इन्द्रादीनां पितृ-पुत्र-भगिनी-जारादयः सम्बन्धा अपि सन्ति। पुरुषविधा एवैते देवाः। इत्थमयमैतिहासिकसम्प्रदायः ग्रीक-रोमन देवानामिव वैदिकदेवानामितिहासपरां व्याख्यां (Mythological or historical interpretation) करोति।

(४) **अध्यात्मवादिसम्प्रदायः**—अस्य सम्प्रदायस्योल्लेखः सर्वतः प्रथमं '**य ईञ्चकार न सो अस्य वेद**' इति मन्त्रव्याख्यायां परिप्राज्ञकेति नाम्ना विहितः। तथैव '**चत्वारि वाक् परिमिता पदानि**……' इति मन्त्रव्याख्यावसरे विविधसम्प्रदायेषु अस्य सम्प्रदायस्यापि नामोल्लेखो वर्तते। स्वयं यास्काचार्योऽपि केषाञ्चिन्मन्त्राणामाधिदैवतमर्थं विधायाध्यात्मपरमर्थमपि प्रस्तुतवान्। (तद्यथा—**यत्र सुपर्णाः**०। नि० ३/१२, **सप्त ऋषयः**। नि० १२/३७, **विश्वकर्मा**०। नि० १०/२६, **तिर्यग्बिलः**। नि० १२/३८)। निरुक्तस्य चतुर्दशाध्याये तु प्रायेण सर्वे मन्त्रा अध्यात्मपरा एव। यदि नामायमध्यायो यास्ककृतो नापि स्वीक्रियेत तथाप्येभिः प्रसंगैः नातितिरोहितं यद् यास्काचार्यो मन्त्राणां न केवलमाधिदैवतमेवार्थं स्वीकुरुते, परमध्यात्मपरमपि। अत्रेदमप्यवधेयं यद् अध्यात्मशब्देनात्र ब्रह्मपरोऽर्थो नाभिप्रेतः, परं केन-तैत्तरीय-बृहदारण्यकादिष्विवात्रापि अध्यात्मशब्देन शरीरमुच्यते।

(५) **नैरुक्तसम्प्रदायः**—श्रीयास्काचार्योऽस्य सम्प्रदायस्य प्रमुखः प्रवक्ता वर्तते, न तु प्रवर्तकः। अतिचिरन्तनोऽयं सम्प्रदाय.। यास्केन मुनिना स्वग्रन्थे स्वयं चतुर्दशानांमाचार्याणां नामग्राहपूर्वकं स्थाने-स्थाने मतमुद्धृतम्। बहुत्र च 'इति नैरुक्ताः' इत्युक्त्वाऽस्य सम्प्रदायान्तरेभ्यो मतभेदो दर्शितः। द्विविधं खलु वैशिष्ठ्यमस्य सम्प्रदायस्य। प्रथमं तावत् सर्वाणि नामान्याख्यातजानि इति सिद्धान्तः। अतएव निर्वचनप्रकारमुल्लिख्योपसंजहम्—"अविद्यमाने सामान्येऽक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत।।" द्वितीयं च वैशिष्ठ्यं देवतावादविषयकं, वैदिकदेवतानामाधिदैवतपरं व्याख्यानम् (Naturatistic interpretion)। एतदुभयं सम्प्रदायान्तरेभ्यो नैरुक्तसम्प्रदायस्य वैशिष्ठ्यं बोधयति। कतिचिद्भिरुदाहरणैः तत् स्फुटीभवति।

याज्ञिका ऐतिहासिकाश्च तावत् प्रायेण लौकिकशब्दानिव वैदिकानपि शब्दान् रूढीन् योगरूढीन् वा मन्यन्ते, न पुनः सर्वथा यौगिकान्। तेषां पदानाञ्च वाच्यार्थमेव गृह्णन्ति प्रायेण। अतएव इन्द्रादीनां देवानां पुरुषविधं वर्णनं युद्धादींश्च विलोक्य ग्रीकरोमपौराणिकदेवानिव वैदिकदेवानपि लोकोत्तरशक्तिमतः मनुष्यानिव शुभाशुभकर्मकर्तॄंश्च मन्यन्ते। नैरुक्तास्तावत् अन्यथैव विचारयन्ति। नैरुक्तसमये तु—"**स न मन्येतागन्तूनिवार्थान् देवतानाम्**" तन्मते त्रयो वावलोकाः, तिस्र एव च तेषां देवताः प्रधानाः। '**अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः, आदित्यो वा द्युस्थानः: तासां महाभाग्याद् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति, अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। यथा होताऽध्वर्युर्ब्रह्मोद्गाता इत्येकस्य सतः।**
(नि० ७/५।।)

इत्थमेताः सर्वा देवता प्राकृतिकाः सूर्यादयः भौतिका पदार्था एव, न पुनः काश्चिदद्भुताकृतयो अलौकिकाः सत्त्वविशेषाः। केषुचिन्मन्त्रेषु निर्वचनबलेन लक्ष्यार्थं वाऽऽश्रित्यासां देवतानां अध्यात्मपरोऽर्थोऽपि विहितः। नैरुक्तसम्मतस्य देवताव्याख्यानस्यांगीकारेण अनेकेषां मन्त्राणांमुपहासास्पदत्वं, देवानाञ्चाश्लीलतादोषः समाधीयते। तथा चैतान्याख्यानानि औपम्यमेव दर्शयन्ति, न तु वास्तविकं युद्धादिकम्। इन्द्र-वृत्रासुरयुद्धवर्णनमित्थं विशदीकृतं यास्काचार्येण—

"**तत् को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपाञ्च ज्योतिषश्च मिश्रीभाव-कर्मणो वर्षकर्म जायत, तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।** (नि० २/१६।।) तथैव स '**स्वसुजरिः शृणोतु नः**' (ऋक् ६/५५/५।) इति मन्त्रे स आदित्य एव स्वसुः–स्वभगिन्याः उषसः जारो जरयिता उक्तः। अपरञ्च—'**पिता दुहितुर्गर्भमाधात्**। (ऋक् १/१६४/३३।) इति मन्त्रेऽपि पितृ-दुहितृशब्दौ न रूढ़ी, परं यौगिकौ। 'पितापातापालयिता वा भवति। (नि० ४/१।।') दुहिता दूरे हिता दोग्धे र्वा। (नि० ३/४।।) पालपितृत्वात् पर्जन्योऽत्र पिता प्रोक्तः, दूरस्थितत्वाच्च भूमिः दुहिता। नैरुक्तमते नात्र पुरुषविधस्य देवविशेषस्य स्वकन्यायां गर्भधारणमुक्तम्, प्रत्युत पर्जन्यस्य पृथिव्यां वृष्टिजलसेचनमेव वर्णितम्। यद्वा पर्जन्ये पितृत्वस्य भूम्याञ्च दुहितृत्वस्य व्यपदेश उपचारादेव मन्तव्यः, काव्ये तथात्वात्।

अपरञ्च यास्काचार्योऽधोलिखितामृचमपि नैरुक्तदिशा व्याख्यातवान्—

"अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादुद्वामिथुना सरण्यूः।। (ऋक् १०/१/८७)

तत्रेतिहासमाचक्षते। त्वाष्ट्री सरण्यूः आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार। सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वरूपं कृत्वा प्रदुद्राव। स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं विधाय तामनुसृत्य संबभूव। ततो अश्विनौ जज्ञाते। सवर्णायां मनुः।

सैषा कथा सामाजिकं जीवनं क्षुद्रतरं दर्शयति, बालानां वा मनोविनोदायालम्। यास्कस्तु नात्रेति-हासं मन्यते। तन्मते प्रकृतौ नित्यं विलोक्यमाना घटनैवात्र वर्णिता। अस्तंगमिष्यन् सायंकालिकः सूर्य एव

त्वष्ट्रा। तस्मिन् काले पृथिव्यां तस्य प्रभाऽपि लुप्यते। ततो जायमाना छाया रात्रि र्वाऽत्र त्वाष्ट्री सरण्यूरुक्ता।

उत्तदासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि।
अवाहन्निन्द्र शम्बरम्॥ (ऋक् ४/३०/१४)

इत्यादिषु मन्त्रेषु शम्बरवृत्रादयो नासुरविशेषाः यानिन्द्रो जघान, परं मेघ एव तैः शब्दै रुच्यते, इन्द्रश्चात्र विद्युद्वाचकः। तयो मिश्रीभावकर्मणो यद् वर्षकर्म भवति तदेव युद्धरूपेण वर्ण्यते। तस्मादिदं युद्धवर्णनमालङ्कारिकमेव न तु वास्तविकम्। तथैवैतेषां देवानां हस्तपादादीनामुल्लेखोऽप्यौपचारिक एव, न तु वास्तविकः। एतादृशं पुरुषवर्णनं तु पाषाणादीनां जड़पदार्थानामपि श्रूयते। तद्यथा—"अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः" तथा "होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत" इति ग्रावस्तुतौ, "सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्" इति च नदीस्तुतौ।

एवमेव मन्त्रेषु देवतानां ये स्वसृदुहितृपितृजारादयः सम्बन्धा वर्णिता तेऽपि न रूढ़िवाचकाः, प्रत्युत यौगिके लाक्षणिके वाऽर्थे प्रयुक्ताः। पितृशब्दो न केवलं देहोत्पादयितुः जनकस्य नाम, परं यः कश्चित् पालनकर्ता, स पिता उच्यते। जारशब्दो न केवलमुपपतिवाचकः, परं कस्यापि जरयितु र्भवति। दुहितृ-शब्दो न कन्यावाचक एव, परं 'दूरेहिता' इत्यर्थसामान्यं द्योतयति। नापि स्वसृशब्दः केवलं भगिनीवरः परं वेदे 'स्वंसरः'—सूर्यो भवति 'स्वसृ' च उषाः।

इत्येवमेषां यौगिकमर्थं विधाय—'उदीरय पितरा जार आभगम्।' इत्येवमादिषु ऐतिहासिकै र्योऽश्लीलोऽर्थो वर्ण्यते, तन्नैरुक्तपद्धत्या निराक्रियते। यतोहि—'आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रे र्जरयिता, स एव भासाम्॥" तस्याः कालः सूर्यास्तमयादारभ्य उषस उदयात् प्राग् वर्तते। अयं च मध्यवर्ती कालः अश्विनाविति संज्ञां लभते। इमौ अश्विनावेव सरण्यूपुत्रौ वर्तेते।

एवं निरुक्तसम्प्रदाये उर्वशी पुरूरवा वा नैतिहासिकौ स्त्रीपुरुषौ, परं विद्युन्मेघावेव।

समासत इदमुच्यते यन्निरुक्तसम्प्रदायः प्राधान्येन वेदमन्त्राणां तद्देवतानां च आधिदैवतव्याख्यां विधत्ते, याज्ञिकसम्प्रदायश्चाधियज्ञमाधिभौतिकं वाऽर्थं करोति, अध्यात्मवादिनश्च तेषामाध्यात्मिकीं व्याख्यां विदधति। श्रीयास्काचार्यश्च तेषां मन्त्राणां प्राधान्येनाधिदैवतव्याख्यां विदधन्नपि इतरं व्याख्याद्वयं न तिरस्करोति। अपि तु स्वयमपि कुत्रचित्तथैव व्याख्यां कुरुते। परं तृतीये ऐतिहासिके सम्प्रदाये नास्ति तस्य काश्चिदादरः। तन्मते ऋक्षु वर्णितस्यालङ्कारिकवर्णनस्य यौगिकस्यार्थस्य चाज्ञानादेव ऐतिहासिक-सम्प्रदायस्य जन्माभूत्॥

———

भूतपूर्व—वेदोपाध्याय
गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार,

☐ डा० राकेश शास्त्री

वैदिक निपातों का महत्त्व

निरुक्तकार आचार्य यास्क ने पदों का चार श्रेणियों में विभाजन किया है—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।[१] यद्यपि कुछ विद्वानों ने 'कर्मप्रवचनीय' को पञ्चम पद-वर्ग की संज्ञा दी है,[२] तथापि सर्वमान्य न होने से वह वर्ग असंदिग्ध नहीं है। वस्तुतः निपात का भाषा में महत्वपूर्ण स्थान है। प्रायः सभी आचार्यों ने पदों की गणना करते समय निपातों की गणना चतुर्थ वर्ग में की है,[३] किन्तु इससे निपातों के महत्त्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती है। कुछ भाषा वैज्ञानिकों के विचार में तो भाषा की उत्पत्ति एवं विकास का अधार ही निपात रहे हैं उनके अनुसार—'अति प्राचीन काल में जब मानव के पास परिष्कृत वाणी का अभाव रहा होगा, तो वह मूल धातुओं एवं निपात जैसे सूक्ष्म पदों के द्वारा ही अपने भावों का व्यक्तीकरण करता रहा होगा।[४]

भाषा के विकास में निपातों की इस महत्त्वपूर्ण स्थिति को ध्यान में रखते हुए जब हम वैदिक साहित्य का अध्ययन करते हैं तो वहाँ पर हम देखते हैं कि निपात प्रायः विविध-अर्थाभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुए हैं। एक ही निपात विविध स्थलों पर प्रायः एकाधिक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सम्भवतः निपातों के इस अर्थ-वैविध्य को दृष्टि में रखते हुए ही प्राचीन आचार्यों ने—"विविध अर्थों में प्रयुक्त या निपतित होने के कारण ही इन्हें 'निपात' संज्ञा दी।"[५]

निपातों की इस परिभाषा से आचार्य यास्क,[६] निरुक्त के टीकाकार आचार्य दुर्ग,[७] ऋक्प्रातिशाख्य-कार,[८] माधवभट्ट,[९] एवं वृहद्देवताकार[१०] आदि आचार्यों की सहमति अभिव्यक्त होती है। किन्तु विस्मय का विषय है कि जहाँ एक ओर आचार्यों द्वारा निपात जैसे भाषा के महत्त्वपूर्ण विभाग को विविधार्था-भिव्यक्ति का श्रेय प्रदान किया गया वहीं दूसरी ओर कुछ आचार्यों द्वारा 'निपातः पदपूरणः' कह कर इसकी उपेक्षा करदी गयी।[११] निपातों के विषय में विद्वानों का यह मत-वैविध्य ही वास्तविक स्थिति जानने के लिए चिन्तन एवं अन्वेषण के द्वार उद्घाटित करता है।

प्रस्तुत संक्षिप्त लेख में इसी विषय पर विचार करते हुए निपातों की मात्र पदपूरण कहकर उपेक्षा करना उचित नहीं है अपितु प्रयुक्त स्थल पर उसके प्रयोग की सार्थकता के चिन्तन की आवश्यकता है। साथ ही वैदिक साहित्य में निपातों का अध्ययन भी वैदिक मन्त्रों एवं स्थलों के गूढार्थ को जानने में सहायक होगा, अतः इनके अध्ययन की आवश्यकता पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

माधवभट्ट ने ऋग्वेदानुक्रमणी में 'न, वै, किल, नाम, खलु, इत्, आत्, अद्य सीम्, उ, कम्, उत, नूनम्, इव, इङ्, स्म, चित्, घ और च निपातों को अनर्थक माना है।[१२] इन निपातों में से प्रायः सभी निपातों के, वैदिक साहित्य की बात तो दूर है—ऋग्वेद में ही सार्थक प्रयोग मिलते हैं। अतः माधवभट्ट ने किस आधार पर इन निपातों को अनर्थक प्रतिपादित किया है? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

विचार करने पर निपातों को अनर्थक कहने का कारण सम्भवतः यह प्रतीत होता है कि कतिपय निपात वेदों में कतिपय स्थलों पर स्पष्ट रूप से किसी विशिष्ट एवं निश्चित अर्थ को प्रकट करते हुए प्रतीत नहीं होते। किन्तु यदि उन स्थलों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो वे ही निपातपूर्ण तथा सार्थक प्रतीत होते हैं। इस कथ्य की पुष्टि माधवभट्ट के कथन से भी होती है क्योंकि वे स्फुट अर्थ वाले निपातों को सार्थक एवं सूक्ष्म अर्थ होने पर पदपूरण मानते हैं।[१३]

वैदिक साहित्य, मुख्यतया वेदों में निपातों का विशिष्ट महत्त्व है । ऋग्वेद विश्वसाहित्य का आदि ग्रन्थ है एवं भाषा तथा भावों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है, इस तथ्य को देश-विदेश के प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं । पुनरपि उसी ऋग्वेद के मन्त्रों में प्रयुक्त निपातों को केवल पदपूरण कहकर उनकी उपेक्षा करना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐसी स्थिति में जबकि मन्त्रों के पदों का व्यतिक्रम भी स्वीकार न किया जा सके, एक ही मन्त्र में प्रयुक्त चार अथवा पाँच निपात अनर्थक हों यह बात युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती ।

ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा थे उन्हें ईश्वरीय ज्ञान का दर्शन हुआ ऐसी स्थिति में तथा ऋग्वेद की सुसमृद्ध भाषा-शैली एवं उच्च भावयुक्त कल्पना को देखकर यह मानना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता कि वैदिक ऋषियों के अथवा ईश्वर के पास सार्थक पदों का अभाव था, इसलिए उन्होंने छन्दपूर्ति के लिए विभिन्न स्थलों पर अनर्थक निपातों का प्रयोग किया ।

वस्तुतः वेद मन्त्रों की व्याख्या का क्षेत्र विशाल है । वैदिक पदों की व्याख्या अनेक प्रकार से उपलब्ध होती हैं । विभिन्न व्याख्याकार एक ही पद की विविध प्रकार से व्याख्या करते हैं । एक भाष्यकार एक स्थल पर किसी निपात की व्याख्या में उसको अनर्थक अथवा पदपूरणार्थक स्वीकार करता है तो वहीं भाष्यकार उसी को सार्थक एवं वैकल्पिक अर्थों में प्रयुक्त मानता है ।[१४] ऐसी स्थिति में निपातों को अनर्थक या पदपूरण मानना अथवा उनका पदपूरण लक्षण करना समीचीन प्रतीत नहीं होता, अपितु यह कथन वस्तुस्थिति को जानने के लिए प्रेरित करता है ।

'निपात सार्थक हैं' इस कथन की पुष्टि में एक अन्य प्रमाण यह भी दिया जा सकता है कि प्राचीन आचार्यों ने अर्थवान् अक्षर समूह को पद की संज्ञा दी है ।[१५] तथा निपात को एक पद विभाग के रूप में अधिकांश विद्वान् स्वीकार करते हैं ।[१६] अतः निपातों की सार्थकता ही सिद्ध होती है । यदि निपात को हम अनर्थक मानते हैं तो उसे चार प्रकार के पद समूह से पृथक् करना होगा, जो कि प्राचीन आचार्यों को स्वीकार्य नहीं है । अतः निपातों को अनर्थक या पदपूरण कहना युक्तिसगत प्रतीत नहीं होता ।

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य में निपातों का बहुल प्रयोग हुआ है । लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त निपातों को तो फिर भी प्रायः निश्चित अर्थों में प्रयुक्त कहा जा सकता है । किन्तु वैदिक साहित्य में स्थिति भिन्न है । वहाँ किसी निपात विशेष के अर्थ के निर्धारण में ऋग्वेद के भाष्यकार भी एक मत नहीं हैं । भाष्यकारों का यह मत-वैषम्य भी निपातों के अर्थ विवेचन की आवश्यकता को ही प्रदर्शित करता है ।

निपातों के विषय में भाष्यकारों की यह मतभेद की स्थिति मात्र ऋग्वेद में ही नहीं है, अपितु अन्य वेदों में भी रही है । साथ ही प्रातिशाख्य ग्रन्थों द्वारा निपातों को अनर्थक पादपूरण प्रतिपादित करना [१७] एवं निरुक्तकार द्वारा कुछ निपातों को अनेक अर्थों वाला मानना, [१८] वस्तु स्थिति की वास्तविकता को जानने के लिए प्रेरित करता है ।

इसके अतिरिक्त आचार्य यास्क ने निरुक्त में निपातों पर विचार करते हुए अन्त में उनके सूक्ष्म एवं सर्वांगीण अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया है ।[१९] माधवभट्ट ने भी यद्यपि ऋग्वेदानुक्रमणी में निपातों पर अपेक्षाकृत विस्तार से विचार किया है, क्योंकि वहाँ उन्होंने 'निपातानुक्रमणी' प्रकरण के छः अध्यायों में निपातों की चर्चा की है, जिनमें निपातों के विविध अर्थ उनका सार्थक एवं अनर्थक प्रयोग संख्या तथा अनेकार्थकता आदि विषयों का विवेचन किया है तथापि उन्होंने भी निपातों से सम्बद्ध अनेक

प्रश्नों पर निर्देशात्मक संकेत मात्र देकर उनके समुचित निरीक्षण एवं परीक्षण की आवश्यकता बतायी है।[२०] उनके मत में निपातों के प्रयोग को जानने में कुशल व्यक्ति निपातों के विविध अर्थों की कभी उपेक्षा नहीं करते।[२१]

यह विस्मय का विषय है कि भाषा का महत्त्वपूर्ण अङ्ग एवं वैदिक साहित्य में विशिष्ट महत्त्व होते हुए भी निपातों के साथ सायण प्रभृति भाष्यकारों ने भी पूर्ण न्याय नहीं किया है क्योंकि अनेक स्थलों पर निपातों का अर्थ करते समय अरुचि दिखलाते हुए उन्होंने या तो उस निपात का कोई अर्थ ही नहीं किया।[२२] अथवा इसे पद पूरण मान लिया।[२३] आचार्य मुद्गल ने प्रायः सायण का ही अनुकरण किया है। अनेक स्थलों पर उनका भाष्य सायण भाष्य से अक्षरशः मिलता है। वेंकटमाधव ने अधिकांश स्थलों पर निपात का कोई अर्थ नहीं किया है या फिर मात्र मूल निपात की ही आवृत्ति कर दी है। स्कन्द स्वामी तो अधिकांश निपातों को पदपूरण ही मानते हैं।[२४] किन्तु स्वामी दयानन्द निपातों के अर्थ के विषय में सचेष्ट प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने प्रायः सर्वत्र निपातों का कोई न कोई अर्थ किया है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अब तक उपलब्ध प्राचीन आचार्यों की निपात-चर्चा केवल दिग्दर्शन मात्र ही है, उससे निपात विचार की आवश्यकता ही सिद्ध होती है। अतः वैदिक अध्ययन एवं वेद मन्त्रों के अर्थौचित्य की दृष्टि से विविध निपातों के विविध अर्थों के विषय में सूक्ष्म विवेचन एवं सर्वांगीण अध्ययन की महती आवश्यकता है।

सन्दर्भ संकेत

१. चत्वारि पद जातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च—निरुक्त १/१/८

२. तत्र पदमनेकप्रकारनामाख्यातोपसर्ग निपात कर्मप्रवचनीय भेदात्—व्यक्ति विवेक पृ० २७।

३. ऋ० प्राति १२/१७, वा० प्राति १/१, महाभाष्य—१/१/१, कौटिल्य अर्थ० २/१०/२८।

४. आवेग सिद्धान्त—भाषाविज्ञान—डा० कर्णसिंह, १९७४—पृ० ३६।

५. अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति—निरुक्त १/४।

६. वही।

७. उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति, इति निपाताः निरुक्त दुर्गटीका—१/४।

८. निपातानामर्थवशान्निपातनात्—ऋक् प्रातिशाख्य—१२/१५।

९. उच्चावचेषु निपततामर्थेषु यथायथम्—ऋग्वेदानुक्रमणी ३/१/१७।

१०. उच्चावचेषु चार्थेषु निपाताः समुदाहृताः।
वशात् प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते पदे-पदे॥ बृहद्देवता—२/९३।

११. (क) निपातः पादपूरण —ऋक् प्रातिशाख्य—१२/८/७०७।
(ख) निपातस्तु अर्थविशेषाभावात् पादपूरणः—वा० प्रा० अनन्त भाष्य ८/५०।
(ग) अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति।
पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति। निरुक्त १/९/३

१२. न-वै-किल-नु-नामाथ खल्विदादधसीमु कम्।
उत् नूनमिवेङ्घस्मचिद्धचाः स्युरनर्थकाः॥ ऋग्वेदानुक्रमणी ३/१/१४।

१३. स्फुटत्वोद्ग्रहणादिश्च क्वचित् सूक्ष्मः क्वचित् स्फुटः।
यत्र स्फुटास्तदा सार्थाः सूक्ष्मे स्युः पूरणा इति॥ ऋग्वेदानुक्रमणी ३/१/१८।

१४. घ इत्यनर्थः प्रसिद्धचर्थो वा—ऋग्वेद सायणभाष्य १/१६१।८।
ह शब्दः पूरणः प्रसिद्धौ वा। वही ४/४१/२

१५. अर्थः पदमेन्द्राणामिति—निरुक्त दुर्गवृत्ति १/१/८
अर्थः पदमाहुरेन्द्राः—सुषेण विद्याभूषण, कलापचन्द्र, सन्धि २०।
अर्थाभिधायि पदम्, पद्यते गम्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति पदम्। वाजसनेयी प्रातिशाख्य—उव्वट भाष्य ३/२
१६. (क) चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च निरुक्त १/१/८।
(ख) नामाख्यातमुपसर्गो निपातः, चत्वार्याहुः पदजातानि। ऋक्प्राति० १२/१७।
(ग) अक्षर समुदायः पदं तच्चतुर्धा। नामाख्यातोपसर्ग निपाताः। वा० प्राति० १/१।
(घ) चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्च। महा० भा० १/१/१।
१७ वाज० प्राति० अनन्तभाष्य ८/५०, ऋ० प्राति० १२/८/७०७, ऋग्वेदानुक्रमणी ३/१/१४, निरुक्त १/६/८।
१८. चिदित्येषोऽनेक कर्मा,…नु इत्येषोऽनेककर्मा। निरुक्त १/४/११, १५।
१९. एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति त उपेक्षितव्याः। निरुक्त १/३/११।
२०. उच्चावचेषु निपततामर्थेष्वेषु यथायथम्।
हानोपादान वान्विप्रो न मन्त्रार्थेषु मुह्यति ॥ ऋग्वेदानुक्रमणी ३/१/२७।
२१. निपातानां प्रयोगस्य स्थानं ज्ञात्वा न मुहयति।
अतो लोकानुसारेण निपातार्थं प्रदर्शयेत् ॥ वही ३/३/२१
२२. ऋ० १/१०/१०, ४२/२, १३५/४, २/६/४, ३/२/६, (हिनिपात)
२३. उ इति पादपूरणः ऋ० १/५०/१, सायण भाष्य
हेति पूरणः ऋ० ५/४१/७ सायणभाष्य।
२४. उ सु पदपूरणौ ऋ० स्कन्दस्वामी भाष्य १/३६/१३।
उ इत्येतत् पदपूरणः ऋ० स्कन्दस्वामी भाष्य १/११६/१७

———

प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वा

□ डॉ० श्रीनिवास शास्त्री

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्

महाभारतस्येदं वचनम् ।[1] इदं च वायुपुराणे (१.२०१), पद्मपुराणे (सृष्टि० २.५१) चापि दृश्यते, अन्येषु च परवर्तिषु ग्रन्थेषु । क्वचिच्च वेदार्थमुपबृंहयेत् इत्यपि पाठः । उपबृंहणशब्दस्यार्थो विशदीकरणम् । यथाऽऽह रामानुजः उपबृंहणञ्च श्रुतिप्रतिपन्नार्थविशदीकरणम् ।[2] अन्यत्र च स विस्तरेण शब्दमिमं स्पष्टयति—उपबृंहणं नाम विदितसकलवेदतदर्थानां स्वयोगमहिमसाक्षात्कृतवेदतत्त्वार्थानां वाक्यैः स्वावगतवेदवाक्यार्थविशदीकरणम् ।[3] स हि उपबृंहणस्य अवश्यकर्तव्यतामपि समर्थयति । इतिहासपुराणाभ्यां किमर्थमुपबृंहणं कार्यम् ? कथं वा कार्यम् ? इत्ययं विषयो नात्र समालोचनीयः, अपितु महाभारतस्यास्मिन् वाक्ये पुराणशब्दस्य कोऽर्थो युक्तिप्रमाणसह इत्येव विमृश्यते ।

सत्यमेवैतद् यत्पुराणशब्दोऽयं लोके विद्वत्समाजे च श्रीमद्भागवतादीनां वाचकत्वेन प्रसिद्धः, श्लोकमिममुद्धृत्य सायणाचार्येण च निरूपितम्—"उपनिषदुक्ताः सृष्टिस्थितिलयादयो ब्राह्मपाद्मवैष्णवादिपुराणेषु स्पष्टीकृताः",[4] तेनेदं प्रतिभाति यदत्र महाभारतवचने पुराणशब्देन ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणानि सायणाचार्यस्याभिमतानि; अन्येषामपि चानेकेषां व्याख्याकाराणां तथैवाभिमतम् । तथापि—यदा श्रीमद्भागवतादीनां नामापि नासीत् तादृशे सुदूरप्राचीनेऽपि काले पुराणशब्दस्य प्रयोग उपलभ्यते, सायणप्रभृतयश्चाचार्याः क्वचित् पुराणशब्दस्यान्यमप्यर्थं बोधयन्ति, समीक्षकैश्च महाभारतग्रन्थः श्रीमद्भागवतादिभ्यः प्राचीन इति निर्णीतम्, अतो विचारमर्हत्येवायं विषयः ।

पुराणशब्दस्य प्रयोगोऽतिप्राचीनः । मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु चाप्ययं शब्दो बहुश उपलभ्यते । ऋग्वेदस्य केषुचित् स्थलेषु तु स्पष्टमेतद् यत् पुरातनशब्दसमानार्थक एव पुराणशब्दः ।[5] सायणाचार्यप्रभृतिभिश्च वेदभाष्यकारैरपि तत्र चिरन्तनशब्दस्य पुरातनशब्दस्यैवार्थे पुराणशब्दो व्याख्यातः ।[6] स तु नात्र विचारस्य विषयः । परं सन्ति मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च केचन सन्दर्भा यत्रास्य शब्दस्य पुरातनार्थे प्रयोगो न वक्तुं शक्यते तत्र तु विचारणीयं यदयं शब्दः कस्यार्थस्य बोधकः, इति । तद्यथा, अथर्ववेदे श्रूयते—

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् ।।
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ।।
इतिहासस्य च वै पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं
धाम भवति य एवं वेद ।।[7]

एषां मन्त्राणां किञ्चित् प्राचीनं भाष्यं नोपलभ्यते । सायणभाष्यमपि च नोपलब्धम् । स्वामिदयानन्देन मन्त्रोऽयं पूर्वपक्षे समुद्धृतः, न च व्याख्यातः । पूर्वपक्षं समादधता चेदमुक्तम्—"एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते न श्रीमद्भागवतादीनामिति । कुतः ? ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् ।"[8] अत्र च पुराणशब्दस्य कोऽभिप्रायः ? इत्यस्मिन् प्रसङ्गे ज्ञाप्यते—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् (छान्दोग्य० प्रपा० ६), आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् (ऐतरेयोपनिषद् १.१), आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास (शत० ११.१), इदं वा अग्रे नैव किञ्चिदासीत्...इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि" ।[9]

अथर्ववेदेऽन्यत्रापि पुराणशब्द उपलभ्यते । तद्यथा–'ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह' । तत्र च सायणाचार्येणैवं व्याख्यातम्—"पुराणम् पुरातनवृत्तान्तकथनरूपम् आख्यानम्" ।[10] क्वचित्तु 'पुराणवित्' इत्ययमपि प्रयोगः । तत्र चास्य शब्दस्याभिप्रायोऽपि व्यज्यत इव । तद्यथा—

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः ।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥[११]

अस्य मन्त्रस्य भाष्ये सायणाचार्यः कथयति[१२]—"ताम् अतीतकल्पस्थां भूमिं 'यो वै' यः खलु 'नामथा' नामप्रकारेण तस्यां यद्यद् वस्त्वस्ति तत् सर्वं नामग्राहं 'विद्यात्' जानीयात्······'पुराणवित्' पुरातनस्य अर्थस्य वेदिता स विद्वान् मन्येत इदानीन्तनीमपि सर्वां भूमिं मन्येत जानीयात् ।"

अत्र तु पुरातनस्य अर्थस्य वेदिता एव पुराणवित् कथितः । इत्यञ्चात्र पुरातनोऽर्थः, पुरातनवृत्तान्तो वा पुराणपदस्य बोध्यो न तु कश्चिद् ग्रन्थविशेषः । किञ्चात्रापि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकवचनमेव पुराणशब्दस्यार्थ इति स्वीकर्तुं शक्यते । कथितैवात्र जगतः पूर्वावस्था ।

अयं च पुराणशब्दो गोपथशतपथादिषु[१३] ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि बहुशः प्रयुज्यते । तत्र चायम् इतिहासादिशब्दैः साकं दृश्यते । शतपथब्राह्मणे तु पुराणादीनां स्वाध्यायोऽपि स्तूयते ।[१४] तेन चेदं प्रतिभाति यत् पुराणेति कस्यचित् सन्दर्भस्य नाम । अतश्च पुनरपि संशयो जायते यत् तेन नाम्ना किं ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणानि ग्राह्याणि, आहोस्विज्जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनान्येव । अत्र च संशये प्रमाणनि युक्तयश्च मार्गं दर्शयेयुः ।

तथाहि—सायणाचार्यस्य ऋग्वेदभाष्यभूमिकायामयं तावत् पूर्वपक्षः—"ननु ब्रह्मयज्ञप्रकरणे मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्ता इतिहासादयो भागा आम्नायन्ते 'यद् वै ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' (तै० आ० २।९) इति ।" अस्मिंश्च पूर्वपक्षे आचार्येणोच्यते—"मैवम् । विप्रपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणाद्यवान्तरभेदानामेवेतिहासादीनां पृथगभिधानात् । देवासुराः संयत्ता आसन् (तै० सं० ५.३.११.१) इत्यादय इतिहासाः । इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत् (तै० ब्रा० २.२.९.१) इत्यादिकं जगतः प्रागवस्थामुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम् ।"[१५] अनेन च सायणाचार्यस्य व्याख्यानेन ज्ञायते यद् ब्राह्मणान्तर्गतं जगतः प्रागवस्थाकथनपूर्वकं सर्गप्रतिपादकं वचनमेव पुराणशब्देनाभिधीयते ।

अत्र हि ब्राह्मणावान्तरभागस्य पुराणत्वं ब्राह्मणप्रसङ्गेनैव प्रतिपादितम् । तादृशा मन्त्रावान्तरभागा अपि पुराणशब्दाऽभिधेया इति निवेदितमेव पुरस्ताद् । तथा च ब्राह्मणग्रन्थस्यांशविशेषो पुराणसंज्ञकः मन्त्रांशविशेषश्च । न हि सर्वत्र ब्राह्मणग्रन्थस्यशविशेषः पुराणमिति स्वीकर्तुं शक्यम्; अथर्ववेदेऽपि तादृशस्य पुराणशब्दस्य दर्शनात्, ब्राह्मणग्रन्थानाञ्चाथर्ववेदाद् अर्वाचीनत्वात् । सायणाचार्योऽपि 'ब्राह्मणाद्यवान्तरभेदानामेवेतिहासादीनां पृथगभिधानात्' इत्यत्र आदिशब्दं (ब्राह्मणादि-) गृह्णाति । स्वामिदयानन्देनापि च ब्रह्मयज्ञप्रकरणविषयिकां शङ्कां समादधतैव ब्राह्मणांशविशेषस्य पुराणत्वं प्रतिपादितम् । न हि तत्राथर्ववेदस्थः पुराणशब्दोऽपि लक्षितः । ततश्च मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च प्रागवस्थाप्रतिपादकं वचनमेव पुराणशब्दस्याभिधेयम्, न तु श्रीमद्भागवतादिपुराणम् इति सुवचम् । मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च पुराणम् इत्येकवचनस्य, पुराणानीति बहुवचनस्य वा प्रयोग उपलभ्यते । न तु कस्यचित् प्रचलितस्य पुराणस्य संकेतोऽपि तत्र दृश्यते ।

आस्तां तावन्मन्त्राः ब्राह्मणानि वा । अन्यत्रापि प्राचीने वाङ्मये न क्वचित् श्रीमद्भागवतादीनां संकेतो दृष्टचरः । यद्यपि पाणिनिकृतसूत्रेषु महाभारतस्य कतिपये संकेताः समुपलभ्यन्ते, तथापि तत्र प्रचलितपुराणानां संकेतोऽपि न दृश्यते । महाभाष्यकारेण भगवता पतञ्जलिना वामनजयादित्यादिभिः व्याख्याकृद्भिरपि 'तेन प्रोक्तम्'[१६] कृते ग्रन्थे'[१७] इत्यादिसूत्राणां व्याख्याने न प्रचलितपुराणानामुल्लेखो विधीयते । यत्तु आपस्तम्बधर्मसूत्रे (२.९.२४.६) 'इति भविष्यत्पुराणे' इत्युक्तं तत्रापि न भविष्यत्पुराणसंज्ञकः पुराणविशेषो गृह्यते, अपितु भाविघटनाबोधकं वाक्यमेव । अस्मिंश्चार्थे पुराणं भविष्यम् इति पदजातस्य प्रयोगो महाभारतेऽपि समुपलभ्यते;[१८] इत्यभियुक्ताः ।[१९]

अपि च श्रीमद्भागवतादीनां कालनिर्णयादपि सुनिश्चितमेतद् यन्न केवलं मन्त्रब्राह्मणयोः, धर्मसूत्रेषु वा, अपि तु महाभारतेऽपि प्रचलितपुराणानामुल्लेखो न विद्यते । तथा च विद्वांसो विवेचयन्ति—पुराणानां द्वौ प्रवाहौ, इति प्राचीनवाङ्मये पुराणस्वरूपविषयकविवरणभेदाद् निश्चीयते । प्रथमः प्रवाहो व्यासात् प्राचीनः यत्र पुराणवचनानि अव्यवस्थितानि विकीर्णानि चाऽभवन् । द्वितीयस्तु कृष्णद्वैपायनव्यासाद् आरब्धः, तत एव च पुराणसंहितानां निर्माणं क्रमशश्चोपबृंहणमपि जातम्, इति ।[20] इत्थञ्च यत् समीक्षकैरुच्यते वेदानां धार्मिकभागात् पृथग् इतिहासपुराणस्य काचित् परम्पराऽऽसीत् यतो हि सर्वत्रैव इतिहासपुराणम् इति पृथगेव निर्दिश्यते,[21] तत्रापि पुराणवाक्यानां याऽव्यवस्थिता प्रथमा धारा सैव मन्तुं शक्यते, नान्या । किञ्च कैश्चित् प्रमाणैरेतदपि ज्ञायते यत् व्यासादर्वाचीनाः चतस्रः पुराणसंहिता अभवन् यासु काचित् कृष्णद्वैपायनस्य शिष्येण रोमहर्षणन प्रणीता । ताश्च प्रचलितपुराणानामाविर्भावात् प्रागेव विलुप्ताः । परं प्रचलितपुराणानां कर्तारस्तेषां विषये नितरामनभिज्ञा नासन्, यतो हि ते 'पुराणसंहिता'-'आदिपुराण'—इत्यादिकान् शब्दान् प्रयुञ्जते । अतएव प्रचलितपुराणानां सम्बन्धो व्यासेनापि वक्तुं शक्यते । परमस्य नायमभिप्रायो यत् व्यासकर्तृकाण्येव समुपलभ्यमानानि पुराणानि[22] । वस्तुतः इमानि बहुकर्तृकाणि[23] काले काले च समुपबृंहितानि । एषां ये प्राचीनतमा भागास्ते ख्रीष्टाब्दारम्भकाले विरचिताः । एषामधिकतरभागास्तु षष्ठशताब्दीमारभ्य द्वादशशताब्दीपर्यन्तमेव संकलिताः ।[24]

ततश्चैषां नामापि प्राचीनेषु ग्रन्थेषु नोपलभ्यते । न चैषां संख्याऽपि । यत्तु रामरहस्योपनिषदि 'पुराणेषु अष्टादशसु' इति प्रयोगो दृश्यते तत्तु न किञ्चित्करम् । न तिरोहितमेवोपनिषदोऽवगाहमानानां विदुषां यत् नितरामर्वाचीनेयमुपनिषद् । यच्च महाभारते[25] 'अष्टादशपुराणानाम्' इत्येतत्पदम् दृग्गोचरीक्रियते तदपि श्रीमद्भागवतादिपुराणानां महाभारतात् पूर्वकालभावित्वं न प्रमाणायितुमलं यतो विविधैः प्रमाणैः युक्तिभिश्च निर्धारितमेतत् यत् वर्तमानपुराणग्रन्था महाभारताद् अर्वाचीना एव ।[26] श्रीमद्भागवतपुराणेऽपि चैतद् व्यज्यते यत् महाभारतानन्तरं श्रीमद्भागवतस्य रचनाऽजायत ।

एतदुक्तं भवति प्राचीनवाङ्मये यः पुराणशब्दः प्रयुज्यते न स श्रीमद्भागवतादिपरः । वेदेषु, ब्राह्मणेषु, सूत्रग्रन्थेषु च तस्यान्यार्थपरत्वं सुस्पष्टमेव । महाभारतेऽपि नायं शब्दः प्रचलितपुराणानां संज्ञा, इति प्रमाणैः निश्चीयते । अतश्च इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् इत्यस्मिन् महाभारतवाक्ये पुराणशब्देन श्रीमद्भागवतादिपुराणानि न ग्रहीतुं शक्यन्ते; अपितु महाभारतात् प्राचीना एव केचन सन्दर्भाः । प्रमाणैश्चेदमपि निश्चीयते यत् मन्त्रब्राह्मणयोरागतानि जगतः प्रागवस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि पुरा किल पुराणशब्देनाभिहितानि । विशेषेण तु तादृशानि वचनानि ब्राह्मणेषु समुपलभ्यन्ते । तानि च अन्यब्राह्मणांशवद् वेदोपबृंहकाणि, वेदार्थविशदीकराणि इति यावत्, इत्यत्र न सन्देहस्यावकाशः । कालान्तरेण चान्यैरपि विविधविषयैः सह तादृशानि वचनानि भागवतादिषु प्रचलितपुराणेष्वपि संकलितानीत्यन्यदेतत् ।

सन्दर्भ संकेत

१. आदि०, १. २६७ ।
२. श्रीभाष्यम्, २.१.१ ।
३. तत्रैव, २.१.१ ।
४. ऋग्वेदभाष्यभूमिका (भारतीय विद्याप्रकाशन वाराणसी, १९६९), पृ० १३७ ।
५. पुनः पुनर्जायमाना पुराणी । १. ९२. १० ।
सना पुराणमध्येमि । ३.५४.९,
पुराणमोकः सख्यं शिवं वां । ३.५८.६ ।

यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे । १०.१३०.६ ।

६. पुराणी चिरन्तनी, नित्येत्यर्थः । सायणभाष्यम्, ऋग्०, १. ९२.१० ।
पुराण पुरातनम् । सायणभाष्यम्, ऋग्० ३.५८.६ ।

७. अथर्ववेदः, का० १५ सू० ६ मं० १०–१२ ।

८. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर १९६७), वेदसंज्ञाविचारः, पृ० ९४ ।

९. तत्रैव, पृ० ९४—९५ ।

१०. अथर्ववेदः, का० ११ सू० ७ मं० २४ ।

११. तत्रैव, का० ११ सू० ८ मं० ७ ।

१२. सायणभाष्यम्. अथर्ववेदः, का० ११ सू० ८ मं० ७ ।

१३. (क) गोपथ०, १.१०; २.१० ।
(ख) शतपथ०, ११. ५.६.८; १४.६.१०.६; १३..४.३. १२—१३ ।

१४. (यः) इतिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते मध्वाहुतिभिरेव तद् देवाँस्तर्पयति । ११.५.६.८ ।

१५. ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ० ६१ ।

१६. अष्टाध्यायी, ४.३.१०१ ।

१७. तत्रैव. ४.३.११६ ।

१८ एतत्ते सर्वमाख्यातं ब्रह्मन् भक्तिमतो मया ।
पुराणं च भविष्यं च सरहस्यं च सत्तम । शान्ति०, ३३९, १०८—१०९ ।

१९ रामशंकर भट्टाचार्यः, पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६५) पृ० १७ ।

२० तत्रैव, पृ० ९ ।

२१. The Itihasa and the Purana formed—since they are always separately mentioned—a distinct tradition from that of the Samhitas, the religious literature. T. G. Mainkar. The upabimhana and the Rigveda interpretation (L. D. Institute of Indology, Ahmedabad 9), P. 5

२२. द्र०, पुराणगतवेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० २३ ।

२३. तत्रैव, पृ० २३ ।

२४. P. V. Kane, History of Dharmashastra, vol. I, P. 161.

२५. महाभारते–स्वर्गारोहणम्, ५.४७

२६. चिन्तामणिविनायकवैद्यः, महाभारतमीमांसा (हिन्दी भाषानुवाद, बनारस), पृ० ५९ ।

———

भूतपूर्व अध्यक्ष,
दयानन्द अनुसंधान पीठ
(कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय)
ब्रह्मपुरी, मेरठ ।

□ प्रो० विजेन्द्रकुमार तोमर

'ब्राह्मण-साहित्य के अध्ययन का सर्वेक्षण

वैदिक वाङ्मय में ब्राह्मण-साहित्य का विशेष महत्त्व है। ब्राह्मण-साहित्य पर सम्पादन, अनुवाद, संकलन, टिप्पणी, भाष्य, कोश-निर्माण, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक विवेचन तथा सांस्कृतिक अध्ययन के रूप में कार्य हुआ है। प्रस्तुत लेख में ऋग्यजुःसाम और अथर्ववेद के ब्राह्मणों के क्रम तथा प्रथम से अंतिम अध्ययन के प्रकाशित क्रम से सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है। साथ में प्रत्येक ग्रन्थ की संक्षिप्त विशेषताएँ दी गयी हैं और इसके पश्चात् पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के कार्यों का संक्षिप्त मूल्यांकन किया गया है। ब्राह्मण-साहित्य के अध्ययन के सर्वेक्षण से पूर्व हमें 'ब्राह्मण-साहित्य से क्या अभिप्राय है और ब्राह्मणों का प्रतिपादित विषय क्या है ?' यह समझना आवश्यक है—

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी पुस्तक 'अनुभ्रमोच्छेदन' में ब्राह्मण शब्द का अर्थ वेदों के व्याख्यान किया है यथा—

'ब्रह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि।'[1]

प्रो० मॉरिस विन्टरनिट्ज ने 'हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर' में ब्राह्मण शब्द का जो अर्थ किया है उसका हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है--

"ब्राह्मण शब्द का अर्थ है—यज्ञ के विधि-विधानों में कुशल विद्वान् पुरोहितों द्वारा यज्ञों के अवसर पर प्रयोग की जाने वाली संहिता भाग की विधियों का संकलन। समष्टि रूप में इस शब्द का अर्थ है—यज्ञगत पुरोहितों के उच्चारणों एवं विवादों का संग्रह।"[2]

विद्याधर शर्मा गौड़ ने शतपथ ब्राह्मण की भूमिका में ब्राह्मण शब्द का अर्थ 'वेदचतुष्टय मंत्राणां कर्मसु विनियोजकः कर्मविधायको नानाविधानादीतिहासाख्यानबहुलोज्ञानविज्ञानपूर्णो भागो ब्राह्मणभाग' किया है।[3]

थोड़े शब्दों में कहे तो वेद मन्त्रो एवं 'यज्ञ-विज्ञान' का गम्भीर विवेचन करने वाले ग्रन्थ ही ब्राह्मण हैं।

ब्राह्मणों में मुख्यतः कर्मकाण्ड सम्बन्धी विधानों के वर्णन के साथ-साथ वेदमन्त्रों और वैदिक शब्दों की निष्पत्ति बतायी गयी है। इसके अतिरिक्त यज्ञ सम्बन्धी अनुकरणीय एवं निषेधात्मक बातों का वर्णन किया गया है। कहीं-कहीं ब्रह्मतत्त्व के विषय में विचार हुआ है। यज्ञीय विषयों की पुष्टि में ऋषियों, आचार्यों एवं राजवंशों की आख्यायिकाएँ (कथाएँ) दी गयी हैं। ब्राह्मणग्रन्थों की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि उनमें तात्कालिक मानवजाति के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक जीवन की परम्परा का पता लगाने के लिए पर्याप्त अनुसंधानोपयोगी सामग्री मिलती है। पं० बलदेव उपाध्याय ने ब्राह्मणों के वर्ण्य विषय को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि—"ब्राह्मणों में मन्त्रों, कर्मों एवं विनियोगों की व्याख्या है। ब्राह्मणों की अन्तरंग परीक्षा करने पर स्पष्ट है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक महनीय विश्वकोश है।"[4]

पं० भगवद्दत्त जी ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' पुस्तक में 'ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रतिपादित विषय'

इस शीर्षक से एक पृथक् अध्याय लिखा है जिसमें प्रमाणपूर्वक ब्राह्मणों में वर्णित आत्मा के अस्तित्व, पुनर्जन्म, प्रजापति = पुरुष = ब्रह्म, गृहस्थाश्रम में स्त्री का स्थान, विवाह, सत्य, यज्ञ द्वारा पापमुक्ति, यज्ञ का स्वरूप, यज्ञ के भेद, देवता, विज्ञान सम्बन्धी विषय यथा समुद्र, सूर्य प्राणापान, वर्षा, रेखागणित के ज्ञान आदि पर प्रकाश डाला गया है।[५] उपर्युक्त सभी दृष्टियों से ब्राह्मणों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण रहा है।

यद्यपि भारतवर्ष के प्राचीन आचार्यों ने ब्राह्मणों पर अपने भाष्य लिखकर बहुत बड़ा कार्य किया है। तथापि ब्राह्मणों को सर्वजन सुलभ कराने का श्रेय आधुनिक काल में पाश्चात्य विद्वानों को प्राप्त होता है। नीचे ब्राह्मण-साहित्य सम्बन्धी सम्पादन, अनुवाद एव अध्ययन आदि का सर्वेक्षण ऋग्वेद के ब्राह्मणों से आरम्भ किया जा रहा है—

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—ऐतरेय और कौषीतकि। ऐतरेय ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद एवं विस्तृत भूमिका सहित प्रथम सम्पादन मार्टिन हॉग ने बम्बई से १८६३ ई० में किया। इसके पश्चात् टी० आफ्रैक्ट ने सायण भाष्य, ऋग्वेद मन्त्रों की अनुक्रमणी तथा टिप्पणियों सहित एक आलोचनात्मक संस्करण बॉन से १८७९ ई० में सम्पादित किया, जिसका दूसरा संस्करण १९७२ ई० में निकला। राजाराम शास्त्री ने आनन्द आश्रम पूना से सायण भाष्य सहित ऐतरेय ब्राह्मण का १८९५ ई० में सम्पादन किया जिसके बाद में १९५६, ५८ व १९६३ ई० में तीन संस्करण और निकले। गणेश शास्त्री ने भी पूना से १८९६ ई० में ऐतरेय ब्राह्मण को दो भागों में प्रकाशित कराया जिसका एक और संस्करण १९३१ ई० में निकला। सत्यव्रत सामश्रमी ने १८९६ से १९०६ ई० तक कलकत्ता से सायणभाष्य युक्त ऐत० ब्रा० का सम्पादन किया, यह पुनः १९५२ ई० में भी छपा। ए० बी० कीथ ने अंग्रेजी अनुवाद एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका सहित कैम्ब्रिज से १९२० ई० में ऐत० ब्रा० का सम्पादन किया, जिसके १९३१ व ३२ ई० में दो संस्करण और निकले। १९६९ ई० में मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से इसका पुनर्मुद्रण हुआ। इसके अतिरिक्त अनन्त कृष्णशास्त्री ने सुखप्रदा टीका एवं षड्गुरुशिष्यवृत्ति सहित ऐत० ब्रा० का १९४२ से १९५५ ई० तक सम्पादन कराया। पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय का एक ऐत० ब्रा० का हिन्दी अनुवाद भी बनारस से प्रकाशित हुआ है। ऋग्वेद के ब्राह्मणों के आलोचनात्मक अध्ययनों में १९०६ ई० में पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से 'ऐतरेयालोचनम्' नामक अध्ययन प्रस्तुत किया, जिसमें तात्कालिक भौगोलिक एवं ऐतिहासिक वर्णन भी किया गया। ऐतरेय ब्राह्मण के 'हरिश्चन्द्रोपाख्यान' पर सायण भाष्य, हिन्दी अनुवाद एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका सहित बनारस से उमाशंकर शर्मा ने एक अध्ययन प्रस्तुत किया। सी० कुन्हनराजा ने मद्रास से षड्गुरुशिष्य, गोविन्द स्वामी और भट्ट भास्कर के भाष्यों एवं टिप्पणियों सहित १९४० ई० में 'द कमेन्ट्रीज़ ऑन द ऐत० ब्रा०' नामक अध्ययन प्रकाशित कराया। पी० के० नारायण पिल्लई ने 'एन एक्जामिनेशन ऑफ वेरियेन्टस् इन लेटर संहिताज़ ऑफ मन्त्राज़ साइटिड बाई प्रतीकाज़ इन द ऐत० ब्रा० एण्ड नॉट ट्रेस्ट टू द ऋग्वेद' १९४३ ई० में प्रकाशित कराया।[६] डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने भी 'ऐतरेय और कौषीतकि पर्यालोचनम्' नामक अध्ययन प्रस्तुत किये। जे० एन० शैंडे ने १९६३ ई० में द अग्निहोत्र एण्ड अदर प्रैक्टिसीज़ इन द ब्राह्मण ऑफ ऋग्वेद' प्रकाशित कराया। इन्होंने ही १९६४ ई० में 'सोम इन द ब्राह्मणाज़ ऑफ ऋग्वेद' नामक अध्ययन प्रकाशित कराया जिसमें सोम को सूर्य, वर्ष, इन्द्र, विष्णु, अन्तरिक्ष चन्द्रमा और राजा सिद्ध किया है। इसके साथ ही एक और अध्ययन 'द ब्रह्मनस् इन द ब्राह्मणाज़ ऑफ द ऋग्वेद' भी प्रस्तुत किया, जिसमें ब्राह्मणों के पौरोहित्य का राजाओं पर प्रभाव प्रदर्शित किया गया है। सुरेशदेव ने 'ऋग्वेदस्य ब्राह्मणस्य सायनस्यम्' नामक अध्ययन १९६६ ई० में प्रकाशित किया। जयपुर से डा० नाथूलाल पाठक ने १९६६ व ६७ ई० में क्रमशः 'ऐतरेय ब्राह्मण का

एक अध्ययन और 'ऐतरेय ब्राह्मण के इतिवृत्तात्मक आख्यान' हिन्दी में प्रकाशित कराये। इन्दुमुखोपाध्याय ने भी १९६६ ई० में पूना से स्टोरीज़ इन द ऐतरेय ब्राह्मण' प्रकाशित कराया। १९६९ ई० में एस० जी० साठे ने 'द ऐतरेय ब्रह्मण एण्ड द रिपब्लिक' नामक अध्ययन प्रकाशित किया जिसमें आर्यों तथा प्लेटों के गणतन्त्र, न्यायव्यवस्था आदि पर तुलनात्मक विचार व्यक्त किये गये। इसके पश्चात् बी० एल० जोशी का 'ए क्रिटीकल नोट ऑन कीथस् इगलिश ट्रांसलेशन ऑफ ऐतरेय ब्राह्मण' छपा जिसमें कीथ के संस्करण की आलोचना प्रस्तुत की गयी। १९७२ ई० में एच० आर० कर्णिक ने पूना से ऐतरेय ब्राह्मण की प्रथम दो पंचिकाओं पर एक ग्रन्थ लिखा जिसमें हव्य आहुति आदि पर प्रकाश डाला गया। चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी में ऐत० ब्रा० सायणाचार्य के भाष्य सहित सुधाकर मालवीयकृत सरल हिन्दी टीका युक्त चार पंचिकाओं तक उपलब्ध है।

ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण कौषीतकि अथवा शांखायन पर भट्ट विनायक ने भाष्य किया है। इस भाष्य के सम्बन्ध में पं० यु० मीमांसक के साथ वार्तालाप करने पर पता चला है कि इसका उत्तरार्द्ध भाग तथा कुछ पृष्ठों की हिन्दी व्याख्या सरस्वती पुस्तकालय बनारस में है। कौषीतकि ब्राह्मण का प्रथम सम्पादन बी लिण्डनर द्वारा जेना से १८८७ ई० में किया गया। शांखायन ब्राह्मण के नाम से हरिनारायण शास्त्री ने आनन्द आश्रम पूना से १९११ ई० में इसे सम्पादित किया। ए० बी० कीथ ने १०० पृष्ठों वाली महत्त्वपूर्ण भूमिका एवं अंग्रेजी अनुवाद सहित कैम्ब्रिज से १९२० ई० में ऐत० ब्रा० तथा कौषीतकि ब्रा० का प्रकाशन किया। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण शर्मा ने केरल से प्राप्त पाण्डुलिपियों के आधार पर जर्मनी विस्बेडन से इसका १९६८ ई० में सम्पादन किया। कलकत्ता संस्कृत कालेज रिसर्च सीरीज़ के अन्तर्गत हरिनारायण भट्टाचार्य द्वारा बंगाली अनुवाद सहित १९७० ई० में भी इसका सम्पादन किया गया जिसकी एक प्रति मैंने भारतीय पुरातत्त्व विभाग के दिल्ली पुस्तकालय में देखी है। १९५४ ई० में केवलानन्द सरस्वती द्वारा 'कौषीतकिब्राह्मणारण्यकविषयकोषः' भी ५१ पृष्ठों में बड़े आकार में प्राज्ञ-पाठशालामण्डल वाई से प्रकाशित कराया। कौषीतकि ब्राह्मण पर हुए अध्ययनों में डब्ल्यू कैलेंड का 'नोट्स आन द कौषीतकि ब्राह्मण' १९३२ ई० में छपा, जिसमें कीथ के संस्करण पर आलोचनात्मक सुझाव दिये गये। १९७० ई० में हुकमचन्द पटियाल ने बडौदा से 'रिमार्कस् ऑन द न्यू एडिसन ऑफ द कौषीतकि ब्राह्मण' प्रकाशित कराया।

शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण पर पूरे ब्राह्मण-साहित्य में सबसे अधिक सम्पादन एवं अध्ययन हुआ है। हरिस्वामी, उव्वट, सायण, द्विवेदगंग और कवीन्द्राचार्य ने इस पर भाष्य लिखे हैं। शतपथ ब्राह्मण का प्रथम सम्पादन ए० वेबर ने सायण, हरिस्वामी एवं द्विवेदगंग के संक्षिप्त भाष्य और अंग्रेजी भूमिका सहित लन्दन से १८५५ इ० में किया। जुलियस एग्गलिंग ने चार भागों में १८८२ ई० से १९०० ई० तक इसका अंग्रेजी अनुवाद ऑक्सफर्ड विश्वविद्याय प्रैस से प्रकाशित कराया। सत्यव्रत रामश्रयी ने सायण भाष्य सहित इसे 'बिब्ल्योथिका इंडिका' के अन्तर्गत ९ भागों में १८९९ से १९११ ई० तक कलकत्ता से प्रकाशित कराया। सत्यप्रकाश ने इसे 'रत्नाकुमारी पब्लिशिग सीरिज दिल्ली से १९१९ ई० में प्रथम से चार तथा १९६७ ई० में ५ से १० भागों में प्रकाशित कराया। चिन्न स्वामी शास्त्री ने भी १९३७ ई० में ५० पाठभेदों सहित शतपथ ब्राह्मण का सम्पादन किया। पं० चन्द्रधर शर्मा द्वारा भी १९३७ ई० में ही वाराणसी से शतपथ ब्राह्मण का सम्पादन किया गया। सी० एस० चौधरी और यू० गौड़ ने बनारस से ही १९३८ ई० में इसका प्रकाशन किया। १९४० ई० में सायण, हरिहर और गंगविष्णु के भाष्यों सहित श्री कृष्णदास ने पाँच खण्डों में वेंक्टेश्वर स्टीम प्रैस बम्बई से इसे प्रकाशित कराया। १९५९ ई० में अजमेर से भी इसका प्रकाशन हुआ। १९७० ई० में पं० गंगा प्रसाद

उपाध्याय द्वारा हिन्दी अनुवाद एवं अंग्रेजी भूमिका सहित महालक्ष्मी पब्लिशिंग हाऊस नई दिल्ली से तीन भागों में प्रकाशित कराया गया। १९७३ ई० में स्वामी समर्पणानन्द द्वारा शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड का हिन्दी अनुवाद दयानन्द संस्थान नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इस ब्राह्मण पर हुए अध्ययनों में सर्वप्रथम अध्ययन गुरुकुल कांगड़ी से १९२९ ई० में 'शतपथ ब्राह्मण में एक पथ' पं० बुद्धदेव विद्यालंकार ने प्रस्तुत किया। डब्ल्यू कैलेंड ने १९३२ ई० में 'ए नोट ऑन द शतपथ ब्राह्मण' प्रकाशित कराया जिसमें अश्वमेध यज्ञ आदि पर विचार प्रकट किये गये। १९३९ ई० में एच० आर० कर्णिक का 'सम मोरल टेल्स इन द शतपथ ब्राह्मण' बम्बई से छपा। इसी का १९४० ई० में आलोचनात्मक भूमिका सहित तिरुपति से प्रकाशन हुआ। एच० आर० कर्णिक के कुछ लेख भी प्रकाशित हुए।[9] मंगलदेव शास्त्री के 'शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी और ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्द स्वामी का काल' तथा 'शतपथ ब्राह्मण पर्यालोचनम्' क्रमशः १९४१ व १९६७ ई० में छिपे। इसके पश्चात् आर० जी कोलेंज तथा ए० डे० के 'श्रीमद्योगीश्वरयाज्ञवल्क्यदर्शन' और 'शतपथ-परिचय' मराठी भाषा में हुबली से १९४३ ई० में प्रकाशित हुए। पं० भगवद्दत्त का 'शतपथब्राह्मणभाष्यम्' भी छपा है जिसमें प्रथमकाण्ड व हविर्यज्ञ पर हिन्दी में आलोचना की गयी है। पं० भगवद्दत्त जी का ही 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग दो' (ब्राह्मणों के भाष्यकार) एक उच्चकोटि का शोध-ग्रन्थ है, जो १९२७ ई० में छपा है। इसी का एक संशोधित संस्करण १९७४ ई० में उनके पुत्र पं० सत्यश्रवा ने प्रणव प्रकाशन दिल्ली से 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास (ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ) नाम से प्रकाशित किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों पर शोध-कार्य करने वाले को इससे बहुत सहायता मिलती है। इसके पश्चात् आरमण्ड मिनाड का 'सुरलॉ डिविजन्स डू शतपथ ब्राह्मण लुई रेणु की आलोचना सहित छपा। माईलियस क्लॉज का बेन से १९६७ ई० में 'द इडैन्वैल्ट डेस शतपथ ब्राह्मण' बहुदेवतावाद और मैक्समूलर के दार्शनिक विचारों पर आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। कार्लहॉफमैन का 'टैक्स्ट क्रीटीज़ नोटेन सु शतपथ ब्राह्मण' १९६८ ई० में जर्मनी से प्रकाशित हुआ। नर्गिस वर्मा ने भी पूना से 'द एटीमॉलॉज़ीज रिलेटिंग टू द मीटर्स एण्ड मैलॉडीज़ इन द शतपथ ब्राह्मण' १९७२ ई० में प्रकाशित कराया। सस्वर शतपथ ब्राह्मण का सम्पादन म० म० श्री चिन्नस्वामी शास्त्री ने एक से सात काण्ड तक किया है जो अब चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणासी में उपलब्ध है। यही से सायण भाष्य सहित शतपथ ब्राह्मण पांच भागों में छपा है। पं० मोतीलाल शास्त्री कृत शतपथ ब्राह्मण हिन्दी विज्ञान भाष्य प्रथमकाण्डानुगत दो खण्डों में उपलब्ध है जो सरस्वती मन्दिर, दुर्गापुर रोड़ जयपुर से छपा है। पं० मोतीलाल जी ने वैज्ञानिक आधार पर विवेचन किया है। उर्मिला शर्मा ने नई दिल्ली से १९८१ ई० में शतपथ ब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन प्रकाशित कराया है, जिसमें कर्मकाण्ड, धर्म, देव मानव, असुर विवेचन, समाज, राज्य एवं वर्ण व्यवस्था, आर्थिक जीवन एवं १४० उपाख्यानों पर प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त पूना से शतपथ ब्राह्मण पर भाषावैज्ञानिक शोध कार्य (पी-एच० डी०) के रूप में हो रहा है। छोटे लेखों का सर्वेक्षण यहाँ प्रस्तुत नहीं किया गया है। यह ब्राह्मण सबसे अधिक प्रचलित एवं सुलभ प्रतीत होता है। इसी कारण इसका सम्पादन एवं अध्ययन अनेकों विद्वानों द्वारा किया गया है।

शुक्ल यजुर्वेदीय काण्वशतपथ ब्राह्मण जो कि काण्ड विभाग या वाक्य रचना के स्वल्प भेद को छोड़कर माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के समान है, पर नीलकण्ठ ने भाष्य किया है। डॉ० कैलेंड ने पंजाब संस्कृत सीरिज़ के अन्तर्गत १९२६ ई० में इसका एक मात्र सम्पादन किया है जिसे आचार्य रघुवीर ने दो अन्य खण्डों में १९३९ ई० में पूर्ण किया। इस पर नहीं के बराबर ही अध्ययन हुआ है।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण पर भवस्वामी, कौशिक भट्ट भास्कर, रामाग्निचित और सायण ने भाष्य किये हैं। इसका प्रथम सम्पादन राजेन्द्रलाल मित्र ने कलकत्ता से तीन भागों में १८५९ से १८९० ई० तक किया है। सायण भाष्य सहित नारायण शास्त्री ने पूना से १८९८ ई० में इसका सम्पादन किया जो १९२७ व १९३८ ई० में पुनर्मुद्रित हुआ। एल सोमयाजी ने भी तैत्तिरीय ब्राह्मण का तेलगुलिपि में सम्पादन किया। १९०० से १९०२ तक तैत्तिरीय ब्राह्मण ग्रन्थ लिपि में विद्यानाथ शास्त्री द्वारा सम्पादन किया। इसके पश्चात् भट्ट भास्कर भाष्य सहित मैसूर से चार भागों में १९०८ से १९२१ ई० तक प्रकाशित किया गया। लाहौर से १९२८ ई० में सी० वी० वैद्य ने तैत्तिरीय ब्राह्मण प्रकाशित कराया। पॉल एमिल डयूमॉन्ट ने भी फिलाडेलफिया से १९४८ ई० में दूसरे व तीसरे काण्ड का अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशन कराया। सायण भाष्य सहित तीन भागों में इसका अभी नया सम्पादन चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी से भी हुआ है। इस पर सी० जी० काशीकर ने १९६८ ई० में 'द तैत्तिरीय ब्राह्मण इन रिलेशन टू द सूत्रकारज़' नाम से किया है। डा० रमेश कुमार लौ ने भी मेरठ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के रूप में तैत्तिरीय ब्राह्मण का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

कृष्णयजुर्वेदीय २३ काठक ब्राह्मणों का सम्पादन डा० सूर्यकान्त ने लाहौर से १९४३ ई० में किया है।[८]

सामवेद के ग्यारह ब्राह्मणों का सम्पादन हो चुका है। **जैमिनीयोपनिषद्** ब्राह्मण का सर्वप्रथम सम्पादन १९२१ ई० में लाहौर से रामदेव ने किया। एच० अर्टल ने इसका अंग्रेजी अनुवाद भी किया। १९५४ ई० में मलाबार से प्राप्त पाण्डुलिपियों के आधार पर श्री लोकेशचन्द्र ने सरस्वती विहार सीरीज़ नागपुर से इसे सम्पादित किया। डॉ० कैलेंड ने 'देस जैमिनीय ब्राह्मण इन आउसवाल' एमस्टर्डम से एक अध्ययन १९१९ ई० में प्रकाशित कराया। फ्रैन्ज एल्बर्ट ने एक शोध-प्रबन्ध 'यू बर दी वरबेन इन जैमिनीय ब्राह्मण' १९६६ ई० में मारवर्ग विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया। जी० एन० शकुन्तला का 'मिसलेनियस इन्फॉर्मेशन इन द मिथ्स् ऑफ द सामवेद ब्राह्मणज़' १९६७ ई० में प्रकाशित हुआ। बी० आर० शर्मा ने तिरूपति से १९६७ ई० में जैमिनीय ब्राह्मण का एक आलोचनात्मक संस्करण निकाला। इसके पश्चात् जे० क्वीपर ने 'टैक्नीकल नोटस् ऑन द जैमिनीय ब्राह्मण' नाम से १९६८ ई० में एक आलोचनात्मक अध्ययन छपाया। १९६८ ई० में ही रामप्रसाद का 'जैमिनीयब्राह्मणे प्रतिभावाक्यार्थः' लिखा गया। कार्ल हॉफमैन के 'टैक्स्ट क्रीटीज़ त्सुम जैमिनीय ब्राह्मण' और 'द वैलटैन्ट नॉख़ देम जैमिनीय ब्राह्मण' १९७० ई० में प्रकाशित हुए। चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी से डा० बे० रामचन्द्र शर्मा का जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण भी उपलब्ध है।

जैमिनीय आर्षेय ब्राह्मण का ए० सी० बर्नल ने बंगलौर से १८७८ ई० में सम्पादन किया। १९६७ ई० में तिरूपति से बी० आर० शर्मा ने भी इसका सम्पादन किया है। चौखम्बा संस्कृत संस्थान से डा० बे० रामचन्द्र शर्मा का भी जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण छपा है।

ताण्डव ब्राह्मण जिसे पंचविंश या महाब्राह्मण भी कहा जाता है, का प्रथम सम्पादन सायण भाष्य सहित आनन्द चन्द्र वेदान्त वागीश ने कलकत्ता से १८७० ई० में किया जो १९७४ ई० में पुनर्मुद्रित हुआ। कलकत्ता से ही एक अन्य संस्करण डब्ल्यू कैलेंड ने अँग्रेजी अनुवाद एवं टिप्पणियों सहित १९३१ ई० में निकाला। ए० बी० कीथ ने भी लन्दन से १९३२ ई० में इसे प्रकाशित किया। पॉल एमिल डयूमॉन्ट ने भी न्यूहैविन (अमेरिका) से १९३२ ई० में इसका सम्पादन किया। बनारस से १९३८ ई० में चिन्नस्वामी ने ताण्डय महाब्राह्मण को प्रकाशित कराया जिसका दूसरा संस्करण १९४२ ई० में निकला।

इसके अनेक संस्करणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैमिनीय ब्राह्मण के समान यह भी लोकप्रिय रहा होगा। इस पर छोटे-छोटे आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हुए हैं, उन्हें यहाँ नहीं दिया गया।

दैवत अथवा दैवत अध्याय ब्राह्मण जिसमें छन्दों का वर्णन है, को सायण भाष्य सहित कलकत्ता से जीवानन्द विद्यासागर ने १८८१ ई० में सम्पादित किया। तिरुपति से वेंकट रामचन्द्र शर्मा ने भी १९६५ ई० में इसका सम्पादन किया।

षड्विंश ब्राह्मण का, जो कि पंचविंश ब्राह्मण का भाग मात्र है और जिसके पाँचवे प्रपाठक को **अद्भुत ब्राह्मण** भी कहा जाता है, के पंचम प्रपाठक का ए० वेबर ने अंग्रेजी अनुवाद सहित बर्लिन से १८५९ ई० में सम्पादन किया। इसके पश्चात् १८८१ ई० में जीवानन्द विद्यासागर ने सायणभाष्य सहित कलकत्ता से प्रकाशित कराया। सायणभाष्य एवं जर्मन अनुवाद सहित प्रथम प्रपाठक का के० के० गटस्लोंह ने १८९४ ई० में प्रकाशन किया। लीडेन से एच० एम० इलसिंग ने विज्ञापन भाष्य सहित १९०८ ई० में इसे सम्पादित किया। इसके अतिरिक्त वेंकट रामचन्द्र शर्मा ने तिरुपति से सायण भाष्य सहित इसका एक आलोचनात्मक संस्करण १९६७ ई० में निकाला। इस पर जापान से एक तुलनात्मक अध्ययन 'ऑन द फ्रैग्मेशन ऑफ द अद्भुत ब्राह्मण' एन० त्सुजी द्वारा प्रकाशित हुआ।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण का प्रथम सम्पादन ए० सी० बर्नल ने द्विजराज भट्ट के भाष्य सहित बंगलौर से १८७० ई० में किया। रामनाथ दीक्षित ने भी सायण और द्विजराज भट्ट के भाष्यों सहित मन्नारमुई से १९५९ ई० में सम्पादन किया। इसी का एक महत्त्वपूर्ण संस्करण सायण व द्विजराज भट्ट के भाष्यों सहित तिरुपति से १९६५ ई० में वेंकट रामचन्द्र शर्मा ने निकाला।

सामविधान ब्राह्मण का प्रथम संस्करण ए० सी० बर्नल ने सायण भाष्य एवं अंग्रेजी अनुवाद सहित लन्दन से १८७३ ई० में निकाला। सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से सायण भाष्य एवं बंगला अनुवाद सहित इसका सम्पादन किया। तिरुपति से भी १९६४ ई० में वेंकट रामचन्द्र शर्मा ने सायण और भरतस्वामी के भाष्यों सहित इसके एक आलोचनात्मक संस्करण का सम्पादन किया जो १९८० ई० में पुनर्मुद्रित हुआ।

आर्षेय ब्राह्मण का प्रथम सम्पादन सायण के संक्षिप्त भाष्य सहित ए० सी० बर्नल ने बंगलौर से १८७६ ई० में किया। सायण भाष्य सहित कलकत्ता से सत्यव्रत सामश्रमी ने १८९२ ई० में इसे प्रकाशित किया। १९३८ ई० में कलकत्ता से ही बंगाली अनुवाद सहित माधवदास सांख्यतीर्थ ने इसे प्रकाशित कराया। १९६७ ई० में तिरुपति से बी० आर० शर्मा ने एक आलोचनात्मक संस्करण निकाला।

मन्त्रब्राह्मण, जिसमें भिन्न-भिन्न ब्राह्मणों और वेदसहिताओं से मन्त्र संगृहीत हैं, का प्रथम सम्पादन सोपज्ञभाष्य एवं बंगलानुवाद सहित सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से १८९० ई० में किया। हाइन्निश स्टोनर ने जर्मन अनुवाद सहित १९०१ ई० में इसके प्रथम प्रपाठक का प्रकाशन किया। कलकत्ता से १९५८ ई० में सायण व गुण विष्णु के भाष्यों सहित छान्दोग्य ब्राह्मण के नाम से दुर्गमोहन भट्टाचार्य ने प्रकाशित कराया।

वंश ब्राह्मण, जिसमें सामवेद के आचार्यों की परम्परा दी गयी है, का प्रथम सम्पादन सायण-भाष्य एव बंगलानुवाद सहित १८९२ ई० में कलकत्ता से सत्यव्रत सामश्रमी ने किया। महत्त्वपूर्ण भूमिका एवं बंगलानुवाद सहित हिन्दी में कलकत्ता से १९३९ ई० में माधवदास सांख्यतीर्थ ने इसे प्रकाशित कराया। इसके अतिरिक्त एक अन्य शाट्टायन ब्राह्मण का सम्पादन टी० आर० चिन्तामणि ने १९३१ ई० में किया। इन ब्राह्मणों पर केवल छोटे-छोटे आलोचनात्मक लेख निकले हैं, जिनका सर्वेक्षण यहाँ देना संभव नहीं है।

अथर्ववेद का केवल एक गोपथ ब्राह्मण है, जिसका प्रथम सम्पादन कलकत्ता से हरचरण विद्याभूषण ने सन् १८७० ई० में किया। कलकत्ता से ही जीवानन्द विद्यासागर ने १८९१ ई० में इसे प्रकाशित कराया। डा० डी० गास्ट्रा ने लीडन से १९१९ ई० में इसका सम्पादन किया। इलाहाबाद से १९२४ ई० में क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने हिन्दी अनुवाद सहित गोपथ ब्राह्मण को प्रकाशित कराया। पूना से भी हुकमचन्द पटियाल द्वारा महत्त्वपूर्ण भूमिका सहित इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया गया। इन्डोलॉजिकल बुक हाऊस दिल्ली से १९७२ ई० में राजेन्द्रलाल मित्र ने गोपथ ब्राह्मण को प्रकाशित कराया। इसके आलोचनात्मक अध्ययनों में एस० एन० भवसार का 'एटीमॉलॉजीज इन द गोपथ ब्राह्मण' पूना से १९६६ ई० में छपा। अथर्ववेद और गोपथ ब्राह्मण, जो कि मॉ० ब्लूमफील्ड द्वारा सम्पादित है, का डा० सूर्यकान्त शास्त्री ने अविकल हिन्दी अनुवाद किया है, जो अब चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी में उपलब्ध है।

विभिन्न शाखीय पाठ मिश्रित ब्राह्मण संग्रह—बट्ट कृष्ण ने कुछ लुप्त एवं पाठ मिश्रित ब्राह्मण ग्रन्थों का संग्रह करके १९३५ ई० में सम्पादन किया है। ये पन्द्रह ग्रन्थ हैं—आह्वरक ब्राह्मण, ककर्ति, कालबवि, लुप्तचरक, छागलेय, जाबालि, पैंगायनि, भाल्लवि, माषशारावि, मैत्रायणीय, रौरुकि, शाट्यायनि, शैलालि, श्वेताश्वतर और हारिद्रविक ब्राह्मण।[९]

इसके अतिरिक्त भी ब्राह्मणों के **सामान्य अध्ययन** हुए हैं। पी० सी० सेनगुप्त का 'एज़ ऑफ द ब्राह्मणाज़' कलकत्ता से १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ। जापान से क्राजामा तोशियो ने 'ऑन द कन्सैप्सन ऑफ आतमन् इन द ब्राह्मणज़' और 'परफैक्शन ऑफ लाइफ इन द ब्राह्मणज़ १९६२ व ६३ ई० में प्रकाशित किये दिल्ली से १९६३ ई० में ए० सी० बैनर्जी ने 'स्टडीज़ इन द ब्राह्मणज़' ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमें अरि, यम, यमी और परिवीत आदि शब्दों पर प्रकाश डाला। सुधीर कुमार गुप्त की एक पुस्तक 'ए स्टडी ऑफ द ब्राह्मणाज़ इन द फोर वेद संहिताज़' जयपुर से १९६२ ई० में छपी। जी० वी० देवस्थली की पुस्तक 'रिलीजन एण्ड माइथोलॉजी ऑफ द ब्राह्मणाज़' पूना से १९६५ ई० में छपी। जीन वारेन ने पेरिस से १९६७ ई० में मिथ्स् एट लीजैंड एक्स्ट्रा इट्स् डेस ब्राह्मण' नामक अध्ययन प्रकाशित कराया। जी० यू० थीटे का मराठी भाषा में 'ब्राह्मण ग्रन्थाचा यज्ञविषयकदृष्टिकोण' १९६८ ई० में छपा। १९६९ ई० में जोगीराज बसु का 'इण्डिया ऑफ द एज़ ऑफ द ब्राह्मणाज़' संस्कृत पुस्तक भण्डार कलकत्ता से छपा। अली मोहम्मद ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय से 'ब्राह्मणों में व्युत्पत्तिमूलक शब्दों का स्वरूप' नामक शोध-प्रबन्ध १९७० ई० में प्रस्तुत किया है।

एन० सुनन्दा बुजरुक का 'कैटिल इन द ब्राह्मणाज़' १९७२ ई० में पूना से छपा। पी० एच० जोशी का 'श्लोकाज़ एण्ड गाथाज़ कॉटिड इन द ब्राह्मण लिटरेचर' बड़ौदा से जून १९७२ ई० में प्रकाशित हुआ। इन आलोचनात्मक अध्ययनों के अतिरिक्त भी बहुत से लेख पत्र-पत्रिकाओं में स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित होते रहे। **ब्राह्मण-ग्रन्थों पर कोश-ग्रन्थों में** सर्वप्रथम १९५६ ई० में हंसराज का 'ब्राह्मणोद्धारकोश' प्रकाशित हुआ है। स्वामी केवलानन्द का 'ऐतरेय ब्राह्मणारण्यककोषसंग्रह' भी होशियारपुर से प्रकाशित हुआ। शोध की सुविधा के लिए 'शतपथब्राह्मणवाक्यकोष' भी महत्त्वपूर्ण है। दिल्ली विश्वविद्यालय से ब्राह्मणों में प्राप्त निर्वचनों पर शोध-कार्य हो रहा है।

पाश्चात्य विद्वानों का सम्पादन, अनुवाद एवं संकलन कार्य निश्चय ही उल्लेखनीय है। लेकिन वैदिक परम्परा से अनभिज्ञ रहने के कारण वे आलोचनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बहुत स्थलों पर वास्तविक अर्थ से दूर रह गये हैं। भारतीय विद्वानों ने ब्राह्मण-साहित्य की उपयोगिता, उनके वेदार्थ से

घनिष्ठ सम्बन्ध और वेदज्ञान के लिए उनकी अनिवार्यता का क्रियात्मक रूप से अपने भाषणों, लेखों और वेदव्याख्यानों में प्रतिपादन किया है । स्वामी दयानन्द, पं० भगवद्दत्त, पं० मधुसूदन, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० फतह सिंह, डॉ० नाथूलाल पाठक के ब्राह्मण-साहित्य सम्बन्धी उपयोगी विचार अध्येताओं लिए मार्गदर्शन करने में बहुत सहायक हैं ।

संकेत सन्दर्भ

१. पृ० ६, १९३७ ई० में छपा हुआ ।
२. वैदिक साहित्य की रूपरेखा, पाण्डेय एवं जोशी, पृ० १६७ ।
३. शतपथ ब्राह्मण, पृ० १, काशी, सं० (१९९४), प्रथमावृत्ति, अच्युतग्रन्थमाला, माध्यन्दिन शाखीय, पं० चन्द्रधर शर्मा द्वारा सम्पादित ।
४. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २३९ ।
५. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग २, पृ० १६८ से २१४ तक ।
६. बुलेटिन ऑफ द डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट ।
७. 'ए लीजैंड ऑफ पॉलीटिकल विजडम इन द शतपथ ब्राह्मण', 'ए लीजैंड ऑफ वर्ल्डली विजडम', 'प्रजापति लीजैंड इन द शतपथ ब्राह्मण' ।
८. द्रष्टव्य—वैदिक पदानुक्रमकोष-विश्व बन्धु शास्त्री, ब्राह्मण भाग, १९७३ ई० ।
९. वैदिक पदानुक्रमकोष—भूमिका भाग—आचार्य विश्वबन्धु—देखें ।

———

प्रवक्ता संस्कृत विभाग
कृषक डिग्री कॉलिज
मवाना, मेरठ,

Dr. A. P. Saraswat.

THE STRUCTURE OF PUNISHMENT : MANUSMRITI RE-EXAMINED

Hindu theologians in general and Manu in particular, have been misunderstood and so misinterpreted regarding setting a different and harsh code of punishment for the Shudras in the Hindu caste system. It is explained in a way that Manu had been too harsh to the Shudras while fixing punishment for their misdeeds; and too liberal to the Brahmins for the same. Some natural questions arise when we go throrugh Manusmiriti and other religious codes framed by other Hindu theologians.

(1) Is, the type of punishment Manu fixed for the Shudras cannot be given to any other caste i. e. Brahmin, Kshatriaya and Vaishya ?

(2) Are there two types of punishment for the first time offender and the second-time or habitual offender ?

(3) Had the word 'Shudra' been used in different senses by Manu in particular in his Manuswiriti (Manu's Code for Hindu society) or by any other Hindu theologian in his Smiriti ? If yes, how is it related to the structure of punishment he framed for the Hindus ?

(4) A—What were the grounds on which a person could change his Varna ?

B—Was it a formal procedure of punishment to lower down a person's 'Varna' for his crimes and immoral acts ?

C—Whether, and in what conditions, was a lowered-down-Varna person allowed to regain his previous higher Varna ?

D—Was there any other further procedure or extention of the rules applied in the above mentioned situations ?

Manu recommended down-grading the Varna/Caste, of the Brahmin in particular, for his heineous crimes and moral terpitude. It was suggested that the Shudra in general, and a down-graded Brahmin turned Brahmin-Shudra in particular, shall try to improve his 'Karm' (acts and character) in order to get his Varna up-graded. The down-graded Brahmin–Shudra may regain his Varna if he shows any sign of improvement in his behaviour and character.

After being down graded and living as a Shudra for an year or so he was produced before the king and his Brahmin councils (Dharamacharyas) for the review of his conduct and character. And if they found him 'improved' he might be allowed to regain his original Brahmin Varna. On the other hand, if the observations of the king and Dharamacharyas were contrary (i. e. if he was reported and observed still indulging in crime and immoral acts) he might be further recommended to live as Shudra for some more time or executed. **This is the point where Manu has been grossly misunderstood as if he is too harsh towards Shudras while actually he has Provided this deierrent punishmens for those hardened criminals who has been first down-graded as Shudras for their heinous crimes but still without any regard to the law again comit the same felony.** The view is held that they cannot be reformed. The view and practice of the modern criminal law justifies Manu's criminal procedure in so many ways. First-time offenders are warned and lesser type of punishment is given while hardened criminals are punished severely. Those who could improve upon their behaviour in detention are given cuts in their punishment for their good behaviour. They are given parole in the same way as a criminal, as per Manu's code, was allowed to regain his previous higher Varna after showing a marked improvement in his character and behaviour. Here we observe the contrary of the view that Mauu was too harsh to a Shudra and too liberal to a Brahmin. **It seems that he was much worried about character building and good behaviour, and was not in a position to tolarate degradation of those (Brahmin in particular) who are supposed to be the back-bone of the Hindu society.**

The second general conclusion is that **criminal law in ancient India was hard for all Varnas. It had been misunderstood that it was hard to Shudras only. If we see objectively we find it hard to Brahmin and liberal to the Shudras.** The fact is clear from the chart given below, in POSTION 4, where a Shudra gets maximum punishment and there are only two such crimes—physical assault on a twice-born and sexual relationship with a lady of higher caste.

PUNISHMENT TO SHUDRA

(Comparative position in different offences with Brahmin, Kshatriya and Vaishya)

Position 1	Position 2	Position 3	Position 4
Offences is which Brahmin gets maximum punishment and the Shudra gets minimum or may be pardoned.	Offences in which all the four Varnas get equal punishment.	Crimes in which Kshtriya and Vaishya are punished at par with Shudra (Brahmin may get lesser type of punishment.)	Crimes for which Shudra gets maximum punishment (and Brahmin gets minimum or may be pardoned).
1. Theft (if gold had not been stolen from a Brahmin's house) 2. Drinking	1. Mahapatki (Felony) A—Brahmin killer B—Gold theft from a Brahmin's house C—Drinking (Shudra exempted) D—Adultry with Guru's (teacher's) wife. 2. Possession of stolen property (punished as thief as in Position 1)	1. Falsewitness 2. Adultry with Brahmin lady 3. Manual work for recovering any imposed fine, if they are not in a position to pay. 4. Destroying a water reservoir, dam or bridge.	1. physically assulting a twice-born. 2. Adultry with a lady of higher Varna.

POSITION 1

Offences in which a Brahmin gets maximum of punishment and a Shndra gets minimum or may be pardoned.

(1) Theft : According to Gautam Dharamsutra[1] for the crime of theft the proportion of fine on all Varnas shall be as given below.

Shudra		Vaishya		Kshatriya		Brahmin		Brahmin-Shudra[2]
1	:	2	.	4	:	8	·	up to 12

The above ratio of fine on all Varnas in case of theft, has also been supported by Manu and Narad. Here ignorance is bliss for a Shudra, since it is supposed that a Brahmin being educated clearly knows what is wrong and what is right. Therefore, a Shudra may be pardoned from punisment for theft, since he is supposed ignorent and illiterate, but not a Brahmin. In this regard Manu is too harsh to a Brahmin.

Manu remarks sarcastically "Whatsoever an illiterate Shudra gets in punisment, an educated-Shudra (i. e. Brahmin) must gets at least eight times more."

Without any hitch Manu has described a thief Brahmin as an educated-Shudra.

(2) **Drinking** : Perhaps theft is the only crime where a Shudra gets lesser punishment than a Brahmin; and drinking is the only crime for which a Shudra is not punished at all but a Brahmin, in particular, could be given the maximum punishment by lowering his Varna directly into a Shudra.

Thus in case of several offences Manu has **made the Brahmin the biggest loser since he could lose his Varna and directly converted to the Shudra Varna.** It is more disgraceful and painful to a Brahmin than any other punisment including death. While drinking was regarded as Mahapatki (felony) for a Brahmin, it was regaded as a part of a Shudra's life and hence non-punishable in his case.

POSITION 2

Where all the four Varnas are treated at par and get the same punishment for the same type of Crime:

(1) **Mahapatki (Felony)** : (A) A Brahmin killer (B) A drunkerd who is a twice born and particularly a Brahmin, (C) a person who steals gold from a Brahmin's house (the thief himself may be a Brahmin), and (D) a person who commits adultry with his teachers wife. All the above types of criminals should be punished equally irrespective of his status as Brahmin, Kshatriya. Vaishya or Shudra. (Manu 9/236) There is a provision for them if they want to repent and then they may be pardoned.

(2) If the above mentioned types of offenders (Mahapatkis) do not repent accordingly (Prashchit), they all, irrespective of their Varna, should be branded by a hot iron on their forehead. (Manu 9/237)

(3) Those who knowingly possess the stolen property after aqcuiring it from a thief, of whatsoever Varna they may be, shall be punished like a theif (Manu 9/278) As explained in POSITION 1 the punishment for theft is fine in different ratios.

POSITION 8

Crimes in which Kshatriya and vaishya are punished and fined at par with Shudra (but a Brahmin may be pardoned from paying the fine)

(1) On repeatedly giving false witness Brahmin. Kshatriya, Vaishya and Shudra shall be turned out from the kingdom and fined from 100 to 4000 pan (rupees). Brahmin may be exempted from paying the finc but not from being turned out of the kingdom.

For the first-time false witness offenders, Manu has prescribed fine only. but he suggests tuning them out of the kingdom if they shamelessly do it again and again.

(2) Commiting adultry with a Brahmin lady: Kshtriya and Vaishya should also be treated at par with the Shudra and they should be executed (Manu 8/377)

(3) If Kshatriya, Vaisha, and Shudra are not in a position to pay the fine for their misdeeds (especially for giving false witness) the king should recover the fiine by taking manual work from them; but to recover the fine from a Brahmin, he should not be compelled to do manual work and the fine should be recovered in instalments from him. (Manu 8/229)

(4) Whosoever (Kshatriya, Vaishya and Shudra except a Brahmin) destroys a water reservoir, dam or bridge should be killed by drawning him in the water (Manu 9/279) though a Brahmin is not killed but he gets other kind of punishments such as beating and down grading him as Shudra.

POSITION 4

Where a Shudra gets the maximum punishment (Kshatriya and Vaishya get less hard punishment and Brahmin gets minimum or may be pardoned)

(1) The part of the body of the Shucra with which he hits a twice-born should be amputated by the king. (Manu 8/279, 280, 282, 283)

(2) 'Badh' (capital punishment) for Shudras for adultry with a lady of higher Varna. (Manu 8/359)

THE LAW OF INCREASING THE PUNISHMENT WITH THE REPETITION OF CRIME

In the case of repetittion of crime, the modern law and penal system also holds the same view as Manu expressed several thousand years before, i, e. increasing the punishment if the offender repeats his misdeeds.

(1) **On repeatedly giving false witnes** : For the first-time offender Manu has prescribed fine only, but he suggests truning them out of the kingdom if they repeatedly give false witness. (Manu 8/123)

(2) On the first offence by learned person he snould be warned; on his second offence he (the learned person) should be scolded; and on his third offence he should be physically punished. (Manu 81129)

(3) If the king or the judge cannot controll a hardened criminal by the above said punishments, the king or judge must give all the punishments at the same time (Manu 8/130)

(4) After commiting a Mahapatki (felony) if the sinners, from whatsoever Varna they may be do not repent (Prashchit) they should be branded on their fore-head with a hot iron rod. (Manu 9/237)

(5) If the Mahapatkies (felony criminals) repent as prescribed by the Shastra, they should not be branded on their forehead but only fined up to 1000 pan (rupees).

(6) On the first offence of pick-pocketing the king should chop off the pickpocketers thumb or index finger; on his second pick-pocketing his hand should be amputated, and if he comits it for the third time, he should be executed. (Manu 9/277)

CAPITAL PUNISHMENT

The Hindi word 'Badh Dand' could not be directly interpreted as 'execution' It had been used, in practice, for amputation and beating. Even 'Anga Vichcheds' (amputation) too was beating for all practical and operational purposes in the eyes of penal authorities. Manu writes that if warning. fine and Badh (cxecution ?) fail to bring sense a hardened criminal the judge should give all the punishments at the same time. If here Badh really means 'execution' then there remains no need for providing other lesser harsh type of punishments with it at the same time (such as warning, scolding and fine). Meghatithi had concluded that here Badh means beating and not execution.

Dr. P. V. Kane. a renouned scholar of Shastras, also holds the same opinion "From the remarks of Smritichandriks and the Madan Ratna appears thai these discriminating provisions based on the caste and the ascription of minor or grave sins had become a dead letter and were not being enforced by kings in India by the 12th century A. D. at least."[4]

Thus, the punishment of Badh, which stands for beating, was given to all the three Varnas excepts Brahmin. Branding by hot iron rod on the forehead was recommended for all the four Varnas without any leniency. **So we come to the conclusion that the capital punishment (Badh) was not meant only for a Shudra but other Varnas also had it.** Rather, Brahmins wers subject to more disgraceful and examplary punishment such as shaving off his head and lowering him down in the Shudra Varna. Manu has clearly stated that it is more effective and examplary to kill a Brahmin socially than physically. If we try to look from Durkheim's[5] point of view, Manu's Law is both repressive and restitutive. On the one hand it provided every opportunity to an offender to improve and repent. but on the other hand it directs the state to finish the crime by finishing the criminal. if disegard of law and repetition of crime is continued.

Reference

1. Gautam Dharamsutra—by Haridutta (Ed) Anandashram, Puna (1910)
2. A Brahmin who had been down-graded in Varna and converted as Shudra for his immoral acts and heinous crimes.
3. Manusmiriti. 8/337, 338.
4. Dr. P. V. Kane : History of Dharamshashtra, Vol. III, p. 512.
5. Emile Durkheim : The Divisioh of Labour in Society (1893). Eng. Trans. 1933

———

Head. Deptt. of Sociology
N. A. S. College Meerut.

□ डॉ० रमेश कुमार लौ

निरुक्त के विशिष्ट प्रयोग

वैदिक मन्त्रों के सम्यक् विनियोग और अर्थावबोध के लिये ऋषियों ने जिन छः वेदाङ्गों की प्रवर्तना की उनमें निरुक्त का मुख्य स्थान है। यास्क ने स्वयं इसके महत्त्व का प्रतिपादन किया है—"तदिदं विद्यास्थान व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्" (१.५ और ६) इत्यादि। इस विषय में उन्होंने स्पष्ट किया है कि निरुक्त के अध्ययन से मन्त्रार्थ का बोध होता है, पदपाठ में सन्देहों का निवारण होता है और देवता सम्बन्धी उल्लेखों की जानकारी होती है, इस समय, वैदिक भाषा और भाषाविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र में निरुक्त का महत्त्व सर्वविदित है। संसार के सर्व प्राचीन शब्दकोष 'निघण्टु' का भाष्य होने के कारण निरुक्त वैदिक भाषा के विविध अध्ययन का द्वार उद्घाटित करता है।

दुर्भाग्य की बात है कि इसप्रकार अतिशय महत्त्वशाली होते हुए भी निरुक्त की अध्ययन-परम्परा प्राचीन काल में नष्ट हो गयी और हमें इस पर केवल एक ही दुर्ग का भाष्य उपलब्ध होता है। परिणाम स्वरूप आज निरुक्त का अध्ययन अनेक प्रकार से दुरुह हो गया है। कहीं मूलपाठ का सन्देह होता है तो कहीं ग्रन्थकर्ता के आशय की अन्यथा प्रतीति होती है। भाषा परिवर्तन ही प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन को कठिन बना देता है। ऐसी स्थिति में यदि यास्क की वाक्य रचना और पदावलि का विशेष अध्ययन किया जाये तो निरुक्त के विद्यार्थियों को भविष्य में सुविधा हो सकती है। इसी उद्देश्य से इस लेख में निरुक्त के ऐसे वाक्यों और पदों का संग्रह किया गया है जिनकी समीक्षा से निरुक्त का अध्ययन कुछ सुगम हो सकता है। यह सामग्री निरुक्त के अधिक प्रचलित अध्याय १, २, ४ और ७ से संग्रह की गयी है।

(अ) अस्पष्ट वाक्य—(१) भाव प्रधानमाख्यात···इत्यादि (१.१)

इस वाक्य में 'भावप्रधान' और' सत्त्व प्रधान' समस्तरूपों का प्रयोग करने से और आगे 'तद्यत्रो में' भावप्रधाने भवतः जोड़ने से यह स्पष्ट नहीं होता कि नाम और आख्यात के लक्षण में यास्क गौण तत्त्व के रूप में किसको बताना चाहते हैं। इस प्रसङ्ग में वाक्य के अन्वय में भी विद्वानों में मतभेद है। हमारे विचार में यास्क आख्यात अर्थात् क्रियारूप और नाम दोनों में ही क्रिया तत्त्व सम्मिलित है इसीको ही बलपूर्वक कहना चाहते हैं। तभी उन्होंने आगे कहा है ' पूर्वापरी भूतं भावमे आख्यातेनाचष्टे' और 'मूर्त' सत्त्व भूतं सत्त्व नाभीमः' अर्थात् क्रिया और नाम दोनों में भाव तत्त्व है। 'भाव' का अर्थ है होना। इस होने के ही विभिन्न प्रकारों को हम अलग-अलग क्रियाओं का नाम देते है जैसे पचति, गच्छति इत्यादि। इनके प्रयोग में 'होना' क्रिया तत्त्व मुख्य है और उनका भेदक तत्त्व अर्थात् वाह्यरूप अर्थात् 'सत्त्व' गौण है। 'नाम' में भी 'भाव' अर्थात् होना तत्त्व व्याप्त तो है पर व्यवहार में उसमें 'सत्त्व' अर्थात् मूर्त रूप लिंग और संख्यादि से युक्त होकर मुख्य है। इसीलिये भाषा में संसार के असंख्य पदार्थों को नाम देकर व्यवहार करने में कठिनाई नहीं होती। 'अश्व' कहने से 'होना' तो व्यक्त होता ही है पर व्यवहार में एक एक पशुविशेष के मूर्त रूप का बोध प्रधान है। 'होना' क्रिया एक ही सामान्य है अतः आख्यातम् में एक-वचन इष्ट है। सत्त्व में अनेकरूपता को ही प्रकट करना है अतः यास्क ने 'नामानि बहुवचन का प्रयोग किया है। आख्यात में 'सत्त्व' गौण है पर है सही। तभी तो 'होने' पर भी 'पचति' 'गच्छति' से भिन्न है। नामों में 'भाव' गौण है। 'तद्यत्रो में' का अर्थ 'जहाँ दोनों अर्थात् नाम और आख्यात दोनों हों, वाक्य में', करना चाहिये।

(२) तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते······इत्यादि (१.१)

प्राचीन लेखों की सन्धि में अवग्रह (ऽ) का चिह्न न देने से भी कई वाक्य अस्पष्ट हो जाते हैं। उसका उदाहरण यह प्रसङ्ग है। यहाँ 'युगपदुत्पन्नानां' अथवा 'अयुगपदुत्पन्नानां' मानकर दो प्रकार से व्याख्या की जाती है। यही स्थिति आगे इसी सन्दर्भ में 'पुरुषविद्यानित्यत्वात्, में 'नित्यत्वात्' या अनित्यत्वात्' मानने से होती है। वाक्य समाप्ति की अवधि स्पष्ट न होने से भी अर्थात् बोध सम्यक् नहीं होता उसका भी प्रकृत उद्धरण उदाहरण है। यहाँ 'अणीयस्त्वाच्च' पर यदि वाक्य का अवसान हो तो इसे औदुम्बरायण के 'इन्द्रियनित्यं वचनम्' का प्रत्याख्यान माना जायेगा। यदि इसे आगे 'शब्देन संज्ञाकरणं' से जोड़े तो वाग्व्यवहार में शब्दों का महत्त्व प्रकट होगा।

वाक्य रचना की अस्पष्ट स्थिति का ऐसा ही उदाहरण आगे १.२. में 'अथ यस्यागमा-दर्थप्रथकत्वम्'···इत्यादि वाक्य है। इसमें 'नत्वौद्देशिकमिव' को पूर्ववर्ती विज्ञायते से जोड़कर भिन्न व्याख्या और 'विग्रहेण प्रथक्त्वात्' से जोड़कर भिन्न व्याख्या की जाती है।

(३) निपात इत्येके । तत्कथमनुदात्त प्रकृति नाम स्यात् (१.३)

यहाँ 'त्व' को निपात अथवा नामपद मानने का प्रसंग है। यदि 'नाम' को अव्यय मानकर 'कथ' के साथ जोड़ा जाये तो अर्थ होगा कि 'त्व' भला अनुदात्त ग्रहण कर निपात कैसे हो सकता है। यदि— 'प्रकृति' पर वाक्य का अवसान माने तो 'त्व' को नामपद मानने की घोषणा होती है।

'नाम' के इस संशयास्पद प्रयोग से एक और सन्दर्भ ध्यान में आता है— नैघण्टुकमिदं देवता नाम प्राधान्ये ने दमिति' (१·७) यहाँ शिवनारायण शास्त्री ने नाम के बाद अर्ध विराम देकर इसे नैघण्टुक देवता और देवता के नामों के संग्रह का उल्लेख माना है। उनका यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता (निरुक्त के पाँच अध्याय पृ० १५३) उन्हें स्वयं भी यह विचित्र प्रतीत होता है कि यास्क ने गौण देवता का उल्लेख पहले क्यों किया। यहाँ दुर्ग ने 'देवतानाम् अप्राधान्येन' मानकर जो व्याख्या की है वही उचित प्रतीत होती है। दैवत काण्ड के नाम संग्रह का इस पाद के अन्त में यास्क ने पृथक् उल्लेख किया ही है।

(४) लक्षण देने में समस्त पदों का प्रयोग भी आशय को संशयग्रस्त कर देता है। यथा 'पद प्रकृतिः संहिता' (१·६) में सन्देह बना रहता है कि पदों को प्रकृति माना जाय या संहिता को। ऐसे ही अनादिष्ट देवता की परीक्षा के प्रसंग (७.१) में 'काम देवता' 'प्रायो देवता' या 'याज्ञ दैवतो मन्त्र' वाक्य अस्पष्ट हैं।

(५) कई बार यास्क निर्वचनों का संकेत भी अस्पष्ट प्रकार से करते हैं। दो उदाहरण हैं—

'अन्यो नानेयः' (१.३) यहाँ अन्य—'नाना से सम्बद्ध' है या 'न आनेयः √नी से बना है।

'अर्थोऽर्तेररणस्थो वा' (१.६) में 'अरण' का अर्थ ही अस्पष्ट है।

(आ) शैलीगत प्रयोग—यास्क अपने प्रवचन में प्रसङ्गानुसार कुछ विशिष्ट वाक्यों का बार-बार प्रयोग करते हैं ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धरण को जहाँ वे 'इति च ब्राह्मणम्' (१.५) के संकेत से देते हैं, वहाँ प्रायः इसके लिये 'इति ह विज्ञायते (१.३.४) या (७.३.५) का प्रयोग करते हैं। पूर्वपक्ष के तर्क को 'अथ चेत्' (१.४.१) या अथापि' (१.५.१) से प्रस्तुत करते हैं, तो उत्तर पक्ष में तर्क सरणि 'यथो एतत्' (१.५.२, ७.७१) से बान्धते हैं। एक स्थान (१.४.३) पर तो उन्होंने एक साथ पाँच अव्ययों का प्रयोग कर डाला है—'यथो हि नु वा एतत् । एक ही सूक्त से एक के बाद दूसरा मन्त्र देते समय 'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय (२.३.३, १०.३.४) से आग्रह प्रकट करते हैं। किसी मन्त्र या पद की व्याख्या यदि उन्हें आगे जाकर करनी होती है तो 'तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। (१. ५. १) जोड़ देते हैं। जिस पद का निर्वचन देना हो उसके साथ 'कस्मात्' लगा कर उत्तर देते हैं—'अंगुलयः कस्मात्' या अन्नं कस्मात्'।

(३. २. ३) कई बार सीधा ही निर्वचन देते हैं, क्रिया के लट्लकार प्र० पु० एक के रूप में पंचमी वि० एक का रूप देकर 'मृगो मार्ष्टेः' या 'पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा' (१. ६. ४) यास्क को 'अपि वा' 'अपि हि' का प्रयोग प्रिय है (७. १. ४)

निरुक्त मे तद्धित प्रयोग भी बहुत हैं, यथा 'देवदेवत्य मतिथिदेवत्यम्' 'याज्ञदैवतो मन्त्र' 'माहा भाग्यात्' (७. १. ४), 'दार्ष्टिविषयिकम्' (७. ३. १) 'सांशयिकः' (वही) 'औत्तमिकानि' (७. ६. ३)।

(इ) **विशेष अर्थ में प्रयोग**—निरुक्त सम्प्रदाय में अपनी एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावलि विकसित हुई होगी पदार्थ के लिये यास्क प्रायः 'कर्म' का प्रयोग करते हैं यथा 'कर्मोपसंयोग या 'कर्मोपसग्रह' या 'ही त्येषोऽनेक कर्मा'। (१. २. २) विवेचन करने के अर्थ में उप + √ईक्ष् क्रिया का प्रयोग किया है, 'त उपेक्षितव्याः' (१. १. ३, १. ३. ६) 'तदेतेनोपेक्षितव्यम् (१. ५. १. १. ६. १) वैदिक पदों के संग्रह को 'समाम्नाय' नाम दिया गया है पर स्वयं पदों के लिये 'निगम' शब्द का व्यवहार है -- 'निगमा भवन्ति (२. ७. १. ५) या 'नैगमाः कृतः (२. १. २), मन्त्रों या वैदिक भाषा का उल्लेख 'छन्दस' (१.१) या 'अन्वध्यायं' (१. २. २), या 'आर्चाभ्याम्नाय (२. ४. १.) से किया है। लौकिक संस्कृत के लिये यास्क 'भाषा' या 'लौकिक' का प्रयोग करते हैं। कुछ अन्य पारिभाषिक प्रयोग निम्नलिखित हैं—

सन्दर्भ संकेत—

१. उपचारः (१. २.१)–पद क्रम।

२. अनुपृष्टे (१. २-२)–शंका करने में।

३. अभ्यस्त; (रराणो रातिरभ्यस्तः–२. ३. ३, एरिरे इतीर्तिरूपसृष्टोऽभ्यस्तः—४. ४. १) = द्वित्व

४. उपबन्धः ('सीमित्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत या अध्वर्यु को व्याख्या में 'युरूपबन्धः—१. ३. ३) = प्रत्यय

५. अमिताक्षर = गद्य रचना
मिताक्षर—पद्य रचना (१. ३.४)

६. प्रदेश—क्रिया वाचक शब्द (१. ४. ३, १. ६. २)।

७. संविज्ञातानि—रूढि पद्य (१. ४. १)।

८. प्रतिलम्भः (नामवेय प्रति—१. ४. १) = प्राप्ति।

९. संस्कारः—पदविधि (१ ४. २)।

१०. कारितम्—धातु का प्रेरणार्थक रूप, शुद्धम्—धातु का सादा रूप (१. ४. ३)।

११. योग परीष्टि—पद्य रचना सम्बन्धी खोज-बीन—

१२. रूप सम्पन्ना विधीयन्ते—मन्त्रों को (१. ४. ३) क्रियमाण कर्म से जोड़ा जाता है। (१. ५. १)

१३. चरणानां पार्षदानि—शाखाओं के प्रातिशाख्य ग्रन्थ। (१. ६. १)

१४. विषयवत्यो हि वृत्रयः—संशय वाली पदरचना सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ (२. १.१)

१५. बिलमग्रहणाय—(१. ६. ४) अर्थ अस्पष्ट है। यास्क ने जो बिल्म का निर्वचन संकेत दिया है 'बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा' उससे अनुमान होता है कि 'वर्गीकृत करके सीखने के लिये' यह अर्थ उपपन्न है।

१६. वर्णोपजनः (२. १. २)—वर्ण की वृद्धि, आगम।

१७. नैक पदानि—(२. १. ३)—तद्धित और समास वाले अनेक खण्ड वाले शब्द। इसकी तुलना पूर्वोक्त 'एवमेकपदानि निर्ब्रूयात् ।' से करनी चाहिये ।

१८. नामकरणः (२. १. ७, २. २. १)—कृत् प्रत्यय यथा 'कक्ष' में √गाह् + वस और 'क्षीर' में √क्षर् या √घस् से 'ईर' प्रत्यय ।

१९. निर्ह्रसितोपसर्ग (२. ५. ३)—जिसके उपसर्ग में ह्रस्व किया गया हो जैसे 'अहि' में ।

२०. निपातः (२. ६. ३)—गौणरूप से उल्लेख ।

२१. नैघण्टुकम् (१. ६. ४. २. ७. २)—गौण देवता के रूप में मन्त्रों में उल्लेख । जैसे नदियों का ।

२२. चर्करीत वृत्तम् (२. ७. ६)—यङ्लुगन्त प्रयोग जैसे √फण् से 'आपनीफणत्' ।

२३. ऐकपदिकम्—(४. १. १) निघण्टु का वह काण्ड जिसमें अनेकार्थ–शब्द और अनवगत संस्कार शब्द संग्रहीत हैं ।

२४. निरूढोपधाद् विपरीतात् (४. ४. ४)—जिसकी उपधा निकाल कर आगे जोड़ी गयी और शेष ध्वनियों को उलट दिया हो, जैसे अंहति, अंहस् और अंहु में √हन् को ।

२५. दैवतम् (७. १. १)—प्रधान स्तुति वाले देवता नामों का निघण्टु में संग्रह ।

२६. भक्ति साहचर्य (७. २. १)—देवताओं के उपयोग के पदार्थों के कारण साथ। परन्तु (७. ७. १)—'बहु भक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति ।' में भक्ति 'भाग सम्बन्ध' को व्यक्त करती है ।

२७. दशतयीषु (७. ३. १)—ऋग्वेद के सूक्तों में ।

२८. व्यूहेषु (७. ३. ४) स्थान की दृष्टि से किये गये संग्रह । वर्ग ।

२९. संविज्ञानभूतम् (७. ३, ६.) रूढि बन चुके हुए । तुलना करें "संविज्ञातानि तानि" (१. ४. १)

३०. व्यञ्जनमात्रम् (७. ३. ६) विशेषण ।

३१. निपातभाजः (७. ३. ६, ७. ४. ५) गौणरूप से उल्लिखित ।

३२. अस्त्युपमानस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः (७. ७. ८)—उपमान का 'अब' के अर्थ में भी प्रयोग मिलता है ।

आशा है उपर्युक्त प्रयोगों की 'उप-परीक्षा' निरूक्त के अध्ययन मार्ग को प्रशस्त करेगी ।

———

अध्यक्ष–संस्कृत विभाग,
सनातन धर्म कालेज,
मुजफ्फरनगर ।

□ श्रीमती प्रेमा पाण्डे

'स्कन्दपुराण' (अवन्ती-खण्ड) में शिव-स्वरूप एवं शिवभक्ति

'स्कन्दपुराण' का विशेष विषय शिवोपासना है। प्रसंगानुसार अन्य देवी देवताओं के प्रति भी पुराण में श्रद्धाभाव है। 'अवन्ती-खण्ड' तो पूर्णतया शिवमाहात्म्यपरक ग्रन्थ है। यह युग ऐसा था जबकि पंचायतन पूजा प्रचलित थी तथा इनमें शिव का अपना विशेष महत्व था।

पुराण में कहा है—शिव का ध्यान करो, शिव का भजन करो, शिव की स्तुति करो, शिव का यजन करो, यदि ज्ञान तथा मोक्ष की इच्छा करते हो।[1]। 'अवन्ती-खण्ड' के मंगलाचरण में महाकाल के नाम से शिव का स्मरण किया है—

स्रष्टारोऽपि प्रजानां प्रबलभवभयाद्यं नमस्यन्ति देवा-
यश्चित्ते सम्प्रविष्टोऽप्यवहितमनसां ध्यानयुक्तात्मनां च।
लोकानामादिदेवः स जयतु भगवाञ्छ्रीमहाकालनामा।
बिभ्राणः सोमलेखामहिवलययुतं व्यक्तलिंगं कपालम्॥[2]

भवमूर्ति, भवारि, शिव भक्तों को अभय प्रदान करते हैं। भव (सागर) के भाव (कष्टों) के विनाश के लिये भव (शिव) की शरण ही गमनीय है।[3] शिव जगत् में वरिष्ठ हैं।[4] पञ्चानन शिव का शास्त्र पढ़ने से पञ्चाक्षर मन्त्र जाप करने से, पञ्चात्मक तत्व को धारण करने से, पञ्चानन शिव की सेवा करने से संसार के सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं।[5] सृष्टि के समय रजोगुण, संसार के पालन के लिये सत्वगुण तथा संहार के लिये तमोगुण धारण करने वाले निर्वाण सुख प्रदान करने वाले शिव को प्रणाम है।[6]

स्पष्टतः 'अवन्ती-खण्ड' शैव धर्म के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। रुद्र-शिव की उपासना प्राचीनकाल में प्रतिष्ठित हो गई थी।[7] 'ऋग्वेद' में रुद्र की स्तुति की गई है।[8] 'अथर्ववेद' में रुद्र की महिमा का वर्णन है कि रुद्र का निवास—अग्नि, जल, औषधियों तथा लताओं में ही नहीं, वे समस्त भुवनों की रचना करने वाले हैं ऐसे रुद्र को नमस्कार है।[9]

'श्वेताश्वतर 'उपनिषद्' में भी रुद्र की महिमा का वर्णन है। वे एक ही हैं, जो समस्त जीवों के भीतर निवास करते हैं। वे ही सब लोकों की रचना कर उनकी रक्षा भी करते हैं।[10] इस युग में रुद्र भक्ति की महिमा समाज में स्थापित हो चुकी थी। रुद्र शिव की महिमा हरप्पा संस्कृति में भी पशुपति और योगेश्वर के रूप में स्थापित हो चुकी थी। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में भी शिव के उल्लेख मिलते हैं।[11] पाणिनि के समय में शिवोपासना प्रचलित थी।[12] पाणिनि ने शिव की उपासना से ही व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया था।[13] पतंजलि भी रुद्र शिव उपासना का उल्लेख करते हैं।[14]

अभिलेखों और सिक्कों से भी ज्ञात होता है कि ईसापूर्व प्रारम्भिक शताब्दियों में ही शिव उपासना प्रचलित थी। गुप्त युग तथा इससे पूर्व शिव उपास्य थे।[15] हर्षकाल का अत्यन्त सुन्दर सिक्का प्राप्त हुआ है, जिस पर उमा महेश्वर की बैठी मुद्रा है।[16]

पुराण युग तक शिव की उपासना विभिन्न रूपों में प्रचलित हो गई थी। अनेक पुराण शिवपरक हैं। 'अवन्ती-खण्ड' में शिव के सर्वविधस्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। जो तत्कालीन शैव मत को

भली-भाँति प्रकट करता है । शिव का भौतिक (लौकिक) तथा आध्यात्मिक दोनों रूपों का पुराण में वर्णन इसप्रकार है—

(क) **शिव का भौतिक-स्वरूप**—'अवन्ती-खण्ड' के अनुसार शिव—उमा को अर्द्धाङ्ग में धारण किये हैं । शरीर में भस्म है, जटाधारी, त्रिशूलधारी, व्याघ्रचर्मधारी है, गले में नागों का यज्ञोपवीत है ।[१७] शिर में चन्द्रमा है तथा जटाओं में गङ्गा नदी है । गले में कपालमाला है । हाथ में डमरू तथा खट्वाङ्ग धारण कर वृषासनारूढ़ शिव भैरवरूप में श्मशान में निवास करते हैं ।[१८] शिव के पाँच मुख[१९], तीन नेत्र—सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि हैं ।[२०] इनकी चार भुजायें हैं, जिनमें शक्ति तथा शूल धारण करते हैं,[२२] शिव का अट्टहास भी इनकी शोभा है ।[२३]

शिव कामदेव का दहन करने वाले, पूष्णोदन्त को गिराने वाले हैं । शिव ने ब्रह्मा का पञ्चम शिर काट लिया था । जय स्वरूप शरीर वाले सर्वग, कर्त्ता, हर्ता, भूमि, दिशा, गुरु, सौरि, भूमिपुत्र, ग्रह, नक्षत्र सभी के रूप में ये विद्यमान रहते हैं ।[२४] शिव कार्य तथा परिस्थिति के अनुसार स्वरूप परिवर्तन करते हैं । प्राणियों के संहार के लिये रौद्र रूप धारण करते हैं । संसार का पालन करने के लिये मनोरम विष्णु का रूप ग्रहण करते हैं तथा सृष्टि रचना हेतु रजोगुण प्रधान ब्रह्मास्वरूप हो जाते हैं ।[२५]

सामान्यतया शिव का भौतिकस्वरूप शान्त है किन्तु प्रलय के समय यह विकराल हो जाता है । पुराण में प्रलयकालीन वर्णन भी है ।[२६] काम-दहनकाल में शिव में तीनों गुण सत्त्व. रज तथा तम एक साथ प्रकट हो गये थे—उनका एक नेत्र योग समाधि के लिये बन्द रहा, द्वितीय नेत्र शृङ्गारभारालसित पार्वती के जघन तथा स्तनतट पर लगा रहा, तृतीय नेत्र की आग्नेय दृष्टि से कामदेव को भस्म किया । पुराणकार का कथन है कि एक साथ तीन रसों से युक्त समाधि में लगे शिव के तीनों नेत्र सबकी रक्षा करें ।[२७]

(ख) **शिव का आध्यात्मिक-स्वरूप**—शिव प्रणव रूप है ।[२८] ये ओङ्कार, तुङ्कार, स्वधावषट्कार, गुणत्रयेश, त्रिगुणात्मन् तथा त्रयीमय है ।[२९] सांख्य सम्मत प्रकृति तथा परमात्मा के रूप में शिव ही हैं । इन्होंने मन, बुद्धि, अहंकार आदि छब्बीस तत्त्वों का निर्माण किया है । ये भू, वायु, अम्बर, बह्नि, जल, चन्द्रमा, सूर्य, आत्मा आदि में निवास करके सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हैं, भूत, भविष्य तथा वर्तमान स्वरूप हैं । संसार में जितने भी तेज, प्राणी, भव्य तथा कारण हैं वे सब सृष्टि रचना काल में उत्पन्न हो जाते हैं । किन्तु विनाश के समय शिव में ही विलीन हो जाते हैं ।[३०]

'अवन्ती-रेवा-खण्ड' के अनुसार प्रलयकाल में संसार में सब कुछ नष्ट हो गया था । उस समय शिव तथा उमा साथ बैठे थे । सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, दिशा, लोकपाल, सुख, दुःख कुछ भी नहीं था । इसलिये शिव को सांख्य लोग आदिदेव कहते हैं । ये एकरूप, अनेकरूप, अवर्ण होकर भी अर्थयुक्त नाम, गोत्र रहित, तुरीय पद-स्वरूप, केवल ध्यानगम्य, विज्ञानमय तथा सूक्ष्मतम थे । संहार, पालन तथा सृष्टि करते थे । प्रकृति के साथ मिलकर महेश्वर ने इस चर तथा अचर संसार, भग तथा लिंग आदि की सृष्टि की ।[३१]

सृष्टि कार्य करके शिव स्थाणुवत् निश्चल हो गये थे । तथा प्रलयकाल में भी इसी भाँति अडिग रहे । इसलिये इन्हें स्थाणुस्वरूप कहा जाता है ।[३२]

शिव-भक्ति

शिव-दर्शन के उपाय हैं—श्रद्धा, ज्ञान, तपस्या तथा योग। शाश्वत स्थाणुस्वरूप सनातन तथा अमृतवत् देव शिव की पूजा तथा प्रार्थना वाञ्छित फल देने वाली है।[34] ऋषियों के द्वारा प्रश्न उठाये जाने पर जिज्ञासा शान्ति के लिये सनत्कुमार ने बताया कि—प्रथमतः रुद्रभक्ति त्रिविध है—मानसिक, कायिक तथा वाचिक।[35]

ध्यान, धारणा तथा बुद्धि से रुद्र का स्मरण कराने वाली मानसी भक्ति कहलाती है।[36] व्रत, उपवास, नियम, इन्द्रिय-संयम पूर्वक रुद्र की भक्ति कायिक कहलाती है।[37] सनत्कुमार ने वाचिक भक्ति का कोई विवरण नहीं दिया है। विस्तृत रूप से रुद्रभक्ति के पुनः तीन भेद कहे हैं—लौकिकी, वैदिकी तथा आध्यात्मिकी।[38] इनका विवरण निम्नवत् है—

(क) **लौकिकी-भक्ति**[39]—पुराण के अनुसार गाय के घी, दूध, दही, सुगन्ध, रक्तकुश, जल, सुगन्धित माला, अनेक धातुयें, गुग्गुल धूप, कृष्णागुरु, आभूषण, स्वर्ण, सुन्दर हार, वास प्रतिसरस्तोत्र, पताका, व्यजन, नृत्य, वादित्र, गीत, अनेक उपहार, भक्षणीय भोजन तथा अनुपान एवं अक्षतों से युक्त, ज्ञान ध्यान में लगे धर्मात्मा शिव को लक्ष्य कर जो पूजा करते हैं वह लौकिकीभक्ति कहलाती है।

शिव को पंचामृतस्नान[40] कराके गन्ध, पुष्प, धूप, वस्त्रालङ्कार, आभूषण, पताका, चामर, छत्र, जय शब्द आदि से पूजना चाहिये तथा दान देना चाहिये। एकाक्षर शिव का जप कर महेश्वर का ध्यान करें। मन्त्रों से पवित्र स्नानादि करके पवित्र शैव व्रत करें।[41] यही शिव की लौकिकी भक्ति है।

(ख) **वैदिकी-भक्ति**[42]—देव मन्त्र तथा हवन सामग्री के योग से की गई वैदिकी भक्ति होती है। पूर्णमासी के दिन अग्निहोत्र करके भोजन, दक्षिणा, दान, पुरोडाश, चरुक्रिया, यज्ञ कार्य, सोमपान, ऋक् यजु साम वेदों का जप एवं संहिताध्ययन आदि कार्य रुद्र को लक्ष्य कर वैदिकी भक्ति में किये जाते हैं।

(ग) **आध्यात्मिकी[43]-भक्ति**—अग्नि, पृथ्वी, वायु, आकाश, चन्द्रमा तथा सूर्य को लक्ष्य कराने वाली आध्यात्मिकी भक्ति होती है। यह 'आध्यात्मिकी रुद्रभक्ति' भी तीन प्रकार की होती है—सांख्या, यौगिकी तथा अन्या।[44] इनका परिचयात्मक वर्णन प्रस्तुत है—

(i) **सांख्य[45]-भक्ति**—प्रधान आदि चौबीस तत्त्वों में, जो कि अचेतन हैं, पुरुष पचीसवां तत्त्व—चेतन भोक्ता तथा कार्य को जन्म देने वाला है। इनमें रुद्र छब्बीसवां तत्व कर्ता, सर्वज्ञ, चेतन तथा प्रभु है, अजन्मा, नित्य, अव्यक्त, अधिष्ठाता तथा प्रयोजक है। पुरुष अव्यक्त तथा नित्य है। महेश्वर ही मुख्य कारण हैं, सर्वत्र कर्तृता भी रुद्र में है। किन्तु इस तत्वसंख्या का परम तत्त्व रुद्र है। यही ज्ञानतत्व भी है जिसको विद्वान् सांख्य से जानते हैं। इसीलिये यह भक्ति सांख्या आध्यात्मिकी है।

(ii) **यौगिकी[46]-भक्ति**—प्राणायाम परायण होकर इन्द्रियों को वश में करके धारणा को हृदय में धारण कर महेश्वर का ध्यान करें। हृदय रूपी कञ्जकर्णिका (कमलदल) में विराजमान पाँच मुख, तीन नेत्र तथा चन्द्रमा से युक्त जटा वाले, सर्पों से आवृत कटितट वाले, श्वेत, दशभुजायुक्त, कल्याणकारी वरदान तथा अभयदान की मुद्रा में हाथ वाले शिव का ध्यान करना ही यौगिकी रुद्रभक्ति है।

अन्या भक्ति का कोई विवरण आगे नहीं दिया है। पुराण में शतरुद्री जप का भी विधान है।[47] महाकाल वन में महाकालेश्वर की पूजा तथा प्रदक्षिणा करने से उत्तम फल मिलता है।[48] एक स्थान पर लिखा है कि शिव की पूजा तथा व्रत त्रयोदशी को भी करना चाहिये।[49] रुद्रभक्ति का महत्त्व समझाते हुये पुराणकार ने

कहा है—जिसने **ओऽम् शिवाय नमः** इस मन्त्र का अभ्यास स्थिर कर लिया है, उसने सब शास्त्रों को पढ़ लिया है, सुन लिया है तथा उनका पालन कर लिया है।[५०]

शैव सम्प्रदाय

"अवन्ती-खण्ड" में दो मुख्य शैव सम्प्रदायों का विवेचन मिलता है—पाशुपत तथा कापालिक। इनका वर्णन इसप्रकार है:—

(क) पशुपत[५१] व्रत—यह सभी व्रतों में श्रेष्ठ है तथा दिव्य है। शिवशाखा में पठित तथा शैव दीक्षित होने से इसको शैव कहते हैं। शिवाराधन में तत्पर व्रती, तेजस्वी मुनियों के लिये यह व्रत बना है। यह कायिक व्रत कीर्ति प्रदान करने वाला, पापघ्न, दुःखनाशक, पुष्टि तथा बलवर्धक, सिद्धि-कीर्ति-दाता तथा कलियुग के पापों से मुक्त करने वाला है। इस व्रत में समाहित होकर भस्म स्नान करके शान्त, दानी, जितेन्द्रिय, मनुष्य कमण्डलु धारण करते हैं, रुद्राक्ष पहनते हैं, अनिष्ट को न तो स्वयं देखते है तथा न उनकी चर्चा करते हैं। परम भक्ति युक्त होकर श्रेष्ठ विधि से शिव का ध्यान करते हैं।

पाशुपत व्रत—कार्य, कारण, आत्मा, परमात्मा से योगविधि तथा दुःखान्त इन पाँच नियमों पर आधारित है।[५२] पाशुपत संप्रदाय के संस्थापक शिव के अवतार भगवान् लकुलीश थे।[५३] ये स्वयं अपनी राजधानी कायावरोहण से महाकालवन गये तथा वहाँ पर शिवलिंग की स्थापना की। वह स्थल कायाव-रोहणेश्वर कहलाया।[५४]

(ख) कपालव्रत एवं कापालिक—कापालिकों द्वारा सम्पादित यह कपालव्रत परम अद्भुत, उत्कट, रौद्र तथा रोमहर्षक है।[५५] इस व्रत में कपालपात्र में भोजन करके, कपाल का आभूषण धारण किया जाता है। कापालिक हाथ में कपाल लेकर भिक्षावृत्ति से सन्तुष्ट होकर श्मशान में निवास करते हैं। सभी प्राणियों से प्रसन्न रहते हैं। प्रिय तथा अप्रिय के प्रति समान भाव रखकर सम्पूर्ण शरीर को भस्म से विभूषित कर इन्द्रियों पर संयम रख कर नित्य सर्वसङ्गी रहता है। मिट्टी, भस्म तथा जल अपने साथ रखे। शिव का जाप करने के लिये आसन पर बैठें तथा पवित्र तीर्थों तथा आश्रमों में रहकर शिव का ध्यान करें।[५६]

ऐसा प्रतीत होता है कि शैव सम्प्रदायों में पाशुपत व्रत गुप्तकाल में मुख्य था तथा कापालिक एवं कालमुख दोनों भी प्रचलन में थे। किन्तु कापालिक सम्प्रदाय सातवीं शती तक या इससे पूर्व ही कम प्रभाव वाला हो गया था या लुप्तप्राय हो चुका था। कपिलेश्वर के रूप में शिव की पूजा भारत में दूरवर्ती क्षेत्रों में प्रचलित थी। निर्माण्ड (कांगड़ा) इंगतपुरी (नासिक) से प्राप्त ताम्रपत्र अभिलेख इस तथ्य को प्रकट करते हैं।[५७]

लिंग पूजा

शिवलिंग मूर्ति हैं।[५८] सभी प्राणियों के द्वारा लिंगमूर्ति शिव की पूजा की जाती है।[५९] (लिंग-मूर्तिश्च यो नित्यं पूज्यते सर्वजन्तुभिः)। लिंगपूजा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी। "श्वेताश्वतर उपनिषद्"[६०] से ज्ञात होता है कि ईशान देव सभी योनियों पर अधिकार रखते थे। इसप्रकार लिंग तथा योनि का भौतिक महत्त्व समझते हुये इनकी एक साथ पूजा की जाती थी।[६१] प्राचीन साहित्य लिंगपूजा की प्रसिद्धि तथा प्रचार को प्रकट करते हैं। यह ईसा के प्रारम्भ काल में भी बहुत प्रचलित थी।[६२] अभि-लेखों से भी यही ज्ञात होता है।[६३] महाभारत में भी लिंगपूजा के सन्दर्भ है।[६४] पाणिनि ने भी इसका उल्लेख किया है।[६५] अन्य पुराणों की भाँति 'स्कन्दपुराण' में भी लिंगपूजा पर बल दिया गया है। इसके 'काशी खंड', 'अवन्ती खंड', 'नागर खंड', तथा 'प्रभास' खंडों में क्रमशः—काशी, अवन्ती, आनर्त, सौराष्ट्र आदि स्थानों में स्थित लिङ्गों का वर्णन किया गया है। अवन्ती क्षेत्र में स्थित महाकाल वन में बहुत बड़ी संख्या में शिवलिंग हैं। महाकाल वन में चौरासी :महत्त्वपूण शिवलिङ्ग है, जिनकी पूजा अत्यन्त श्रद्धा से की जाती थी,। पवित्र नर्मदा के दोनों तटों पर शिवलिङ्ग स्थित हैं। इस नदी में स्नान करने के

बाद शिवलिङ्ग की पूजा अवश्य की जाती है। नर्मदा के तट पर तीन सौ तैंतीस शिवतीर्थ एवं लिंग है। ब्रह्मा ने भी शिवलिंग की पूजा की । विष्णु तथा इन्द्र ने लिङ्गरूप धारी शिव की आराधना की । रेखाखंड में लिंग की परिभाषा भी दी है—'**यस्मिन्नेति लयं जगत् एकभावं समापन्नं लिङ्गं तस्माद्विदुर्बुधाः ॥**"

इसप्रकार शिवपूजा अनेक रूपों में पुराणकाल में प्रचलित थी । सभी प्राणी समान रूप से शिवार्चन करते थे । तथा शिव भक्ति निःश्रेयस् एवं मुक्ति प्रदान करने वाली थी । 'अवन्ती-खंड' में एकादश रुद्र तथा शिवगणों का भी विवरण उपलब्ध होता है । शिव के स्वरूप सहित शिवभक्ति के लगभग सभी क्षेत्रों पर 'अवन्ती-खंड' में प्रकाश डाला गया है ।

सन्दर्भ संकेत—

१. स्क० पु० अ० रे० । ११/५५ ॥ (स्कन्दपुराण अवन्तीरेवाखण्ड)
२. स्क० पु० अ० अ० । १/१ ॥ (स्कन्दपुराण अवन्ती खण्ड अवन्ती क्षेत्र माहात्म्य)
३. स्क० पु० अ० रे० । २६ । ४८–४९ ॥
४. स्क० पु० अ० रे० । १५/३ ॥
५. स्क० पु० अ० रे० । २१/१३ ॥
६. स्क० पु० अ० अ० । २/१४ ॥
७. भण्डारकर—वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म पृ० १०२ ।
८. ऋग्वेद— १/११४ ॥, २/३३ ॥, ७/५६ ॥
९. अथर्ववेद— ६/८३ ॥
१०. {भण्डारकर—वैष्णाविज्म एण्ड शैविज्म पृष्ठ १०६–११२ ॥
जे० एन० बनर्जी—पौराणिक एण्ड तान्त्रिक रिलीजन पृष्ठ ६८–६९ ॥
११. वही, पृष्ठ ७० ।
१२. वही, पृष्ठ ७२ ।
१३. वही, पृष्ठ ७३ ।
१४. वही, पृष्ठ ७५–७८ ।
१५-१६. जर्नल नुमैस्टिक सोसाइटी भाग १—पृ० १०३–१०६ ॥ प्लेट × चित्र १ ।
१७. स्क० पु० अ० रे० । ४८/८९ ॥
१८. स्क० पु० अ० रे० । ४८/७८–८० ॥
१९. स्क० पु० अ० अ० । ६/४९ ॥
२०. स्क० पु० अ० अ० । ४०/१८ ॥
२१. स्क० पु० अ० रे० । ४८/८९ ॥
२२. स्क० पु० अ० अ० । ६/४७ ॥
२३. स्क० पु० अ० रे० । १६/४ ॥
२४. स्क० पु० अ० रे० । ४८/८१–८५ ॥
२५. स्क० पु० अ० रे० । १४/१६ ॥
२६. स्क० पु० अ० रे० । १५/३३–४० ॥
२७. स्क० पु० अ० रे० । १५०/१७–१८ ॥
२८. स्क० पु० अ० रे० । २१–१२ ॥
२९. स्क० पु० अ० रे० । १५/१७ ॥
३०. स्क० पु० अ० च० । १५/१७ ॥ (स्कन्दपुराण अवन्ती खण्ड चतुरशीति लिङ्ग माहात्म्य)
३१. स्क० पु० अ० रे० । १४/८–१८ ॥
३२. स्क० पु० अ० रे० । १३/३९ ॥
३३. स्क० पु० अ० रे० । ६/५ ॥
३४. स्क० पु० अ० रे० । १३/३४ ॥
३५. स्क० पु० अ० अ० । ७/४ ॥
३६-३७. स्क० पु० अ० अ० । ७/५–७ ॥
३८. स्क० पु० अ० अ० । ७/५ ॥
३९. स्क० पु० अ० अ० । ७/७–११ ॥
४०. स्क० पु० अ० रे० । ९५/९–११ ॥
४१. स्क० पु० अ० रे० । १६८/२९–३० ॥
४२. एक० पु० अ० अ० ।७।११-१४॥
४३. स्क० पु० अ० अ० ।७।१४-१५॥

४४. स्क० पु० अ० अ० ।७।१५-१६।
४५. स्क० पु० अ० अ० ।७।१६-२५।
४६. स्क० पु० अ० अ० ।७।२५-२८।
४७. स्क० पु० अ० अ० ।३२।५१।
४८. स्क० पु० अ० अ० ।२६।३०-३१।
४९. स्क० पु० अ० रे० ।४४।।२२।
५०. स्क० पु० अ० रे० ।९५।१२।
५१. स्क० पु० अ० अ० ।६।२१-२७।
५२. डॉ० बनर्जी, पौराणिक एवं तान्त्रिक रिलीजन पृष्ठ ९३-९५।।
५३. स्क० पु० अ० च० ।८२।४९-५५।;
कलेक्टेड वर्क्स आफ सर आर जी भण्डारकर भण्डारकर, पृ०१६६ ।
५४. स्क० पु० अ० अ० ।६।९३।
५५. स्क० पु० अ० अ० ६।८७-९३।
५६. प्रबोधचन्द्रोदय पृ० ११४।
५७. स्क० पु० अ० च। ४३।२२।
५८. स्क० पु० अ० अ० ।४५।११।
५९. श्वेताश्वतर उपनिषद् श्लोक ४-५।
६० पौराणिक एवं तान्त्रिक रिलीजन पृ०७८ ।
६१. ६२. पौराणिक एण्ड तान्त्रिक रिलीजन पृ० १७०-७१,२८६, ३१ ।
६३. इन्डियन इपिग्राफिक ग्लासरी पृ० ८१-८२ ।
६४. कलेक्टेड वर्क्स आफ सर आर जी भण्डारकर भाग ४-पृ० १६०-१६४ ।
६५. पाणिनिकालीन भारत, डॉ०अग्रवाल पृ० ३४९।

———

शोधच्छात्रा-संस्कृत विभाग,
गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल) ।

□ कु० मधुरानी

भारतीय दर्शनों में प्राण मीमांसा

किसी भी कथन की सत्यता का आधार प्रमाण है । दर्शन की भाषा में प्रमा का करण प्रमाण कहलाता है । प्रमा से तात्पर्य है—यथार्थज्ञान प्रमा की सिद्धि तीन घटकों पर निर्भर है प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण । प्रमाता वह है जो ज्ञान को प्राप्त करता है । जो विषय ज्ञात किया जाता है, वह प्रमेय है । इस प्रमेय की प्राप्ति की प्रक्रिया प्रमाण है । लक्षण और प्रमाण के बिना किसी वस्तु की सिद्धि असम्भव है, अतः प्रमेय की सिद्धि हेतु प्रमाणों का वर्णन सभी दर्शनों का इष्ट है । प्रमाण की सत्यासत्यरूपी कसौटी पर परीक्षित ज्ञान ही विश्वस्त होता है ।

प्रमाणों की संख्या बहुविध है । दर्शन शास्त्र की विभिन्न शाखाओं में स्वीकृत इनकी संख्याओं में परस्पर भेद है—

प्रत्यक्षमात्रं चार्वाक बौद्धा वैशोषिकाद्वयम्,
सांख्या योगस्त्रयं चैव तार्किकाश्च चतुष्टयम् ।
पंच प्रभाकरा, भाट्टास्तथा वेदान्तिनश्चषट्,
पौराणिकास्तथा चाष्टौ प्रमाणानि ब्रुवन्ति वै ॥

चार्वाक दर्शन के अनुसार प्रमाण मीमांसा—प्रमेयों का ज्ञान प्रमाण के द्वारा होता है । प्रमाण की संख्या प्रमेयों के स्वभाव पर निर्भर है इनके अनुसार जितने ही प्रमाणों से प्रमेयों का ज्ञान हो जाये, उतनी संख्या में प्रमाणों को स्वीकार करना चाहिए । चार्वाकों ने अतिमूढ़ अवस्था वाले पृथ्वी, जल, वायु और तेज ये ही चार प्रमेय माने हैं । इन चारों का ज्ञान एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा होता है । जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता उनका अस्तित्व चार्वाक नहीं मानते अथवा उनको सम्भावना मात्र मानते हैं परन्तु उनमें प्रामाण्य ज्ञान नहीं मानते । अतः चार्वाक के लिए एकमात्र प्रमाण प्रत्यक्ष है । आकाश और मन को भी स्थूल बुद्धि से प्रत्यक्ष के द्वारा ये लोग जान लेते है । पहले ये केवल चक्षु से देखने को प्रत्यक्ष कहते थे किन्तु ज्ञान के क्रमिक विकास से अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी अर्थात् कान, नाक त्वक् तथा जिह्वा के द्वारा भी प्रत्यक्ष मानने लगे हैं । चार्वाक दर्शन के अनेक सम्प्रदाय है जिनमें से धूर्त सम्प्रदाय और पाषण्ड सम्प्रदाय तो किसी को भी प्रमाण नहीं मानते वे प्रत्यक्ष को भी प्रमाण स्वीकार नहीं करते हैं । इनके अनुसार अनुमान और उपमान स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है । ये प्रत्यक्ष के ही आधार पर प्रमाण माने जाते हैं, आगम या शब्द प्रमाण तो वस्तुतः प्रत्यक्ष ही प्रमाण है । ऋषियों ने प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात् अनुभव कर कुछ कहा या लिपिबद्ध किया, वही तो आज आगम प्रमाण है ।

यद्यपि सभी शास्त्रकारों ने एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण मानने के कारण चार्वाकों की बहुत निन्दा की है और अनेक प्रकार से इनका खण्डन किया है वस्तुतः एक दर्शन का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न है । चार्वाकों के अनुसार यथार्थ में सर्वथा एव सबसे अधिक विश्वसनीय एक मात्र प्रमाण तो प्रत्यक्ष ही है । जब तक किसी वस्तु का प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञान नहीं होता तब तक उस वस्तु के सम्बन्ध में जो ज्ञान होता हैं वह सन्देह से मुक्त नहीं होता । उसे केवल सम्भावित कह सकते हैं ।

बौद्ध दर्शन की प्रमाण मीमांसा—बौद्ध दर्शन 'प्रत्यक्ष' और अनुमान इन दो प्रमाणों को स्वीकार करता है उनके अनुसार इन दोनों प्रमाणों को सम्यक् ज्ञान कहा गया है और सम्यक् ज्ञान से ही सभी पुरुषार्थों की सिद्धि होती है । कल्पना और भ्रान्ति से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है । प्रत्यक्ष ज्ञान चार प्रकार

का होता है इन्द्रिय ज्ञान, मनोविज्ञान, आत्मसंवेदन, योगिविज्ञान । अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थ और परार्थ । स्वार्थानुमान में लिङ्ग 'अनुमेय' में रहता है, सपक्ष में रहता है और विपक्ष में नहीं रहता । हेतु के इन तीनों बातों को ध्यान में रखकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाये वह स्वार्थानुमान कहा जाता है । परार्थानुमान में वाक्यों के अर्थात् अवयवों के द्वारा दूसरों को अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञाव कराया जाता है । इसके दो भेद है—साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् । बौद्ध मत में तीन प्रकार के हेत्वाभास है —असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक ।

जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण-मीमांसा--जैन दर्शन के अनुसार जीव में स्वभाव से ही निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान है । निर्विकल्पक ज्ञान चार प्रकार का होता है—चक्षु, अचक्षु, अपधि तथा केवल । सविकल्पकज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मन, पर्याय तथा केवल ये पाँच भेद हैं इन्हें ही सविकल्पक ज्ञान कहते हैं । ये ज्ञान प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाण के भेद से दो प्रमाणों के अन्तर्गत हैं ।

यह प्रत्यक्ष ज्ञान पुनः पारमार्थिक' तथा 'व्यवहारिक' भेद से दो प्रकार का है जो कर्म के प्रभाव से मुक्त हो तथा स्वतन्त्र रूप से अपने को प्रकाशित करे वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है जिस ज्ञान के लिए जीव को इन्द्रियों की चेष्टाओं पर तथा मन पर निर्भर रहना पड़ता है उसे जैनों ने व्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है । इन्द्रियों के द्वारा तथा मन के द्वारा जो ज्ञान जीव को प्राप्त होता है वे सभी प्रत्यक्ष ज्ञान है इन से भिन्न जो ज्ञान है वह परोक्ष ज्ञान है । मति ज्ञान चार प्रकार का होता है—अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा । मतिज्ञान के पश्चात् श्रुत ज्ञान होता है । आगमों के द्वारा तथा आप्त वचनों से जो ज्ञान प्राप्त हो उसे श्रुत ज्ञान कहते हैं । इसके दो भेद मानते हैं—अंगबाह्य, अंगप्रविष्ट ।

जैन दर्शन के मत में दूसरा प्रमाण है परोक्ष । हेतु के द्वारा साध्य वस्त्र के ज्ञान को परोक्ष तथा उस ज्ञान की प्रक्रिया को अनुमान कहते हैं । स्वार्थ तथा परार्थ के भेद से अनुमान दो प्रकार का है । अनेक दृष्टान्तों को देखकर अपने मन में अपने को समझाने के लिए किये गये अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं । जब यही बात दूसरों को समझाने के लिए लायी जाती है तो उसे परार्थानुमान कहते हैं । परोक्ष के अन्तर्गत, शब्द प्रमाण भी, एक प्रमाण है । प्रत्यक्ष के विरुद्ध न होकर जो ज्ञान शब्द के द्वारा उत्पन्न हो वह शब्द प्रमाण है । लौकिक तथा शास्त्रज के भेद से दो प्रकार का होता है । इन्हीं प्रमाणों के द्वारा जैनों के मत में अविद्या का नाश, आनन्द की प्राप्ति तथा व्यवहारिक ज्ञान में सत्यासत्य का निर्णय होता है ।

न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाण मीमांसा—मन तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के जिस व्यापार के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी वस्तु का यर्थाथ ज्ञान हो उसे ही प्रमाण कहते हैं । न्याय शास्त्र में प्रमेयों को जानने के लिए चार प्रमाणों की आवश्यकता होती है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द इन चारों को न्यायशास्त्र ने प्रमाण ममाना है ।

ज्ञानेन्द्रिय और किसी वस्तु के सन्निकर्ष से साक्षात् जो यथार्थ अभुनव उत्पन्न हो उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है । इस ज्ञान को उत्पन्न करने में जो सबसे अधिक साधक हो वही प्रत्यक्ष प्रमाण है । प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष आवश्यक है ये सान्निकर्ष छ प्रकार के हैं—संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय तथा विशेषण विशेष्य भाव । इनके अतिरिक्त विशेष ज्ञान के लिए न्याय दर्शन कुछ अलौकिक सन्निकर्ष मानता है—सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति, ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति तथा योगज प्रत्यक्ष ।

जिस प्रक्रिया के द्वारा परोक्ष वस्तु का ज्ञान हो उसे अनुमान कहते हैं। हेतु या लिङ्ग के परामर्श द्वारा परोक्ष वस्तु का ज्ञान होता है इसलिये लिङ्गपरामर्श को अनुमान कहते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगामन से अनुमान का बोध होता है। जिस अनुमान में अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों दृष्टान्त हो उसके हेतु को पाँच नियमों का पालन करना पड़ता है—पक्षवृत्ति, सपक्ष वृत्ति, विपक्षा दव्यावृत्ति, अबाधित विषय तथा असत्प्रतिपक्ष। जिस किसी अनुमान में हेतु उक्त नियमों का पालन न करे तो वह हेतु असत् हेतु अर्थात् हेत्वाभास कहलाता है, ये पाँच हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, सत्प्रतिपक्ष तथा बाधित विषय।

किसी संज्ञा शब्द का उससे बोध कराने वाले पदार्थ के साथ सम्बन्ध के ज्ञान को उपमान कहते हैं। इसकी प्रक्रिया को उपमिति कहते है। गाय और गवय, इन दोनों में जो सादृश्य है उसी के आधार पर यह उपमान निर्भर है। गवय—रूपी संज्ञा शब्द को गवय रूपी जन्तु के साथ संबद्ध करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही ज्ञान उपमिति है।

न्याय दर्शन आप्त पुरुष के वाक्य को शब्द प्रमाण कहता है। वाक्य के अर्थ के ज्ञान के लिये वाक्य में आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि का होना आवश्यक है। लौकिक व वैदिक भेद से वाक्य दो प्रकार के है। नैयायिकों ने अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव तथा ऐतिह्य को स्वतन्त्रप्रमाण स्वीकार न करते हुए चारों में ही इनका अन्तर्भाव किया है। अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव व्यतिरेकी अनुमान में किया है, अभाव प्रमाण को प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत किया है, सम्भव को अनुमान के अन्तर्गत रखा है तथा ऐतिह्य को शब्द प्रमाण के अन्तर्गत माना है।

वैशेषिक दशन में प्रमाण मीमांसा—यद्यपि प्रत्यक्ष और अनुमान के विचार में दोनों दर्शनों में कोई मतभेद नहीं है फिर भी न्याय व वैशेषिक में कुछ पारस्परिक भेद है—नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द और उपमान चार प्रमाण मानते है परन्तु वैशेषिक चार के स्थान पर प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मानते है। शब्द और उपमान को वैशेषिक अनुमान के अन्तर्गत मानते है। न्याय दर्शन में प्रमाणों पर अधिक विचार किया है जबकि वैशेषिक दर्शन प्रमेयों पर अधिक विचार है। न्याय दर्शन के अनुसार जितनी भी इन्द्रियाँ हैं उतने ही प्रकार के प्रत्यक्ष होते हैं, किन्तु वैशेषिक के मत में एकमात्र चाक्षुष प्रत्यक्ष ही माना जाता है। पंचावयवों के नाम न्याय में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन दिये है परन्तु वैशेषिक में प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान और प्रत्याम्नाय ये पाँच नाम दिये है। इनमें हेत्वाभास की दृष्टि से भी अन्तर देखा जाता है।

मीमांसा दर्शन में प्रमाण मीमांसा—मीमांसकों के अनुसार जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो अन्य ज्ञान से बाधित न हो एवं दोष रहित हो वही प्रमाण है। भाट्टमत में प्रमाण के छः भेद है—प्रयत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलाब्धि या अभाव। प्रभाकर के मत प्रमाण के पाँच भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और शब्द। इनके अनुसार शब्द के विज्ञान से परोक्षभूत विषय के ज्ञान को शब्द प्रमाण या शास्त्र कहते हैं। यर्थाथ शब्द ज्ञान वेद-वाक्यों से हो सकता है अतएव वेद ही एकमात्र प्रमाण है।

प्रभाकर का मत है कि किसी भी प्रमाण से ज्ञात विषय की उपपत्ति के लिए अर्थापत्ति हो सकती है केवल दृष्ट और श्रुत से हो नहीं। यह बात साधारण रूप से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं होती तस्मात् अर्थापत्ति को एक भिन्न प्रमाण मीमांसक मानते हैं।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा जब किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, तब वह वस्तु नहीं है इस प्रकार उस वस्तु के अभाव का ज्ञान हमें होता है। इस अभाव का ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि के द्वारा तो नहीं हो सकता। अतएव अनुपलब्धि या अभाव नाम के एक ऐ ऐ स्वतन्त्र प्रमाण को मीमांसक मानते

है जिनके द्वारा किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान हो। मीमांसक स्वतः प्रमाण्य के समर्थक हैं इसके अतिरिक्त नैयायिक परतः प्रामाण्य के समर्थक है।

सांख्यं दर्शन में प्रमाण मीमांसा—सांख्य के अनुसार पच्चीस प्रमेयों के वास्तविक ज्ञान से दुःख की आत्यान्तिकी निवृत्ति होती है। प्रमेयों को जानने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है। सांख्यमत में इन तीनों प्रकार के प्रमेयों का अर्थात् व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ का ज्ञान तीन ही प्रमाणों से होता है। इसलिए सांख्यशास्त्र ने तीन ही प्रमाण माने हैं—दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान, आप्त वचन। प्रत्येक ज्ञान के विषय के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् जो निश्चित ज्ञान है वही प्रत्यक्ष है। अनुमान तथा आप्त वचन का लक्षण न्याय दर्शन के अनुसार है। साख्य दर्शन के प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रक्रिया न्याय-वैशेषिक से सर्वथा भिन्न है।

योग दर्शन में प्रमाण मीमांसा—सांख्य के समान योग दर्शन ने भी तीन प्रमाणों को स्वीकार किया है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द। इन्द्रिय रूपी नाली के द्वारा चित्त बाहर जाकर वस्तुओं के साथ उपराग को प्राप्त कर विषयाकार हो जाता है अर्थात् वस्तु के आकार को प्राप्त जो चित्त वृत्ति होती है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। अनुमान और शब्द प्रमाण में योगशास्त्र का सांख्यशास्त्र से कोई भेद नहीं है।

वेदान्त दर्शन में प्रमाण मीमांसा—वेदान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति तथा अभाव ये छः प्रमाण माने जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रमा का करण प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का-निर्विकल्पक तथा सविकल्पक होता है। इन भेदों के लक्षण न्याय-वैशेषिक के लक्षण के समान है। प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद मानते हैं—जीव साक्षी तथा ईश्वर साक्षी। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है। वह जीव साक्षी प्रत्येक आत्मा में है। मायोपहित चैतन्य को ईश्वर साक्षी कहते हैं। साक्षी के दो भेद होने से प्रत्यक्ष ज्ञान में भी दो भेद हैं—ज्ञेयगत और ज्ञाप्तिगत। अन्य प्रमाणों में कोई विशेष भेद नहीं है। जिस प्रकार मीमांसकों ने उनका अर्थ किया है उसी प्रकार उन्हीं अर्थों को वेदान्ती लोग भी स्वीकार करते हैं यही करण है कि व्यवहारे तु भाट्टनयः वेदान्तियों का सिद्धान्त है।

इस प्रकार विभिन्न दर्शनों ने अपने-अपने दृष्टकोण से प्रमाण को वर्णित एवं वर्गीकृत किया है और दूसरों के मतों का खण्डन करते हुए अपने मत की स्थापना का पूर्ण प्रयास किया है। चाहे कोई एक प्रमाण को स्वीकार करते हो या तीन, चार, पांच, छः को स्वीकार करते हो सभी ने अपने-अपने तर्कों के आधार पर इनको समझाया है। कोई भी दर्शन अपने मत से विचलित नहीं हुआ चार्वाकों की कटु आलोचना की गई लेकिन उन्होंने सबकों मिथ्या मानते हुए प्रत्यक्ष की स्थापना को और अपने तर्क को निर्विरोध स्थापित किया। नैयायिकों द्वारा मीमांसकों की कटु आलोचना होने पर भी उन्होंने छः ही प्रमाणों को स्वीकार किया है। किसी की आलोचना की परवाह न करते हुए मत को स्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया और अपने कार्य में सफल भी हुए।

शोधच्छात्रा—संस्कृतविभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

□ डा० मदनमोहन अग्रवाल

नव्य-न्याय में पक्षता का सिद्धान्त

तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय अनुमान का लक्षण करते हैं—"व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिः तत्करणमनुमानम्"[1]—अर्थात् व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति और उसके करण को अनुमान कहते हैं। अनुमान के इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि अनुमान के दो आधार हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान (पक्षता)।[2] अनुमान में तीन पद होते हैं—पक्ष, साध्य और हेतु। हेतु और साध्य के बीच जो व्यापक सम्बन्ध रहता है, उसीके द्वारा अनुमान होता है। इस सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।[3] व्याप्ति से 'जहाँ हेतु होता है वहाँ साध्य होता है' इसप्रकार सामान्य रूप से ही हेतु के आश्रय में साध्य की सिद्धि होती है, किन्तु पक्षता—पक्ष में हेतु की विद्यमानता के बल से 'इस पक्ष में यह साध्य है' इसप्रकार विशेष रूप से पक्ष में साध्य की सिद्धि होती है। पर्वत में विद्यमान धूम से पर्वत में विद्यमान अग्नि की ही अनुमिति होती है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो अनुमान की कोई सार्थकता ही नहीं होगी क्योंकि हेतु के आश्रय में साध्य की सामान्य सिद्धि तो व्याप्ति से ही सम्पन्न हो जाती है। अतः पर्वत पर अग्नि की सत्ता को अनुमान द्वारा सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि पर्वत पर अग्नि-सूचक धूम की सत्ता भी अनिवार्यतः ज्ञात रहे। यदि पर्वत पर धूम-दर्शन नहीं होगा तो व्याप्ति-ज्ञान होने पर भी अग्नि के सम्बन्ध में कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सकता। यही नहीं, धूम-दर्शन के पश्चात् ही व्याप्ति-स्मरण होता है। इसलिये पक्ष-पर्वत तथा हेतु-धूम के पारस्परिक सम्बन्ध को स्थापित करने के लिये 'पक्षता' की भी अनुमिति में आवश्यकता प्रतीत होती है। अनुमान की प्रामाणिकता व्याप्ति पर और सम्भावना पक्षता पर निर्भर है, क्योंकि अनुमान वहीं निष्पन्न हो सकता है, जहाँ कोई पक्ष विद्यमान हो और वह तभी प्रामाणिक सिद्ध हो सकता है जबकि वह हेतु और साध्य के नियत साहचर्य सम्बन्ध पर आश्रित हो। अतः व्याप्ति अनुमान का तार्किक आधार है और पक्षता मनोवैज्ञानिक आधार।[4] इसप्रकार व्याप्ति की तरह 'पक्षता' भी अनुमान के लिये उपयोगी और आवश्यक है।

व्याप्तिविशिष्ट-पक्षधर्मता-ज्ञान को 'परामर्श' कहते हैं।[5] परामर्श से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति और उसके करण को अनुमान कहते हैं।[6] प्रायः सभी ज्ञान त्रिक्षणिक होते हैं। प्रथम क्षण में ज्ञान उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण में उसकी स्थिति होकर तृतीय क्षण में उसका विनाश हो जाता है। कथित परामर्श भी ज्ञान है, अतः वह भी दो क्षणों तक रहेगा। ऐसी स्थिति में एक शंका उपस्थित होती है कि परामर्श अपने प्रथम उत्पत्ति-क्षण के अव्यवहित द्वितीय उत्तर-क्षण में जिस आकार-प्रकार की अनुमिति को उत्पन्न करता है, उसीप्रकार उस अनुमिति के अगले क्षण में भी उसी विषय की उसी आकार-प्रकार की दूसरी अनुमिति को वह उत्पन्न क्यों नहीं करता? क्योंकि कथित दूसरी अनुमिति के अव्यवहित पूर्वक्षण में अर्थात् पहली अनुमिति के उत्पत्ति-क्षण में परामर्श की सत्ता है। और परामर्श अनुमिति का अन्य निरपेक्ष कारण है। परामर्श संवलन के बाद अनुमिति के लिये और किसी की अपेक्षा नहीं रह जाती। सुतराम् परामर्श यदि अपने उत्पत्ति-क्षण के अव्यवहित उत्तरक्षण में जिस विषय की जिस आकार-प्रकार की अनुमिति को उत्पन्न करेगा, तो उसे उसी आकार-प्रकार की उसी विषय की दूसरी अनुमिति को भी अपने स्थिति-क्षण के अव्यवहित उत्तर-क्षण में फलतः पहली अनुमिति के अव्यवहित उत्तरक्षण में उत्पन्न करने में कोई बाधा तो नहीं है? किन्तु ऐसी बात होती नहीं है।

अनुमानवादी प्रायः सभी दार्शनिक एक आकार-प्रकार की अनुमिति के रहते हुये उसी आकार-प्रकार की दूसरी अनुमिति की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। किन्तु किसी की स्वीकृति और अस्वीकृति मात्र पर वस्तु की सामर्थ्य को अन्यथा नहीं किया जा सकता। फलतः एक अनुमिति रूप सिद्धि के रहते हुये परामर्श के रहने पर भी दूसरी अनुमिति न हो सके, इसके लिये परामर्श के समान ही अनुमिति का एक और साक्षात् कारण माना गया है, वह है 'पक्षता'। 'पक्षता' का स्वरूप या लक्षण ऐसा होना चाहिये, जिससे कि एक अनुमिति अथवा किसीप्रकार की सिद्धि के रहते हुये कथित दूसरी अनुमिति की आपत्ति न हो सके। इसी प्रयोजन को ध्यान में रखते हुये गङ्गेश ने कुछ पक्षता–लक्षणों को पूर्वपक्ष में वर्णित कर उनका खण्डन करते हुये अपना सिद्धान्त-लक्षण प्रतिपादित किया है।

(i) प्राचीन नैयायिकों ने साध्य-सन्देह को 'पक्षता' माना है। न्यायभाष्यकार ने कहा है—"सर्वथा अज्ञात और निर्णीत पदार्थ में अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु सन्दिग्ध पदार्थ में ही होती है।"[८] फलतः गङ्गेश पूर्वपक्ष में सर्वप्रथम प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार पक्षता के लक्षण का उल्लेख करते हैं—"सन्दिग्धसाध्यधर्मत्वं पक्षत्वम्" अर्थात् सन्दिग्धसाध्यधर्मता 'पक्षता' है। और इस लक्षण का खण्डन करते हैं। चूंकि गङ्गेश पक्षता-लक्षण में विशेषण भाग पर अधिक जोर देना चाहते हैं, अतः कहते हैं कि सन्देह को अनुमिति में विशेषण अर्थात् साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनुमान प्रक्रिया में प्रथम क्षण में धूम-दर्शन, द्वितीय क्षण में 'पर्वतो वह्निमान्न वा' इत्याकारक सन्देह उत्पन्न होता है, तृतीय क्षण में व्याप्ति-स्मरण, चतुर्थ क्षण में परामर्श होकर पञ्चम क्षण में अनुमिति होती है। अतः द्वितीय क्षण में उत्पन्न होने वाला सन्देह अनुमिति क्षण तक अवस्थित नहीं रह सकता, क्योंकि परामर्श से पहले होने वाले लिङ्ग-दर्शन तथा व्याप्ति-स्मरण आदि से उसका नाश हो जाता है। जो कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में रहता है, उसे ही साक्षात् कारण माना जा सकता है। इसलिये परामर्श को ही साक्षात् कारण माना जा सकता है, क्योंकि उसके अव्यवहित उत्तरक्षण में अनुमिति होती है, सन्देह को नहीं। इसीप्रकार सन्देह को उपलक्षण अर्थात् परम्परीय कारण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सिद्धि काल में भी अनुमिति की आपत्ति की जा सकती है, कारण परम्परीय कारणता सिद्धि काल में भी विद्यमान रहती है। इसलिये सन्देह विशेषण अथवा उपलक्षण किसी भी प्रकार से अन्वित नहीं हो सकता।[९] दूसरी बात यह भी है कि घर के अन्दर बैठे हुये व्यक्ति को साध्य-सन्देह के बिना भी घन-गर्जन-मात्र से मेघानुमिति होती है कि "गगनं मेघवत् घनगर्जनात्" (गगन मेघयुक्त है, घनगर्जन होने से)। अतः साध्य-सन्देह को पक्षता नहीं कहा जा सकता।[१०]

(ii) कुछ प्राचीन नैयायिकों ने सन्देह-योग्यता को 'पक्षता' माना है। इसी मत को ध्यान में रखते हुये गङ्गेश पुनः पूर्वपक्ष में अन्य पक्षता–लक्षण का उल्लेख करते हैं कि साध्य-निश्चय और बाध-निश्चय के अभाव (साधक-बाधकप्रमाणाभावः[११]) को सन्देह–योग्यता कहते हैं और वही 'पक्षता' है। जहाँ घन-गर्जन आदि स्थल में साध्य-सन्देह नहीं है, वहाँ सन्देह-योग्यता को लेकर लक्षण का समन्वय किया जा सकता है, क्योंकि 'गगनं मेघवत्' इसप्रकार का साध्य-निश्चय और 'गगनं मेघाभाववत्' इत्याकारक बाधनिश्चय नहीं रहने से और योग्यता रहने के कारण अनुमिति उत्पन्न हो जाती है। किन्तु यह मत भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। गङ्गेश कहते हैं कि साध्य-निश्चय और बाध-निश्चय दोनों के अभाव को यदि पक्षता कहा जाय, तो एक के रहने पर भी दोनों का अभाव हो सकता है। अतः सिद्धि अथवा बाध क्षण में अनुमिति की आपत्ति की जा सकती है। यदि अभाव-द्वय—साध्यनिश्चय का अभाव और बाध-निश्चय का अभाव—को पक्षता कहा जाय, तो उक्त दोष का निवारण किया जा सकता है, किन्तु ऐसी

स्थिति में बाध-निश्चय के अभाव का निवेश करना व्यर्थ होगा, क्योंकि जलाशय आदि पक्षक स्थल में बाध और हेतु की असिद्धि आवश्यक रूप से रहने के कारण उसीसे अनुमिति की अनुत्पत्ति सिद्ध की जा सकती है। यदि साध्य-निश्चय के अभाव को सन्देह-योग्यता कहा जाय, तो भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि एक हेतु के द्वारा किसी साध्य की अनुमिति हो जाने पर भी, अन्य हेतु द्वारा उसी ज्ञात साध्य की पुनः अनुमिति की जा सकती है—जैसे:—'पर्वतो वह्निमान्'—यह अनुमिति धूम-हेतु से निष्पन्न होने पर भी अन्य आलोक हेतु से भी हो सकती है। अतः साध्य-निश्चय और बाध-निश्चय के अभाव को सन्देह-योग्यता नहीं कहा जा सकता। फलतः सन्देह-योग्यता को पक्षता नहीं कहा जा सकता।

(iii) कुछ प्राचीन नैयायिकों ने सिषाधयिषा को 'पक्षता' माना है, क्योंकि सिद्धि रहने पर भी सिषाधयिषा जाग्रत होने पर अनुमिति होती है। जैसे—मुमुक्षु को 'आत्मा वारे श्रोतव्यो मन्तव्यः'[१२] इस श्रुति के आधार पर शाब्दबोध द्वारा आत्मा की सिद्धि हो जाने पर भी, मनन द्वारा सिषाधयिषा होने पर, आत्मा की अनुमिति होती है। अतः वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित किये गये अर्थ को भी पुनः अनुमान प्रमाण द्वारा जान सकता है, यदि उसमें सिषाधयिषा विद्यमान है। क्योंकि सिषाधयिषा विद्यमान रहने पर ही अनुमिति हो सकती है। इसी सिद्धान्त को सामने रखकर गङ्गेश पूर्वपक्ष में अन्तिम पक्षता-लक्षण का उल्लेख करते हैं कि सिषाधयिषित साध्यधर्म से युक्त धर्मी को पक्ष (सिषाधयिषितसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः[१३]) और उसमें रहने वाले धर्म सिषाधयिषा को 'पक्षता' कहते हैं। पुनः इस लक्षण का खण्डन करते हैं कि यह मत भी साध्य-सन्देह की भाँति असंगत होने के कारण निरसनीय है, क्योंकि सिषाधयिषा विशेषण अथवा उपलक्षण होने के योग्य वस्तु नहीं है। परामर्श-ज्ञान के पूर्व हेतु दर्शन, व्याप्ति स्मरण आदि से सिषाधयिषा का नाश हो जाता है, अतः इसे अनुमिति में विशेषण अर्थात् साक्षात् कारण नहीं कहा जा सकता। इसको उपलक्षण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि परम्परीय कारण होने से, सिद्धि रहने पर तथा सिषाधयिषा रहने पर भी अनुमिति की आपत्ति हो सकती है। यदि सिषाधयिषा की योग्यता को ही पक्षता माना जाये, तो भी न्याय-संगत नहीं, क्योंकि कथित युक्तियों के आधार पर योग्यता का निरूपण ही नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाये कि हेतु-दर्शन, व्याप्तिस्मरण तथा परामर्श-ज्ञान होने पर सिषाधयिषा का नाश हो जाने से उसको विशेषण न भी माना जाय, तो भी पुनः दूसरी सिषाधयिषा और दूसरे परामर्श-ज्ञान की उत्पत्ति मानकर सिषाधयिषा को विशेषण बनाया जा सकता है। अतः सिषाधयिषा को पक्षता मानने में कोई बाधा नहीं है। किन्तु ऐसा होने पर भी घनगर्जन स्थल में व्यभिचार-दोष अवश्य रहेगा, क्योंकि घर में बैठे हुये व्यक्ति को 'गगने मेघानुमितिर्मे जायताम्' इस सिषाधयिषा के बिना भी घनगर्जनमात्र से मेघानुमिति होती है कि 'गगनं मेघवत् घनगर्जनात्' (गगन मेघयुक्त है, घनगर्जन होने से)।[१४] अतः सिषाधयिषा को भी पक्षता नहीं कहा जा सकता।

इसप्रकार गङ्गेश पूर्वपक्ष में पक्षता के तीन लक्षणों का उल्लेख कर तथा उनका खण्डन कर अपना सिद्धान्त-लक्षण कहते हैं—"सिषाधयिषाविरहसत्कृतसाधकप्रमाणाभावो यत्र अस्ति स पक्षः"[१५] अर्थात् सिषाधयिषा के अभाव से युक्त साधक प्रमाण अर्थात् सिद्धि के अभाव को 'पक्षता' तथा यह विशिष्ट अभाव रूप धर्म जिस अधिकरण में रहता है, उसे 'पक्ष' कहा जाता है। गङ्गेश के इस लक्षण में विशेषण और विशेष्य दो भाग हैं। 'सिषाधयिषाविरह' विशेषण भाग है, और 'साधकप्रमाणाभाव' अर्थात् 'सिद्धयभाव' विशेष्य। जहाँ इन दोनों भागों से युक्त विशिष्ट सामग्री पाई जाती है, वहाँ

अनुमान की प्रवृत्ति हो सकती है, और जिस स्थल में इस विशिष्ट सामग्री का अभाव रहता है, वहाँ अनुमान प्रवृत्त नहीं हो सकता। जहाँ विशिष्टाभाव रहता है, वहीं पक्षता रहती है। जहाँ विशिष्टाभाव नहीं रहता, वहाँ पक्षता भी नहीं रहती। इस विशिष्टाभाव की तीन अवस्थायें हो सकती हैं—(अ) जहाँ विशेषण न हो, केवल विशेष्य हो, वहाँ विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव होता है; (ब) जहाँ विशेष्य न हो, केवल विशेषण हो, वहाँ विशेष्याभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव होता है; और (स) जहाँ विशेषण और विशेष्य—दोनों न हों, वहाँ उभयाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव होता है। इसीप्रकार अनुमान की प्रवृत्ति के लिये पक्षता-लक्षण की भी तीन अवस्थायें हो सकती हैं—(i) जहाँ सिषाधयिषा और सिद्धि दोनों हैं, वहाँ विशेषणभाग 'सिषाधयिषाविरह' न होने और विशेष्यभाग 'सिद्धि' के रहते हुये भी सिषाधयिषाविरह-विशिष्टसिद्धचभावरूपविशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव बन जाने से पक्षता बन जाती है, इसलिये अनुमान की प्रवृत्ति हो सकती है। क्योंकि यह सिद्धि सिषाधयिषा से विशिष्ट ही है, सिषाधयिषाविरह-विशिष्ट नहीं। अतः सिषाधयिषाविरहविशिष्ट जो सिद्धि होगी, उसका यहाँ अभाव ही रहेगा। इसलिये विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव निष्पन्न हो जाने से पक्षता की उत्पत्ति द्वारा अनुमिति भी उत्पन्न हो जाती है। (ii) जहाँ सिषाधयिषा और सिद्धि दोनों का अभाव है, वहाँ सिषाधयिषाविरह रूप विशेषण भाग के रहते हुये भी 'सिद्धि' विशेष्य भाग के न होने से विशेष्याभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव बन जाता है। यहाँ सिषाधयिषा के न होने से 'सिषाधयिषाविरह' विशेषण तो रहता है, लेकिन विशेष्य 'सिद्धि' की सत्ता न होने से विशेष्याभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव बन जाता है। अतः पक्षता की उपपत्ति द्वारा अनुमिति भी निष्पन्न हो जाती है। (iii) जहाँ सिषाधयिषा का भाव और सिद्धि का अभाव होता है, वहाँ विशेषण भाग 'सिषाधयिषाविरह' और विशेष्य भाग 'सिद्धि' दोनों का अभाव होने से उभयाभाव-प्रयुक्त विशिष्टा-भाव बन जाने से पक्षता बन जाती है, इसलिये अनुमान की प्रवृत्ति होती है। यहाँ पर सिषाधयिषा के होने पर 'सिषाधयिषाविरह' विशेषण नहीं है, अतः विशेषणाभाव है और विशेष्य भाग 'सिद्धि' का अभाव होने से विशेष्याभाव भी है। अतः उभयाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव रूप पक्षता यहाँ बन जाती है। लेकिन इन तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त एक और अवस्था हो सकती है—जहाँ सिषाधयिषा के अभाव से युक्त सिद्धि विद्यमान रहती है अर्थात् जहाँ विशेषण भाग 'सिषाधयिषाविरह' और विशेष्य भाग 'सिद्धि' दोनों रहते हैं, वहाँ 'सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धि' रूप विशिष्ट प्रतीति होती है। यहाँ विशिष्टाभाव का अभाव होने से सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धचभाव रूप पक्षता नहीं बन सकती। अत एव ऐसे स्थल में अनुमिति की उपपत्ति नहीं हो सकती है।[१६] अतः अनुमान की प्रवर्तक केवल तीन अवस्थायें ही हैं, वहीं विशिष्टाभाव रहने से पक्षता रहती है। चौथी अवस्था में विशिष्टाभाव का अभाव रहता है, एतदर्थ पक्षता न बनने के कारण वहाँ अनुमान की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती।

यज्ञपति उपाध्याय गङ्गेश के सिद्धान्त-लक्षण को विकल्प द्वारा प्रतिपादित करते हुये कहते हैं कि—सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धि अथवा अनुमानातिरिक्तसाधकमान दोनों में से एक का अभाव 'पक्षता' है।[१७] किन्तु यह मत न्याय-संगत प्रतीति नहीं होता, क्योंकि 'साधकमान' पद से सिद्धि-स्वरूप योग्य या सिद्धिविशिष्ट अथवा अनुमानातिरिक्त सिद्धि की सामग्री—ये तीन विकल्प स्वीकार किये जा सकते हैं। यदि प्रथम विकल्प स्वीकार किया जाय, तो जहाँ चक्षु आदि का संयोग धूमादि से हो चुका है, वहाँ उनके रहते हुये अनुमित्सा के बिना अनुमिति की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सिषाधयिषाविरहविशिष्ट अनु-मानातिरिक्त साधकमान का प्रभाव वहाँ नहीं है, अपितु साधकमान सिद्धि-स्वरूप योग्य होने के कारण चक्षु आदि में सिद्धि-स्वरूप को ग्रहण करने की योग्यता ही है, उसका अभाव नहीं है। अतः प्रथम पक्ष उचित प्रतीत नहीं होता। द्वितीय विकल्प भी उचित नहीं दिखाई देता क्योंकि सिद्धि के पूर्व साधकमान

का विशिष्ट होना सर्वथा असम्भव है। सिद्धि की जनक प्रत्यक्ष सामग्री भी होती है और वह सिद्धि के पूर्व साधकमान से विशिष्ट नहीं है। अतः प्रत्यक्ष सामग्री के विद्यमान रहने पर अर्थात् सिद्धिविशिष्ट प्रत्यक्ष सामग्री के अभाव रूप पक्षता के विद्यमान रहने पर अनुमिति की आपत्ति हो सकती है। फिर यह भी है कि सिद्धिजनकमान जो परामर्श आदि हैं, वह अनुमिति से पूर्व अनुमिति-विशिष्ट नहीं हो सकते। इसलिये वह अनुमिति का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, अतः अनुमानातिरिक्त पद द्वितीय पक्ष स्वीकार कर लेने पर निष्प्रयोजक सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार तृतीय पक्ष भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि अनुमिति सामग्री की अभावत्व रूप से प्रत्यक्ष के प्रति कारणता होने से अन्यो-न्याश्रय दोष हो जाता है। वास्तव में अन्वय-व्यतिरेक, प्रथम उपस्थिति तथा लाघव की दृष्टि से प्रत्येक में प्रतिबन्धकता तथा उसके अभाव में कारणता मानना उचित है। अतः अन्यतरत्व रूप से पक्षता-लक्षण व्यक्त करना समीचीन प्रतीत नहीं होता।[१८]

पक्षधर मिश्र गङ्गेश के सिद्धान्त-लक्षण से सामञ्जस्य स्थापित करते हुये पक्षता-लक्षण इसप्रकार करते हैं कि–अनुमित्सा-योग्यता-विरह-विशिष्ट सिद्धि का अभाव ही 'पक्षता' है।[१९] तात्पर्य यह है कि अनुमित्सा उत्पन्न होने के अनन्तर दो या तीन क्षणों के व्यतीत होने के पश्चात् भी अनुमिति निष्पन्न होती है। अतः अनुमित्सा-उत्पत्ति-क्षण समाप्त हो जाने के पश्चात् भी अनुमिति निष्पन्न होने के कारण अनुमित्सा की योग्यता को ही उत्तेजिका स्वीकार करना चाहिये। फलतः अनुमित्सा न रहने पर भी अनुमित्सा-योग्यता-विरह-विशिष्ट सिद्धि के अभाव को 'पक्षता' कहा गया है। तत्-तत् अनुमित्साओं की उत्पत्ति के पश्चात् तत्-तत् अनुमित्साविषयक सिद्धि का प्रागभाव ही योग्यता है। जहाँ अनुमित्सा के बाद तद्विषयक सिद्धि नहीं हुई है, वहाँ अनुमित्सा-योग्यता के विद्यमान रहने के कारण पक्षता-लक्षण समन्वित हो जाता है। जैसे—जहाँ क्रमशः अनुमित्सा, व्याप्तिस्मरण, परामर्श तत्पश्चात् अनुमिति होती है, वहाँ परामर्शकाल में अनुमित्यात्मक सिद्धि की उत्पत्ति न होने के कारण सिद्धि की प्रागभाव-रूप योग्यता सिद्ध हो जाती है। इसीप्रकार जहाँ अनुमित्सा, हेतुदर्शन, व्याप्तिस्मरण, परामर्श तथा अनुमिति—ये सभी क्रमशः होते हैं, वहाँ भी परामर्श-पूर्वकाल में अनुमित्साविषयक सिद्धि की उत्पत्ति न होने के कारण तद्विषयक सिद्धि का प्रागभाव ही योग्यता है। अतः इत्याकारक अनुमित्सा-योग्यता-विरह-विशिष्ट सिद्धि का अभाव ही 'पक्षता' है। किन्तु यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐसा स्वीकार कर लेने पर अनुमित्सा के अनन्तर अनुमिति की उत्पत्ति न होने पर, एक दिन के पश्चात् भी इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा साध्य निर्णय होने के उपरान्त लिङ्ग-परामर्श से अनुमिति होने लगेगी जो कि सर्वथा असम्भव है। अतः यह योग्यता-लक्षण युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

वासुदेव सार्वभौम का पक्षता-लक्षण इसप्रकार है—सिषाधयिषाविरहविशिष्टस्वक्षण अर्थात् सिद्धिक्षण उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में उत्पन्न होने वाली अनुमिति ज्ञान से भिन्न सिषाधयिषा-विरह-सहकृत सिद्धि का अभाव ही 'पक्षता' है।[२०] जैसे—जहाँ अनुमित्सा, व्याप्तिस्मरण, सिद्ध्यात्मक परामर्श तथा अनुमिति क्रमशः होती है, वहाँ सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धिक्षण परामर्शक्षण होगा, उससे अव्यव-हित उत्तर क्षण में अनुमिति हो जाती है, इसलिये इस सिद्धि को अनुमितिक-भिन्ना नहीं कहा जा सकता, किन्तु कोई दूसरी सिद्धि ही अनुमितिक-भिन्ना होगी। उस अनुमितिविषयक ज्ञान से भिन्न सिद्धि के अभाव को प्रकृत में 'पक्षता' कहा जा सकता है। इसीप्रकार जहाँ अनुमित्सा, हेतुदर्शन, व्याप्ति-स्मरण, सिद्ध्यात्मक परामर्श तथा अनुमिति—ये क्रमशः होने हैं, वहाँ भी पक्षता-लक्षण समन्वित हो जाता है। अतः ऐसा लक्षण स्वीकार करने पर अनुमित्सा के पश्चात् दो या तीन क्षण व्यतीत हो जाने पर भी सिद्धि के विद्यमान रहते हुये अनुमिति निःसन्दिग्ध रूप से सम्पन्न हो जाती है। जहाँ सिद्धि, सिषाधयिषा तथा अनुमिति—ये क्रमशः होते हैं, वहाँ द्वितीय क्षण में पक्षता के निश्चय के लिये सिद्धि में द्वितीय सिषाधयिषा-विरह रूप विशेषण का निवेश करना परमावश्यक है, अन्यथा उक्त द्वितीय क्षण में पक्षता की सिद्धि नहीं

की जा सकेगी, क्योंकि सिषाधयिषा-विरह-विशिष्ट सिद्धि क्षण में सिद्धि-उत्पत्ति-क्षण को भी गृहीत किया जा सकता है, उसके अव्यवहित उत्तर क्षण में सिषाधयिषा क्षण ही अवस्थित होगा, यहाँ अनुमिति की उत्पत्ति का अभाव होने से, अनुमिति विषयक ज्ञान से यह सिद्धि सुतरां भिन्न सिद्ध हो जाती है, किन्तु यहाँ सिद्धयभाव दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः पक्षता-लक्षण का समन्वय नहीं किया जा सकता। सिद्धि में 'सिषाधयिषाविरह' विशेषण सन्निविष्ट कर देने पर इस सिद्धि में उक्त विशेषण के विद्यमान न रहने से, सिषाधयिषा-विरह-विशिष्ट किसी अन्य सिद्धि का अभाव ही ग्रहण किया जा सकता है, जिससे पक्षता-लक्षण का समन्वय हो जाता है। इसीप्रकार जहाँ क्रमशः सिषाधयिषा, प्रात्यक्षिक सिद्धि, परामर्श तथा अनुमिति होती है, वहाँ तृतीय क्षण में पक्षता-निश्चय के लिये सिद्धि में प्रथम सिषाधयिषा-विरह विशेषण का उपादान भी आवश्यक है, अन्यथा सिद्धि क्षण के अव्यवहित उत्तर परामर्श क्षण में अनुमिति निष्पन्न नहीं होने के कारण अनुमिति-उत्पत्ति विषयक ज्ञान से भिन्न ही यह सिद्धि हो जायगी और परामर्श काल में सिषाधयिषा-विरह विशिष्ट भी है। अतः सिद्धि क्षण का प्रथम सिषाधयिषा-विरह विशेषण आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि इसके उपादान से सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्धि क्षण के रूप में परामर्श क्षण का ही ग्रहण होगा, उसका अव्यवहित उत्तरक्षण अनुमिति क्षण होगा, उस क्षण में अनुमिति की उत्पत्ति होने से अनुमिति उत्पत्तिक भिन्ना सिद्धि कोई अन्य सिद्धि ही होगी, उसका अभाव ही पक्षता-लक्षण के रूप में गृहीत किया जा सकता है।[२१] किन्तु वासुदेव सार्वभौम का पक्षता-लक्षण भी निर्दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि इच्छाजनक सामग्री यदि अनुमिति की प्रतिबन्धिका हो तब जहाँ सिद्धि सिषाधयिषा और अनुमिति क्रमशः रहती हैं, वहाँ प्रथम क्षण में पक्षता रहने पर भी इच्छा सामग्री के प्रतिबन्धक होने से अनुमिति नहीं होगी।

इसप्रकार पक्षता-लक्षण के विश्लेषण से स्पष्ट है कि मूलतः पक्षता में 'सिद्धयभाव' का निवेश करना आवश्यक था। कालक्रम से दो पक्ष हो गये—जिन्होंने अपने-अपने सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। एक पक्ष ने 'संशय-पक्षता' को स्वीकार किया और दूसरे ने 'इच्छा-पक्षता' को। 'इच्छा-पक्षता' के मतानुयायी नव्य-नैयायिक रहे हैं। नव्य-नैयायिक गङ्गेश ने प्राचीन नैयायिकों के मतों का खण्डन करते हुये अपने नवीन विचारों के साथ 'पक्षता-लक्षण' की विस्तृत व्याख्या की है, जो कि सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होती है, क्योंकि अन्य उत्तरवर्ती आचार्यों ने गङ्गेश के पक्षता-लक्षण का थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ समर्थन किया है।

सन्दर्भ-संकेत

१. तत्त्व-चिन्तामणि, गङ्गेश उपाध्याय, पृ० २४, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, सन् १६१७ ई०।
२. 'अनुमानस्य द्वे अङ्गे—व्याप्तिः पक्षधर्मता च।' —तर्कभाषा (सं०) आचार्य विश्वेश्वर, वाराणसी, सन् १९५३ ई०, पृ० ८८।
३. 'स्वाभाविकः साध्यहेतोः सम्बन्धो व्याप्तिः।'—तर्कभाषा, पृ० ७६।
४. द न्याय थ्योरी ऑफ नोलेज, सतीशचन्द्र चटर्जी, यूनीवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, सन् १९६५ ई०, पृ० २५५।
५. 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः'।—तर्कसंग्रह ऑफ अन्नम्भट्टः (सं०) ऐथले ऐण्ड बोडास, बम्बई, सन् १९६३ ई०, पृ० ३४।
६. 'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः।' 'अनुमितिकरणमनुमानम्'।—तर्कसंग्रह, पृ० ३४।

७. 'सन्दिग्धसाध्यत्वेनोपातत्वं पक्षत्वम्' ।—शिवादित्याचार्यसूत्रिता सप्तपदार्थीः (सं) डॉ० जितेन्द्र सुं० जेटली, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद—६, पृ० ७१ ।

८. 'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तु सन्दिग्धे' ।—न्यायभाष्य, १.१.१., मिथिला रिसर्च इंस्टीट्यूट, दरभंगा, सन् १९६७ ई० पृ० २ ।

९. तत्त्वचिन्तामणि, पृ० १०७९ ।

१०. सिद्धान्तमुक्तावली, विश्वनाथपञ्चानन : (सं०) सी० शंकरराम शास्त्री, मेलापुर् (मद्रास), सन् १९२३ ई०, पृ० ४९७ ।

११. तत्त्वचिन्तमणि, पृ० १०८८ ।

१२. बृहदारण्यकोपनिषत्, ४.५–६ ।

१३. तत्त्वचिन्तामणि, पृ० १०८९ ।

१४. (अ) तत्त्वचिन्तामणि, पृ० १०८९ ।
(ब) सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० ४९७–४९८ ।

१५. तत्त्वचिन्तामणि, पृ० १०९२ ।

१६. उपरिवत् ।

१७. तत्त्वचिन्तामणि, पृ० ११५५ ।

१८. उपरिवत् ।

१९. दीधित, पृ० १११८ ।

२०. दीधित, पृ० ११३१ ।

२१. दीधित, पृ० ११३७ ।

———

संस्कृत विभाग,
वनस्थली विद्यापीठ,
वनस्थली, राजस्थान ।

□ डॉ० रामकृष्ण आचार्य

ब्रह्मसूत्रों का रचनाकाल

ब्रह्मसूत्रों के तर्कपाद (अध्याय २ पाद २) में विभिन्न दार्शनिक मतों के निराकरण के साथ बौद्ध-मत की भी विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का निराकरण किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि उनके (ब्रह्मसूत्रों के) रचनाकाल की पूर्वसीमा बौद्धमत के प्रवर्तक गौतमबुद्ध के काल षष्ठ शताब्दी ईसा पूर्व से पहले नहीं जा सकती और साथ ही यतः उनमें बौद्धमत की जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा का निराकरण होते हुये भी नागार्जुन के शून्यवाद का निराकरण नहीं है, अपितु उससे पूर्ववर्तिनी अप्रौढ़ अभाववादिनी बौद्ध विचारधारा का निराकरण है, अतः उनके रचनाकाल की उत्तरसीमा नागार्जुन (द्वितीय शताब्दी ई०) के बाद नहीं मानी जा सकती। उक्त दोनों सीमाओं (षष्ठ शताब्दी ई० पूर्व से द्वितीय शताब्दी ई० तक) के बीच में ब्रह्मसूत्रों की रचना कब हुई है, यह यद्यपि निश्चित रूप से कहना कठिन है, फिर भी सूत्रों (२/२/१८-३२) में निराकृत बौद्धमत के स्वरूप पर विचार किया जावे तो उक्त दोनों सीमाओं का निर्धारण और भी कुछ अधिक निश्चित रूप से किया जा सकता है। बौद्धमतनिराकरण-परक सूत्रों (२/२/१८-३२) के अध्ययन से स्पष्ट है कि सूत्रकार के समय में बौद्धमत की जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा का जितना प्राबल्य है, उतना जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा का नहीं प्रतीत होता। दार्शनिक दृष्टि से द्वितीय विचारधारा के सिद्धान्तों में न तो प्रबलता या प्रौढ़ता आ पाई है और न उसका विशेष प्रभाव है। इसीलिये सूत्रकार ने उसका निराकरण एक चलते रूप में साथ-साथ कर दिया है और मुख्य दृष्टि उन्होंने जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा के निराकरण पर रक्खी है।

सूत्रों में निराकृत उक्त दोनों विचारधारायें यद्यपि गौतमबुद्ध के द्वारा प्रवर्तित मत के मूल से ही प्रसूत हुई हैं, किन्तु फिर भी सूत्रों में उनका जैसा स्वरूप है, वह स्पष्टतः बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट आचार-प्रधान और 'सर्वमनित्यम्' मानने वाला सीधा-सादा रूप नहीं, अपितु कालक्रमानुसार भिन्न-भिन्न रूप से विकसित होने वाला 'सर्वं क्षणिकम्' के सिद्धान्त का प्रतिपादक प्रबल दार्शनिक रूप है, जो कि स्पष्टतः महात्मा गौतमबुद्ध द्वारा मूल बौद्धमत को प्रवृत्त करने के पर्याप्त समय के बाद ही विकसित और प्रचारित होने पर दार्शनिक दृष्टि से निराकरणीय समझा गया होगा। यह रूप उक्त विचारधाराओं को कब प्राप्त हुआ, यह यद्यपि निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी इतना स्पष्ट है कि उक्त दोनों धाराओं को कोई न कोई दार्शनिक रूप सम्राट् अशोक (तृतीय शताब्दी ई० पू०) के समय प्राप्त हो चुका था। अशोककालीन रचना 'कथावत्थु' से ज्ञात होता है कि उस समय बौद्धमत विभिन्न अठारह शाखाओं में विभक्त हो चुका था।[1] उक्त शाखाओं में एक 'सर्वास्तिवादी' हैं, जिनका यह नाम स्पष्टतः सूचना दे रहा है कि ये अपना एक दार्शनिकवाद रखते थे, जिसके अनुसार सब पदार्थों का अस्तित्व माना जाता था। साथ ही यह नाम यह भी व्यक्त कर देता है कि अन्य शाखायें ऐसी भी थीं, जिनके अनुयायी सर्वास्तिवादियों के समान सबका अस्तित्व न मानते हों और वस्तुतः, जैसा कि उक्त शाखाओं में परिगणित एक शाखा के अनुयायियों के नाम—प्रज्ञप्तिवादी से ज्ञात होता है, बहुत सम्भव है कि यह 'प्रज्ञप्तिवादी' बाह्य पदार्थों की सत्ता को न मानकर केवल उनकी 'प्रज्ञप्ति' को ही मानते हों। वसुमित्र के 'अष्टादशनिकाय-शास्त्र' से उक्त सम्भावना की पुष्टि भी होती है। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि 'प्रज्ञप्तिवाद' महासांधिकों से बुद्धनिर्वाण के द्वितीय शतक में उद्भूत हुआ और उसका सिद्धान्त था कि द्वादशायतनों की वास्तविक सत्ता नहीं है[2]।

उक्त प्रकार से तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व में बौद्धमत की उक्त दोनों विचारधाराओं का संकेत मिलता है। इनके इतने विकास के लिये कि दार्शनिक क्षेत्र में ये निराकरणीय प्रतीत होने लगें, अधिक से अधिक एक शतक पर्याप्त है, क्योंकि द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारम्भ में सर्वास्तिवादियों के महान् आचार्य आर्यकात्यायनीपुत्र की प्रौढ़ रचना 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थानशास्त्र' दार्शनिक क्षेत्र में आ जाती है और यद्यपि सौत्रान्तिकों के ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं हैं, किन्तु फिर भी यह देखते हुये कि वे अभिधर्म को मानने के लिये प्रस्तुत नहीं थे, सूत्रों में ही विश्वास करते थे और सर्वास्तिवादियों द्वारा स्वीकृत असंस्कृतत्रय (प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश) तथा अन्य विषयों के सम्बन्ध में अपने विशिष्ट सिद्धान्त रखते हुये विशिष्ट वचन-सूत्र आदि—प्रस्तुत करते थे, यह कहा जा सकता है कि सूत्रों के आधार पर उनके भी स्वतन्त्र ग्रन्थ उक्त शास्त्र के साथ ही प्रस्तुत हुये होंगे, जो उनके विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते होंगे। इसप्रकार जगदस्तित्ववादिनी विचारधारा की दोनों शाखायें—सर्वास्तिवादी और सौत्रान्तिक—निश्चित रूप से द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारम्भ में इतनी प्रबल मानी जा सकती हैं कि वे निराकरण के योग्य समझी जावें और अशोककालीन 'प्रज्ञप्तिवाद' तथा पूर्व नहीं तो कम से कम प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व की जगदभाववादी विचारों की स्पष्टतः प्रतिपादक रचना 'अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता' को देखते हुये यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा को भी इस समय (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) कम से कम इतना महत्व तो प्राप्त हो ही चुका होगा कि सामान्यतः केवल 'उपलब्धि' और 'अनुपलब्धि' के बल पर उसका भी एक चलत । सा निराकरण कर दिया जावे। इसप्रकार यदि, जैसा कि डा० दास गुप्ता का भी विचार है,[3] ब्रह्मसूत्रों का रचना-काल द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में किसी समय माना जावे, तो तथ्य से बहुत दूर न होगा। उक्त काल वैदिकधर्मावलम्बी शुंग-वंशीय राजाओं के संरक्षण में श्रौत सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करने वाले मीमांसा-सूत्रों की रचना करने के लिये वैसे भी पूर्णतया अनुकूल एवं प्रेरक हो सकता है। उक्त काल में ब्रह्मसूत्रों की रचना मानते हुये भी महाभाष्य (सू० ४/१/१४, ४/१/६३; ४/३/१५४) में 'काशकृत्स्नी मीमांसा' की अध्ययन-परिपाटी के सम्बन्ध में प्राप्त पुनरावृत्त संकेत तथा इसके विपरीत जैमिनि और बादरायण द्वारा प्रस्तुत मीमांसाओं के किसीप्रकार के संकेत अभाव और साथ ही जैमिनि और बादरायण के द्वारा अपने पूर्ववर्ती 'काशकृत्स्न' का प्रामाणिक रूप में निर्देश होने के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि महाभाष्यकार के समय जैमिनि और बादरायण के मीमांसासूत्रों—वर्तमान पूर्वमीमांसासूत्रों और ब्रह्मसूत्रों—के अध्ययन-अध्यापन का सम्भवतः प्रचार नहीं था और यह भी सम्भव है कि महाभाष्यकार के समय नहीं, अपितु उनके कुछ बाद द्वितीय शताब्दी ई० पू० के अन्तिम भाग में उक्त दोनों मीमांसा-सूत्र अस्तित्व में आ पाये हों। यद्यपि महाभाष्यकार ने उक्त स्थलों पर 'काशकृत्स्नी मीमांसा' को 'काशकृत्स्नि' द्वारा प्रणीत बताया है और जैमिनि तथा बादरायण ने 'काशकृत्स्न' का निर्देश किया है, किन्तु यतः, जैसा कि विद्वानों का विचार है,[4] 'काशकृत्स्नि' को 'काशकृत्स्न' का अपत्य नाम तथा 'काशकृत्स्न' को इन्हीं का गोत्रापत्य नाम माना जा सकता है, जो कि उपपन्न है, अतः उक्त दोनों नाम एक ही अभिन्न व्यक्ति के हो सकते हैं। अस्तु इसप्रकार यतः महाभाष्यकार ने बादरायण और जैमिनि से पूर्ववर्ती काशकृत्स्न द्वारा प्रस्तुत मीमांसा की तो चर्चा की है, किन्तु इनकी नहीं की, अतः यह निष्कर्ष प्राप्त करना स्वाभाविक है कि वर्तमान मीमांसा-सूत्र महाभाष्यकार से पूर्ववर्ती न होकर समकालीन या उनसे कुछ अपरकालीन ही हैं और फलतः ब्रह्मसूत्रों का रचना-काल द्वितीय शताब्दी ई० पू० का अन्तिम भाग ही सम्भव प्रतीत होता है।

उक्त काल में जगन्नास्तित्ववादिनी विचारधारा के द्वारा प्राप्त तत्कालीन महत्व के अनुरूप ही उसका सूत्रों में उपेक्षात्मक निराकरण होने के कारण डा० जैकोबी की इस धारणा का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता कि यद्यपि नागार्जुन से पूर्व भी जगदभाववादिनी विचारधारा है, किन्तु किसी विपक्षी मत का निराकरण तभी किया जाता है, जब कि वह दार्शनिक क्षेत्र में महत्व प्राप्त कर ले और इसलिये नागार्जुन से पूर्ववर्तिनी अभाववादिनी विचारधारा का नहीं, अपितु उनके ही शून्यवाद का निराकरण ब्रह्मसूत्रों में मानना चाहिये।[५]

यदि नागार्जुन से पूर्व उक्त विचारधारा के महत्व का ही संकेत प्राप्त करना है, तो यह जानकर प्राप्त किया जा सकता है कि उनके पूर्व ही उक्त विचारधारा के प्रतिपादक ग्रन्थों में अन्यतम 'अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता' की कीर्ति भारत में कितनी हो गई होगी, जब कि वह सन् १७२ ई० से पूर्व ही चीन जैसे सुदूर एवं उस समय की यातायात-सम्बन्धिनी कठिनाइयों के कारण कष्टप्राप्य देश में व्याप्त हो गई थी, जिसके परिणामस्वरूप उक्त वर्ष (१७२ ई०) में एक चीनी विद्वान् ने भारत में आकर उक्त ग्रन्थ का अपनी भाषा में अनुवाद किया।[६] वस्तुतः, जैसा कि सूत्रों (२/२/२८–३२) से स्पष्ट है, ब्रह्मसूत्रों में नागार्जुन के शून्यवाद या वसुबन्धु के विज्ञानवाद का निराकरण नहीं है, अपितु इसके विपरीत इन वादों तथा 'अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता' से भी पूर्ववर्तिनी विचारधारा का निराकरण है और फलतः ब्रह्मसूत्रों का रचना-काल नागार्जुन और वसुबन्धु से परवर्ती नहीं, अपितु 'अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता' और 'पतंजलमहाभाष्य' के मध्यवर्ती द्वितीय शताब्दी ई० पू० का उत्तरार्ध है।

यहाँ इतना और कह देना अप्रासङ्गिक न होगा कि डा० बेलवलकर ने ब्रह्मसूत्रों के रचना-काल को प्रायः उक्त काल के लगभग ही मानते हुये भी, जैकोबी के अनुसार ब्रह्मसूत्रों में नागार्जुन के 'शून्यवाद' और वसुबन्धु के 'विज्ञानवाद' का निराकरण मानते हुये अभाववादिनी विचारधारा का निराकरण करने वाले सूत्रों (२/२/२८–३२) को जो प्रक्षिप्त मान लिया है, उसकी इस तथ्य के प्रकाश में कि इन सूत्रों में उक्त वादों का निराकरण न होकर उनसे पूर्ववर्तिनी अभाववादिनी विचारधारा का निराकरण है, कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अस्तु,

उक्त प्रकार से यदि ब्रह्मसूत्रों की रचना की पूर्वसीमा अशोक-काल (तृतीय शताब्दी) से पूर्व नहीं जाती, जो कि जानी भी न चाहिये, तो उसकी उत्तरसीमा द्वितीय शताब्दी ई० पू० के अन्त तथा प्रथम शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भ से बाद में भी नहीं जाती। फलतः इस आधार पर कि भगवान् उपवर्ष ने, जैसा कि 'ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य' के साक्ष्य से ज्ञात है,[७] ब्रह्मसूत्रों पर वृत्ति लिखी और उपवर्ष 'कथासरित्सागर' के अनुसार पाणिनि के गुरु थे, स्थापित यह मान्यता कि ब्रह्मसूत्रों की रचना पाणिनि से पूर्व हुई होगी[८], मान्य प्रतीत नहीं होती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपवर्ष ने ब्रह्मसूत्रों पर वृत्ति लिखी होगी, किन्तु ब्रह्मसूत्र-वृत्तिकार उपवर्ष और, यदि वास्तव में कथासरित्सागर के कथन को सत्य माना जावे तो, पाणिनि के गुरु उपवर्ष एक ही अभिन्न व्यक्ति थे, इसमें कोई निश्चायक प्रमाण नहीं। अतः पूर्व प्रदर्शित प्रकार से ब्रह्मसूत्रों में निराकृत बौद्धमत का स्वरूप पाणिनि से पूर्वकालीन नहीं हो सकता, अतः पाणिनि के गुरु उपवर्ष को ब्रह्मसूत्रवृत्तिकार नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, यदि वस्तुतः पाणिनि के गुरु उपवर्ष ब्रह्मसूत्रवृत्तिकार होते तो महाभाष्यकार, जो कि पाणिनि के ही सूत्रों का भाष्य कर रहे थे, अपने सूत्रकार के गुरु के द्वारा जिस मीमांसा पर वृत्ति लिखी गई थी, उसकी चर्चा अवश्य ही ऐसी दशा में करते जब कि उनकी बार-बार 'काशकृत्स्नी मीमांसा' के ऊपर दृष्टि जाती थी। इससे यही मानना उचित प्रतीत होता है कि यदि पाणिनि के कोई गुरु उपवर्ष रहे होंगे तो वे ब्रह्मसूत्रवृत्तिकार उपवर्ष से

भिन्न थे। कुछ विद्वान् ब्रह्मसूत्रों को वेदव्यास कृष्णद्वैपायन से भिन्न आचार्य बादरायण के द्वारा प्रणीत मानने पर भी पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट 'भिक्षुसूत्र' (४/३/११०) को वर्तमान ब्रह्मसूत्रों से अभिन्न मानकर इन्हें पाणिनि से पूर्वकालीन मानते हैं।[९] किन्तु जैसा कि इस विषय पर अन्यत्र भी विचार किया जा चुका है,[१०] उक्त 'भिक्षुसूत्र' वर्तमान ब्रह्मसूत्र कथमपि नहीं हो सकते और साथ ही ब्रह्मसूत्रों में निराकृत बौद्धमत का स्वरूप पाणिनि पूर्वकालीन कथमपि नहीं माना जा सकता, अतः इन विद्वानों की उक्त मान्यता ग्राह्य प्रतीत नहीं होती। अस्तु—

उक्त विमर्श के फलस्वरूप यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि ब्रह्मसूत्रों के रचयिता आचार्य बादरायण महाभारतकालीन वेदव्यास कृष्णद्वैपायन से भिन्न होते हुये महात्मा गौतमबुद्ध ही नहीं, अपितु सम्राट् अशोक से भी परवर्ती हैं और बहुत सम्भव यह है कि वे महाभाष्यकार पतञ्जलि के समकालीन या उनसे भी कुछ उत्तरकालीन हैं और इसी समय अर्थात् द्वितीय शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध या अन्त में उन्होंने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है।

सन्दर्भ-संकेत—

१. द्रष्टव्य—बौद्ध-दर्शन (महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन), पृष्ठ ७७–७८।
२. श्री के० चट्टोपाध्याय—शावरभाष्य के वृत्तिकार ग्रन्थ में बौद्धमत के निर्देश (झा कामेमोरेशन, वाल्यूम, पृष्ठ १२६)।
३. हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, प्रथम पुस्तक, पृष्ठ ४१८।
४. युधिष्ठिर मीमांसक—संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ७९–८०।
५. जर्नल आफ अमेरिकन ऑरियण्टल सोसायटी, अंक ३१, पृष्ठ १–२९।
६. डॉ० मूर्ति—दी सेन्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ८४।
७. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, सू० ३/३/५३।
८. एन० के० दत्ता—दी वेदान्त, पृष्ठ ७७–८३।
९. डॉ० एन० के० दत्ता—दी वेदान्त, पृष्ठ ७७–८३।
१०. डॉ० रामकृष्ण आचार्य—ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ १३–२१।

———

अवकाश प्राप्त अध्यक्ष, संस्कृत–विभाग
राजा बलवन्तसिंह कालिज, आगरा।

Dr. Shakuntala Punjani

PANCAKOSAVIVEKA

(With special refrence to the Pancadase of Vidyaranya)

The guiding principle of individual's whole individuality is 'Self'. This 'self' is very different from the individual. It is not easy to grasp this subtle principle all at once. This is why Vedantins embark upon the gradual discovery of the 'Self'.

Vidyaranya has tried hard to show the self beyond the fine sheaths. His explanation is elucidation of the Brahmvalli of the Taittiriya-upanisad. The object of the Upanisad is to trace the gradual evolution of personality, the increasing development of the human soul and its final emergence from all the coverings. Gradually the self is divested of five sheaths as the chaff is removed from the Kodrava-grain. Vidyaranya has criticaliy analysed the parts of the embodied self and examined them in order to find out the ultimate self. These very parts are called 'Kosas' or 'Sheaths'. These coverings of the self are indicated by the word 'Guha' in the Sruti[1] These sheaths are called 'Guha' as the self lies hidden in these caues.[2]

These Sheaths are five in number e.g. the food-sheath; the vital sheath ; the mental-sheath; the intellect sheath; and the bliss-sheath. The sheaths are one within the other.[3] Vidyaranya makes this statement more clear. Within the physical sheath is the vital sheath and within the vital sheath is the mental-sheath and so forth.[4] This relation of sheaths is evident. The food-sheath is related to the waking state. In this state we variously feel pleasure and pain. But the link with the food-sheath is not broken in the states of dream and deep-sleep. The food eaten by us in the waking state is turned into blood; the head-ache felt in the waking state is cured in the bliss-state. Thus, the sheats are related to one another.

The Spirit's movement begins from the ether and ends with the earth. From this earth springs the crops which produce the food. This food ultimately gives births to the corporeal frame of the beings. We may call this frame 'the personality'. From the skin to the subtle nervous system is the gross-body.[6] Material-food sustains the gross-body. The 'food' includes every eatable. In the Sruti the food is told to be seven-fold meant for the different beings.[7] This sheath is necessarily Annamaya because it weekens when the enough food of good quality is not taken. It is called the supreme-medicine which alone relieves the agony of hunger [8] It is foremost of all the created things.[9] Thus the first covering of human personality is no less important.

Vidyaranya explains food-sheath in short. The gross-body is produced by the food eaten by the parents, which later on grows with the food only.[1] This very idea is depicted in Sruti also.[11] Surely this gross-body is not self because it does not exist before birth or after death.[12] This lacks the eternity of self.[13] This body with the limbs cannot be the self because it exists even when any of the limbs is

missing. It is under the supervision hence cannot be supervisor.[14] There involves the defects of Akrtabhyagama and Krtanasa in considering the food sheath as the self. If it were self then the experience of the present life ought to be existed in the previous life also, But the body could not have existed prior to its birth Moreover, we will have to suppose illogically that the decr of the action causing present experience must be some one other than the body and yet connected with this body. Vidyaranya argues correctly that this body did not exist in the previous birth, then how could it produce 'this birth' for that would be an 'effect without a cause.'[15] Secondly the body disintegerates after death. Thus without existing in the future it cannot enjoy the results of actions accumulated here in the present. If would be a cause of, 'one does and another enjoys'. Hence food-sheath cannot be Atman.

Our search for the self does not end here only. Matter cannot rest in its corporeal-self but moves forward to the Pranamaya. The vital being is the informing-spirit which fills the mother all over. This Pranamaya has its footing in the mather. The passage from one sheath to the other is spontaneous. The immobility of matter gives way to the fluidity of life.........The span of existence on the material plane depends absolutely on the inherence of life in the body....Therefore, Pranamaya is called inner than the Annamaya because it happens to be subtler then the material as well as the sustainer of it.[16] Vidyaranya defines Pranamaya through its functions. Its function is to vitalize the physical body.[17] This sheath is impelling and active. The whole activity starts with this. This is th centre of will power. Prana not only signifies the inhaling and exhaling but this performs even the winking and other activities of the body. The five vital forces together with the organs of actions constitute the vital sheath. Its active nature shows that it is the product of the particles of ragas.[10]

Even this Pranamaya sheath is not the self because self is not merely a biological phenomena; it is an incessant flow of force or activity. This sheath is the transformation of air, it relates inward and outward and is devoid of intelligence.[19] This Pranamaya is not the self as it lacks consciousnes.[20]

Inner than the Pranamaya is the Manomaya.[21] The mind is the modification of disires, resolutions. doubt etc. Whenever desire subsists, a seeking of objects necessarily follows. This seeking urge is signified by the vital sheath but at the root of the seeking is 'manomaya' who gives incentive to go forward. Life is not a blind movement out is with a purpose. Sankara calls this sheeth Avidya, the cause of bouudage and liberation.[22] In the Sruti the mental-self is told to be the state of expanded consciousness where one gets hold of all the desires at once and becomes the repository of all of them.[23] The Upanisad further declares that the cycle of evolution is beheld in a single vision within this mental self.[24]

The mind with the fine sense-organs constitutes the mental sheath.[25] It gives rise to the idea of 'I' and 'Mine' with regard to the body and other possessions.[26] It is the cause of diversity.

This mental-sheath is not Atman because it has a begining and an end. The

mind is moved by pain and pleasure. It is full of desires and subject to delusion.[27] The sruti passage, mind is the cause of the bondage and the release of man,[28] may not be misinterpreted. The passage does not imply that the mind is self. It means: when the mind is full of desires it becomes the cause of bondage and when it is free from desires, it is a help in the attainment of the highest goal. Hence mind itself is not the sole cause of bondage and release. It is merely an instement in perceiving the ego. It is insentient as it is not co-existent with consciousess in deep sleep. 'My mind is calm now', such statements negate the selfhood of mind. Thus, Manomaya sheath is not the self.

Though the mind makes an earnest effort to unravel the mystery of creation but it returns without having its vision.[29] The attempt of the mind proves abortive because the mystery lies in the deeper shell of Vijnanamaya. The intellect with the sence organs form the Vijnanamaya sheath.[30] Vidyaranya describes intellect to be the reflection of pure consciousness. It is dormant in deep sleep, and, on awakening it fills the body upto the finger tips.[31] This is full of light being nearer to the self.[32] The 'Yoga' or 'the fusion' has rightly been called the very soul of Vijgnanamaya It is the link principle connecting the Absolute and the relative, the Infinate and finite.[33] Its footing is 'Mahas'.[34] Below this sheath is the sphere of utter darkness; above is the region of Anandamaya and in the middle lies the reflection of twilight.

Truly speaking 'Vijnanamaya, and 'Manomaya' sheaths are not totally different from each other. One is the agent and the other is the action. The fields of activities of intellect sheath and mind sheath differ. Vijnanamya acts inwardly and Monamaya outwardly.[35] The intellect takes the impression inward from the outer body. The intellect sheath turns these impressions into knowledge. After taking knowledge this sheath exists without these impressions. Gangaprasad, the author of Jivatma opines that the 'Agent' and the Enjoyer do not fit in the case of Vijnanamaya for in this state the feeling of agentship is very dim. Moreover, there is no hint in this regard in the Sruti itself.[36]

Ramanuja considers this intellect sheath as the individual self. This affix 'mayat', differentiates the Vijnana from the Vijnanamaya,[37] Sadananda calls this intellect sheath, the phenomenal Jiwa who is subject to transmigeration.[38]

The sheath of intellect is not the self for the same reasom as Manomaya is not. It is merely an instrument in the acts of perceiving having etc. Pandita Pitambra argues that as the 'sun' and the light of the sun are two different things. Similarly the intellect, the illuminator of Atman are totally different from the self. Just as the light of tne lamp though becomes likewise the pot it remains different from the pot in nature Similarly Atman is one with the modes of intellect, yet it is different from these and is eternal and pure. Moreover, intellect is nothing but the function of the internal organ and is purely material. Surely. a material thing cannot be Atman. This intellect is subfict of love as we generally state my litellect sharp or dull.[39] In the Sruti 'Buddhi' is declared to be the charioteer of the self.[40] Therefore, the sheath of intellect is not the self.

After the Vijnanamaya we come to the function point. The thick shell of matter, life, mind and Vijnana have been penetrated through. Vijnana covers the Reality. Thus, the Sruti further proceeds to the Anandmaya e.g. the bliss sheath.[41] From this Anandamaya flows out the exulurance of joy. The whole of creation comes out of it. The case and spontaniety of this level sharply distinguishes if from the Vijnanamaya. What becomes a conscious act on the part of the Vijnanamaya is only an unconscious profection for the Anandamaya. The Anandamaya is composed all over with bliss from its head to foot. The Sruti declares its different lievles priya, moda, promoda, Ananda etc.[42] All kinds of joys together signify that it is brinming with the fullness of delight.[43] Mandukya Upanisad throws a flood of light as it expressly identifies it with the Prajna......and this Prajna is Isvera.[4] Gaudapada calls this state a mass of consciousness.[45] All the 'pramas' are destroyed here. In this state, Atman has bliss as it upadhi.[46] Beyond the golden veil of Vignanamaya is the serene light of knowledge.[47] This bliss is fully experienced in the state of deep-sleep yet we feel a part of it in our waking state also. On awakening one experiences, 'I slept happily,' 'I did not know anything'.[48] One must not doubt that Anandamaya is not different from Manomaya as we feel pleasure in Manomaya also But this doubt is baseless because in Manomaya we feel both pleasure and pain while in Anandamaya we experience purely the bliss.

Vidyaranya makes the definition of Anandamaya more clear. Anandamaya is the name given to the position of intellect which at the time of enjoying the fruits of actions goes a little inward and catches the reflection of bliss.[49] According to Swami Krsnananda Anandamaya Kosa is a name given to the latent conditions of vrttis of the Antahkarana, wherein not only the manifested but also the unmanifested potencies of the future possible experiences are forbidden. They are the subtlest impressions of all past thoughts and deeds, ready to germinate when proper conditions are provided.[50] This is the state of utter freedom, and absolute fearlessness.[51]

Entrance into this state does not cannote liberation. Had it been the case none would return from the silence of deep-sleep. This is the causal-condition. This is one of the sheaths. The Reality reveals itself at different levels, beginning from Annamaya to Anandamaya. Sankara concludes the same.[52] In the Sruti itself Anandamaya is decsribed in the manner of other sheaths.[53] Hence it is not the highest state. Vidyaranya rightly affirms that Anandamaya is not the self being temporal and impermanent.[54]

Ramanuja considers the Anandamaya as the subjective-self. He holds that this bliss is not possible to the individual self. The description of tail and support in the Sruti is merely and indicatory description of Brahman.[55] He takes this sheath as the 'Highest-Reality' because in Visistadvaita system Isvara is the highest goal Isvara stands at the root of sustaining it by His own. This sustaining principle is Ananda. Hence, Ramanuja does not need to posit any reality beyond this bliss-sheath. He takes the affix 'Mayat', in Anandamaya in the sense of abundance.[56]

The Advaitins are also right in their standpoint. They consider the bliss

sheath as the last and finest of all. But they caonot rest contended witt the Ananda-maya until they reach the highest state of 'Turiya'. In the Sruti Ajatasatru leads Gargya further and deeper.[57] The negation of sheaths do not lead to void. In the Sruti to avoid this doubt 'Purusauidhtam' is added to every sheath. The features of personality are attached to every level of being. This description guards against the state of 'Blankness' of the Buddhists and 'Prakıtilaya' ot the Sanikhyas Vidyaranya argues cleverly if this blankness is accepted then, too, the experience of five-sheaths remains. None can deny this experience.[58] Even by denying the self, the denier is proved. It is the very nature of him who contradicts. There is nothing which may compel us to believe in the non-existent-reality. Thus Reality cannot be void.[59] The conclusion of the Vedantins is that the self is beyond the five-sheaths. With the dis-crimination of the self, the sheaths vanish like the morning mist before the sun. The sheaths are nothing but the creations of Maya. The sneaths are the bodies taken up by the self in order to function at the different levels of consciousness. Throughout this concealment of the self by the sheaths, the purity of the self is not sullied just as the water looks pure when moss is removed from its surfrce. The self shines in its purity when the cover of the sheaths is unveiled.[10]

Pancakos'avivekah

Contents

1. 'Self is different from the five sheaths
2. The food–sheath
3. The vital-sheath
4. The mind-sheath
5. The intellect-sheath
6. The bliss sheath
7. Ramanuja's view-point
8. 'Self' is beyond the five-sheaths

Abbreviations

1.	Ait up.	Aitreya upanisad
2.	B. S.	Brahma-Sutras
3.	Brh. up.	Brhdaranyaka upanisad
4.	G. K.	Gaudapada Karika
5.	Katha up.	Katha-upanisad
6.	Kau. up.	Kausitiki upanisad
7.	Man. up.	Mandukya upanisad
8.	Pan	Panacdasi
9.	V. C.	Viveka-Cudamani
10.	V. S.	Vedant-Sare

Books Consulted

Upanisads

1. Aitreiya Upanisad
2. Amrtabindu Upanisad
3. Brhdaranyaka Upanisad
4. Katha-upahisad
5. Kausitiki Upanisad
6. Mandirka Upanisad

Journal—

1. 'Divine dife'—Vol. XXVII.

Other Books—

(1) Brahmasutra-Sankrabhasya sametam
Motilal Banarasi Dass —1964

(2) Brahmsutras with Sribhasya of Ramanuja
Edited by—Karmarkar Vol. I., Part II —1962
Poona

(3) Gaudapada's Kasika
Translated by—Swami Nikhilananda
Sri Ramakrsna Asrama —1955
Mysore.

(4) Mukhopadhyaya, Govinda-Gopal Studies in the Upanisads
Munshi Ram Manohar Lal —1960

(5) Upadhyaya, Ganga Prasada—Jivatma
Kala Press, Prayaga —1940

(6) Sadananda, Vedantasara
Translated by—Nikhilananda
Advaita Ashrama

(7) Sankaracharya, Viveka-Cudamani
Translated by—Swami Madhavananda
Advaita Ashrama —1982

(8) Vidyaranya—Pancadasi-with a brief Pitambara-Bhasya
By—Dandayalaji Gupta
Mathura.

(9) Vidayaranya—Pancadasi with English Translation
By—Swami Swahananda —1967
Ramakrsna Math, Mylapore
Madras—4

संदर्भ-संकेत

1. Taitt up. 2.1. यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
2. ibid Sankara Bhasya गूहते संवरणार्थस्य निगूढा अस्यां ज्ञानज्ञेयज्ञातृपदार्था इति गुहा ।
3. Ibid Taitt up. 2.1 to 2.5 एष पुरुषोऽन्नरसमयः । अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः । अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः ।
4. Pan. 3·2. देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरः मनः । ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहासेयं परम्परा ।
5. Sankara V.C. 154 देहोऽयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोशश्चानेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः ।
6. Taitt. up. 2·1· तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात् पुरुषः ।
7. Brh. up. 1·5.2. यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता ।
8. Taitt. up. 2·2. तस्मात्सर्वौषधमुच्यते ।
9. Ibid अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् ।
10. Pan. 3·3. पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते ।
11. Ait. up. 2·1. पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति ।
12. Pan. 3·3. देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ।
13. Sankara V.C. 155. पूर्वं जनेरधिमृतेरपि नायमस्ति जातक्षणः क्षणगुणोऽनियतस्वभावः ।
14. ibid नैको जडश्च घटवत्परिदृश्यमानः स्वात्मा कथं भवति भावविकारवेत्ता ।
15. Pan 3·4. पूर्वजन्मन्यसन्नेतज्जन्म संपादयेत्कथम् ।
    भाविजन्मन्यसन्कर्म न भुंजीतेह सञ्चितम् ।।
16. Mukhopadhyaya Govinda Gopal Studies in the upanisads p. 237.
17. Pan. 3·5. पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः । वायुः प्राणमयो···
18. Sankara V.C. 165. कर्मेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्चितोऽयं प्राणो भवेत्प्राणमयस्तु कोशः ।
    येनात्मवानन्नमयोऽनुपूर्णः प्रवर्ततेऽसौ सकलोक्रियासु ।।
19. Sankare V.C. प्राणमयो वायुविकारो गन्ताऽऽगन्ता वायुवदन्तर्बहिरेषः ।
20. Pan 3·5, नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ।
21. Taitt, up. 2·3. तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः ।
22. Sankara V.C. 169. मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः ।
23. Taitt. up. 2·3. तेनैष पूर्णः ।
24. Ibid 2·9. स य एवं विद्वानेते आत्मान ँ स्पृणुते ।
25. Sankara V.C. 167. ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात्··· ।
    Sadanand V.S. 74. मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयो कोशो भवति ।
26. Pan. 3·6. अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः ।

27. ibid कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः ।

28. Amrtabindu up. 2. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । Pan. 6·68.

29. Taitt. up. 2·4. यतो वाचा निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।

30. Sankara V.C. 184. बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं···विज्ञानमयकोशः···
Sadananda V.S. 72. इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति ।

31. Pan. 3·7. लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा । चिच्छायोपेतधीः—

32. Sankara V.C. 188. विज्ञानकोशोऽयमतिप्रकाशः प्रकृष्टसान्निध्यवशात्परात्मनः ।

33. Taitt. up. 2·4. योग आत्मा ।

34. ibid महः पुच्छं प्रतिष्ठा ।

35. Pan. 3.8. कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम् ।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम् ।।

36. Upadhyaya Ganga parsada-jivatma P. 124.

37. B.S. Sri Bhasya 1.1·13. मयट्प्रत्ययेन व्यतिरेकप्रतीतेः ।

38. Sadananda V.S. 73. अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानत्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते ।

39. Translated from Pitambara Bhasya of Pancadasi p. 254-56.

40. Katha up. 1·3·3. आत्मानं रथिनं विद्धि बुद्धिं तु सारथिं विद्धि ।

41. Taitt. up. 3·5. तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः ।

42. Taitt. up. 2.5. तस्य प्रियमेव शिरः ।

43. Brh up. 4·3.32. एषोऽस्य परम आनन्दः ।

44. Man up. 5. आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः ।

45. G.K. 1·5. घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञः ।

46. Kau. up. 13. सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ।

47. G.K. 2·9. हिरण्मये परे कोशे ब्रह्म निष्कलम् ।

48. Sadananda V.S. 46. सुखमहमस्वाप्सम् न किञ्चिदवेदिषम्··· ।

49. Pan. 3·9. काचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक् । पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ।

50. Swami Krsnananda–The Philosophy of the Pancadasi Divine Life Vol. XXVII.

51. Taitt. up. 2·9. आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति ।

52. B.S. Sankarabhasya-Anandamayadhikarana.

53. Taitt. up. 2·5. तस्य प्रियमेव शिरः ।

54. Pan. 3·10. कादाचित्कत्वतोऽनात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम् ।

55. B.S. Sri Bhasya-Anandamayadhikarana.
56. Panini-Sutras 5·4·21. तत्प्रकृतवचने मयट् ।
57. Brh. up. 2·1·1.
58. Pan. 3·12.···तथाप्येतेऽनुभूयन्ते येन तं को निवारयेत् ।
59. Pan. 3·22. शून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ।
60. Sankara V.C. 150-51.

तच्छैवालापनये सम्यक् सलिलं प्रतीयते शुद्धम् ।
पञ्चानामपि कोशानामपवादे विभात्ययं शुद्धः ।
नित्यानन्दैकरसः प्रत्यग्रूपः परः स्वयं ज्योतिः ॥

Researeh Associate,
Department of Sanskrit
University of Delhi.

Dr. M. C. Bhartiya

The DOctrine of Karma and the Problem of Determinism

The doctrine of Karma, as it has generally been presented in Indian philosophy, has two special features:

1. A person gets the fruits of his own actions and of none else.
2. Each and every event which a person experiences, is the result of his own actions.

Now both these features, if analysed, will show that the **Karma**-doctrine is logically inconsistent.

For man, to experience the fruits of his actions, it must be expected that he is free to act, because only then he can be responsible for his actions A man, working under the dictates of some outer agency, cannot be held responsible for his acts and therefore must not be rewarded or punished for his acts. Indian philosophy has accepted the doctrine of this moral obligation, because, in the doctrine of **Niscama-Karma,** it is held that the action of a man bear fruits only when they are done with the desire of obtaining fruits, if they are done without any attachment, i. e., without the desire of obtaining any fruits, they actually stop bearing fruits for that man. It implies that the actions bear fruits only when they are perforsned with a desire, i. e., with a free will. Here, one may object and say that a desirs does not not necessary implies free will. Yes in a way it is true. If a master orders his obedient serverant to kill his (master's) enemy and the servant goes on to do so, we will say, at least for a few moment, he had a desire to kill the enemy, though the desire was not due to his own free will, it was induced by his master. But, in fact, the desire was not actually induced by his master, but by his own desire to obey the master. Suppose, he was not very obedient, his own desire of killing nobody could have dominated. But, as he desires not to disobey his master, the desire to kill was induced by this desire. We can thus say that the servant was at least free to desire in obeying or disobeying his master and the desire to kill was thus the result of his free will. Thus every desire, directly, involves free will and to say that a man bears fruits or only his desired actions implies that he bears fruits of actions when he is free to act.

Now, according to Indian philosophy, each and every experience of a person is the result of his past actions, either of this life or of past lives. **But** his each and every experience includes his all actions and also his willing. That means, all his willing and all his action at the present moment are the result of his past actions. If all his willing and actions are determined by his past actions. it simply means that at the present moment he is not free to act. Let us see whether he was free to act in performing his past actions. Infact, the same logic, which applies on the presen actions, applies also on the past actions, because all his past actions were also the

result of his still past actions and thus he was not free in performing them even. This series will go on ad infinifum and we can only hope that the man was free to act only in his first life, when he performed actions for the first time. But that poses another problem. From where did he get his body, mind etc. for the first time ?

According to Indian philosophy, the obtainment of the body, mind etc, are all the result of past actions. If in the beginning man had nothing as past actions, he could not obtain his body etc and hence could not perform his first actions also. The problem can be solved only by saying that the series is unending; there is nothing like the first action. This, in fact, is the view taken by Indian philosophy. Even when the creation starts after a **pralaya** (dissolution). man gather his body etc. according to the actions performed in his life in the past creation, and the series of creations and **pralayas** is unending. But that will mean that at any time in the series of actions and their fruits, the man performed actions only as a result of his past actions and thus he was not free to act. If he was not free to act, his actions should not have borne fruits and as this logic applies to all his actions at each and every moment of the series, the whole series seems to be illogical. If the actions performed by the man are to bear fruits, he must be regarded to be free to act and that means the whole of his experience of the present momet should not be the result of his past actions. But to accept this point is to discard at least one feature of the **Karma**-doctrine that all the experiences of a man are the result of his past actions, The dilemma faced by the Karma-doctrine is that if a man is not free to act, his actions cannot bear fruits and the **karma**-doctrine thus falls. If howeves. the man is free to act, all his experiencer are not the result of his past actions and thus the doctrine again falls.

Let us now examine the other aspect of the **karma**-doctrine that a man experiences the fruits of his own actions and of none else. This aspect will mean that a man, if tortured by another man, is only experiencing the fruits of his own past actions and thus the torturer should not be punished for his act. The torturer is only a means to award the fruits of the actions of the tostured man, He is rather doing justice towards him, not injustice. What a funny conclustion ! The whole of the social code of Law will collapse, if we accept the above aspect of the **karma**-doctrine. I think that the Indian philosophers too will find it repulsive to reward a torturer for doing justice by torturing an innocent man.

Both the features of the Indian **Karma**-doctrine are thus inconsistent.

Can we remove the inconsistencies of the **karma**-doctrine and accept it in some modified way ? I think yes. The only defect of the **karma**-doctrine is that it has sought to regard a man in isolation, as if a man is an independent unit of the creation. If this point is given up and a man is taken only as a past of the nature, the problem can be solved. The nature, as we see it, is working in an organic way. each part of it depending on the other, it is working as a whole. We can apply the **karma**-doctrine to the nature as a whole, not to its part in isolation. Thus we can say that all the events of the nature are the results of its actions in past. This will however mean that working of one part of the nature effects its other parts also. This will lead to the conclusion that the actions of a mna

effects not only his own future experiences. but the experiences of others also. In fact, we cannot say that if one part of our body works. it doese not effect other part This applies to the nature as a whole also. Thus the performance of the nature as a whole will be regarded as responsible for its future events. This hypothesis will remove the inconsistencies to some extent. Now if a man tortueres another man, we will not say that the tortured man is experiencing the fruits of his actions, we will rather say that his torture is due to the actions of the man torturing him. We can thus assign the responsibility of torturing on the man doing this action. The code of the moral low will thus prevail. It is however difficult to get rid of the determinism by this hypothesis also. As all the present events are the result of the past performances of the nature, the actions of an individulal man and his willing also shall be held to be determined by the performance of the Nature in the past. The difference will be that the willing and the actions of the individual will not be determined by his own past actions alone, but the actions of other also. If however the Nature is regarded to have some sort will of its own, an individual can also be regarded to have his own free will to some extent. It can be said that though the natural evets are the result of its past performance, yet its present performance is not solely determined by its past performance; it is the result of the past performance plus the result of its own free will. This can be said of an individul also. He experiences the fruits of his past actions, but in the present performance, he is not completely determined by the past performance of the Nature; his present actions are the result of the past performance of the Nature plus the result of his own free will.

Reader & Head,
Dept. of Sanskrit,
M. M. H. College,
Ghaziabad-201001

□ डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी

कर्माशय एवं उनका भोग

मानव के चित्त की समस्त भावनाओं और क्रियाओं को क्लेश-हेतुक और अक्लेशक इन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, क्योंकि किसी भावना अथवा क्रिया का साक्षात् अथवा परम्परया यही दो परिणाम हो सकते हैं। ये भावनायें और क्रियायें सम्पूर्णतया अनासक्तिपूर्वक अथवा परम शिव (परमेश्वर) को समर्पित होकर सम्पन्न होने पर क्लेश हेतुक नहीं होती। उस स्थिति में उन्हें अक्लेश हेतुक कहा जायेगा। ऐसी भावनाओं और क्रियाओं का संचय नहीं हुआ करता।[1]

क्लेश हेतुक भावना एवं कर्मों को योग परम्परा में अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच स्थितियों में विभक्त किया जाता है, तथा इन पाँचों का मूल अविद्या है, ऐसा स्वीकार किया जाता है।[2] क्योंकि समस्त क्रियायें और उनके भी लोभ क्रोध मोह आदि मनोभाव की उत्पत्ति अविद्या आदि के द्वारा ही होती है, वह ही सबके मूल में रहा करती है। चित्तगत में भावनायें और क्रियाएं ही विविध अवस्थाओं में परिणत होकर संचित होती हैं, उस अवस्था में इन्हें कर्माशय कहा जाता है। तथा ये प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार अवस्थाओं में संचित रहा करती हैं।[3] जिस समय ये मनोभाव (अविद्या अस्मिता आदि चित्तवृत्तियां) बीज की भांति केवल शक्तिमात्र से चित्त में प्रतिष्ठित रहते हैं, उस स्थिति में इन्हें ही क्लेश बीज कहा जा सकता है, कालान्तर में आलम्बन को प्राप्त करके ये ही प्रगट हुआ करते हैं। इसप्रकार बीजभाव को प्राप्त चित्तवृत्तियों (क्रियाओं) को प्रसुप्त कर्म कहते हैं।[4] साधना के माध्यम से विवेकख्याति का उदय होने के अनन्तर ये चित्तवृत्ति रूप क्लेश बीज दग्ध हो जाते हैं, उनकी अंकुरण शक्ति समाप्त हो जाती है,[5] जिसके परिणामस्वरूप आलम्बन के सम्मुख आने पर भी उनका उदय (अंकुरण) नहीं होता, जैसे कि आग से भुने हुये बीजों को बोने पर अन्य समग्र परिस्थितियों के अंकुरण योग्य होने पर भी दग्ध होने के कारण बीजों का अंकुरण नहीं होता। यह अवस्था कर्मों की पाँचवीं अर्थात् अन्तिम अवस्था है, इस अवस्था को कर्मों की प्रसुप्ति अवस्था भी कहते हैं।[6] तत्वज्ञान, आत्मा और इन्द्रियों में भेद की प्रतीति, वैराग्य, मैत्रीभावना एवं अजरामरत्व बुद्धि का उदय होने पर उनके द्वारा उपहत होने से अविद्या अस्मिता राग-द्वेष और अभिनिवेश क्रमशः क्षीण हो जाते हैं, उस स्थिति में इन क्लेशमूलक कर्मों की तनु अवस्था स्वीकार की जाती है। क्योंकि ये भावनायें अविद्या आदि की प्रतिपक्षी भावना है, और उन्हें दुर्बल बना देती है।[7] जब कभी एक क्लिष्ट चित्तवृत्ति (क्रिया) किसी अन्य वृत्ति (क्रिया) से किंचित्काल के लिये दब जाती है, इसे स्थिति विच्छेद या विच्छिन्नता की अवस्था कहते हैं।[8] विषय की प्राप्ति के समय क्लेश के विकास अथवा अनुभूति की अवस्था को उदार कहते हैं।[9] रामानन्द यति के अनुसार विदेह प्रकृतिलय योगियों के क्लेश प्रसुप्त, क्रिया योगियों के तनु तथा विषयासक्त जनों के क्लेश विच्छिन्न तथा उदार कहे जा सकते हैं।[10] इसके विपरीत राजमार्तण्ड वृत्तिकार भोज मानव की विशेष स्थायी उपलब्धि के आधार पर क्लेशों को उदाहृत करने के स्थान पर चित्तभूमि की स्थिति के आधार पर उदाहृत करते हैं। उनके अनुसार चित्तभूमि में स्थित, किन्तु प्रबोधक के अभाव में अपना कार्य आरम्भ न करने वाले कर्म प्रसुप्त कहे जाने चाहिये, उदाहरणार्थ बालक के चित्त में विद्यमान काम (रति) आदि क्लेश प्रबोधक सहकारी कारणों के अभाव में अभिव्यक्त नहीं होते।[11] प्रतिपक्ष भावना से जिनकी कार्यसम्पादन शक्ति क्षीण हो गई है, किन्तु वासना,

रूप से अभी चित्त में शेष हैं, ऐसे क्लेशों को **तनुक्लेश** कहते हैं। ये क्लेश प्रभूत और प्रभूततर सहकारी कारण उपस्थित होने पर ही पुनः अपना परिणाम दिलाने में समर्थ हो पाते हैं। क्लेशों की यह स्थिति अभ्यास युक्त योगियों में प्राप्त होती है, यह कहा जा सकता है। जिन क्लेशों की शक्ति किसी अन्य बलवान् क्लेश से अभिभूत रहती है उन्हें **विच्छिन्न** क्लेश कहते हैं। तथा सहकारी कारणों को प्राप्त कर उद्भूत अवस्था में विद्यमान क्लेश **उदार** कहे जाते हैं।[१२]

प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार इन चारों ही प्रकार के क्लेशों से उत्पन्नवृत्ति को कर्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में अविद्या अस्मिता रागद्वेष और अभिनिवेश ये प्रसुप्त आदि किसी भी अवस्था में रहते हुये चित्त और इन्द्रियों में व्यापार उत्पन्न करते हैं, इस व्यापार को कर्म कहते हैं। इन कर्मों के द्वारा संस्कार उत्पन्न होते हैं, जिन्हें आशय अवस्था कर्माशय कहते हैं।

अविद्या आदि से उत्पन्न कर्मों के संस्कारों, जिन्हें कर्माशय नाम से ही सामान्यतः अभिहित किया जाता है, का फल इस जन्म और जन्मान्तर दोनों में प्राप्त हो सकता है।[१३] ये फल तीन प्रकार के हो सकते हैं, जन्म (जाति) आयु और भोग।[१४] किस कर्माशय का फल इस जन्म में होगा और किसका जन्मान्तर में इस सम्बन्ध में सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि अति विशिष्ट पुण्य तथा अति उग्र अपुण्य से निर्मित कर्माशय इसी जन्म में और कभी-कभी सद्यः फलदायी हुआ करते हैं। जैसे— तीव्र संवेगपूर्वक की गई मन्त्र साधना तपःसाधना समाधि साधना अथवा महर्षि या देवता की आराधना द्वारा अर्जित पुण्य कर्माशय सद्य फलदायी हो जाता है। इस प्रसग में नन्दीश्वर का उदाहरण दिया जा सकता है जिसने बाल्य अवस्था में ही तीव्र मन्त्र तपः समाधि की साधना के फलस्वरूप दीर्घ आयुष्य एवं मानव शरीर से ही दिव्य भोगों को प्राप्त कर लिया था। महर्षि विश्वामित्र ने भी तपश्चर्या के द्वारा इसी जन्म में ब्राह्मण जाति एवं दीर्घ आयुष्य को प्राप्त किया था।

तीव्र अपुण्य कर्माशय भी शीघ्र फल देते हैं। उदाहरणार्थ भयाकुल रोगी अथवा दीन जनों के साथ किया गया विश्वासघात अथवा पुण्यात्मा महर्षि गुरुजन आदि के साथ किया गया बारम्बार अपकार सद्य फलदायी होता है। नहुष द्वारा महर्षियों के अपमान से सर्प जाति की प्राप्ति का पौराणिक आख्यान इसका उदाहरण है।[१५]

योगसूत्र के व्याख्याकार नागोजिभट्ट के अनुसार कर्माशय का मुख्य फल तो भोग ही हुआ करता है जाति और आयुष्य तो उसके नान्तरीयक फल हैं, जिनकी प्राप्ति भोगों के लिये पृष्ठभूमि के रूप में हुआ करती है।[१६]

इन कर्माशयों के फल की अनिवार्यता के सम्बन्ध में भले ही विवाद हो सकता है कि इनका फल प्रत्येक कर्त्ता को अवश्य भोगना पड़ता है, अथवा भोग के बिना भी उनका क्षय हो सकता है। इस प्रश्न पर योग-भाष्यकार व्यास की मान्यता है कि कर्माशय तब तक ही फलदायी होते हैं, जब तक अविद्या आदि क्लेश विद्यमान रहते हैं। इनका विनाश हो जाने पर ये अंकुरण में उसीप्रकार असफल हो जाते हैं जिस-प्रकार शालिबीज आवरण (भूसी) के अलग हो जाने पर अंकुरण में समर्थ नहीं होते। इसीप्रकार विवेक-ख्याति द्वारा यदि क्लेश भी दग्ध बीज भाव को प्राप्त हो जाये तो शेष कर्माशय भी दग्धबीज भाव को प्राप्त हो जाते हैं, और उनका कोई फल नहीं होता। सूत्रकार ने स्वयं विवेकख्याति को क्लेश और उनके परिणामों के विनाश का सफल उपाय स्वीकार किया है।[१७]

आइये, अब हम कर्माशयों के फलों पर क्रमशः विचार करें। कर्माशय का प्रथम फल जाति अर्थात् जन्म स्वीकार किया गया है। यहाँ एक प्रश्न सहज रूप से उपस्थित होता है, कि क्या एक कर्म का

संस्कार एक जन्म का हेतु है, अथवा वह अनेक जन्मों का भी हेतु हो सकता है ? इसीप्रकार दूसरा प्रश्न यह है कि क्या अनेक कर्म मिलकर अनेक जन्म के हेतु होते हैं, अथवा वे (अनेक कर्म) अनेक जन्मों के भी हेतु ही सकते हैं ? इन चार पक्षों में प्रथम पक्ष अर्थात् 'एक कर्म एक जन्म का हेतु होता है' यह स्वीकार करना उचित नहीं हो सकता। क्योंकि प्रथमतः तो एक जन्म में अनेकप्रकार के सुख दुःख आदि का अनुभव होता है, जो एक कर्म से उत्पन्न कर्माशय का फल नहीं होना चाहिये। इसके अतिरिक्त एक कर्म के परिणाम में एक जन्म मानने पर अनादि काल से चली आ रही जन्म परम्परा में से प्रत्येक जन्म में किये गये संख्यातीत कर्मों के अनन्त होने के कारण असंख्य कर्मों के फलयोग का अवसर ही न आ सकेगा। इसीप्रकार एक कर्म को अनेक जन्मों का हेतु भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस स्थिति पूर्वोक्त में दोष और भी प्रबल रूप से उपस्थित होंगे। इसके अतिरिक्त इस स्थिति में कर्मों के भोग का क्रम भी न बन पायेगा क्योंकि अनेक जन्म तो एक साथ हो नहीं सकते। इसी भाँति अनेक कर्मों को भी अनेक जन्मों का हेतु मानना भी उचित न बन पायेगा, क्योंकि इस स्थिति में भी क्रम विषयक अव्यवस्था उत्पन्न होगी, तथा अनेक जन्मों में किये गये कर्मों के भोग का क्रम भी न बन सकेगा। इन अनेक विकल्पों के प्रसंग में विविध उपस्थित असुविधाओं को देखते हुये यह मानना अधिक उचित प्रतीत होता है कि जन्म से लेकर मरण पर्यन्त किये गये समस्त कर्म समूह के द्वारा विविधतापूर्ण विचित्र फलों वाले जन्म का आरम्भ होता है।[१८] क्योंकि वह समूह एक होता है अतः इससे एक जन्म का आरम्भ होता है, तथा कर्म समूह में कर्मों की बहुलता और वैचित्र्य विद्यमान रहने के कारण प्राप्त जन्म में भी फलों की बहुलता एवं विचित्रता रहा करती है।

सामान्यतः अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय का विपाक भी जन्म आयु और भोग तीनों रूपों में संभव है, जबकि दृष्ट जन्म वेदनीय कर्मों के संस्कार प्रायः भोग की ही सृष्टि करते हैं; यद्यपि कभी-कभी इनके द्वारा आयुः फल भी प्राप्त होता है। एक दो उदाहरण ऐसे भी प्राप्त हैं जहाँ दृष्ट जन्म वेदनीय कर्म का विकास जन्म के रूप में भी हुआ है। नन्दीश्वर और नहुष के कथानक इसके उदाहरण हैं।[१९]

व्यास के अनुसार अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्म पुनः दो प्रकार के हैं नियत विपाक और अनियत विपाक। नियत विपाक कर्माशय वह है जिसके फल का प्रतिबन्धन अन्य किन्हीं सबल कर्मों द्वारा नहीं होता, बल्कि उसका फल अवश्य ही भोगना है। अनियत विपाक कर्माशय के फल का प्रतिबन्धन अन्य कर्माशय द्वारा हो सकता है। इसकी तीन स्थितियाँ हो सकती हैं। (१) विपाक के बिना ही नाश, (२) प्रधान कर्म के साथ उसका भी फल भोग, (३) नियत विपाक प्रधान कर्म के द्वारा अभिभूत होने से चिरकाल तक भोग के बिना अवस्थिति।[२०] विपाक के बिना ही कर्म का नाश तब होता है, जब उस कर्म के विपरीत फल वाले कर्मों का समूह विद्यमान हो। प्रायश्चित्त के फलस्वरूप अनियत विपाक कर्म का ही नाश होता है, उपनिषद् वाक्यों भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।[२१]

योगसूत्र के टीकाकार नागोजिभट्ट कर्माशय का विभाजन कुछ भिन्न प्रकार से करते हैं। उनके अनुसार प्रथमतः कर्माशय के दो भेद हैं : आरब्ध फल वाला और अनारब्ध फल वाला। इनमें आरब्ध फल वाले कर्माशय का भोग इसी जन्म में होता है। अनारब्ध फल वाले कर्माशय का विभाजन उन्होंने तीन भेदों में किया है—शुक्ल, कृष्ण एवं शुक्लकृष्ण।[२२] स्वाध्याय जप आदि शुक्ल कर्माशय कहे जाते हैं, जिनके सम्पादन के क्रम में परपीड़ा आदि का अवसर कभी उपस्थित नहीं होता। ये कर्म (शुक्ल कर्म) परिणाम के आधार पर अत्यन्त सबल कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनका उदय होने से अन्य कृष्ण अथवा शुक्लकृष्ण कर्मों का प्रभाव नष्ट हो जाता है। शुक्ल कर्मों के द्वारा जिन कर्मों का प्रभाव नष्ट होता है, उन्हें अनारब्ध फल वाले कर्म कहा जाता है। वैदिक पशु हिंसा आदि कर्म कृष्णकर्म है, किन्तु जब ये कृष्ण कर्म वैदिक

यज्ञों के साथ किये जाते हैं, तब इन कृष्ण कर्मों के फल का भोग प्रधान कर्म यज्ञ आदि के फल के भोग के साथ ही होता है। ये अप्रधान कर्म स्वतन्त्र रूप से कर्म फल का आरम्भ करने में समर्थ नहीं होते। जिन कर्मों में हिंसा आदि कृष्ण कर्म एवं दान आदि शुक्ल कर्मों का सहभाव होता है, जैसे हिंसा मिश्रित वैदिक याग आदि, वे शुक्ल-कृष्ण कर्म कहलाते हैं। इन कर्मों का फल भी सदा मिश्रित ही होता है।

अवस्था भेद से भी कर्मों का वर्गीकरण किया जा सकता है। इसके अनुसार कर्मों के तीन वर्ग होंगे—प्रारब्ध, सचित और क्रियमाण। कर्माशय में विद्यमान अनन्त कर्मों में से जिनका भोग प्रारम्भ हो चुका है वे **प्रारब्ध** कर्म कहलाते हैं। दृष्ट जन्म वेदनीय कर्म इसी श्रेणी में आते हैं। इस जन्म में किये गये वे कर्म जिनका भोग (विपाक) इसी जन्म में होना है किन्तु अभी भोग प्रारम्भ नहीं हुआ है, उन्हें प्रारब्ध तो नहीं कहा जा सकता किन्तु फिर भी वे दृष्ट जन्म वेदनीय कर्म कहे जायेंगे। पूर्वजन्मों में किये गये वे कर्म जिनकी समष्टि द्वारा वर्तमान जन्म प्राप्त हुआ है, और वे इसके जन्म आयुष् और भोग के हेतु हैं, वे कर्म समष्टि रूप से (व्यक्तिगत रूप से नहीं) प्रारब्ध कर्मों की कोटि में रखे जायेंगे।

जिन कर्मों का भोग अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है, वे सभी चाहे इस जन्म में किये गये हों चाहे जन्मान्तर में, **संचित कर्म** कहे जाते हैं। इसीप्रकार जो कर्म अभी किये जा रहे हैं, तथा उनका भोग इस जन्म में निश्चित नहीं है, ऐसे सभी कर्म **क्रियमाण कर्म** कहलाते हैं।

संचित कर्मों के संस्कार को अनियत विपाक-अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय के समानान्तर तथा प्रारब्ध कर्मों के संस्कारों को प्रधान अर्थात् नियत विपाक दृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय के समानान्तर रखा जा सकता है। यद्यपि भाष्यकार व्यास ने क्रियमाण कर्मों से उत्पन्न संस्कारों की कोई चर्चा नहीं की है, किन्तु फिर भी इसप्रकार के संस्कारों को दृष्ट जन्म वेदनीय अथवा अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्मों में यथावसर रखा जा सकता है।

इन कर्माशयों से जिस जाति (जन्म) आयुः और भोग की उत्पत्ति होती है, उनके द्वारा जीव को क्लेश का ही अनुभव होता है, दुःख का ही अनुभव होता है। सर्वसामान्य जहाँ कहीं सुख का मान करता है वहाँ वह सुख का भान भ्रममूलक होता है योगिजन वहाँ सुखाभास का भी अनुभव नहीं करते क्योंकि उन्हें विदित है कि विषयों का उपभोग करने से उनके प्रति राग की वृद्धि होती, राग से कामना बढ़ती है, और पुनः अप्राप्ति से दुःख होता है, भोग से तृप्ति हो जाती हो ऐसा तो होता है नहीं, अतः कर्माशय के फलस्वरूप प्राप्त भोग दुःख का ही कारण है, यही स्वीकार किया जाता है।[२३] इसीलिये सूत्रकार पतञ्जलि ने समस्त दृष्ट और अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय को क्लेशमूलक ही स्वीकार किया है। चाहे उसका विपाक (फल) जन्म हो चाहे आयु और भोग।[२४]

कर्माशय के रूप में चित्त में अनादिकाल से असंख्यात कर्म संस्कार चले आ रहे हैं। इनमें कुछ **प्रधान** और कुछ **उपसर्जन** कर्माशय कह सकते हैं। जिन कर्मवासनाओं के संस्कार प्रबल रूप से उत्पन्न होते हैं उन्हें प्रधान कर्माशय कहते हैं, और जिनके संस्कार शिथिल रूप से पड़े रहते हैं, उन्हें उपसर्जन कर्माशय कहते हैं। मरणकाल में प्रधान कर्माशय पूरे वेग से जागृत हो जाते हैं, साथ ही पूर्व और वर्तमान जन्म के अनुकूल वासनाओं को उद्भूत करते हैं।[२५] इनमें भी जो संस्कार प्रधानतम होता है, अन्य संस्कार उसके सहायक बन जाते हैं और तब उनकी समष्टि की वासना के अनुसार जन्म आयु और भोग का निर्धारण होता है। ऐसे कर्माशय (कर्म समष्टि) को, जिनके जन्म आयु और भोग निश्चित हो गये हैं, वे नियत विपाक कर्माशय कहे जाते हैं। मुण्डक उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता में इस नियत भाव को प्राप्त हो रहे कर्माशय को ही भावों का स्मरण अथवा कामना नाम से अग्रिम जन्म का हेतु माना है।[२६]

वे कर्म (उपसर्जन कर्म) जिनका फलोपभोग करने के लिये जन्म आयुष्य और भोग अभी नियत नहीं हुआ है, वे अनियत विपाक कर्माशय कहलाते हैं, ये कर्म अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्म भी कहलाते हैं, क्योंकि इनका फल वर्तमान जन्म में नहीं होता है। अनियत विपाक कर्माशय का विभाजन दो समूहों में किया जा सकता है (१) इनमें प्रथम वे हैं जिनका स्वयं का विपाक नहीं होता किन्तु नियत विपाक कर्म के प्रभाव में कुछ न्यूनता या अधिकता उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं। अथवा उनमें संयुक्त होकर फल देते हैं। (२) दूसरे वे हैं जो चित्तभूमि में दबे हुये तब तक वैसे ही पड़े रहते हैं, जब तक कि उन्हें किसी अनुकूल जन्म और साधन को प्राप्त कर फल देने के लिये अवसर नहीं मिलता। जब कभी उनको जगाने वाले कर्माशय की प्रधानता होती है, तब वे उद्बुद्ध होकर फल देने की स्थिति में आते हैं (और उस स्थिति में उन्हें नियत विपाक की श्रेणी में रखा जा सकेगा) अन्यथा कितने जन्म और समय बीतने पर भी वे उसी भाँति सुरक्षित रहते हैं और उनका नाश नहीं होता। इससे भिन्न इनकी तीसरी स्थिति वह भी होती है जब योग साधना आदि के द्वारा तत्वज्ञान का उदय होने पर वे भस्मसात् हो जाते हैं।[२७]

पतञ्जलि के अनुसार आशिष के रूप में ये कर्माशय अनादि काल से जीव के साथ विद्यमान रहते हैं।

इसप्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि कर्माशय दृष्ट जन्म-वेदनीय और अदृष्ट जन्म वेदनीय अथवा नियत विपाग और अनियत विपाक नाम से दो प्रकार का होता है। अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय के द्वारा ही अग्रिम जन्म के जन्म आयुष्य और भोग का निर्धारण होता है। इस निर्धारण में कर्मसमष्टि रूप कर्माशय कारण होता है, कर्मव्यष्टि नहीं।

संदर्भ-संकेत—

१. (क) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ ईश० २.

(ख) तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तोह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ गीता ३.१९

(ग) ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषमहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्॥ गीता १२.६-७

(घ) अभ्यासेप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म परमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ गीता १२.१०

२. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः, अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्। यो० सू० २.३-४

३. अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। यो० सू० २.४

४. तत्र का प्रसुप्तिः? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः तस्य प्रबोधः आलम्बने सम्मुखाभावः॥ योग भाष्य २.४ पृ० १४४

५. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। यो० सू० २.२६

६. प्रसंख्यानवतः दग्धक्लेशबीजस्य सम्मुखीभूतेऽप्यालम्बने
नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोहः।···विषयस्य
सम्मुखीभावेऽपि सति न भवति एषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिः। योगभाष्य २.४

७. (क) वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् । यो० सू० २.३३
(ख) प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति । यो० भा० २.४

८. विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मा पुनः समुदाचरन्ति इति विच्छिन्ना। कथम् ? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात् । न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति, सहितं वा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति । —यो० भा० २.४

९. विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः । —यो० भा० १.४, पृ० १४६

१०. तत्र विदेहप्रकृतिलयानां योगिनां प्रसुप्ताः क्लेशाः, क्रियायोगिनां तनवः, विषयसङ्गिनां विच्छिन्नाः उदाराश्च भवन्ति । मणिप्रभा० २.४ पृ० ६४

११. ये क्लेशाश्चित्तभूमौ स्थिताः प्रबोधकाभावे स्वकार्यं नारभन्ते ते सुप्ता इत्युच्यन्ते । यथा बाल्यावस्थायाम्, बालस्य हि वासनारूपेण स्थिता अपि क्लेशाः प्रबोधसहकार्यभावे नाभिव्यज्यन्ते ।
भोजवृति २.४ पृष्ठ ६३

१२. ते तनवो ये स्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्यसम्पादनशक्तयो वासनावशेषतया चेतस्यवस्थिताः प्रभूतां सामग्रीमन्तरेण स्वकार्यमारब्धुमक्षमाः, यथा अभ्यासवतो योगिनः । ते विच्छिन्ना ये केनचिद् बलवता क्लेशेनाभिभूतशक्तयस्तिष्ठन्ति ।···ते उदाराः ये प्राप्तसहकारिसन्निधयः स्वं स्वं कार्यमभिनिर्वर्तयन्ति ।—भोजवृत्ति २.४. पृ० ६३

१३. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः । यो०सू० २.१२

१४. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।। यो० सू० २.१३

१५. विशेष-विवरण हेतु द्रष्टव्य-पातञ्जलयोगशास्त्र एक अध्ययन, पृ० ६० ।

१६. अत्र भोगो मुख्यं फलम्, तन्नान्तरीयके च जात्यायुषी ।—नागोजिवृत्ति, २.१३, पृ० ७३ ।

१७. क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकारम्भीभवति, नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति ।
—योगभाष्य २.१३ ।

१८. तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे (मरणान्तरे) कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनीभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एव प्रघट्टकेन मिलित्वा मरणं प्रसाध्य सम्मूर्च्छित एकमेव जन्म करोति ॥ तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति । तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यते
—योगभाष्य, २.१३ ।

१९. दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात्, द्विविपाकारम्भी वा आयुर्भोगहेतुत्वात्, नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वा इति । यो० भा० २.१३ ।

२०. यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयो नियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः कृतस्याविपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावाप मनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम् । वही, २.१३ ।

२१ द्वे द्वे कर्मणी वेदितव्ये पापकस्येको राशिः पुण्यकृतोपहन्ति । योगभाष्य, पृ० १७१ से उद्धृत ।

२२. सः कर्माशयो द्विविधः आरब्धफलोऽनारब्धफलश्च । तत्रारब्धफलः उक्त एकजन्मावच्छिन्नः । अनारब्धफलोऽपि त्रिविधः, शुक्लः कृष्णः शुक्लकृष्णश्च । नागोजिवृत्ति २.१३ ।

२३. (क) भोगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः, कौशलानि चेन्द्रियाणामिति तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यासः ।
योगभाष्य २.१५ ।

(ख) विषयाणामुपभुज्यमानानां यथायथं गर्द्धाभिवृद्धेस्तदप्राप्तिकृतस्य दुःखस्यापरिहार्यतया दुःखान्तर-साधनत्वाच्च । त्यैव दुःखरूपता । भोजवृत्तिः २.१५ ।

२४. क्लेशमूलकर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः । सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।।
परिणामतापसंस्कार दुःखे गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।। यो० सू० २.१२,१३,१५

२५. ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् । ४.८।

२६. (क) कामान्यः कामयते मन्यमानः सः कामभिर्यायते यत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्व्यनस्तु इहैव सर्वे प्रविशन्ति कामाः ।। मुण्ड० २–२–२ ।

(ख) यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमैति कोन्तेय सदा तद्भावभावितः ।। गीता० ८.६ ।

२७. (क) ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । गीता ४. ३७ ।

(ख) ज्ञानाग्निर्दग्धकर्माणं तमाहुँ पंडितं बुधाः । गीता ४.१६

———

रीडर–अध्यक्ष, अनुसंधान विभाग
लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
शहीद जीतसिंह मार्ग, नई दिल्ली, १६ ।

□ डॉ० जयदत्त उप्रेति शास्त्री

स्वर्गापवर्गयोर्भेदाऽभेदविमर्शः

सनातनवैदिकधर्मानुयायिनां जनानां स्वर्गापवर्गयोर्विषये प्रायेण एषा धारणा विद्यते यत् शब्दाविमावर्थतो भिद्येते । यद्यपि सूक्ष्मार्थत्वात् परोक्षविषयत्वादनयोः हस्तामलकवत् प्रत्यक्षं प्रदर्शनं कर्तुं न शक्यते, तथापि निगमागमवचांसि यथाहुस्तदनुसारेण किंचिद् विवेचनं प्रस्तोतुं प्रयत्यते ।

तदिह सुविदितं विदुषां यद् मीमांसका याज्ञिकाश्च भृशं स्मरन्ति—"स्वर्गकामो यजेत", "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्येवमादीनि आर्षवचनानि । एषामर्थः स्फुटः—यज्ञात् कृतात् स्वर्गो लभ्यते, इति कर्तव्यो यज्ञ इति । अन्ये केचन दानेन, केचन गङ्गास्नानेन, केचन राम-कृष्ण-हरि-हराद्यन्यतमनामजपमात्रेण, केचन तीर्थभ्रमणेन, केचित् कण्ठीतिलकभस्मरुद्राक्षादिधारणेन, केचित्सत्कर्मणा, केचिज्ज्ञानेन, केचित् पुनरुभाभ्यां ज्ञानकर्मभ्यां स्वर्गं चापवर्गं वा सुलभं मन्यन्ते । गङ्गास्नानस्य, गङ्गानामजपस्य, गङ्गादर्शनस्य चादभुतं माहात्म्यं गङ्गाभक्ता वदन्ति । तथाहि "गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि । मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥' इति तेषां सुप्रसिद्धः श्लोकः । द्वाविंशतिवर्षपूर्वमेकदा अहं वाराणस्या ब्रह्मघट्टे कस्यिचत् सम्बन्धिनः पार्श्वे कतिपयदिनानि यावन्न्यवसम् । तत्र मया दृष्टं यन्मध्यरात्रौ त्रिवादनावसरे प्रत्यहं कश्चिद् गङ्गाभक्तः स्नानार्थं गङ्गाभिमुखेषु सोपानेषु अवतरन् गङ्गादर्शने जाते सति तारस्वरेणाघोषं करोति स्म—"गङ्गे तव दर्शनान्मुक्तिः" इति । घोषममुं श्रुत्वा एकतो गङ्गाभक्तस्य श्रद्धामेकतश्च मुक्तेर्दुरवाप्यतां विचार्य मम मनसि एष प्रश्नः समुत्थितः, यदि गङ्गादर्शनमात्रेणैव सुलभोपायेन मुक्तिर्लभ्येत तर्हि गङ्गायां स्नानादथवा तत्रैव निमज्जनान्मुक्तेरपि परतरं पदं कथं न लभ्येत ? अथवा मुक्त्यर्थमुपदिश्यमानैर्यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपैर्योगांगैर्वा सांख्यादिशास्त्रोक्तसत्वपुरुषान्यताख्यात्यादिभिर्वा किं नामोपपादितं स्यात् ? किंवा, "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ यजुर्वेद ३१-१८॥ इत्येवमादिभिर्वेदवाक्यैः कृतं स्यात्, इति । अस्तु तावत्प्रकृतमनुसरामः ।

तत्र स्वर्गं मोक्षं च भिन्नरूपेणानुमन्यमानानां स्वर्गसाधनान्यन्यानि कर्माणि भवन्ति, मोक्षसाधनानि चान्यानि । ये तु स्वर्गमोक्षयोरनर्थान्तरं मन्वते तेषां तु तुल्यमेव साधनं स्वर्गस्य वा मोक्षस्य वा । अत्र विषये इमे प्रश्ना विचारार्हा भवन्ति, (१) स्वर्गः कः, तस्य किं स्वरूपम् ? (२) मोक्षः कः, तस्य किं स्वरूपम् ? (३) स्वर्गमोक्षौ सरूपौ समानार्थकौ स्तः आहोस्विदसरूपौ नानार्थौ ? (४) मनुष्येण वर्तमान-जीवने स्वर्गो वा मोक्षो वा लब्धुं शक्यते, उताहो न वेति । तत्र क्रमेण विचारः प्रस्तूयते ।

स्वर्गः कः, किं च तस्य स्वरूपम् १—कठोपनिषदि नाचिकेतोपाख्यानप्रसंगे स्वर्गस्येदं रूपं श्रूयते—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ कठोप० १-१-१२ ॥
स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ कठोप० १-१-१३॥

इतिः अथर्ववेदे स्वर्गस्वरूपनिरूपणपरा इमे मन्त्राः सन्ति—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।
नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥
एष यज्ञानां विततो बहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश ।

आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली । एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णां उदकेन दध्ना । एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णां उदकेन दध्ना । एतास्त्वा धारा० ॥
इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजित स्वर्गम् ।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥

अथर्ववेद ४–३४–२–८॥

इत्येषु मंत्रेषु सर्वभौतिकसमृद्धिसम्पन्नतया लभ्यमानसुखस्यैवापरं नाम स्वर्गोऽस्तीति ध्वन्यते । अन्यः कश्चित् कविराह--

"सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी,
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषितिरतिश्चाज्ञापराः सेवकाः ।
आतिथ्यं गुरुपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे,
साधोः संगमुपासते हि सततं स्वर्गो गृहस्थाश्रमः ॥"

इति । अत्र बहुविधसुखसमुपेतो गृहस्थाश्रम एव स्वर्गमिध, इति तन्मतं स्पष्टम् ।

सुप्रसिद्धमीमांसककुमारिलभट्टस्य मते पुनः—

"यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्,
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम् ॥" श्लोकवार्तिकम् ॥ इति स्वर्गलक्षणम् ।

अत्र यज्ञादिना नैरन्तर्येण प्राप्तदुः खराहित्यस्यैव नाम स्वर्ग इत्युक्तम् । यज्ञादिः स्वर्गप्राप्तौ हेतुः साधनं वेति ब्राह्मणादिषु भृशमुच्यते । तथाहि, "स एष यज्ञायुधी यजमानोऽजसा स्वर्गं लोकं याति ।" (मीमासादर्शनशाबरभाष्यम् १–१५), "स एष यज्ञायुधी यजमानः—योस्य स्वर्गो लोको जितो भवति तमभ्यत्येति तमेते सन्ताप्या अग्नयो यथा पुत्राः पितरम्—एनं हैवैनमुपस्पृशन्ति प्र हैवैनं कल्पयन्ति ।" (शतपथब्राह्मणम् १२।५।२।८), "स एष यज्ञायुधी यजमानः स्वर्गं लोकमेतीति ब्राह्मणम् (निदानसूत्रम् २–६) इति ।

सुप्रसिद्धस्य वेदभाष्यकारस्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनो मते स्वर्गस्येदं लक्षणम्—"स्वर्ग नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है । (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः,४२), तथा "जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, वह स्वर्ग कहाता है । (आर्योद्देश्यरत्नमाला, १४) । इत्येवं स्वर्गस्वरूपप्रतिपादनपराणि बहूनि वचनानि प्राक्तनग्रन्थेषु समुपलभ्यन्ते । उदाहृतेषूदाहरणेषु मध्ये कठोपनिषदुक्तं विहाय सर्वाणि लौकिकसुखसम्प्राप्तिमेव स्वर्गनाम्ना वर्णयन्ति । कुमारिलभट्टाचार्योक्तावपि कठोपनिषदुक्तवत् सर्वथा अमृतत्वस्य दुःखराहित्यस्य प्रतिपादनात् स्वर्गपदार्थो मोक्षेऽस्तीति ध्वन्यते ।

मोक्षः कः, किं च तस्य स्वरूपम् ?—पुरुषार्थचतुष्टयमध्ये चरमं परम च पुरुषार्थं मोक्षमेवाहुः । ते च पुरूषार्था धर्मार्थकाममोक्षाख्याः समस्ते वैदिके लौकिके च वाङ्मये निपुणं व्याख्याताः । तत्र सर्वविधाद्

दुःखात् विशेषतो जन्ममरणप्रबन्धाद् जीवस्य व्यपगतत्वं मोचनं वा मोक्ष उच्यते । मोक्षस्यैव कैवल्य-मुक्ति-निः श्रेयसाऽपवर्गनामभिरपि व्यपदेशो भवति । विद्वांसो जना विविधरीत्या मोक्षावाप्तिं वर्णयन्ति । तथा चोदाहरणानि भवन्ति—

"न त्वदृते अमृता मादयन्ते" (ऋग्वेदः ।७।११।१), "यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त" (यजुर्वेदः ३२-१०), "तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (यजु०३१-१८), "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" (यजु०४० १४), "यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम"। (भगवद्गीता), "अथ त्रिविधदुःखादत्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" (सांख्यदर्शनम् १।१), "प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन…निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" । (न्यायदर्शनम् १-१-१), "धर्मविशेष-प्रसूताद्—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" । (वैशेषिकदर्शनम् १-१-४), "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्", "सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति", "पुरुषार्थ-शून्यानां गुणानां प्रसिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ति रिति"। (योगदर्शनम् १-३, ३–५५, ४-३४). "सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्", 'मुक्तः प्रतिज्ञानात्",। (वेदान्तदर्शनम् ४-४-१,२)। अत्र, "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" छान्दोग्योपनिषद् ८-१२-३), "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (छा० उ० २-१२-१) इत्युपनिषद्व-चनान्यपि सम्बद्धतया निभालनीयानि । मुक्तिः—"अर्थात् सर्वदुःखों से छूटकर बन्धरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा मे विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना । (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः,१२)।, मुक्तिः—अर्थात् जिससे सब बुरे काम और जन्म-मरणादि दुःखसागर से छूटकर सुखरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख ही में रहना है, वह मुक्ति कहाती है । (आर्योद्देश्यरत्नमाला, २६) तदेवं संक्षेपतः सूत्रदिशा मोक्षस्वरूपं वर्णितम् ।

स्वर्गमोक्षौ सरूपौ समानार्थकौ, आहोस्विदसरूपौ भिन्नार्थौ—उक्तविवरणेभ्यः स्पष्टतया वक्तुं शक्यते यत् अस्ति स्वर्गापवर्गयोर्भेदः । यावता स्वर्गे बहुविधं लौकिकं सुखम् ऐश्वर्यं चोपभुज्यते सशरीरेण सता जीवेन, मोक्षे त्वेतद् विपरीतमेव सर्वं श्रूयते । तत्र त्वात्मनः शरीरसंयोग एव नावतिष्ठते, तर्हि का कथा शरीरेन्द्रियादिभिर्लौकिक-भौतिकसुखोपभोगस्य ? एवमनयोर्द्वयोस्तत्वयोस्तात्विको भेद इति स्थितम् ।

परमत्रैदमप्यवधेयम् । क्वचिदीदृशान्यपि वर्णनानि दृश्यन्ते, येभ्योऽनयोः स्वर्गमोक्षयोरभदोऽप्य-वगम्यते । तथा चेमानि वर्णनानि स्वर्गशब्दं मोक्षवाचकं प्रतिपादयन्ति—

(१)—'सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूमा दिवं पृथिव्या अध्यारूहामाविदाम देवान्स्व-ज्योतिः । (यजुर्वेदः ८-५२) अस्य मंत्रस्य भाष्ये, उवटाचार्यः–स्वः पदं स्वर्गवाचकं, ज्योतिः पदम् आदित्य-वाचकं व्याचष्टे । महीधराचार्योऽपि तथैव व्याचष्टे । स्वर्गे अमृतत्वप्राप्तिरुभयोः सम्मता वेदमंत्रप्रामाण्यात् । दयानन्दाचार्यस्तु—अमृताः = प्राप्तमोक्षाः, अभूम = भवेम,—स्वः = सुखम्, ज्योतिः = विज्ञानविषयम्, इत्यादिरूपेण पदार्थमभिधाय मन्त्रमिमं मोक्षसम्बन्धिसुखप्रतिपादनपरं मन्यते । तथाहि द्रष्टव्यस्तल्लिखितो भावार्थः—'यावत् सर्वेषां रक्षको धार्मिको राजाऽऽप्तो विद्वांश्च न भवेत्, तावत् कश्चिन्निर्विघ्नं विद्यामोक्षा-नुष्ठानं कृत्वा तत्सुखं प्राप्तुं नार्हति, न च मोक्षसुखादधिकतरं किंचित् सुखमस्तीति । अत्र स्वः, ज्योतिः, अमृताः इति पदत्रयसम्बन्धान्न्यमन्त्रोऽयं मोक्षसुखमेव वर्णयति नान्यत् किंचिदपि सिद्धं कठोपनिषदुक्तया

पूर्वोदाहृतया "स्वर्गं लोका अमृतत्वं भजन्त" इति श्रुत्या । अमृतत्वम् अर्थात् मरणराहित्यं मोक्षावस्थायामेव समुपपन्नं देहेन्द्रियसम्बधाभावात् । इति बोध्यम् ।

एवमेव "अगन्म स्वः संज्योतिषाभूम" (यजु०७-४५), "अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय" (यजु०७-४७), "स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम" । (यजु० ९-२१, १८-२९), "इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यं सखिविदं सत्राजित धनजितं स्वर्जितम्" (यजु०११-८), "येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम् । तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवो" (यजु०१५-५५), 'तेन वय गमेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् ॥" (यजु० १८-५१), "यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिंल्लोके स्वर्हितम् । तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रवा ।, यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः । लोका यत्र ज्योतिष्मन्त स्तत्रमाममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रवा ।, यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् । स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रवा ।, यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते । कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रवा" (ऋग्वेद ९-११३-७,९,१०,११) । इत्येवमादिषु मंत्रेषु स्वः—स्वर्गामृतत्वसम्बन्धाद् अनुकामम् आनन्दमये ब्रह्मणि सानन्दं विचरणाच्च विज्ञायते यत् स्वः शब्दः, स्वर्गशब्दो वा मोक्षसम्बन्धिसुखस्यापि वाचक इति । अतएव, "स्तुता मया वरदा वेदमाता···व्रजत ब्रह्मलोकम्" ॥ अथर्ववेदः १९-७१-१॥ "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाया ।" यजु०३१-१८॥, "विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।" (यजु० ४०-१४) । इत्यादिमन्त्रेषु प्रतिपादितस्य मोक्षस्य उक्तेपूदाहरणेषु स्वर्ग—नाकादिवाच्यार्थेन सह संगतिरस्त्येवेति विज्ञेयम् ।

वस्तुतो जीवस्य द्व एव गती विद्येते—पितृयाणो देवयानश्च । तत्र जायस्व, म्रियस्वेतिरूपा गतिः पितृयाणनाम्ना, जन्ममरणप्रबन्धाद्विरतिर्देवयाननाम्नोच्यते । "द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥" (यजु०३१-४७) । इत्यस्मिन्मत्रे स्फुटमेवैतद्गतिद्वयवर्णनम् । तत्र सशरीरेण जीवेन विशेषतो विदुषा मनुष्येण यद् आभ्युदयिकं सुखं लभ्यते स्वोद्यमेन तदेव लौकिकं श्रेष्ठं सुखं प्रेयोनाम्ना स्वर्गनाम्ना वोक्तं भवति । यत्तु मुक्तावस्थायां विशेषतः शरीरत्यागानन्तरं, "रसो वै सः, रसं ह्येव लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति" । (छा० उ०) इति प्रतिपादितं ब्रह्मानन्दरूपं लभ्यते तदेव मोक्षसुखमुच्यते । तस्यैवापरं नाम निश्श्रेयसं वा अपवर्गो वा स्वर्गो वा क्वचिदुक्तं भवति । तदेवं प्रकरणानुसारं स्वर्गशब्दो लौकिकं सुखं सुखोपभोगं वा, अलौकिकं मोक्षविषयकमानन्दं वा द्योतयति वेदादिशास्त्रेषु, इत्यस्माकं निष्कर्षः । अत्रेदमप्यवसेयं यद् वैदिकयज्ञयागादयो यत्स्वर्गमुद्दिश्य विधीयन्ते, प्रतिपाद्यन्ते च वैदिकग्रन्थेषु (यथा वेदसंहितासु ब्राह्मणग्रन्थेषु कर्मकाण्डेषु श्रौतधर्मगृह्यसूत्रेषु, स्मृत्यादिषु च) स उभयरूपोऽभ्युदयात्मको निश्श्रेयसात्मकश्चेति । यज्ञादिकर्मकाण्डश्च परम्परया उभयं साध्नोति । यथाह्याह याजुषमंत्रद्वयभाष्ये महीधराचार्यः, "ज्योतिः स्वयंप्रकाशः परमात्मा यज्ञेन साध्यताम् । पुण्यकर्मानुष्ठानं परमात्मज्ञाने करणम् । ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन । (श० ब्रा० १४-१०-२-२४) इति श्रुतेः । कर्मणैव हि संसिद्धमास्थिता जनकादयः । (भ० गीता ३।२०) इति स्मृतेश्च ।" (यजु० १८-२९, महीधरभाष्यम्) । तथा,—"विद्यां देवताज्ञानं अविद्यां कर्म च तदुभय विद्याविद्यारूपं द्वयं यः सह वेद एकीकृत्य वेद एकेन पुरुषेणानुष्ठेयं जानाति । कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डस्य गुणभूतमित्यर्थः । सोऽविद्ययाग्निहोत्रादिकर्मणा मृत्युं स्वाभाविककर्मज्ञानं मृत्युशब्दवाच्यं तीर्त्वोत्तीर्यान्तः शुद्ध्या कृतकृत्यो भूत्वा विद्यया देवताज्ञानेनामृत देवतात्मभावमश्नुते, प्राप्नोति तद्धि अमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम् इति श्रुतेः ।" (यजु० ४०-१४ मही० भाष्यम्) एवमेव दयानन्दसरस्वतीस्वामिभाष्येऽपि निगदितम्—"विद्याम्-पूर्वोक्ताम् । (शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानमात्रम्)

तत्सम्बन्धिसाधनोपसाधनम् (अविद्याम्)—अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मरूपाम् । (च) एतदुपयोगिसाधनकलापम् । (यः) (तत्) (वेद) विजानीत (उभयम्) (सह) (अविद्यया) शरीरादिजडेन पदार्थसमूहेन कृतेन पुरुषार्थेन (मृत्युम्) मरणदुःखभयम् (तीर्त्वा) उल्लंघ्य (विद्यया) आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन (अमृतम्) नाशरहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा (अश्नुते) ।" भावार्थः—"ये मनुष्या विद्याऽविद्ये स्वरूपतो विज्ञायाऽनयोर्जडचेतनौ साधकौ वर्तेते इति निश्चित्य सर्वं शरीरादिजडं चेतनमात्मानं च धर्मार्थकाममोक्षसिद्धये सहैव संप्रयुंजते ते लौकिकं दुःख विहाय पारमार्थिकं सुखं प्राप्नुवन्ति । यदि जडं प्रकृत्यादिकारणं शरीरादिकार्यं वा न स्यात्तर्हि परमेश्वरो जगदुत्पत्तिं, जीवः कर्मोपासने ज्ञानं च कर्तुं कथं शक्नुयात्तस्मान्न केवलेन जडेन न च केवलेन चेतनेनाथवा न केवलेन कर्मणा न केवलेन ज्ञानेन च कश्चिदपि धर्मादिसिद्धिं कर्तुं समर्थो भवति ।" (यजु० ४०-१४, दयानन्दभाष्यम्) । ईशोपनिषदि विद्यां चाविद्यां चेत्यादिमन्त्र एकादशोऽस्ति । तत्र स्वकृतभाष्ये शंकराचार्येण यन्निगदितं तस्यैवानुकरणं पूर्वोदाहृते महीधरभाष्ये विद्यते, उवटभाष्ये खल्वपि तथैवोक्तमस्ति ।

वेदेषु प्रयुक्तः स्वः शब्दः (तत्पर्यायः स्वर्गशब्दो वा) लौकिकविषयभोगादिजनितसुखेन सम मोक्षसुखमप्यभिदधातीत्यत्र श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीप्रणीतं वेदभाष्यं प्रमाणम् । तद्यथा, "यद्दत्तं यत्परादानं—स्वर्देवेषु नो दधत्" ।। इत्यस्य याजुषमन्त्रस्य (१८–६४) भाष्ये स्वः शब्द ऐन्द्रियसुखवाचको व्याख्यातः, (स्वः) ऐन्द्रियं सुखम् (देवेषु) दिव्येषु धर्म्येषु व्यवहारेषु (नः) अस्मान् (दधत्) दधातु" ।। इति । अथ, "आयुर्यज्ञेन कल्पतां—स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा" । (यजु० १८–२९) । इत्यत्र तदीयं भाष्यमित्थं वर्तते—(स्वः) मोक्षसुखम् (देवाः) विद्वांसः (अगन्म) प्राप्नुयाम (अमृताः) जन्ममरणदुःखरहिताः सन्तः (अभूम) भवेम (प्रजापतेः) सकलसंसारस्य स्वामिनो जगदीश्वरस्य प्रजाः । पालनीयाः (अभूम) भवेम (वेट्) सत्क्रियया (स्वाहा) सत्यया वाण्या" ।। इति । तदेवं स्वःस्वर्गशब्दौ प्रकरणानुसारेण लौकिकपारमार्थिकसुखयोर्वाचकाविति सिद्धम् ।।

ननु स्वः शब्दः स्वर्गशब्दो वा मोक्षपर्यायो चेत् कथं—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ।।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ।। (भगवद्गीता ९-२०,२१)।

इत्यादिस्मृतिवचनेषु स्वर्गभोगपुण्यक्षीणतया मर्त्यलोकावाप्तिसम्भवः मोक्षस्याक्षीणत्वादिति चेत्, ? अत्र ब्रूमः। अनयोः श्लोकयोः स्वर्गप्राप्तौ सत्यौ दिव्यभोगसम्प्राप्तिरुक्ता । सर्वे भोगा दिव्या अदिव्या वा शरीरेन्द्रियसंयोगं विना न खलु शक्या भोक्तुम् । अतः प्रकृतश्लोकयोः, एतत्सदृशान्यवर्णनेषु च स्वर्गलोकशब्देन अधिकाधिकसुखमयं जीवनमुच्यते, नान्यत् कश्चन काल्पनिको लोकः । महाभारतपुराणकाव्यादिषु भूयो वर्णितः स्वर्गो लोकोऽस्यामेव पृथिव्यां आर्यावर्तस्योत्तरदिग्गतो हिमालयपार्श्ववर्ती त्रिविष्टबाख्यो देशः (यो ह्यधुना तिब्बतेति ख्यातः) उच्यते स्म । तमेवोद्दिश्य "पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः" (कुमारसम्भवम् ५/४५) इत्येवमादि महाकविकालिदासकृतवर्णनमपि संगच्छते । यद्यपि विद्यते तत्र कश्चिद् जलवायुवौषध्यादिगतः सुखविशेषः प्राणिनां मनुष्यादीनां तथापि शैत्याधिक्यादि बहुविधं दुःखमपि अपरिहार्यमेव तेषाम् । अत एव

सांख्यतत्वकौमुदीकारेण विदुषा वाचस्पतिमिश्रेण स्थान इदमुक्तं भवति,—"मृष्यन्ते हि पुण्यसम्भारोपनीत-स्वर्गसुधामहाह्रदावगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम्" । (सांख्यतत्वकौमुदी, २) इति ।

यद्यपि मोक्षावधेरपि परावर्तनं भवति (यथाहि, वेदादिप्रामाण्येन प्रतिपादितं श्रीमद्दयानन्द-सरस्वतीस्वामिना सत्यार्थप्रकाशादिग्रन्थेषु, सुपरीक्षितं चादः सर्वदर्शनसमच्चयनामके ग्रन्थे म० म० श्रीगोपालशास्त्रिणा दर्शनकेसरिणा) तथापि मोक्षावधेरतिशयदीर्घत्वात् तन्मध्ये जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदवर्ण-नानि संगच्छन्त एव, न तत्र कस्यचिद् वैमत्यम् ।

मनुष्येण वर्तमानजीवने स्वर्गमोक्षौ लब्धुं शक्येते न वा ?—यत्ने कृते सति किमप्यसाध्यं मनुष्यस्य नास्ति तदीयसामर्थ्यपरिधौ । अतः स्वर्गो लौकिकसुखविशेषप्राप्तिः, मोक्षश्च जीवन्मुक्तानां योगिनां, शास्त्रेषु यथा प्रतिपाद्येते, लब्धुं शक्येते यस्मिन् कस्मिन्नपि जीवने विदुषा तपस्विना योगिना जनेन, नात्र कश्चन सन्देहलेशावसरः । अतो वैदिकयज्ञादिसत्कर्मानुष्ठानार्थं यथेच्छं स्वर्गं मोक्षं वाऽधिगन्तुं यत्नो विधेय सुधीभिरिति शमोऽम् ।

———

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग,
कुमायूँ विश्वविद्यालयपरिसर, अलमोड़ा ।

डॉ० सत्यकाम वर्मा

संस्कृत के मानकीकरण में संस्कृत वैयाकरणों का योगदान

आरम्भिक :

प्रस्तुत मूल विषय पर बढ़ने से पहले हमें किसी भी भाषा और उसके व्याकरण के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार कर लेना चाहिये। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम अवधेय तथ्य यह है कि भाषा का आविर्भाव जीवन निर्वाह की सुविधा के लिये जन-मानस द्वारा किया जाता है। वक्ता जिस भी अभिव्यक्ति को दूसरे तक पहुँचाना चाहता है, उसके लिये शब्दानुसन्धान के प्रयास में बढ़ते ही वह एक भाषारूप को जन्म देता है, जो धीरे धीरे स्थिरता प्राप्त करता जाता है। भाषा को ऐसी स्थिरता तब प्राप्त होती है जब उस व्यक्ति के चारों ओर का समाज उन्हीं भाषा-प्रयोगों को अपना लेता है। तब ये ही भाषारूप एक व्यापकतर जन-प्रयोग का माध्यम बन कर धीरे धीरे भाषा-विकास के विविध चरणों—बोली, विभाषा, आदि—को पार करते हुये एक दिन व्यापक जनभाषा का रूप धारण कर लेते हैं। अतः भाषा के विकास एवं स्थिरीकरण को एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में कहा जा सकता है, जिसके आरम्भिक नियम विधान प्रयोक्ताओं के आपसी व्यवहार द्वारा तय होते हैं।

कालक्रम में बढ़ती हुई यही भाषा बदलते प्रयोक्ताओं की बहुविध प्रकृति के अनुकुल विविध दिशाओं में विविध रूपान्तरों को ग्रहण करती हुई बढ़ने लगती है। फिर इसके व्यापक प्रदेश-विस्तार के साथ-साथ भी इसमें रूपान्तरों की संख्या बढ़ती जाती है। ये रूपान्तर आरम्भ में प्रादेशिक प्रयोगों के रूप में स्वीकृति पाते हैं। पर बाद में इन्हें 'रूपान्तर' मानकर सार्वत्रिक रूप में प्रयोग किया जाने लगता है। भाषा की इस व्यापक से व्यापकतर होने वाली प्रगति का परिचय हमें साहित्य या लेखन में प्रयुक्त होने वाले भाषारूप से मिलता है। इस प्रयोग में प्रादेशिक भेद भी स्पष्ट हो जाते हैं और धीरे धीरे उन्हें इतर प्रदेशों में मिलने वाली मान्यता भी। इसी क्रम में बढ़ते हुये एक समय ऐसा आता है जब एक ही मूल शब्दरूप के अनेक प्रयोग-रूप साहित्यकारों, कवियों, या लेखकों द्वारा प्रयुक्त होने लगते हैं।

इसप्रकार के प्रयोगों की बहुरूपिता बढ़ जाने पर ही यह समस्या उत्पन्न होती है कि उसे किसप्रकार सीमित या समरूपित किया जाये। इसके लिये भाषा एवं शब्दरूपों की प्रकृति का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। ऐसे अध्ययन के द्वारा ही यह स्पष्ट हो पाता है कि किसी प्रदेशविशेष के लोग अपने भाषा-प्रयोग या शब्दप्रयोग में किन नियमों का अनुसरण कर रहे होते हैं। इन नियमों की खोज एवं उन्हें क्रमबद्ध करना ही व्याकरण कहलाता है। इन नियमों के एक बार क्रमबद्ध हो जाने के बाद भाषा का आगामी विकास इन्हीं नियमों के आधार पर नियमित होने लगता है। भाषा के सर्वव्यवहृत रूपों में समरूपता लाने के इस प्रयास को ही मानकीकरण कह सकते हैं, क्योंकि अब भाषा के स्वाभाविक विकास को जनमानस के अनुकूल बढ़ने की पूरी स्वतन्त्रता न देकर उसे एक विशिष्ट नियम विधान या समीकरण की एक विशिष्ट प्रक्रिया—का भी ध्यान रखना है। परिणामतः जनप्रचलित होने पर भी ऐसे अनेक प्रयोग व्यापक प्रचलन में आने से इसलिये रह जाते हैं कि उन्हें व्याकरणात्मक मान्यता न मिलने से उनका व्यापक रूप में लिखित या मौखिक प्रयोग नहीं हो सका। प्रयोगों के इसी स्वीकरण एवं अस्वीकरण की प्रक्रिया को, 'मानकीकरण' कहा जाता है।

संस्कृत के ज्ञात आरम्भिक रूप—वैदिक रूप से लेकर पर्याप्त परवर्ती 'संस्कृत' रूप तक इसी

प्रकार के मानकीकरण की एक नियमित प्रक्रिया के दर्शन होते हैं। और इस मानकीकरण का मूलाधार रहा है संस्कृत के युगानुरूप प्रवर्धमान व्याकरण पर। हम इस लघु निबन्ध में इसी तथ्य की ओर संकेत करेंगे।

वैदिक भाषा की प्रकृति :

हमने ऊपर जिस भाषा प्रयोगों के नियमन की प्रक्रिया एवं उसके मूल हेतु का वर्णन किया है वेदों में प्रयुक्त भाषारूप पर वह बात पूरी तरह लागू होती है। वैदिक भाषा में संज्ञा, कृदन्त, तद्धित एवं क्रियारूपों में इतनी विविधता दृष्टिगोचर होती है—और अनेक बार यह विविधता एक ही ऋचा या मन्त्र में हुये विधि प्रयोगों के बीच लक्षित होती है – कि इससे एक बार तो यह विश्वास होने लगता है कि जैसे वैदिक भाषा में कोई व्याकरणात्मक नियमविधान ही नहीं था। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अधिक आवश्यक है कि व्याकरणात्मक नियम विधान किसी एक व्यक्ति या समाज द्वारा निश्चित किये गये कुछ नियमविधान नहीं हैं, बल्कि वे तो सामान्यजन द्वारा स्वतः स्वीकृत वे नियम हैं जिन्हें स्वतःसिद्ध मानकर वह भाषा में नये प्रयोगों एवं व्यवहारों के सृजन में प्रवृत्त होती है। इन्हीं अन्तर्वर्ती एवं अन्तर्हित नियमों के परिचालनस्वरूप जनमानस नये नये शब्दरूपों को प्रयोग करता है। वैदिक भाषा में अनिय-मितता घोषित करने से पहले हमें इस तथ्य को जान लेना आवश्यक है कि वे सभी रूप एक ही प्रदेश या समाज में व्यवहृत नहीं कहे जा सकते। हाँ, विविध प्रादेशिक जनों या कवियों के मिलने पर उनके विविध प्रयोगों का ज्ञान एक दूसरे को होना स्वाभाविक ही था। इसलिये एक ही मन्त्र में यदि 'पूर्वेभिः' और 'नूतनैः' जैसे दोनों प्रयोग मिलते हैं, या फिर 'कर्णेभिः' 'स्थिरैः' और 'अक्षभिः' का प्रयोग एक ही मन्त्र में मिलता है, तो इसका अर्थ भाषा की अनियमितता नहीं, बल्कि विविध प्रादेशिक व्यवहारों की व्यापक रूप में साहित्यिक मान्यता है। क्योंकि कवि या साहित्यकार किसी भी प्रयोग को करने से पूर्व उसकी जन-संम्प्रेषणीयता की व्यापक मान्यता को ध्यान में रखता है। अतः यदि 'कर्णेभिः' और 'कर्णैः' तथा 'तन्वः' और 'तनूः' जैसे प्रयोग एकत्र मिलते हैं, तो उसका अर्थ यही है कि विविध प्रदेशों में जन्म लेने पर भी ये शब्दरूप सामान्यजनों में भी एक समान रूप से ही समझे जाते थे, भले ही उनका प्रयोग प्रादेशिक आधार पर ही अधिक होता होगा। पर कवि अपनी सुविधा के अनुसार शब्दचयन में स्वतन्त्र होने के कारण विशिष्ट स्थल के अनुकूल ही क्योंकि शब्दचयन करता है, अतः वह उन दोनों शब्दरूपों का प्रयोग करने में तब तक स्वतन्त्र है, जब तक या तो व्याकरण द्वारा उन रूपों कामानकीकरण न हो गया हो, या फिर कवि व्याकरण की परवाह न करके भी अपने वक्तव्य को पूरी तरह जनमानस तक पहुँचाना चाहता हो। 'पूर्वेभिः'और "पूर्वैः" के दो विविध प्रयोगों के चयन में वैदिक कवि के सामने सबसे प्रमुख समस्या छन्दोबन्धन की होती है। प्रथम शब्दप्रयोग तीन वर्णों का है, द्वितीय दो वर्णों का। अतः वर्णसन्तुलन की दृष्टि से कवि को इनमें एक या दूसरा—अथवा दोनों ही—प्रयोग चुनाना होता है। यही कारण है कि क्रियारूपों तक में न तो गणों की परवर्ती सीमाओं का ध्यान रखा गया प्रतीत होता है और न ही लकार एवं भावदशा आदि का ही। यहाँ तक कि तिङन्त प्रत्ययों का प्रयोग भी मनमाने ढंग से हुआ लगता है। इस सम्बन्ध में भी तथ्य पूर्व प्रोक्त ही है। 'अथ', 'अह', 'अधा', आदि एक ही शब्दमूल के अनेक रूपों की स्वीकृति एवं प्रयोग का भी यही कारण रहा है, कवि की अल्पज्ञता नहीं।

वैदिक व्याकरण का स्वरूप

परन्तु धीरे-धीरे वेदों की व्याख्या के प्रयास में एक विशाल साहित्य का सृजन होने लगा, जो पद्य के अतिरिक्त गद्य में भी लिखा जा रहा था। कवि की यह स्वतन्त्रता वहाँ धीरे-धीरे कम होने लगी। साथ ही कालान्तर के साथ-साथ नये-नये शब्दरूपों का प्रचलन भी होने लगा। धीरे धीरे शब्द-

रूपों, सन्धिनियमों समासयोजना, आदि में इतना अन्तर आने लगा कि वेदों के मन्त्रों को यथावत् स्वरूप में बचाये रखना असम्भव दीखने लगा। आरम्भ में वैदिक व्याकरण के विकास का यही कारण एवं आधारभूत हेतु था। उसमें भावी शब्दरचना के लिये किन्हीं नियमों को निश्चित करने की व्यग्रतायें नहीं थी। उसका एकमात्र उद्देश्य था वेदों में पहले से प्रयुक्त भाषारूप को एवं छन्दों में अन्तर्हित सन्धि नियमादि को यथावत् सुरक्षित रखा जा सके। 'प्रातिशाख्यों' में इसीलिये प्रकृति-प्रत्ययादि विभाजन जैसी किसी परवर्ती कल्पना को स्थान नहीं मिला है। उनका सारा ध्यान शुद्ध उच्चारण, सन्धिनियम, समास-योजना (अवग्रहप्रयोगादि), स्वरांकन, पदपाठ, क्रमपाठ आदि पर ही रहा।

किन्तु इसके समानान्तर ही कुछ ऐसे वैयाकरण एवं निरुक्तकार भी जिन्होंने लोकप्रयुक्त भाषारूपों एवं शब्दरूपों के पीछे कार्य करने वाले नियमविधानों को खोज निकालने एवं भावी विकास को नियमित करने का प्रयास किया। इसे हम तत्कालीन लौकिक व्याकरण की संज्ञा दे सकते हैं। यद्यपि इस व्याकरण का अधिकांश भाग आज अनुपलब्ध है, किन्तु प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रमाण एवं मान्यतायें इतनी मिल जाती हैं, तथा वैयाकरणों की संख्या का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष उल्लेख इतना अधिक मिल जाता है कि तत्कालीन व्याकरण के स्वरूप का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसप्रकार के परिशीलन से ही यह बात सामने आई है कि पाणिनि से बहुत पहले बनने वाले इस व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय के विभाजन के सिद्धान्त स्थिर हो चुके थे। इस खोज का सर्वप्रधान कारण यह था कि जिस भाषा के लिये यह जिज्ञासा जागी थी, वह जनप्रयोग की भाषा होने के कारण नित्य ही प्रवर्धमान थी, न कि वैदिक की भाँति किसी एक निश्चित सीमा पर आकर रुकी हुई भाषा। भाषा का यह नियम है कि पुराने प्रयुक्त शब्दों की आधारभूमिका पर ही नये शब्दों का निर्माण उनसे मिलते जुलते रूप में होता है। यह नव निर्माण सही ढंग से हो, इसके लिये आवश्यक है कि सामान्य प्रयोक्ता भी भाषा की अन्तःरचना की प्रक्रिया से अभिज्ञ हो। इसी अन्तःरचना के विश्लेषण को प्रकृति—प्रत्यय विभाजन के रूप में जानने का प्रयास किया गया। क्योंकि अब प्रश्न केवल पूर्व-प्रयुक्त शब्दों के रूप संरक्षण का ही नहीं था, अब तो प्रश्न था कि भाषा में नये प्रयुक्त होने वाले शब्द मनमाने ढंग से न घड़े जायें।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह भी हुआ कि वैदिक भाषा के जो भी रूप लोकभाषा में व्यवहृत होते रहे उनके भी पुनर्वर्गीकरण एवं समीकरण की छानबीन की गई। जो शब्द जनभाषा में प्रयुक्त नहीं हुये, उन्हे तो 'छान्दस' प्रयोग कहकर 'बहुलं छन्दसि' जैसे सूत्रों के द्वारा उन्हें अविवेच्य ठहरा दिया गया, क्योंकि अब उनका अनुकरण नई शब्द रचना के लिये नहीं होना था। बाकी शब्दों को सामान्य जनप्रयुक्त शब्दों की भाँति ही विवेच्य ठहराया गया। परिणाम यह कि जो भी व्याकरणात्मक धारणायें जनप्रयुक्त भाषा एवं शब्दों के विषय में बनी, उन्हें ही वेद में प्रयुक्त शब्दों के विषय में भी लागू किया गया। वेद में भले ही लकार और भावदशा की कल्पना उतनी तीव्र न रही हो, अब उसे बिलकुल विविक्त बना दिया गया। लुङ्, लङ्, लिट्, एवं लृङ् आदि के बीच अब विभेदक रेखा अधिक स्पष्ट हो गई। यही बात वचन, विभक्ति, कारक, प्रत्ययलोप आदि के विषय में भी हुई। सबसे बड़ा प्रभाव नाम और आख्यात के विषय में इसका यह पड़ा कि उनके प्रत्यय और गणों के विषय में एक स्थिर विभाजक रेखा खींचने का प्रयास किया गया। इसप्रकार सामान्य जन के कवि की सी स्वन्त्रता से वंचित कर दिया गया। अब 'भरामहे' और 'भरामसि' उभयविध प्रयोग की स्वतन्त्रता न रही। सच तो यह है कि 'वसि' और 'मसि' प्रत्ययों का लोप ही हो गया और केवल 'वहि'—'महि' प्रत्ययों से ही काम लिया जाने

लगा । इसी प्रकार के अनेकानेक परिवर्तन उपसर्ग, निपात आदि के प्रसंग में भी हुये । 'उपसर्गों का प्रयोग क्रिया से अविच्छिन्न रह कर हो'—यह धारणा बाद में जनमी । किन्तु वैदिक भाषा में उपसर्गों की स्थिति को व्याकरणात्मक दृष्टि से इसप्रकार कहा जा सकता है : 'उपसर्ग का सम्बन्ध अर्थ की दृष्टि से क्रिया से अविच्छिन्न रह कर ही किया जाता है, भले ही उनका प्रयोग क्रियापद से विच्छिन्न रह कर हो या अविच्छिन्न रहकर ।'

वैयाकरणों का योगदान :

निस्संदेह इसप्रकार की समरूपता या एकरूपता को लाने के प्रयास में व्याकरण ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । व्याकरण की यह प्रवृत्ति पाणिनि से बहुत पूर्व ही आरम्भ हो गई थी । यहाँ यह अवधेय है कि यद्यपि प्रातिशाख्यों का आविर्भाव वेदों के पाठ की रक्षा एवं अर्थांकन में सहायता देने के लिये हुआ था, इस समानान्तर लौकिक व्याकरण का विकास किसी साहित्यिक भाषा को दृष्टि में रखकर नहीं हुआ था, बल्कि उसका जन्म लोक में प्रयुक्त शब्दावली में समरूपता लाने की दृष्टि से हुआ था । यही कारण है कि उसके नियम-विधान केवल किसी पूर्वनिश्चित एवं परम्पराप्रयुक्त शब्दावली की रूप रचना के विश्लेषण के लिये ही नहीं हैं, बल्कि उनके आधार पर कभी भी किसी भी आवश्यकता विशेष को ध्यान में रखकर नई से नई शब्दावली का निर्माण किया जा सकता है । संस्कृत व्याकरण का यह प्रजनक रूप उसे अन्य किसी भी रूपविश्लेषक व्याकरण से भिन्न सिद्ध कर देता है । और इसका एकमात्र कारण यह है कि इस लौकिक व्याकरण का जन्म प्रातिशाख्यों की भांति किन्हीं ग्रन्थों की भाषा के विश्लेषण एवं संरक्षणविशेष के लिये न होकर जनप्रयुक्त भाषा के रूपविश्लेषण के लिये हुआ, ताकि आने वाली पीढ़ियाँ पुरानी परम्परा में चलती हुई नई से नई आवश्यकता के अनुकूल नवीनतर शब्दावली एवं वाक्यचनादि का आविष्कार एवं प्रयोग कर सकें ।

शाकटायन :

संस्कृत व्याकरण को इसप्रकार की दिशा देने वाले वैयाकरणों में सर्वप्रमुख नाम शाकटायन का आता है । स्वयं पतंजलि ने उनके इस युगान्तरकारी महत्व की चर्चा अपने एक उदाहरणात्म कवाक्य के द्वारा की है, जिसमें उन्होंने कहा है—'आते हुये युग के कारणों को शाकटायन अपनी जगह पर बैठे-बैठे ही देखता रहा और उसके साथ न चल सका ।' यही कारण था कि उसका उपहास उड़ाने के प्रयास में समकालीन और परवर्ती कुछ वैयाकरणों ने उसे 'शाकटायन' न कह कर 'शकट का बेटा' कहने का साहस किया । किसी भी युगान्तरकारी व्यक्तित्व को ऐसे उपहास सहने ही पड़ते हैं । और इस उपहास के कारण थे वे कुछ सिद्धान्त जिनकी घोषणा शाकटायन ने बहुत आरम्भ में ही कर दी थी । 'उपसर्गों की अर्थवत्ता क्रियापद से असम्बद्ध रहकर नहीं होती'—उनके इस सिद्धान्त का भी विरोध उनके समकालीन वैयाकरण गार्ग्य आदि ने किया । 'कुछ पदों की रचना मूलभूत अनेक पदों के विविध अंशों को लेकर हो सकती है'—'सत्य'—'अग्नि', आदि शब्दों के उदाहरण के द्वारा शाकटायन ने इस सिद्धान्त को आज से कई सहस्र वर्ष पूर्व सिद्ध करना चाहा था । बाद में भर्तृहरि जैसे महावैयाकरण एवं भाषाविद् ने इस सिद्धान्त की सम्पुष्टि की, और आज के भाषाविज्ञान में तो यह सिद्धान्त सर्वप्रमुख स्थान रखता है । किन्तु शाकटायन को उनके जिस सिद्धान्त ने अमर कर दिया और जिसके कारण उनके युग-साथी उन्हें पागल तक समझ बैठे थे, वह था : 'सभी नामशब्द किसी न किसी अर्थमूल या धातु से उत्पन्न होते हैं ।' प्रत्येक शब्द में आख्यातांश या धात्वंश की यह खोज ही बाद में प्रकृति-प्रत्यय पर आश्रित संस्कृत व्याकरण की रूपविश्लेषण प्रक्रिया का मूलाधार बनी । यास्क से पहले ही यह धारणा

इतनी दृढ़ हो चुकी थी और शाकटायन ने ही इसे इतना सम्पुष्ट कर दिया था कि बाद में व्याकरण में जो 'उणादिसूत्रों' के रूप में अज्ञातमूलक शब्दों के विश्लेषण का प्रयास हुआ, उसका जनक भी शाकटायन को ही घोषित कर दिया गया। इसप्रकार किसी भी मूल से आये किसी भाषा विशेष में प्रचलित किसी भी शब्द का रूपात्मक विश्लेषण उसी भाषा के अन्य शब्दों की भाँति किये जाने की परम्परा शाकटायन से ही आरम्भ हुई। इस प्रक्रिया में स गुजरने के बाद ही उन शब्दों को भी बाद में भाषा के सामान्य व्याकरण की प्रक्रिया में से गुजरना पड़ा। आत्मसात्करण एवं समीकरण की यह प्रक्रिया बाद में भाषारूपों और शब्दरूपों के मानकीकरण की आधारभूमि सिद्ध हुई।

यास्क :

यास्क यद्यपि वैयाकरण नहीं कहे जा सकते, तथापि उनके निरुक्त से यह बात स्पष्ट होती है कि उनसे बहुत पूर्व ही धातुओं आदि के सर्वव्यवहृत रूपों के चयन की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी। सभी प्रदेशों में प्रयुक्त सभी धातुयें एवं सभी शब्दरूप समान रूप में व्यापक जन-भाषा में व्यवहृत नहीं हुये थे। 'शवति' और 'शव' के उदाहरण देकर उन्होंने सिद्ध किया है कि किसप्रकार 'शव' धातु का प्रयोग एक प्रदेश-विशेष में ही आख्यात के रूप में होता है, जबकि अन्यत्र उसका प्रयोग नाम शब्द की तरह किसी भिन्न अर्थ में—किन्तु मूलतः सम्बद्ध अर्थ में ही—होता है। यहाँ वह इस बात को स्पष्ट करते हैं कि 'शव' शब्द का नामवाचक प्रयोग ही उसका सर्वस्वीकृत रूप है, आख्यातात्मक रूप नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि व्याकरण या निरुक्त का काम मानवीकरण नहीं है, वह तो जन-प्रयोग द्वारा स्वतः ही होता चलता है। व्याकरण तो केवल मानकीकृत रूपों का विश्लेषण करके, उस मानकीकरण के पीछे काम करने वाली धारणाओं या विश्लेषणप्रक्रिया को स्पष्टमात्र करता है।

पाणिनि :

इस दिशा में सर्वाधिक व्यापक, पूर्णतम एवं सुगठिततम प्रयास पाणिनि ने किया। उसकी अष्टाध्यायी में एक ओर जहाँ यास्कप्रोक्त स्पष्टतः उपलब्ध प्रकृति-प्रत्यय-विभाग को आधार रूप में स्वीकार किया गया, वहाँ शाकटायन के मत का पूर्ण अनुकरण करते हुये देशजादि शब्दों में भी उणादि-सूत्रों एवं निपातन सूत्रों के माध्यम से किसी न किसी धातु को स्थिर करने एवं उन्हें भी निश्चित प्रत्ययों से निर्मित सिद्ध किया गया है। कारण यही है कि उस महावैयाकरण की दृष्टि में जनमानस की भावी प्रक्रिया को केवल इसीप्रकार नियन्त्रित किया जा सकता है। क्योंकि किसी भी कारण जब एक बार एक शब्दराशि भाषा में स्वीकृत हो जाती है, तब उसके अनुकरण पर अन्य भी शब्दराशि का निर्माण होने लगता है। अतः उसे वैधता देने से भावी शब्दों के विकास का नया मानदण्ड स्थापित हो जाता है।

इसप्रकार के मानदण्डों को स्थिर करने में पाणिनि सर्वाग्रणी इसलिये रहे हैं कि उन्होंने इस प्रक्रिया को भाषा के हर शब्दरूप एवं वाक्यरूप आदि पर घटित करने का प्रयास किया।

परवर्ती वैयाकरण :

पाणिनि के बाद आने वाले वैयाकरणों ने नियम विधान की दृष्टि से अधिकांशतः उनका ही अनुकरण किया है। किन्तु कात्यायन ने उनके लिये अपने वार्तिकों की रचना करके एक नई दिशा भी उद्घाटित कर दी। पाणिनि के सूत्रों से अवशिष्ट एवं उसके बाद आविर्भाव में आई शब्दावली को कात्यायन ने पाणिनि की ही मूल प्रवृत्ति के अनुसार विश्लेषित करने का महान् प्रयास किया। देशज या बाह्य ऐसी शब्दराशि को केवल 'अपभ्रंश' या 'अपशब्द' कहकर छोड़ा नहीं जा सकता था। पतञ्जलि ने कात्यायन से प्रेरणा लेकर ही ऐसी सभी 'अपशब्दराशि' को साधु शब्दों के समतुल्य मूल की ठहराने का

प्रयास किया । इसप्रकार नये से नये शब्दों का अन्तर्भाव पुराने नियमों के अन्तर्गत अथवा नये नियमों के अधीन किया गया ।

भोज, शर्ववर्मा, अनुभूतिस्वरूपाचार्य, हेमचन्द्र, चन्द्राचार्य आदि सभी वैयाकरणों ने इस परम्परा का निर्वाह किया और तदर्थ नये-नये नियमों का विधान किया। उन सबका उद्देश्य यह था कि नये आने वाले शब्दों को भी एक मानदण्ड के रूप में स्वीकार कर लिया जाए । उनके इस प्रयास में उन्हें नये-नये प्रत्ययों एवं कभी-कभी नई-नई धातुओं की भी कल्पना करनी पड़ी । इस सबका उद्देश्य यही था कि भाषा के सामान्य व्यवहृत रूप के दायरे में जो भी शब्दरूप सर्वस्वीकृत रूप में व्यवहृत होने आरम्भ हो गये थे, उन्हें एक मानदण्ड देकर अनुकरणीय स्वीकार कर लिया जाये, ताकि नये शब्दों के निर्माण में चल रही अवांछित स्वच्छन्दता को किसी अंश तक सीमित किया जा सके । क्योंकि इसप्रकार के स्वीकृत नए मानदण्ड से थोड़ा सा भी विचलन होने पर उसे 'मानक' के रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सकता था । 'मानक' का रूप तो उस शब्द को तभी मिलता था, जब व्याकरण के मानों के रहते भी उस शब्द-विशेष और उसके आधार पर व्यवहृत होने वाली अन्य शब्दराशि को सार्वत्रिक मान्यता मिल जाती थी और साहित्यादि में उसका प्रयोग होने लगता था ।

कतिपय उदाहरण:

हमने ऊपर निरुक्त से 'शव' और 'शवति' के शब्दयुगल के रूप में एक उदाहरण प्रस्तुत किया है । हम यहाँ कतिपय अन्य उदाहरण देकर अपने वक्तव्य को स्पष्ट करना चाहेंगे ।

वेद में 'मृद'-'ऋदु', 'ऋषभ-वृषभ', 'ऋत-घृत', 'अथ-अध-अघ-अह', 'सोम-होम', 'सुत-हुत', 'सवन-हवन' आदि शब्दयुग्मों का प्रायः समानार्थ रूप में ही एक दूसरे के व्यत्यय में प्रयोग होता है । किन्तु परवर्ती समय में इनमें से केवल 'मृदु', 'वृषभ', 'ऋत', 'अथ', 'होम', 'हुत', 'हवन' आदि का ही प्रयोग उस सामान्य अर्थ में सीमित रह गया । शेष शब्द या तो व्यवहार से बाह्य हो गये, या फिर उनका अन्य पूर्व प्रचलित या नवीन अर्थों में परिसीमन हो गया । व्याकरण ने इस पर धात्वर्थ एवं प्रत्यय-प्रयोग की दृष्टि से औचित्य की मुहर लगा दी । मानकीकरण की इस प्रक्रिया के इसप्रकार के सहस्रों उदाहरण दिये जा सकते हैं । यही बात क्रियारूपों एवं लकारगत भेदों के सम्बन्ध में भी है । हम गणों के विषय में संकेत पहले कर आये हैं । कृ, श्रु, हु, सु आदि अनेकानेक धातुओं का प्रयोग वेद में प्रायः एकाधिक गणों में सामान्यतः ही पाया जाता है, किन्तु पाणिनि एवं परवर्ती वैयाकरणों ने ऐसी अधिकांश धातुओं का प्रयोग प्रायः एक ही गण में सीमित कर दिया । यही कारण है कि वैदिकेतर साहित्य जब इन धातुओं के इसप्रकार के व्याकरणेतर समझे जाने वाले प्रयोग मिलते हैं, तब हम उन्हें अपाणिनीय या व्याकरण-विरुद्ध कह देते हैं । वस्तुतः अन्तर केवल इतना ही आया है कि पहले वे वेद की भाषा की दृष्टि से मानक या आदर्श प्रयोग थे, जबकि अब वे जन-प्रयोग से सामान्यतः बहिष्कृत हो जाने के कारण अमानक या अमान्य प्रयोग बन गये हैं ।

यही बात यास्क से पाणिनि तक के कालान्तर में घटती दीखती है । यास्क से पहले भी ब्राह्मणों से उपनिषद् तक के कालान्तर में भी यही प्रक्रिया घटित हुई थी । और पाणिनि के बाद कात्यायनादि के समय तक की बात तो कह ही आये हैं । उनके उदाहरण देने से बात बहुत लम्बी हो जायेगी ।

उपसंहार:

अतः उपसंहार के रूप में हम यही बात फिर से कहना अधिक उचित समझते हैं कि संस्कृत के वैयाकरणों ने आरम्भिक काल से ही जन-भाषा को अपने आदर्श या विवेच्य के रूप में सामने रखा है

और उनकी दृष्टि सदा इसी बात पर रही है कि सामान्य जन जिस भी शब्दरूप को अपने व्यवहार में अधिकाधिक प्रयुक्त करते हैं उसे ही वे आदर्श या मानक रूप में घोषित कर देते हैं। वस्तुतः मानकीकरण शब्द का अर्थ है 'पहले अमानक के रूप में व्यवहृत रूप या प्रयोग को मानक का रूप दे देना।' यथा कभी जिस अर्थ में चतुर्थी और षष्ठी दोनों विभक्तियों का प्रयोग एक ही आधार पर होता था, उसमें एक (यथा 'चतुर्थी') को ही उस प्रयोग के लिये निश्चित कर देना। इसप्रकार कभी मानक जाने माने वाला प्रयोग 'रामस्य देहि' कालान्तर में अमान्य अतएव अमानक मान लिया जाता है, जब कि चतुर्थी प्रयोग 'रामाय देहि' को ऐकान्तिक मानक के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। व्याकरण इसे 'सम्बन्ध' और 'सम्प्रदान' की परिभाषाओं के अन्तर के द्वारा विभिन्न कोटियों की सीमाओं में बाँध कर विविध रूप में मानकीकृत कर देता है।

संस्कृत शब्दावली एवं वाक्यरचना के मानक युगानुरूप बदलते रहे हैं और उस-उस काल में बनने वाला व्याकरण उन्हें ऐसी मान्यता देने में सदा अग्रणी रहा है।

प्रोफेसर–संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

Dr. Avanindra Kumar

DENOTATION OF WORD : UNIVERSAL OR PARTICULAR

The problem of the universals has been dealt with in detail in almost all schools of Indian Philosophy. The object of this paper is to see it from the point of view of word and meaning. Almost all words in our language, except proper names are general. Like proper names, they cannot be said to stand for individuals. The main theme, thus, can be framed in this form : what is the meaning of general words ? Different systems of Indian Philosophy answer the question from their respective stand points. The issue is twofold : (i) whether the meaning of general words is universal or particular or both (ii) whether the meaning of general words is anything real.

For the Mimansa and the Avaita the direct meaning of words in only universal, the particular is meant only by implication. For the Nyaya Vaiśesika, on the other hand, word denotes a particular qualified by the universal. The Grammarians who have dealt with this problem and have made significant contributions, are divided into two schools; one holding the particular and the other holding the universal as the sole meaning of words. Bhartchari is a great champion of the latter view. He is an absolutist like the Advaitist and holds universals to be empirically real as the meaning of words. Though they are ultimately non-different from word-absolute (Sabdabrahma). It is worth nothing that all these views attach some kind of reality to the meaning of words. But the Buddhist denise that the meaning of words is real of all. The real is indeterminate or unspeakable. He accepts that the meeaing of words is universal, but the universal in his view is a construction of thoughts and hot an element in reality.

The concept of universals and the problems out of it, have been perennial topics of discussion in Western Philosophy also. Plato's theory of Ideas may be considered as a starting point. Plato advocated an extreme of realism. The extreme realism of Plato was rejected by Aristotle, who advocated in its place a moderate form of realism. He agreed that universals were real but denied that they had any being apart from an individual. These two forms of realism, the Platonic and the Aristotelian remained in prolonged discussion on the universal in Western Philosophy. After sometime, during the Medieval period, both the forms of realism were rejected in favour of conceptualism. The modern period also supports conceptualism. Although, nominalistic trend was also present in the thought of Thomas Hobbes, it did not find much favour among the leading philosophers. All the traditional views on the universal in Western Philosophy finally boil-down to two ontological theories, ihat is the **Philosophy of universals** and the **Philosophy of Resemblances.**

In the following lines, I shall examine the various views of the Sanskrit Grammarians on the Universal.

DENOTATION OF WORDS

The primary function of words is to provide means for communication of ideas and thoughts. It is due to the presence of general words in our language that extension of thought beyond the immediately here and now becoms possible. It is, therefore, of primary importance to ask : what do these general words stand for ? What, indeed, is the part of language in our cognitions ? Are words adequate expressions of reality ? Indian Philosophy provides the answers to these questions in varied and conflicting forms. All the system of Indian Philosophy make significant contributions to this question.

PANINI

In the very first chapter (Ahnika) of the Mahabhasya, Patanjali has raised the issue whether the word denotes universal or particular. The import of all the words cow etc. is **cow universal** or **cow particular**. Patanjali has referred[1] to Panini's opinion that the later considered the two as the import of a word. From the view of universal, Panini framed the aphorism—जात्याख्यायामेकस्मिन्० (अष्टा० 1.1.58) and from the view of particular सरूपाणामेकशेष० (अष्टा० 1.2.64).

"किं पुनराकृतिः पदार्थः आहोस्विद् द्रव्यम् ? उभयमित्याह। उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि।

Kaiyata, while explaining these lines has clarified the two sides. Kaiyata says[2] that if one of the two is accepted as solely true then the applicability of the grammatical principles will lead to confusion, and that is why Panini considers the two as import of words. According to the theory which holds universals to be the meaning of words...words such as cow...indicate the entire kind. Particulars are innumerable. It is impossible to have the relationship of everyone. By seeing every particular same sort of knowledge is achieved. It is, therefore, inferred that the Universal is some existence (सत्ता), which is found in different particulars. Cow etc. Words indicate the universal (जाति) which is inherently present (Samavaya relationship) in different elements (पदार्थ). When the cow is known by the word cow; then the particular qualified by the universal is known. Just as words, indicating kind, make us understand a particular qualified by the universal; in the same way—words, indicating quality (गुण) white etc. denote the existence, with Samavaya relationship in the gunas. A guna is known through Gunatvajati. The knowledge of guna in an element (द्रव्य) is attained through continuity (परम्परा). Guna is available in a dravya (द्रव्य); hence by knowing guna, a dravya connected with guna is known. Nouns also denote universal only. A body from birth to death, remains the same although apparently its features change as it grows in age. This oneness denotes the universal (जाति). Even the verbs are expressive of the universal. That is the main denotation

of a root. For example पठति, पठतः, पठन्ति etc. having one पठ् root denote universal as a root cause of oneness. On the contrary, those, who regard particular as the import of a word, say that the word cow means the cow individual or particular. The universal is found in a particular, therefore, the Universal is also known secondarily (गौण रूप से). Therefore, criticism charging this view with indefiniteness (अनन्तता) about the particular, is not valid.

VAJAPYAYANA (UNIVERSALIST)

Katyayana and Patanjali have specially referred to the opinions c Vajapyayana and Vyadi. Vajapyayana held the view that words denote universal and Vyadi held that words denote particular. Vajapyayana, in support of his stand, has given the following arguments[3] :

A word denotes universal. By saying 'cow', white, blue or yellow quality is not know but the cow general (सामान्य) is know. Even the universal being one, how can we say that the same is known ? On saying a (cow)—a sense of indivisibility (अभिन्न) is denoted, not the white, blue or yellow. By telling of one cow the entire cow is known. By understanding on cow; cows at different places, of different ages and different colours can be recognized. It is, therefore, known that the word cow denotes the cow universal. The actions of Dharmasastra etc enote the meaning of a word as universal only—'A Brahmana should not be killed', 'Alcohol should not be taken'—mean 'No-brahmana should be killed' and 'no-alcohol should be taken'. If the particular be the meaning of a word, then by not killing a Bramana and by not taking a little alcohol, the Dharmasastra would have been obeyed fully.

One thing is available at one time at many places; as one sun is available at many places. The plea is not correct, because one person cannot see the sun at different places at the same time. The universal should be taken like lord 'Indra'. As one 'Indra', called in hundred Yajnas at one and the same time—is present—in the same way universal is also found in different places at one and the same time. If only particular would be taken as import of word, then the universal would not be known The fault in this is—all the elements (द्रव्य) of one word would not be known. In the Sastras, one word is used for its उपाधिस (उपकरणस) ; it shows the import of a word is universal—

अस्ति चैकमनेकाधिकरणस्थं युगपत् । आदित्यः । इतीन्द्रवद्विषयः द्रव्याभिधाने ह्याकृत्यसंप्रत्ययः । चोदनायां चैकस्योपाधिवृत्तेः ।[4]

VYADI (PARTICULARIST)

Acarya Vyadi, the writer of Samgraha. holds the view that the word does not denote universal but the particular (व्यक्ति). Different genders and numbers would be worthwhile only when the particular is taken as the meaning of a word. The gender would be according to the particular and so the number. Even in commands, an action is taken on a particular not the universal. 'Bring the cow'—on saying so—a particular cow is brought not the unive sal. One Universal cannot

remain at one time in many places just as one Devadatta cannot remain at Agra and Mathura both the places at one time. If the word denotes universal then all the cows woulds be taken as dead on the death of one cow. Every particular has got some difference. On considering the denotation as universal the similarity and dissimilarity—the two contradictory qualities cannot remain together. The विग्रह is made on the idea of dissimilarity of particulars शब्द शेष. Words of different meaungs make the one word (एक शेष) representative on the ground of differences (पृथक्ता) of the element; as अक्षाः, पादाः, मापाः one word remains for many.

द्रव्याभिधानं व्याडिः । तथा च लिङ्गवचनसिद्धिः चोदनासु च तस्यारम्भात् । न चैकमनेकाधिकरणस्थं युगवत् । विनाशे प्रादुर्भावे च सर्वं स्यात् । अस्ति च वैरूप्यम् । तथा च विग्रहः व्यर्थेषु च मुक्तसंशयम् ।[5]

KATYAYANA AND PATANJALI

Katyayana and Patanjali have discussed the opinion of Panini at a number of places and have agreed that the word denotes universal and Particular both. The word (Jati) universal according to Katyayana and Patanjali clarifies the entire problem. They hold the view that a word denoting universal (जातिवाचक शब्द) denotes particular as well as universal. Patanjali cites an example. someone asks a milkman sitting in the midst of a big cowherd. 'Are you looking at some cow ?' The milkman thinks that he is seeing cows with his own eyes and is still asking whether I am looking at some cow. Hence, it is inferred that he means some particular cow.

"जातिशब्देन हि द्रव्याभिधानम् । जातिशब्देन हि द्रव्यमप्यभिधीयते, जातिरपि···नूनमस्य द्रव्यं विवक्षितम् ।[6]

Kaiyata and Nagesa have explained it. According to them sometimes the Universal is supreme and sometimes the particular. That sense is emphasized which is desired by the speaker, which is being denoted more of the Universal or particular- is decided by the intention of the speaker only. When the speaker want universal; the universal is denoted and when he wants particular, particular is denoted.[7] Patanjali[8] has clarified that the Universal and the particular cannot be made separate. The two are inseparable (अभिन्न).

"अव्यतिरेकाद् द्रव्याकृत्योः"

The controversy between the two groups of Universalists and Particularists has also been sorted out with wisdom by Patanjali. He says, it is not the fact that Universalists do not consider the particular as import of word and vice-versa. Both consider universal and particular both as import of word. The difference is...some consider the main import as 'universal and others the particular. universalists think universal as the chief import and particular as subsidiary, whereas the particularists consider particular as the main and the universal as the secondary.

न ह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थो द्रव्यपदार्थिकस्य वा आकृतिर्न पदार्थः । उभयोरुभयं पदार्थः । कस्यचित्तु किञ्चित् प्रधानभूतं किञ्चिद् गुणभूतम् । आकृतिपदार्थिकस्याकृतिः प्रधानभूता, द्रव्यं गुणभूतम् । द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता ।[9]

Katyayana and Patanjali, considering the two—universal and particular as import of word, have the view that universal is the main import of word. They have refuted all the objections on particularism with a view to defending universalism.

आकृतिग्रहणात्सिद्धम् । [0]

Both have given explanation to Vyadi's questions on universalism in the following way. Guna is temporary hence gender and number will be according to that. This answer is incomplete, because on considering the number as temporary, the oneness (एकता) of Jati, which is the principle, will be destroyed. Hence, the second answer, that the desire for expression (विवक्षा) of gunas is temporary and the gender and number vill be accordingly. When a word is used to suggest a feminine, there would be feminine gender; when masculine then masculine gender and the absence of both—neuter gender About number also—just as according to the particularist, a number depends on the expression in the same way singular number in oneness, dual in twoness and plural in maniness (बहुत्त्व). Or else, just as gender and number depends on the words denoting guna (गुणवाची शब्द), accordingly, an element (द्रव्य) whatever particular (आकृति) it has, the gender and number it possesses; the same would be of that universal (jati) also.

"लिङ्गवचनसिद्धेर्गुणविवक्षाऽनित्यत्त्वात् । विवक्षातः । गुणवचनवद्वा ।"[11]

Second objection—that the universalism जाति cannot be put into transit. The answer is since the universal cannot be put into transit, therefore, a particular. associated with universal will be brought. At such places, everywhere the particular will be taken into consideration.

अधिकरणगतिः साहचर्यात् [12]

असम्भवात्[13]

Third objection—that one Jati cannot remain at many places at one and the same time, as Devadatta. This has been solved by the example of Indra. Like Indra universal (Jati) also can remain at many places in one time.

Fourth objection—that by the birth and death of a particular the universal should also be born or die, This has the answer—that universal will not be born or destroyed by the birth ar death of a particular, because the two have different souls. As a creeper, stuck to a tree, is not destroyed by the destruction of the tree in the same way, for the difference in the soul, on the destruction of a particular; the uuiversal is not destroyed :

"अविनाशोऽनैकात्म्यात् । अनेक आत्मा आकृतेर्द्रव्यस्य च ।"[14]

Fifth objection—that particulars are different and of different forms and the same is their division (विग्रह). The answer is...on considering particular as denotation, different particulars have different forms and the division (विग्रह) is done accordingly.

"वैरूप्यविग्रहो द्रव्यभेदात् ।[15]

Sixth objective-words, conveying different meanings (नानार्थक) would be reduced to one (एकशेष). The solution is—the similarity of the action or the number would denote the uuiversal.

"व्यर्थेषु च सामान्यात्सिद्धम्"[16]

BHARTRHARI

Bhartrhari supporting the lines of Patanjali [7] has described the two opinions of particular and universal. He writes that particularists thinking the existence of action in an individual accept the universal and the vniversalists taking universal through words expressing universal in particular, known through universal.

Essentially speaking (तात्त्विक दृष्टि से) universal and particular both are permanent. That is why Bhartrhari says; that all worcs denote universal and particular. Both are eternal...

पदार्थानामयोद्धारे जातिर्वा द्रव्यमेव वा ।
पदार्थौ सर्वशब्दनां नित्यावेवोपवर्णितौ ।।[18]

Bhartrhari has established that the real form (वास्तविक रूप) of universal is existence सत्ता and afterwards super-existence (महासत्ता). which is called as super-Absolute परब्रह्म. From that, the world originates. In the same way, describing an element (द्रव्य) as a synonym of Brahma, Dravya has been described as eternal and that has been declared as the meaning of all the words. Bhartrhari agrees with Patanjali on the particular and universal. Vajapyayana and Vyadı both Acaryas also hold the same view in reality (तात्त्विक दृष्टि से).

Jati According to Bhartrari—

Every word, first of all expresses its own special Jati, not the general शब्दत्व etc. Which is available in every word. The word, having the most intimate relation (तादात्म्य सम्बन्ध) with the meaning, denotes the meaning—

"स्वा जातिः प्रथमं शब्दैः सर्वेरेवाभिधीयते ।
ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना ।"[19]

On considering the universal as import of a word either the Universal is realized or particular with universal. All words mean universal only.

"जातौ पदार्थे जातिर्वा विशेषो वापि जातिवत् ।
शब्दैरपेक्ष्यते यस्मादतस्ते जातिवाचिनः ।"[20]

Whether these are different things or these are the same—is based only on treatment (व्यवहार). Every treatment is based on the universal.

"भिन्ना इति परोपाधिरभिन्ना इति वा पुनः ।"[21]

Only on account of the relationship with Jati, 'one' (number), 'many', 'is' and 'is not' are said.

"नैकत्वं नापि नानात्वं न सत्त्वं न च नास्तिता ।"[22]

The same idea has been expressed by Helaraj elsewhere also. Essentially everything is Brahma, which can never be directly used. The original substance is द्रव्य. When (जाति) universal is associated with it, it becomes an object of tretament.

"संसर्गदर्शने स्वतो शौर्न गोः, गोत्वाभिसम्बन्धाद् गौरिति ।"[23]

Mammata in his Kavya Prakash (द्वितीय उल्लास सू० १०) quoting this statement of Vakyapadiya has said Jati as soul (प्राणदायक) in the import of a word.

"पदार्थस्य प्राणपदः जातिः ।"[24]

Bhartrhari, having similarity with the Advaita doctrine, does not consider the universal separate from the particular. He thinks it as Maya of Brahma. There is only one reality, that is Brahma. The distinction in the existent is due to Avidya. Which is not real and is imaginary. Dravya, Guna, Karma, Samanya, Visesa and Samavaya are not separate elements but the different powers of one Brahma. His different actions denote his different powers. They are used when related with each other. They are not worthy of use all separate. Therefore, the division of the universal and the particular is only imaginary (हेलाराज)

"तस्माद् द्रव्यादयः सर्वाः शक्तयो भिन्नलक्षणाः ।"[25]

The universal is real and the particular as unreal. On thinking the universal, as a power of Brahma, how division of universal and particular would be made ? Bhartrhari replies, that every existent element has two parts...one real and the other unreal. As in the golden ornaments, the original or the element is gold and the visible or the unreal is its (ring ect.) different shapes. The real part is called universal and the unreal particular. (हेलाराज)

सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ ।
सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृताः ।।[26]

The Universal is the super-existence (महासत्ता).[27]

The same super-existence is नाम and आख्यात (क्रिया और द्रव्य).[28]

The Form of Particular (द्रव्य का स्वरूप)

Acarya Vyadi's view that a word denotes particular is very praiseworthy from practical and पारमार्थिक point of view. Helaraja says the statement of Patanjali, 'particular is eternal and the universal temporary. The universal gets a change whereas the particular (substance) remains the same' is only the translation of Vyadi.[29]

Helaraja says the two type of Dravya...One super-natural (पारमार्थिक) and the other-practical (व्यावहारिक) द्रव्यं च द्विविधं, पारमार्थिकं सांव्यवहारिकं च ।[30]

Of these, the practical aspect is the base of all the worldly affair—concerned with word and meaning. In the practical state, mainly the **particular** is the poinr of stress.

According to Bhartrhari that element is known as particular (Dravya), to which "**This is**", a pronoun indicating particular is used. That is expressed in form of an adjective. Helaraja has given the same in brief.

"इदं तदिति सर्वनामप्रत्यवमर्शयोग्यं द्रव्यम् ।"[31]

Defining Dravya from the super-natural (पारमार्थिक) view, Bhartrhari says that 'Atma', Vastus, Swabhava, Sarira and Tattva are the synoymns of Dravya is eternal.

The super-natural (पारमार्थिक) tattva of all words cannot be directly touched. The real thing is decided through un-real forms. All the words, with unreal upadhi make one understand Brahma, the real element Just as the form (Universal) of golden ornament is temporary, but only the real gold is expressed through the ornaments of difference forms.[32]

Bhartrhari gives the views of old Rsis on Tattva and Atattva. There is no difference between the two. The Tattva itself is undertood as Atattva due to ignorance. Helaraja classifies it that in the Advaita concept, Real and unreal are not two. By considering the two, Advaita concept is destroyed Essentially the only and unparallel is Brahma.

न तत्त्वातत्त्वयोर्भेद इति वृद्धेभ्य आगमः ।
अतत्त्वमिति मन्यन्ते तत्त्वमेवाऽविचारितम् ।[33]

There is nothing other than Brahma. Whatever is light is Vidya and the darkness is Avidya.

तत्र योऽयं प्रकाशः स विद्या । अप्रकाशस्तु तमोऽविद्या ।[34]

Patanjali has written, [35] आकृत्युपमर्देनद्रव्यमेवाऽवशिष्यते. Even on the destruction of the universal (आकृति) only Dravya (particular) remains. Bhartrhari has said, whatever remains even on the destruction of आकृति is real, permanet. That is the import of word. That never gets a change. The same has been defined by Patanjali as ध्रुव and कूटस्थ etc.

सत्यमाकृतिसंहारे यदन्ते व्यवतिष्ठते ।
तन्नित्यं शब्दवाच्यं वच्छब्दतत्त्वं न भिद्यते ।।[36]

Bhartrhari according to Vyadi has taken Dravya to the supreme state of Vedanta and writes telling it as परब्रह्म.

न तदस्ति न तन्नास्ति न तदेकं न तत्पृथक् ।
न संसृष्टं विभक्तं वा विकृतं न च नान्यथा ।।[37]

विद्या सा सर्वशब्दानां शब्दाश्च न पृथक् ततः ।
अपृथक्त्वे च सम्बन्धस्तयोर्ननात्मवोरिव ।।[38]

References

1. Mahabhasya I Ahnika
2. Pradip on the Mahabhasya I Ahnika
3. MB I. 2-64
4. Ibid
5. Ibid
6. MB I. 2–58
7. Pradipa and Uddyote on MB I. 2-58.
8. MB. II-1-51.
9. MB. I-2–64
10. MB. II Ahnika अइउण्.
11. MB. I-2.64
12. Ibid
13. MB. I-2-51
14. MB. I-2-64
15. Ibid.
16. Ibid.
17. Vakyapadiya 68-69
18. Vakyapadya 3, p. 5
19. do—3, p. 12
20. do—3, p. 18
21. do—3, p. 23
22. do—3, p. 23
23. Helaraja, Vp 3, p. 123
24. Kavya Prakasa 2-10
25. VP 3, p. 24
26. VP—p. 28
27. do—p. 29
28. do—p. 30
29. Helaraja on VP 3, p. 86
30. Hilaraja on VP—p. 85.
31. do—p. 141.
32. VP 3, p. 86–87.
33. VP—p. 89.
34. Helaraja, Ibid.
35. MB. I Ahnika.
36. VP 3, p. 90.
37. VP—p. 91.
38. do—p. 93.

———

Reader in Sanskrit
Universtiy of Delhi.

□ प्रो० श्रीमती सरिता

पदविभाग

पद कितने प्रकार के होते हैं, इस विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं । तद्यथा—

(क) इन्द्र एक महावैयाकरण हुये हैं । उन द्वारा प्रणीत—ऐन्द्रव्याकरण के अनुसार एक प्रकार का ही पद माना गया है । यही कारण है कि पद की व्याख्या करते हुए उन्होंने—"अर्थः पदम्" इस परिभाषा के अनुसार अर्थ के वाचक सभी पद होते हैं, ऐसा स्वीकार करके एक ही प्रकार का पद माना है । कहने का आशय यह है कि सभी शब्दों में अर्थत्व रूप से अर्थ एक ही है, उसमें भेद नहीं । क्योंकि हैअथबोधक सभी शब्दों की एक ही जाति है, अवान्तर अनेक जातियाँ नही । अतः एक ही पद है औ रअर्थ ही उसका लक्षण है । इस प्रकार आचार्य ने पदत्व का आधार अर्थ माना है । निरुक्त १/१ पर भाष्य करते हुह आचार्य दुर्ग—"अर्थः पदमैन्द्राणाम्" कहते हैं ।

(ख) प्रसिद्ध भगवान् पाणिनि मुनि दो पद मानते हैं—सुप्तिङन्तं पदम् अर्थात् सुबन्त और तिङन्त; ये उपसर्ग और निपात का अन्तर्भाव नाम में कर लेते हैं । जिन पदों में सुप् प्रत्यय होते हैं ये सुबन्त पद कहलाते हैं और जिनमें तिङ प्रत्यय होते हैं ये तिङन्त पद कहलाते हैं । अर्थात् पाणिनि के मत में नाम और आख्यात—इन दो विभागों में समस्त पद आ जाते हैं । इसके विपरीत डा० सत्यकाम वर्मा ने पाणिनि द्वारा स्वीकृत तीन पदों की चर्चा अपनी पुस्तक "व्याकरण की दार्शनिक भूमिका" में की है । वे तीन पद हैं-—सत्व, आख्यात और अव्यय । उनके मतानुसार अव्ययों में निपातों के सभी वर्गों का अन्तर्भाव स्वतः ही हो जाता है ।[1] वस्तुतः पद वह कहलाता है, जिसमें विभक्ति लगी हुई हो अर्थात् जिसका वाक्य में प्रयोग हो सकता हो, वह शब्द पद कहलाता है । इसीलिये साहित्यदर्पणकार कहते हैं—"वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः"[2] इति ।

(ग) कुछ विद्वान् उपसर्ग व निपात को एक मानकर नाम आख्यात को सम्मिलित कर तीन प्रकार के पद स्वीकार करते हैं ।

(घ) आचार्य यास्क और यास्क का अनुगमन करने वाले अन्य विद्वान् चार प्रकार के पदों को मानते हैं । आचार्य यास्क कहते हैं—

तद् यान्येतानि चत्वारि पदजातानि, नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति ।[3]

अर्थात् जो ये लोक में और वेद में प्रसिद्ध चार प्रकार के पदसमूह हैं, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, वे ही निघण्टुसंज्ञक कहलाते हैं । कहने का आशय यह है कि लौकिक और वैदिक वाङ्मय में जितना भी शब्दसमूह है वह सम्पूर्ण शब्द-समूह इन उपर्युक्त चार भेदों के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं ।

(ङ) कुछ विद्वान् नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात तथा कर्मप्रवचनीय—इन पाँच संज्ञाओं के आधार पर पाँच प्रकार के पद स्वीकार करते हैं । उनका कहना है कि पाणिनि व्याकरण में अति आदि कुछ अव्यय वाचक पद, कुछ विशेष परिस्थितियों में कर्मप्रवचनीय के रूप में प्रसिद्ध हैं । इन परिस्थितियों में वे उपसर्ग नहीं माने जाते । अतः उनको मिलाकर ये पाँच भेद मानते हैं ।

(च) कुछ आचार्य सुबन्त, तिङन्त, उपसर्ग, निपात, गति और कर्मप्रवचनीय इसप्रकार छः पद मानते हैं ।

(छ) कौटिल्य ने "वर्णसंघातः पदम्" अर्थात् वर्णसमुदाय को "पद" कहा है। "तच्चतुर्विधं नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चेति"--चार पद माने हैं--नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात।[४]

महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने व्याकरण के अध्ययन के प्रयोजनों का वर्णन करते हुये ऋग्वेद के निम्न दो मन्त्रों को उद्धृत किया है। तद्यथा—

(१) चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ।। ऋक्० ४।५८।३।

वहीं पर इसकी व्याख्या इसप्रकार की गई है—"चत्वारि शृङ्गाणि । चत्वारिपदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयौ अस्य पादाः । त्रयः कालाः भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे । द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च । सप्तहस्तासो अस्य । सप्तविभक्तयः । त्रिधा वद्धः । त्रिषु स्थानेषु वद्ध उरसि, कण्ठे शिरसीति । वृषभो वर्षणात् । रोरवीति शब्द करोति ।

कुत एतद् ? रौतिः शब्दकर्मा । महोदेवो मर्त्यां आविवेशेति । महान् देवः शब्दः । मर्त्या मरणधर्माणः मनुष्यास्तानाविवेश ।

प्रदीप—चत्वारीति । शब्दस्य वृषभत्वेन निरूपणम् । त्रयः काला इति ।
नित्यः कार्यश्चेति । व्यंग्यव्यञ्जकभेदेन सप्तविभक्तय इति ।

सुप इत्यर्थः । केचित्तु तिङमपरिग्रह प्रसंगात् शेषेण सप्तकारकाणि विभक्तिशब्दाभिधेयानि इति व्याचक्षते । वर्षणादिति । कामानां ज्ञानपूर्वकानुष्ठानफलत्वात् । महतेति । परेण ब्रह्मणेत्यर्थः ।

अर्थात् उपर्युक्त मन्त्र में महान् देव शब्द का आलङ्कारिक वर्णन किया गया है। इसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं। तीन स्थानों में बंधा हुआ यह वृषभ शब्द कर रहा है कि यह महान् (शब्द रूपी) देवता मृत्युलोक के प्राणियों में प्रविष्ट हुआ है।

चार सींग कहने से चार प्रकार के पद-समूह—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी और प्रकारान्तर से सुबन्त = नाम, तिङन्त = आख्यात, उपसर्ग और निपात समझे जाते हैं। तीन पैर का अर्थ है तीन काल—भूत, भविष्यत् और वर्तमान। दो सिर अर्थात् शब्द के दो स्वरूप हैं—नित्य और कार्य। सात हाथ अर्थात् प्रथमा, द्वितीया आदि सात विभक्तियाँ। तीन स्थानों पर अर्थात् छाती, कण्ठ और माथे पर बँधा हुआ है। जैसे बादल वृष्टि करता है वैसे ही सभी फलों को देने के कारण यह शब्द वृषभ कहलाता है। महान् देव जो शब्द है वह मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है।

(२) अपर आह—

चत्वारि वाक्यपरिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।। ऋक्० १।१६४।४५।

वहाँ पर इसकी व्याख्या इसप्रकार है:—चत्वारि वाक्परिमिता पदानि । चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । तानिर्विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । मनस ईषिणो मनीषिणः । गुहायां त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति । गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते । न निमिषन्तीत्यर्थः । तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति । तुरीयं वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते चतुर्थमित्यर्थः ।

प्रदीपः—चत्वारीत्यनेनैदेशेन सदृशेन वाक्यान्तरमपि सूच्यत इत्याह—अपर आहेति । परिमितानि परिच्छिन्नानि एतावन्त्येवेत्यर्थः । कथं मनीषिणः एव वदन्तीत्याह—गुहेति । अज्ञानमेव गुहा तस्यामित्यर्थः । व्याकरणप्रदीपेन तु तानि प्रकाशन्ते । तत्र चतुर्णां पदजातानामेकैकस्य चतुर्थभागं मनुष्या अवैय्याकरणा वदन्ति नेङ्गयन्तीत्यस्यैव व्याख्यानं न चेष्टन्ते, त निमिषन्तीति ।

अर्थात् शब्द के निश्चित चार पद (स्थान) हैं अर्थात् शब्द चार प्रकार के हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तथा प्रकारान्तर से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात । उन चारों स्थानों को वे ही जान पाते हैं । वेद के जानने वाले ब्राह्मण और मन को वश में रखने वाले मनीषी हैं । क्योंकि इन चारों पदों में से तीन पद तो अज्ञान रूपी अलङ्कारमयी गुफा में निहित हैं, अतः प्रकाशित नहीं होते । मनुष्य जिसका उच्चारण करते हैं, वह शब्द का चौथा पद अर्थात् वाणी का चतुर्थ भाग होता है ।

कैय्यट ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है कि चारों पदों में से प्रत्येक के चार भाग हैं और अवैयाकरण केवल चतुर्थ भाग का ही उपयोग करते हैं और उसको ही बोलते हैं । नागेश का कथन है कि चतुर्थांश ही ज्ञान का विषय है, अतः वेद ने मनुष्य में चतुर्थ भाग की सत्ता बताई है । उन्होंने पदजातानि —इस पद से परा, पश्यन्ती आदि चार भेदों का ग्रहण किया है ।

उपर्युक्त दो मन्त्रों में दो सत्यों की ओर संकेत किया गया है । "चत्वारि वाक्यपरिमिता पदानि" मन्त्र में चार पद का स्पष्ट अर्थ परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में वाणी के चार चरणों से ही है । क्योंकि उन्हीं में से तीन गुहा में स्थित हैं और एक अन्य रूप में व्यक्त होते हैं । यद्यपि इसकी व्याख्या नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार पदों से की गई है । इसके विपरीत चत्वारि शृङ्गाः मन्त्र में सात हाथ, तीन पैर आदि की कल्पना के साथ चार शृंग के चार पद ही हैं, जिनकी व्याख्या यास्क पतञ्जलि और नागेश ने "नामाख्यातोपसर्गनिपातश्च" के रूप में की है । भर्तृहरि ने इतना और कह दिया है कि:—

कर्मप्रवचनीयास्तु निपातेष्वन्तर्भूता इति चत्वार्युच्यन्ते (महाभाष्य त्रिपदी टीका १।१।१) ।

तात्विक दृष्टि से नाम और आख्यात—ये ही पद के दो मुख्य विभाग हैं । अतएव पाणिनि ने सुप्तिङन्तं पदम् में सुबन्त = नाम और तिङन्त = आख्यात नाम से इन्हें दो भागों में विभक्त किया है । तथापि व्यावहारिक दृष्टि से पद चार प्रकार का होता है । यहाँ महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इन्हें व्यावहारिक चारों प्रकारों को ऋग्वेद के उपर्युक्त दो मन्त्रों को उद्धृत कर ऋषि सम्मतसिद्ध किया है । वाक्यपदीयम् में भर्तृहरि कहते हैं—

द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा ।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥

सम्प्रति यास्काचार्य के मत का अनुसरण करते हुये क्रमशः नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवेचन किया जा रहा है—

१. नाम—आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त[1] में नाम का लक्षण इसप्रकार किया है—

सत्वप्रधानानि नामानि—अर्थात् सत्त्व-द्रव्य है प्रधान जिनमें वे नाम कहलाते हैं । कहने का आशय यह है कि लिंगसंख्योरत्र सद्भाव इति सत्वम् । तद्येषु द्रव्य प्रधानं गुणभूता क्रिया, नामान्येव तानि—जहाँ सत्व अर्थात् लिंग, संख्या, वचन आदि जिसका अनुगमन करें ऐसा सत्व-द्रव्य प्रधान हो और क्रिया गौण हो वह नाम कहलाता है । संदीप में लिंग और संख्या से युक्त "सत्व" कहलाता है । अर्थात् "लिंगसंख्यान्वितं द्रव्यं सत्वमित्यभिधीयते" इति । अन्यत्र[2] नाम की परिभाषा इसप्रकार की गई है ।

शब्देनोच्चारितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते ।
तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः ।
अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः ।
तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचनलिङ्गयोः ॥

अर्थात् जिस शब्द के उच्चारण करने से द्रव्य की प्रधान रूप से प्रतीति हो, उसे व्याकरण में विद्वज्जन "नाम" कहते हैं। इसीप्रकार जिस शब्द से भिन्न-भिन्न अर्थों में आठ विभक्तियाँ प्रयुक्त होती हैं और वचन तथा लिंग की दृष्टि से अन्तर पाया जाता है, उसे आचार्य "नाम" कहते हैं।

"नाम" शब्द की व्युत्पत्ति इसप्रकार की गई है—

नमन्ति आख्यातशब्दे गुणभावेन यानि, तानि नामानि—अर्थात् जहाँ वाक्य में नाम और आख्यात दोनों इकठ्ठे होते हैं, वहाँ नाम पद गौण होकर आख्यात पद से जुड जाते हैं। इसीसे ये नाम कहाते हैं। अथवा नमन्ति स्वमर्थमाख्यातशब्दवाच्यै गुणभावेन इति नामानि अर्थात् आख्यात के क्रियारूप अर्थ में अपने अर्थ को गौण भाव से झुका देते हैं, इससे ये नाम कहलाते हैं। नाम पद में तीन भाग होते हैं—प्रकृति (धातु), प्रत्यय और विभक्ति। जहाँ शब्द होता है वहाँ उसका वाच्य अर्थ भी अवश्य रहता है क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों वाच्य-वाचक सम्बन्ध से नित्य सम्बन्धी हैं। अतः सिद्ध होता है कि नाम में क्रिया रहती है।

आचार्य चाणक्य ने तत्र नाम सत्याभिधार्थी अर्थात् जो पद सत्व वाचक अर्थात् जाति, गुण तथा द्रव्यवाचक हो, उसे नाम कहा है। इसप्रकार जिस नाम से द्रव्यमात्र का बोध होता है उसको सर्वनाम या सामान्य नाम कह सकते हैं, और जिन शब्दों की विशेष-विशेष द्रव्यों के बोधन में शक्ति है, वे विशेष नाम कहलाते हैं।

आख्यात कब नाम बन जाता है—आख्यात कब नाम बन जाता है इसके विषय में निरुक्तकार कहते कि मूर्तं सत्वभूतं सत्वनामभिर्व्रज्या–अर्थात् कभी कभी भाव = आख्यात रूपान्तर को प्राप्त हुआ सत्त्व की शक्ल में आया हुआ लिंग, संख्या-वचनादि से युक्त शब्दों से व्यवहृत होता है। यथा—व्रज्या पक्तिः आदि। कहने का आशय यह है कि यहाँ नाम शब्दों से वे शब्द अभिप्रेत हैं जो व्याकरण के अनुसार धातुओं के साथ कृत् प्रत्ययों के योग से बने होते हैं क्योंकि कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते इति। अर्थात् कृदन्त प्रत्यय से अभिहित क्रिया द्रव्य के समान प्रकाशित होती है। अतएव व्रज्या, पक्तिः आदि अपने आख्यात नाम को छोड़कर "नाम" कहे जाने लगते हैं। परिणामतः इन कृदन्त शब्दों का सम्बन्ध संख्या, विभक्ति और लिंग से हो जाता है। इसीलिए कहा है कि—

> क्रियाभिनिर्वृत्तिवशोपजातः कृदन्तशब्द भिहितो यदा स्यात्।
> संख्याविभक्तिव्ययलिंगयुक्तो भावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्यः॥[७]

२. आख्यात—आचार्य यास्क ने निरुक्त[८] में आख्यात का लक्षण इसप्रकार किया है—भावप्रधान-माख्यातम्—अर्थात् भाव = क्रिया है प्रधान जिसमें वह आख्यात कहलाता है। इसका आशय यह हुआ कि जिस वाक्य में क्रिया प्रधान होती है और कारक आदि गौण होते हैं, वह आख्यात होता है। आगे चलकर निरुक्तकार[९] कहते हैं कि—पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति—पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्, अर्थात् किसी भी क्रिया के आरम्भ से लेकर उस क्रिया की समाप्ति तक बीच में आने वाली जितनी भी पौर्वापर्य से अवस्थित क्रियायें होती हैं, उस यावन्मात्र शब्द को 'आख्यात' शब्द से कहते हैं।

'आख्यात' की शाब्दिक व्युत्पत्ति इसप्रकार की जाती है—'आख्यायते प्रधानभावेन क्रिया, अप्रधानभावेन च द्रव्यं यत्र तद् आख्यातम्'।

आख्यात में क्रिया की प्रधानता ही आती है। तद्यथा—'क्रियावाचकमाख्यातम्' इति।

आख्यात के चार विभाग हैं—कर्त्तृवाचक, कर्मवाचक, भाववाचक, कर्मकर्त्तृवाचक। इन चारों आख्यातों में अवयव या प्रत्यय के अर्थ द्रव्य हैं, वे अप्रधान हैं और प्रकृति जो धातु है उसका अर्थ (क्रिया)

प्रधान है। उसका अभिधान करने से यह आख्यात कहलाता है अर्थात् प्रधानीभूत क्रिया ही इसका लक्षण है।

नाम और आख्यात उपसर्ग और निपात की सहायता के बिना भी अपने अर्थ को कह देते हैं, परन्तु उपसर्ग और निपात उनके सामीप्य के बिना अपना अर्थ प्रकाशित नहीं करते।

३. **उपसर्ग**—आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त में उपसर्गों पर विवेचन करते हुये शाकटायन और गार्ग्य—इन दो आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। इनमें से शाकटायन आचार्य का मत है कि उपसर्ग अर्थ के द्योतक हैं, वाचक नहीं और इसके विपरीत गार्ग्य का मत है कि उपसर्ग अर्थ के वाचक हैं, द्योतक नहीं। सम्पूर्ण विवेचन इसप्रकार है—

न निर्बद्धा उपसर्गाः अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः।[10]

अर्थात् नाम और आख्यात से पृथक् होकर उपसर्ग पद या वाक्य के रूप में प्रयुक्त हुये स्वतन्त्र अर्थों को नहीं कहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि उपसर्ग के प्रयुक्त होने से जिस अर्थ का प्रकाशन होता है वह उपसर्गों का न होकर उन्हीं 'नाम' या 'आख्यात' पदों का होता है। उपसर्ग तो केवल उन अर्थों का प्रकाशनमात्र करते हैं। इसी को इन शब्दों में कहा गया है—

'नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति'।[11]

अर्थात् नाम और आख्यात का अर्थ उपसर्ग के साथ संयोग होने पर अभिव्यक्त होता है।

शाकटायन के मत के विपरीत आचार्य गार्ग्य का कहना है कि—

'उच्चावचाः पदार्थाः भवन्तीति गार्ग्यः'।[12]

अर्थात् नाम और आख्यात से पृथक् भी उपसर्गों के अनेक प्रकार के अर्थ हुआ करते हैं क्योंकि उपसर्ग भी नाम और आख्यात के समान पद हैं। उपसर्गों के लगने से नाम आख्यात के अर्थों में जो भिन्नता हो जाती है यही इन उपसर्गों का अपना स्वतन्त्र अर्थ होता है।

धातु और उपसर्ग का संयोग—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्॥

क्रियापदों से पूर्व जो प्रादि अव्यय प्रयुक्त होते हैं, वे उपसर्ग कहे जाते हैं। ये उपसर्ग धातु के अर्थ में कभी-कभी बड़े-बड़े परिवर्तन कर देते हैं। यथा—**हृञ् हरणे** अर्थात् हृः धातु का अर्थ है—हरण करना। किन्तु प्रहार का अर्थ चोट मारना, आहार का अर्थ भोजन, संहार का अर्थ विनाश, विहार का अर्थ घूमना, परिहार का अर्थ त्याग हो जाता है। उपसर्ग के संयोग से कभी-कभो धात्वर्थ विपरीत भी हो जाता है। यथा-गम् धातु का अर्थ है **जाना**, किन्तु आङ् उपसर्गपूर्वक गम् धातु का अर्थ **आना** होता है।

निरुक्त में २० उपसर्गों का परिगणन हुआ है। तद्यथा—आ, प्र, परा, अभि, प्रति, अति, सु, निर्, दुर्, नि, अव, उत्, सम्, वि, अप्, अनु, अपि, उप, परि, अधि।

उपसर्ग की व्युत्पत्ति

'उपगृह्य आख्यातं' तस्यैव अर्थविशेषं सृजन्ति ये ते उपसर्गा इति।'

४. निपात

आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त में निपात की व्याख्या इसप्रकार की है—'अथ निपाताः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः।[13] ये निपात इसलिये कहलाते हैं क्योंकि ये अनेक प्रकार के अर्थों में गिरते हैं। यास्क ने इनके तीन भेद किये हैं—

१. उपमार्थक—कुछ निपात उपमा के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।

२. कर्मोपसंग्रहार्थक—कुछ निपात अर्थोपसंग्रह के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।

३. पदपूरणार्थक—कुछ निपात पदपूर्ति के लिये प्रयुक्त होते हैं ।

पदपूर्ति के लिये प्रयुक्त होने वाले निपातों के विषय में कहा गया है कि—

'पदमेव पूरयितव्यं येषां न तु कश्चिदभिधेयोऽर्थ इति पदपूरणः' अर्थात् उनका कार्य केवल पद की पूर्ति करना होता है । इस अवस्था में उनका अपना कोई अर्थ नहीं होता । बृहद्देवता में आया है कि—'उच्चावचेषु चार्थेषु निपाताः समुदाहृताः' ।[१४] आचार्य पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः', 'चादयोऽसत्त्वे', 'प्रादयः' । इन तीन सूत्रों के द्वारा निपात का व्याख्यान किया है । 'प्रादयः' (१.४.५८) सूत्र में निपातों का परिगणन किया है । तद्यथा—प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, और उप—इन बाईस की सत्व अर्थ न होने पर **निपात संज्ञा** की गई है ।

इसप्रकार उपर्युक्त वर्णित चार प्रकार के पद हैं :—नाम (द्रव्यवाचक), आख्यात (भाववाचक), उपसर्ग और निपात ।

सन्दर्भ-संकेत—

१. देखिये—व्याकरण की दार्शनिक भूमिका—पृष्ठ १२८ ।

२. साहित्यदर्पण—२।२।

३. निरुक्त—पृष्ठ ३, प्रकाशक मेहेरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली—६ ।

४. कौटिल्य अर्थशास्त्र २।१० ।

५. निरुक्त—पृष्ठ ३ ।

६. बृहद्देवता—१/४५ ।

७. बृहद्देवता—१/४५ ।

८. पृष्ठ—३ ।

९. पृष्ठ—४ ।

१०. नि०—पृष्ठ १० ।

११. नि०—पृष्ठ—१० ।

१२. पृष्ठ १० ।

१३. निरुक्त—१/२ ।

१४. बृहद्देवता—२/८९ ।

———

प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग,
बी० पी० एस० गर्ल्स कालिज
खानपुर कलां, सोनीपत,

□ डॉ० केशवरामपाल

समस्त शब्दों मे आये कुछ प्रातिपादकों के विषय में भ्रान्त धारणायें

पाणिनीय-व्याकरण-सम्प्रदाय में संस्कृत-भाषा-विषयक नियम मुख्यतया पाणिनि की अष्टाध्यायी, कात्यायन के वार्तिकों और पतञ्जलि के महाभाष्य पर आधारित हैं। परम्परा में मुनित्रय द्वारा विहित नियमों को प्रामाणिक माना जाता रहा है। किन्तु जब हम संस्कृत भाषा के विकास-क्रम को दृष्टि में रखते हुये गहराई से विचार करते हैं तो हमें यह दिखाई पड़ता है कि पाणिनीय व्याकरण के बहुत से नियम यथार्थ स्थिति पर आधारित नहीं हैं। बहुत से समस्त शब्दों की सिद्धि करने में पाणिनि तथा उनके अनुयायी वैयाकरणों की धारणायें भ्रान्त एवं त्रुटिपूर्ण रही हैं।

पाणिनि तथा उनके सम्प्रदाय के वैयाकरण बहुत से प्राचीन शब्दों के स्वरूप को, विशेषकर ऐसे शब्दों के स्वरूप को, जो भारत-यूरोपीय काल से अथवा ऋग्वैदिक काल से चले आये हैं, वास्तविक रूप में नहीं समझ सके हैं। भारत-यूरोपीय काल २५०० ई० पू०—३००० ई० पू० के आस-पास माना जाता है, अत: भारत-यूरोपीय शब्द पाणिनि के काल से कम से कम दो हजार वर्ष पुराने रहे होंगे। ऋग्वैदिक काल भी यदि कम से कम १५०० ई० पू० भी माना जाये तो ऋग्वेद-कालीन शब्द भी पाणिनि से कम से कम एक हजार वर्ष पुराने रहे होंगे। ऐसे पुराने शब्दों के वास्तविक स्वरूप को समझने में भ्रान्ति अथवा त्रुटि होना बहुत-कुछ स्वाभाविक है।

भाषाओं के विकास की प्रक्रिया में ऐसा होता रहता है कि पुराने शब्द विभिन्न कारणों से समय-समय पर अप्रचलित होते रहते हैं और उनके स्थान पर नये शब्द (या तो पुराने शब्दों से ही विकसित होकर बने हुये अथवा सर्वथा भिन्न शब्द) प्रचलित होते रहते हैं। पुराने शब्दों के अप्रचलित हो जाने पर भी बहुत से पुराने शब्द ऐसे समस्त शब्दों में पड़े रह जाते हैं जो दीर्घकाल से व्यवहृत होते चले आये हैं। इसी-प्रकार पुराने शब्दों के अप्रचलित हो जाने पर भी उनके कुछ रूप चलते रहते हैं। कालान्तर में बाद के वैयाकरण समस्त शब्दों में विद्यमान पुराने शब्दों को अथवा पुराने शब्दों के प्रचलित रूपों को समझने में इसलिये भूल कर जाते हैं, क्योंकि उनके काल में वे शब्द उस रूप में प्रचलित नहीं होते, उनका कोई अन्य रूप अथवा उनसे विकसित कोई अन्य शब्द प्रचलित होता है। बहुत से समस्त शब्दों में आये प्रातिपदिकों के विषय में पाणिनीय व्याकरण में प्रचलित भ्रान्त धारणाओं का यही कारण है। जो शब्द पाणिनि से हजारों वर्ष पुराने थे और जिनके अन्य रूप या जिनसे विकसित हुये अन्य शब्द पाणिनि के काल में अधिक प्रचलित थे उनको समझने में पाणिनि ने त्रुटि की है। उनकी संरचना के विषय में पाणिनि के जो विचार हैं वे उन शब्दों के विषय में उन दिनों विद्वद्वर्ग में प्रचलित धारणाओं पर आधारित हैं अथवा नहीं, यह निर्णय करना बड़ा कठिन है। किन्तु इतना अवश्य है कि बहुत से समस्त शब्दों में आये प्रातिपदिकों के वास्तविक स्वरूप के विषय में पाणिनि तथा उनके सम्प्रदाय के अन्य वैयाकरणों की भ्रान्त अथवा त्रुटिपूर्ण धारणायें हैं। यह बात उन प्रातिपदिकों के वैदिक साहित्य में प्रयोग के अध्ययन से तथा अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में विद्यमान उनके सजातीय शब्दों के अध्ययन से

निःसन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हो जाती है। प्रस्तुत लेख में ऐसे कुछ समस्त शब्दों का विवेचन किया जा रहा है. जिनमें आये कुछ प्रातिपदिकों के वास्तविक स्वरूप के विषय में पाणिनीय व्याकरण में भ्रान्त धारणायें प्रचलित हैं।

दम्पती

अष्टाध्यायी (२.२.३१) की काशिका-वृत्ति में द्वन्द्व समास के प्रकरण में एक वार्तिक मिलता है—जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च निपात्यते—"जाया शब्द के स्थान पर निपातन से जम् और दम् हो जाता है"। तदनुसार **'दम्पती'** और **'जम्पती'** शब्दों में द्वन्द्व-समास माना गया है। दोनों का विग्रह है—जाया च पतिश्च। 'जाया' के स्थान पर निपातन से 'जम्' और 'दम्' मान लिया जाता है। सिद्धान्त-कौमुदी में भी द्वन्द्व-समास के प्रकरण में २.२.३१ के अन्तर्गत यह वार्तिक 'वा' के प्रयोग सहित मिलता है—जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च वा निपात्यते। विकल्प (वा) का उल्लेख होने के कारण 'जाया च पतिश्च' का द्वन्द्व 'जायापती' भी होता है। राजदन्तादिगण में 'दम्पती' और 'जम्पती' दोनों शब्द हैं। संस्कृत में 'जम्पती' का प्रयोग व्याकरण-ग्रन्थों तथा कोशग्रन्थों[1] में ('दम्पती' शब्द के साथ-साथ) मिलता है, साहित्यिक ग्रन्थों में नहीं। मोनियर विलियम्स और आप्टे ने भी अपने कोषों में 'जम्पती' शब्द के संस्कृत-साहित्य में प्रयोग के कोई उदाहरण नहीं दिये हैं। 'दम्पती' शब्द का प्रयोग 'पति और पत्नी' के लिये संस्कृत-साहित्य में होता रहा है, जैसे—तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् (रघु० १.३५); (रघु० २.७०; मनु० ३.११६ आदि।)

पाणिनीय-व्याकरण-सम्प्रदाय में 'दम्पती' शब्द में जो 'जाया' के स्थान पर निपातन से 'दम्' मानकर द्वन्द्व-समास माना गया है, वह सर्वथा त्रुटिपूर्ण है। 'दम्पती' शब्द में न तो 'जाया' के स्थान पर 'दम्' है और न द्वन्द्व-समास। 'दम्पती' शब्द में 'दम्' का अर्थ है 'घर' और 'पति' का अर्थ है 'स्वामी'। 'घर का स्वामी' अर्थ में 'दम्पती' शब्द में तत्पुरुष-समास है और इसी का द्विवचन में 'दम्पती' रूप होता है। अतः 'दम्पती' शब्द का मूल अर्थ था 'घर के दो स्वामी'। पति और पत्नी दोनों को घर का स्वामी माना जाने के कारण उन दोनों के लिये 'दम्पती' शब्द प्रचलित हुआ।

'घर' अर्थ में **'दम्'** शब्द भारत-यूरोपीय काल से चला आया है। इसका मूल भारत-यूरोपीय रूप (domo) अथवा (domu) माना जाता है, जो कि (dem) 'बनाना' (=ग्रीक demo) क्रिया से निष्पन्न प्रतीत होता है। कतिपय भारत-यूरोपीय भाषाओं में 'दम्' के सजातीय शब्द 'घर' अर्थ में पाये जाते हैं, जैसे—ग्रीक (domos), लैटिन (domus), चर्च-स्लैविक (domu), सर्बो-क्रोशियन (dom), बोहेमियन (dum), पोलिश, रूसी (dom), अवेस्तन (domana), अंग्रेजी के (domestic) 'घरेलू' शब्द का पूर्वभाग (dom) संस्कृत 'दम्' का ही सजातीय है।

वैदिक साहित्य में 'दम्' शब्द 'घर' अर्थ में पाया जाता है, जैसे षष्ठी विभक्ति बहुवचन 'दमाम्' (ऋ० १०.४६.७; वाजसनेयिसंहिता ३३.१)। ऋग्वेद में 'गृहस्वामी' अर्थ में अग्नि[2], इन्द्र और अश्विनौ के लिये 'दम्पति' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'गृहस्वामी' अर्थ में 'पतिर्दन्' का भी प्रयोग मिलता है (जैसे—ऋ० १-१४९.१; २५३.४; १०.९९.६; १०५.२)। मैकडॉनेल[3] और मोनियर विलियम्स[4] 'पतिर्दन्' में आये 'दन्' को 'दम्' का षष्ठी विभक्ति एकवचन का रूप मानते हैं; अतः उनके अनुसार पतिर्दन् = दम्पतिः 'घर का स्वामी'। इसीप्रकार ऋ० १०.६१.२० में आये 'शिशुर्दन्' का अर्थ किया जाता है—'घर का शिशु'। ग्रासमैन और लैन्मैन 'दन्' को 'दम्' का सप्तमी एकवचन का रूप मानते

हैं। ऋ० १.१२०.६ में द्विवचन में 'पती दन्' का प्रयोग मिलता है, जो 'दम्पती' का समानार्थक है। पति और पत्नी दोनों के घर के स्वामी होने के कारण 'घर का स्वामी' अर्थ का वाचक 'दम्पति' शब्द द्विवचन में पति और पत्नी दोनों के लिये 'दम्पती' के रूप में प्रयुक्त होने लगा।

ऋग्वेद में हलन्त 'दम्' से विकसित हुआ अकारान्त 'दम' शब्द भी 'घर' अर्थ में प्रचलित रहा है, जैसे—दमे 'घर में' (ऋ० १.१.८; २.३५.७; ६.७४.१; ८.७.१२ आदि)।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि 'दम्पती' शब्द में 'दम्' जाया का वाचक नहीं है, अपितु 'घर' का वाचक है। पाणिनीय सम्प्रदाय के वैयाकरणों द्वारा इसे वास्तविक रूप में नहीं समझा गया है।

यह उल्लेखनीय है कि आजकल हिन्दी में 'दम्पती' के स्थान पर 'पति और पत्नी का जोड़ा' अर्थ में 'दम्पति' शब्द प्रचलित हो गया है। 'पति' शब्द के अन्त में ह्रस्व इकार होने के कारण सादृश्य से अज्ञानवश 'दम्पति' को शुद्ध माना जाने लगा है।

कल्याणधर्मन्

'धर्मादनिच् केवलात्' (अष्टा० ५.४.१२४) सूत्र के अनुसार "केवल पूर्वपद ही जिस धर्म शब्द के पहिले हो तदन्त बहुव्रीहि से समासान्त अनिच् प्रत्यय होता है", जैसे—कल्याणो धर्मोऽस्य **कल्याणधर्मा**। समासान्त अनिच् (=अन्) प्रत्यय लगने पर समस्त शब्द 'कल्याणधर्मन् पुं० बनता है, जिसका प्रथमा विभक्ति एकवचन का रूप 'कल्याणधर्मा' होता है। '**सत्यधर्मन्**' की सिद्धि के लिये भी पाणिनीय व्याकरण में उपर्युक्त सूत्र का, जिसमें समासान्त 'अनिच्' प्रत्यय का विधान किया गया है, सहारा लिया जाता है।

वस्तुतः 'कल्याणधर्मन्', 'सत्यधर्मन्' आदि शब्दों की सिद्धि के लिये अष्टा० ५.४.१२४ द्वारा समासान्त अनिच् प्रत्यय का विधान करने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि ऐसे बहुव्रीहि-समास वाले शब्दों में अन्त में धर्मन्' शब्द है, 'धर्म' नहीं। पाणिनि के काल में 'धर्म' शब्द का प्रचलन था और 'धर्मन्' सम्भवतः अप्रचलित हो गया था। इसलिये पाणिनि द्वारा 'कल्याणधर्मन्' आदि शब्दों में 'धर्म' शब्द के होने की कल्पना की गई और समासान्त अनिच् प्रत्यय का विधान किया गया।

'**धर्मन्**' ऋग्वैदिक शब्द है, जिसकी व्युत्पत्ति √धृ 'पकड़ना, धारण करना' धातु से मानी जाती है। 'धर्मन्' नपुं० शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है 'जो रक्खा जाये, धारण किया जाये'। इसी से इसके 'सहारा' 'नियम' (स्थापित नियम या स्थिर नियम), 'व्यवस्था', 'विधान' (विशेष रूप से किसी देवता का विधान), 'इच्छा', 'चलन', 'पद्धति' आदि अर्थों का विकास पाया जाता है। ऋग्वेद में "धर्मन्" नपुं० शब्द का "नियम" आदि अर्थों में प्रचुर प्रयोग हुआ है, जैसे—तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्—"वे प्रथम नियम थे" (ऋ० १०.९०.१६); धर्मणा "स्थिर नियम के अनुसार" (ऋ० १.१६०.१)। ऋग्वेद में प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर से युक्त 'धर्मन्' पुं० शब्द भी पाया जाता है, जिसके अर्थ हैं—'धारक', 'नियामक', जैसे—महो धर्माणम् (ऋ० १.१८७.१)। ऋग्वेद में 'धर्मन्' पुं० शब्द की अपेक्षा 'धर्मन्' नपुं० शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है। उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में भी 'धर्मन्' नपुं० शब्द मिलता है, किन्तु ऋग्वेद के बाद धीरे-धीरे इसका प्रयोग कम होता गया है और इसका स्थान इससे विकसित हुये 'धर्म' पुं० शब्द ने ले लिया, जिसका सर्वप्रथम प्रयोग अथर्ववेद[1] में मिलता है। यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में अकारान्त 'धर्म' पुं० शब्द पाया ही नहीं जाता। अथर्ववेद के काल से 'धर्म' शब्द का प्रयोग क्रमशः बढ़ता चला गया और लौकिक संस्कृत में आकर 'धर्मन्' शब्द स्वतन्त्र शब्द के रूप में पूर्णतया अप्रचलित हो गया (केवल कतिपय समस्त शब्दों में विद्यमान रहा) और 'धर्म' पुं० शब्द ही प्रचलित रह गया।

समस्त शब्दों में (बहुब्रीहि-समास के उत्तरपद के रूप में) 'धर्मन्' नपुं० शब्द ऋग्वेद में भी प्रयुक्त हुआ है, जैसे—सत्यधर्मा 'सत्य नियमों वाला' (ऋ० १०.१२१.९; १०.३४.८ आदि)। वैदिक साहित्य में 'सत्यधर्मन्' के प्रयोग के विषय में मोनियर विलियम्स ने अपने कोश में अथर्ववेद, तैत्तिरीय-संहिता, तैत्तिरीयब्राह्मण आदि का भी उल्लेख किया है। उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में अकारान्त 'धर्म' पुं० शब्द का प्रयोग बढने के कारण समस्त शब्दों के अन्त में 'धर्मन्' शब्द बहुधा 'धर्म' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। मोनियर विलियम्स ने अपने कोश में शतपथ-ब्राह्मण में समस्त शब्दों के अन्त में 'धर्मन्' शब्द 'स्वभाव', 'गुण', 'विशेषता' आदि अर्थों में प्रयुक्त बतलाया है, जो कि स्पष्टतः 'धर्म' शब्द के अर्थ हैं। इससे पता चलता है कि लौकिक संस्कृत के कालारम्भ से पूर्व ही 'धर्मन्' अन्त वाले समस्त शब्दों में 'धर्मन्' शब्द 'धर्म' के अर्थों में प्रयुक्त होने लगा था।

लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त 'धर्मन्' अन्त वाले कतिपय समस्त शब्दों में तो 'धर्मन्' शब्द स्पष्टतः 'धर्म' के अर्थों में है, जैसे—'क्षत्रधर्मन्'[६] का अर्थ है—'क्षत्रिय के कर्तव्यों का पालन करने वाला', 'विनाशधर्मन्'[७] का अर्थ है—'विनाश के स्वभाव वाला, विनाशशील'। 'धर्मन्' अन्त वाले समस्त शब्दों में पाणिनि द्वारा 'धर्म' शब्द माना जाने के कारण भी 'धर्मन्' अन्त वाले शब्दों में 'धर्मन्' के 'धर्म' अर्थ में प्रयोग को बल मिला होगा।

द्रुणस, खुरणस, खरणस, खुरणस्, खरणस्, उन्नस, प्रणस

'अञ्नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात्' (अष्टा० ५.४.११८) सूत्र के अनुसार "नासिका-शब्दान्त बहुब्रीहि से समासान्त अच् प्रत्यय होता है संज्ञाविषय में, तथा नासिका शब्द के स्थान में नस् आदेश भी हो जाता है, यदि नासिका शब्द स्थूल शब्द के बाद न आया हो"। 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' (अष्टा० ८.४.३) सूत्र के अनुसार "समुदाय के संज्ञावाचक होने पर पूर्वपद में वर्तमान निमित्त (र्, ष्, ऋ) से उत्तरवर्ती परपदस्थ नकार के स्थान में णकारादेश हो जाता है, यदि निमित्त और निमित्ती के बीच में गकार न हो"। अतः—द्रुरिव नासिकाऽस्य **द्रुणसः** 'वृक्ष के समान है नाक जिसकी, अर्थात् लम्बी नाक वाला'। इसीप्रकार वद्ध्रीणसः। 'खुरखराभ्यां णस् वक्तव्यः' वार्तिक के अनुसार "खुर तथा खर शब्दों से उत्तरवर्ती नासिका-शब्दान्त बहुव्रीहि में नासिका के स्थान में नस् आदेश का विधान करना चाहिये", जैसे—**खुरणाः** 'घोड़े के खुर के समान नाक वाला'; **खरणाः** 'पैनी नाक वाला'। पक्ष में समासान्त अच् प्रत्यय होने पर **खुरणसः**, **खरणसः**।

'उपसर्गाच्च' (अष्टा० ५.४.११९) सूत्र के अनुसार "उपसर्ग-पूर्वक नासिका-शब्दान्त बहुव्रीहि से भी समासान्त अच् प्रत्यय तथा नासिका शब्द के स्थान में नस् आदेश होता है", जैसे—उन्नता नासिकाऽस्य **उन्नसः** 'उठी हुई है नाक जिसकी'; इसीप्रकार **प्रणसः** 'उठी हुई नाक वाला' अथवा 'अच्छी नाक वाला'।

कतिपय अन्य शब्दों[८] और रूपों[९] की सिद्धि के लिये भी 'नासिका' के स्थान में 'नस्' आदेश का विधान मिलता है।

वस्तुतः उपर्युक्त सभी उदाहरणों में 'नासिका' के स्थान पर 'नस्' आदेश करने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इन शब्दों में मूल प्रातिपदिक ही 'नस्' स्त्री० है। इसीका सबल रूप नास् है, जो कि द्विवचन 'नासा' में मिलता है (जैसे ऋ० २.३९.६)। 'नाक' अर्थ में 'नस्' भारत-यूरोपीय शब्द है, जो बहुत सी भारत-यूरोपीय भाषाओं में अब भी 'नाक' अर्थ में पाया जाता है, जैसे—लैटिन (nasus),

इटैलियन (naso), फ्रेंच (nez), रूमानियन (nas), प्राचीन नोर्स (nos), डैनिस (naese), स्वेडिश (nasa), प्राचीन अंग्रेजी (nosu), मध्यकालीन अंग्रेजी और आधुनिक अंग्रेजी (nose), डच (neus), प्राचीन हाई जर्मन (nasa), मध्यकालीन हाई जर्मन और आधुनिक हाई जर्मन (nase), लिथुआनियन (nosis), चर्चस्लैविक (nosu), सर्वो-क्रोशियन, बोहेमियन, पोलिश, रूसी (nos) अवेस्तन और प्राचीन फारसी (nah)।

वैदिक साहित्य में 'नस्' स्त्री० का प्रयोग 'नाक' अर्थ में पृथक् शब्द के रूप में भी हुआ है और समस्त शब्दों में भी मिलता है, जैसे—नसा 'नाक से'; नासि 'नाक में'; नसोः 'नथुनों का' (ऋ० ५.६१.२); नस्तः 'नाक से'; नस्वती 'नाक वाली' (अथर्व० १०.१.२)। ऋग्वेद १०.१४.१२ में यम के दो कुत्तों के लिये प्रयुक्त 'उरूणसौ' (चौड़ी नाक वाले) शब्द में 'नस्' शब्द 'नाक' अर्थ में है। वाजसनेयि-संहिता (१९.९०) में 'नस्' से बना 'नस्य' नपुं० शब्द 'नाक के बाल' के लिये मिलता है।

कुछ विद्वान् 'नास्' प्रातिपदिक मानकर 'नस्' को उसका दुर्बल रूप कहते हैं। मैक्डॉनेल[१०] ने 'नास्' प्रातिपदिक माना है, व्हिटने,[११] मोनियर विलियम्स[१२] और ग्रासमैन 'नस्' प्रातिपदिक मानते हैं। कुछ सुबन्त रूपों में तथा समस्त शब्दों में 'नस्' मिलने के कारण 'नस्' को ही मूल प्रातिपदिक मानना उचित प्रतीत होता है।

प्रज्ञु, संज्ञु, ऊर्ध्वज्ञु

'प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः' (अष्टा० ५.४.१२९) सूत्र के अनुसार "बहुव्रीहि-समास में प्र और सम् से परवर्ती जानु शब्द को ज्ञु आदेश हो जाता है", जैसे—प्रकृष्टे जानुनी अस्य **प्रज्ञुः** 'दूर हटे हुये हैं घुटने जिसके'; संहते जानुनी अस्य **संज्ञुः** 'चलते हुये टकराते हैं घुटने जिसके'।

'ऊर्ध्वाद् विभाषा' (अष्टा० ५.४.१३०) सूत्र के अनुसार "बहुव्रीहि-समास में ऊर्ध्व शब्द से परवर्ती जानु शब्द को विकल्प से ज्ञु आदेश हो जाता है", जैसे-ऊर्ध्वे जानुनी अस्य **ऊर्ध्वज्ञुः** 'ऊपर की ओर उठे हुये हैं घुटने जिसके' (पक्ष में ऊर्ध्वजानुः)।

वस्तुतः प्रज्ञु, संज्ञु, ऊर्ध्वज्ञु आदि शब्दों की सिद्धि के लिये 'जानु' के स्थान पर 'ज्ञु' आदेश करने की आवश्यकता नहीं थी। 'घुटना' अर्थ में 'जानु' के अतिरिक्त 'ज्ञु' भी एक प्राचीन प्रातिपदिक था, जो धीरे-धीरे अप्रचलित हो गया। इससे सम्बद्ध 'जानु' शब्द चलता रहा 'ज्ञु' और 'जानु' के सजातीय शब्द अब भी बहुत सी भारत-यूरोपीय भाषाओं में 'घुटना' अर्थ में पाये जाते हैं, जैसे—ग्रीक (gonu), लैटिन (genu), फ्रेंच (genou), गोथिक (kniu), प्राचीन नोर्स (kne), डैनिश (knoe), स्वीडिश (kne), प्राचीन अंग्रेजी (cneo), मध्यकालीन अंग्रेजी (kne), आधुनिक अंग्रेजी (knee), डच (knie), प्राचीन हाई जर्मन (kniu), मध्यकालीन हाई जर्मन, आधुनिक हाई जर्मन (knie), अवेस्तन (znee), भारत-यूरोपीय भाषाओं में जो 'घुटने' के वाचक शब्द पाये जाते हैं उनमें कुछ में मध्यवर्ती स्वर है, कुछ में नहीं है। जिन शब्दों में मध्यवर्ती स्वर नहीं है, वे स्पष्टतः 'ज्ञु' के सजातीय दिखाई पड़ते हैं, जिनमें मध्यवर्ती स्वर हैं वे 'जानु' के सजातीय प्रतीत होते हैं।

'घुटना' अर्थ में 'ज्ञु' शब्द वैदिक भाषा में समस्त-शब्दों के अन्त में भी मिलता है और प्रारम्भ में भी, जैसे—**मितज्ञु** 'दृढ घुटनों वाला' (ऋग्वेद); **असितज्ञु** 'काले घुटनों वाला' (अथर्व० १२.१.२१); **ऊर्ध्वज्ञु** 'घुटनों को ऊपर किये हुये' (सत्याषाढ-श्रौतसूत्र १.७); **ज्ञुबाध्** 'घुटनों को मोड़ने वाला'

(ऋ० ६.१.६; काठ० १८-२०)। अकेले 'ज्ञु' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में भी नहीं मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि यह शब्द 'घुटना' अर्थ में वैदिक काल से भी पहिले प्रचलित रहा होगा। बाद में स्वतन्त्र रूप से अप्रचलित हो जाने पर भी यह शब्द समस्त शब्दों में पड़ा रहा।

शाङ्‌र्ग्धन्वन्, शतधन्वन्

'धनुषश्च' (अष्टा० ५.४.१३२) सूत्र के अनुसार "धनुःशब्दान्त बहुव्रीहि को भी अनङ् आदेश हो जाता है", जैसे—शाङ्‌र्गं धनुर्यस्य स **शाङ्‌र्गधन्वा** 'सींग का बना हुआ धनुष् है जिसका'; इसीप्रकार **गाण्डीवधन्वा, पुष्पधन्वा, अधिज्यधन्वा** आदि।

'वा संज्ञायाम्' (अष्टा० ५.४.१३३) सूत्र के अनुसार "धनुःशब्दान्त बहुव्रीहि को विकल्प से अनङ् आदेश होता है, यदि समास से संज्ञा की प्रतीति हो", जैसे—शतं धनूंषि यस्य स **शतधन्वा** 'सौ हैं धनुष् जिसके'।

वस्तुतः शाङ्‌र्गधन्वन्, शतधन्वन् आदि बहुव्रीहि-समास वाले शब्दों में अन्त में 'धनुष्' शब्द और अनङ् आदेश मानने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इन शब्दों के अन्त में 'धनुष्' का वाचक **'धन्वन्'** नपुं० शब्द है, 'धनुष्' नहीं। वैदिक साहित्य में 'धन्वन्' शब्द का 'धनुष्' अर्थ में प्रचुर प्रयोग पाया जाता है, जैसे—यत्र वष्टि प्र तदश्नोति धन्वना (ऋ० २.२४.८); ऋ० ६.५६.७; ७.५.२; ६.६६.१; अथर्व० १.३.६; ४.४.७; ११.६.१ आदि। ऋ० १०.१०३.३ और अथर्व० ८.६.१८, १६.१३.४ में इन्द्र को 'उग्रधन्वन्' कहा गया है। ऋ० ६.६०.३ और अथर्व० ११.४.२३ में 'क्षिप्रधन्वन्' शब्द का प्रयोग मिलता है। यद्यपि ऋग्वेद में 'धनुष्' शब्द का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है, तथापि 'धन्वन्' शब्द का 'धनुष्' अर्थ में अधिक प्रयोग दिखाई पड़ता है। अवेस्तन भाषा में भी 'धन्वन्' का सजातीय 'दन्वन्' शब्द 'धनुष्' अर्थ में पाया जाता है। 'धन्वन्' के सजातीय शब्द कतिपय भारत-यूरोपीय भाषाओं में एक विशेष प्रकार के (fir) नामक वृक्ष के लिये पाये जाते हैं, जैसे—प्राचीन हाई जर्मन (tanna), मध्यकालीन हाई जर्मन और आधुनिक हाई जर्मन (tanne), डच (den)। ऐसा प्रतीत होता है कि 'धन्वन्' शब्द मूलतः किसी विशेष प्रकार के वृक्ष को लक्षित करता था, जिससे धनुष् बनाये जाते थे। इस शब्द के अन्त्य 'वन्' से, जो मूलतः 'काष्ठ' अथवा 'वृक्ष' का वाचक था, यह सम्भावना प्रकट होती है।

युवजानि

'जायाया निङ्' (अष्टा० ५.४.१३४) सूत्र के अनुसार "जाया-शब्दान्त बहुव्रीहि को निङ् आदेश होता है"। 'अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार निङ् (=नि) आदेश अन्त्य वर्ण 'आ' के स्थान पर होता है। 'लोपो व्योर्वलि' (अष्टा० ६.१.६६) सूत्र के अनुसार "धातु तथा अधातु के वकार एवं यकार का लोप हो जाता है 'वल्' प्रत्याहार के किसी वर्ण के परे होने पर"। तदनुसार-युवतिर्जाया यस्य स **युवजानिः** 'जवान है पत्नी जिसकी'। 'युवति' को पुंवद्भाव 'युवन्' होता है और 'युवन्' के नकार का लोप हो जाता है। उपर्युक्त अष्टा० ५.४.१३४ के अनुसार 'जाया' के 'आ' के स्थान पर 'नि' होता है और अष्टा० ६.१.६६ के अनुसार 'य्' का लोप होता है।

वस्तुतः 'युवजानि' पुं० आदि शब्दों की सिद्धि के लिये 'जाया' के 'आ' को 'निङ्' (=नि) आदेश और यकार-लोप आदि का विधान करने की आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि 'पत्नी' अर्थ में **'जानि'**

स्त्री० एक स्वतन्त्र प्रातिपदिक रहा है, वही 'युवजानि' आदि बहुव्रीहि-समास वाले शब्दों के अन्त में है। 'युवजानि:' का विग्रह होना चाहिये—युवतिर्जायस्य सः।

'जानि' स्त्री० शब्द √जन् 'उत्पन्न करना' धातु से निष्पन्न 'जनि' स्त्री० शब्द से अकार के दीर्घ हो जाने से विकसित हुआ शब्द है। ऋग्वेद में 'जनि' शब्द का 'पत्नी' अर्थ में प्रचुर प्रयोग पाया जाता है, जैसे—जनयो न सप्तयः (ऋ० १.८५.१); ४.५.५; १९.५; ५.६१.६; ७.१८.२; २६.३; ९.८६.३२ आदि। ऋग्वेद १०.१८.८ में 'जनित्व' शब्द 'पत्नीत्व' अर्थ में आया है। अथर्व० २.३०.५ में 'पत्नी की इच्छा रखने वाला' अर्थ में 'जनिकाम:' शब्द का प्रयोग मिलता है।

'जनि' से विकसित हुआ 'जानि' स्त्री० शब्द भी ऋग्वेद में 'पत्नी' अर्थ में पाया जाता है। प्राप्त उदाहरणों से यह दिखाई पड़ता है कि यह शब्द वैदिक साहित्य में बहुव्रीहि-समास वाले शब्दों के अन्तिम शब्द के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है, जैसे—**युवजानि** 'जवान पत्नी वाला' (ऋ० ८.२.१९); **भद्रजानि** 'सुन्दर पत्नी वाला' (ऋ० ५.६१.४); **अजानि** 'पत्नीरहित' (अथर्ववेद); **विजानि** 'पत्नी-रहित' (अथर्व० ५.१७.१८); **द्विजानि** 'दो पत्नियों वाला' (ऋ० १०.१०१.११); **वित्तजानि** 'पत्नी को प्राप्त कर लेने वाला' (ऋ० १.११२.१५); **समुज्जानि** 'पत्नी-सहित' (ऋ० १.१५६.२)। अनेक समस्त शब्दों में 'जानि' शब्द के 'पत्नी' अर्थ में मिलने के कारण यह प्रतीत होता है कि यह शब्द पहिले 'पत्नी' अर्थ में पृथक् रूप में भी प्रचलित रहा होगा।

'जनि' और 'जानि' से सम्बन्धित शब्द बहुत सी भारत-यूरोपीय भाषाओं में 'स्त्री' और 'पत्नी' अर्थ में पाये जाते हैं, जैसे—ग्रीक (gune), आयरिश (ben), प्राचीन नोर्स (kona), प्राचीन हाई जर्मन (quena), चर्च-स्लैविक, सर्वो-क्रोशियन, बोहेमियन (zena), लिथुआनियन (zmona) शब्द 'स्त्री' और "पत्नी" दोनों अर्थों में पाये जाते हैं। गोथिक (qino) 'स्त्री', (qens), 'पत्नी', डैनिश (koinde), 'स्त्री', (kone), 'पत्नी'; स्वीडिश (koinna), प्राचीन अंग्रेजी (cwene), 'स्त्री', (cwen), पत्नी, मध्यकालीन अंग्रेजी (quene), 'स्त्री'; आधुनिक अंग्रेजी (queen), 'रानी'; मध्यकालीन हाई जर्मन (kone), पोलिश (zona), रूसी (zena), 'पत्नी'; अवेस्तन (jani), (आधुनिक फारसी ज़न्) 'स्त्री' अर्थ में मिलते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि लौकिक संस्कृत में भी 'जानि' स्त्री-शब्द कई समस्त शब्दों के अन्त में 'पत्नी' अर्थ में पाया जाता है, जैसे—**अनन्यजानि** 'जिसकी अन्य कोई पत्नी नहीं है' (रघु० १५.६१); हृतजानि 'हरण कर ली गई है पत्नी जिसकी' (महावीर० ४.५) आदि।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पाणिनीय व्याकरण में बहुत से समस्त शब्दों में आये प्रातिपदिकों के विषय में भ्रान्त धारणायें प्रचलित हैं। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि पाणिनीय व्याकरण के वर्णनात्मक व्याकरण होने के कारण उसमें संस्कृत भाषा की संरचना को अपने विशिष्ट ढंग से समझाया गया है। उनका कहना है कि जिन शब्दों में पाणिनि अथवा अन्य वैयाकरणों द्वारा यह विधान किया गया है कि अमुक शब्द के स्थान पर अमुक आदेश हो जाता है, वहाँ ऐसा नहीं है कि वैयाकरणों को आदिष्ट स्थानापन्न के प्रातिपदिक होने में सन्देह हो, प्रत्युत यह सोचकर आदेश किया जाता है कि जिसके स्थान पर आदेश का विधान किया जा रहा है वह भाषा में अधिक प्रचलित (अथवा उनके काल में प्रचलित) शब्द है और आदिष्ट स्थानापन्न का भाषा में कहीं-कहीं, विशेष रूप से प्राचीन भाषा में, प्रयोग उपलब्ध होता है। यदि यह तर्क माना भी जाये तो भी आदिष्ट स्थानापन्न को, जबकि वह स्वयं प्रातिपदिक हो, किसी ऐसे शब्द के स्थान पर होना बतलाना जो वस्तुतः वहाँ न हो, भ्रान्त धारणाओं को जन्म देने वाला वक्र मार्ग तो है ही। इसके अतिरिक्त संस्कृत व्याकरण के सामान्य अध्येता तो यह ही समझते हैं कि

अमुक शब्द के स्थान पर अमुक आदेश हो जाता है। यदि आदिष्ट स्थानापन्न को, जहाँ वह वस्तुतः प्रातिपदिक है, मूल प्रातिपदिक मानकर ही पाणिनि तथा उनके अनुयायी वैयाकरणों द्वारा शब्दों की सिद्धि की गई होती तो यह स्थिति वास्तविकता के अनुरूप भी होती और अनावश्यक भ्रान्त धारण.यें प्रचलित नहीं होती तथा पाणिनि और अन्य वैयाकरणों को बहुत से सूत्रों एवं वार्तिकों द्वारा अनावश्यक नियमों की व्यवस्था करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सन्दर्भ संकेत—

१. दम्पती जम्पती जायापती च तौ। अमरकोश २.७.३८।
२. सर्वासां समानं दम्पतिं भुजे। ऋ० १.१२७.८।
३. वैदिक ग्रामर फ़ोर स्टुडेण्ट्स, ७८.३।
४. संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी।
५. अथर्व० ११.७.१७; १२.५.७; १८.३.१।
६. भागवतपुराण ६.१७.८ आदि।
७. रघु० ८.१०।
८. 'शरीरावयवाद् यत्' (अष्टा० ५.१.६) सूत्र के अनुसार "उसके लिये हितकर (तस्मै हितम्) इस अर्थ में शरीरावयव-वाचक शब्दों से यत् प्रत्यय होता है, जैसे—नासिकायै हितं **नस्यम्** (नासिका के स्थान में नस् आदेश होता है।)
९. अष्टा० ६.१.६३ में विधान किया गया है कि 'नासिका' शब्द के द्वितीया विभक्ति बहुवचन से लेकर सप्तमी बहुवचन तक के रूपों में 'नस्' आदेश हो जाता है।
१०. वैदिक ग्रामर फ़ोर स्टुडेण्ट्स, ८.३.१।
११. संस्कृत ग्रामर, ३८७, ३९७।
१२. संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी।

रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
लाजपतराय कालेज, साहिबाबाद।

□ डॉ० जगदीश प्रसाद

वैज्ञानिक शब्दों की उत्पत्ति

अपने भावों को व्यक्त करने के लिये मनुष्य, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े तथा कीट-पतंग आदि प्रत्येक प्राणी की एक भाषा होती है। मनुष्य यदि अपनी भाषा का विवेकपूर्ण ढंग से प्रयोग करे तो यह न केवल रूढ़ियों एवं ऊँच-नीच के भेद-भावों को नष्ट करने वरन् राष्ट्रीय एकता तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव पैदा करने का सशक्त माध्यम बन सकती है। महाब्राह्मण, महतर, प्रज्ञाचक्षु या सूरदास या हाफ़िज़ (नेत्रविहीन) खलीफा (नाई) शब्द संभाषण-माधुर्य तथा उच्च संस्कृति के द्योतक हैं। विज्ञान और साहित्य का अटूट सम्बन्ध है। फलतः प्रत्येक देश में प्राचीन काल से ही विज्ञान सम्बन्धी साहित्य भी लिखा गया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो देश और जाति विज्ञान के क्षेत्र में अधिक उन्नत रहे है उसकी भाषा और साहित्य भी उतना ही समृद्ध रहा है।

प्रत्येक शब्द में सुदूर अतीत का एक लम्बा इतिहास निहित रहता है। यथा—सर्जरी के लिये संस्कृत के 'शल्य' शब्द की व्युत्पत्ति से पता लगता है कि युद्ध में चुभे हुए बाण आदि के निकालने में इस विद्या का प्रारम्भ हुआ था। अंग्रेजी का 'राइस' (Rice) शब्द दक्षिण भारत में चावलों के लिये प्रचलित तमिल के 'अरिसि' शब्द से बना है। प्रारम्भ में यूरोप से चलकर भारत के सूरत बन्दरगाह पर उतरने के कारण तम्बाकू का नाम 'सुरती' हो गया। चीन से आने के कारण शर्करा का 'चीनी' तथा मिस्र से आने के कारण 'मिस्री' नाम पड़ा।

अति प्राचीन काल में संसार में भारत और उसकी भाषा संस्कृत का एकछत्र सांस्कृतिक साम्राज्य था। भारत का ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, दर्शन तथा कला-कौशल अरब होता हुआ मिस्र, यूनान तथा पश्चिमी यूरोप पहुँचा। अतः प्राचीन गणित-शब्दावली संस्कृत से प्रभावित है। आधुनिक विज्ञान के शब्द-समूह का अधिकांश भाग लैटिन और यूनानी भाषाओं की धातुओं से बना है, क्योंकि सोलहवीं शताब्दी में जब आधुनिक विज्ञान का विकास होना आरम्भ हुआ तो उस समय यूरोप में लैटिन शिक्षित समाज की भाषा थी और अनेक लोग यूनानी को समझ सकते थे, इसीलिये उस काल में इन भाषाओं से शब्दों का निर्माण करना ऐसी ही बात थी जैसे आज आधुनिक यूरोपीय भाषाओं से है और इन भाषाओं के मृत बन जाने के बाद भी इन पर आधृत वैज्ञानिक शब्दावली अन्तर्राष्ट्रीय बनी रही।

वैज्ञानिक शब्दावली का वर्गीकरण—विज्ञान में अध्ययन किये जाने वाले तत्त्व, यौगिक, उपकरण, घटना तथा क्रिया आदि का नामकरण किसी एक नियम के द्वारा नहीं हुआ है। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से वैज्ञानिक शब्दों (Terms) के नाम रखने की विधियों को निम्नलिखित दस वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(१) **संस्कृत से अनूदित**—आज के अंकगणित (Arithmetic) का प्राचीन भारत में प्रचलित पर्यायवाची 'पाटीगणित' का अरब वालों ने 'इल्म-हिसाब-अलतख्त' तथा 'हिसाबुलहिंद' शब्दों में अनुवाद किया। अंग्रेजी में इसका 'अबेकस' (Abacus) शब्द से अनुवाद हुआ। अंग्रेजी का 'अबेकस' शब्द यूनानी 'आबक्स' (Abax) से निकला है जो स्वयं सेमेटिक आबाक (Abaq) से बना है'। आबाक का अर्थ है 'धूल'। प्राचीन काल में ज्योतिषी लोग पट्टी पर धूल बिछा कर परिकलन किया करते थे। यूरोप के प्राचीन अबेकस के रूप में आज पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। अंग्रेजी का 'अरिथमेटिक' भारत के 'अंकगणित' का अनुवाद मात्र है।

हिन्दी में आज जिसे 'बीजगणित' नाम से पुकारते हैं उसका नाम ब्रह्मगुप्त (लगभग ६२८ ई०) ने रखा था 'कुट्टक' जो कि 'कुट्ट' (कूटना, कुट्टी करना, पीसना) धातु से बना है। कुट्टक का अर्थ

है कूटने या कुट्टी करने वाला अथवा उसका उपकरण जो उस समय प्रायः पत्थर का लोढ़ा होता था ।[२] ८२५ ई० में अरबी लेखक अलख्वारिज्मी ने इसका अनुवाद किया 'अलजब्रुल मुकाबला' । इटली के लियोनार्दोफिबोनेचि ने इसे 'ऐलजब्रा (Algebra) कहा यद्यपि प्रारम्भ में अंग्रेजी में इसका अनुवाद 'ऐनेलिसिस' (Analysis) शब्द के द्वारा भी किया गया था; किन्तु कालान्तर में ऐलजब्रा शब्द इतना लोकप्रिय हो गया कि अंग्रेजी के ऐनेलिसिस शब्द को इसने लोप कर दिया । इस प्रकार अंग्रेजी का ऐलजब्रा संस्कृत के बीजगणित का अनुवाद मात्र है । जापानी भाषा में इसका अनुवाद है 'किगेनसीहो' (Kigenseiho—अव्यक्त को व्यक्त करना) ।

भारत के 'शून्य' का अरबी में अनुवाद हुआ था 'सिफ़' शब्द से । अरब से मिस्र-स्पेन-फ्रांस होता हुआ यह शब्द जब इंगलैंड पहुँचा तो यह 'साइफ़र' (Cipher) बन गया । अरब से इटली में (Zephero) होकर, फ्रांस से होता हुआ जब यह इंगलैंड पहुँचा तो 'जीरो' (Zero) बन गया ।[३]

संस्कृत में एक शब्द था 'करणी' । ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे 'कर्णी शब्द को भूल से अरब वालों ने 'अकर्णी' समझ लिया । अकर्णी का अर्थ है 'बहिरा' । अतः कर्णी को अकर्णी समझकर अरबी में इसका अनुवाद 'असम', लैटिन तथा अंग्रेजी में 'सर्ड' (Surd) कर दिया गया, क्योंकि असम तथा सर्ड दोनों का अर्थ है 'बहिरा' । हम भी शुद्ध के लिये विदेशी शब्द 'खालिस' (Pure) को भूल से 'निखालिस' (Impure) कह देते हैं । अतः 'असम' तथा 'सर्ड' संस्कृत के 'कर्णी' के ही अनुवाद हैं । गणित में प्रयुक्त संस्कृत के 'मूल' का ही अरबी में 'जज्र', अंग्रेजी में 'रूट' (Root) तथा लैटिन में 'रैडिकल' (Radical) अनुवाद हैं, क्योंकि इन सब का अर्थ है 'पेड़ की जड़' ।

(२) **देवताओं के नाम पर**—एक नये खोजे गये तत्त्व जिसके नाम के विषय में १८०२ ई० से वैज्ञानिकों में मतभेद हुआ था, १८१४ ई० में स्वीडनवासी बैरन जौंज जैकब बर्जीलियस (१७७९–१८४८) ने इसका नाम टैन्टेलम (Tantalum) रख दिया जो कि यूनानी पौराणिक कथाओं के (Tantalus) राजा के नाम पर रखा गया था; क्योंकि जैसे टैन्टेलस पर पानी का प्रभाव नहीं पड़ता था, उसी प्रकार से टैन्टेलम धातु पर किसी भी अम्ल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । साइफ़न (Siphon) के सिद्धान्त पर काम करने वाले 'Tantalus cup' नामक वैज्ञानिक खिलौने का हिन्दी में 'वासुदेव-प्याला' अनुवाद मात्र है ।

(३) **ग्रहों के नाम पर**—१७८१ ई० में खगोलज्ञ विलियम हरशेल ने एक नया ग्रह खोजा और उसका नाम यूरेनस (Uranus) रखा जो कि यूनानी देवता ऊरेनोस (Ouranos) शब्द से बना है । १७८१ ई० में जर्मन रसायनज्ञ क्लेप्रोथ ने पिच ब्लैंड नामक एक काली खनिज से एक नई धातु की खोज की । उसने इस धातु का नाम नये ग्रह यूरेनस के नाम यूरेनियम (Uranium) रखा । बुध (Mercury) नामक ग्रह के नाम पर पारद (पारा) धातु का नाम मर्करी (Mercury) रखा गया है ।

(४) **खनिजों के नाम पर**—इंगलैंडवासी कवि तथा दार्शनिक सर हम्फ्री डेवी (१७७८--१८२९) धारा-विद्युत् द्वारा पोटाश तथा कॉस्टिक सोडा आदि क्षारों को उनके अवयवी तत्त्वों—पोटैशियम, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन तथा सोडियम, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन में विघटित करने में १८०७--८ ई० में सफल हुआ । उसी ने इन तत्त्वों को पोटैशियम, सोडियम, बैरियम स्ट्रॉन्शियम तथा मैग्नीशियम नाम प्रदान किये । इन नामकरणों का आधार उसने उन खनिजों को बनाया जिनसे ये तत्त्व प्राप्त होते थे; जैसे—पोटाश (Potash) से पोटैशियम (Potassium), सोडा (Soda) से सोडियम (Sodium), बेरिटा (Baryta) से बेरियम (Barium), स्ट्रॉन्शिया (Strontia) से स्ट्रॉन्शियम तथा मैग्नीशिया (Magnesia) से मैग्नीशिअम (Magnesium) ।

(५) **स्थान-विशेष के नाम पर**—यूनानी दार्शनिक अफलातून (Plato, ४२७-३४७ ई० पू०) अपने गुरु सुकरात (Socrates) के नैतिक मूल्यों के प्रति अत्यधिक आस्थावान था। उसने एकेडेमीया (Academeia) नामक स्थान पर एक विश्वविद्यालय का बीजारोपण किया : इस स्थान के नाम पर ही इस विश्वविद्यालय का नाम एकेडेमी (Academy) पड़ा। आज भी यह शब्द विद्वत्-मण्डलियों (जैसे 'Indian Academy of Sciences' तथा 'Rajasthan Academy of Sciences') आदि के लिए प्रयुक्त होता है। क्योंकि अफलातून का दर्शन अत्यधिक सैद्धान्तिक और अमूर्त था अत: एकेडेमिक Academic) शब्द को आज दो अर्थों 'सैद्धान्तिक' तथा 'अव्यावहारिक' में प्रयुक्त किया जाता है।

इतालवी प्लीनी ने मैंगनीज डाइ-ऑक्साइड का नामकरण किया। यूनानी थेलस ने एशिया माइनर के मैग्नीशिया नगर से प्राप्त एक चुम्बकधारी खनिज को मैग्नीज (Magnes) कहा था। प्लीनी ने एक और खनिज को जो उपर्युक्त पदार्थ से मिलता-जुलता था मैग्नीज (Magnes) नाम दिया। जब प्लीनी के ग्रन्थ का अरबी में अनुवाद हुआ तो अनुवादक ने गलती से मैग्नीज (Magnes) को मैंगनीज (Manganese) लिख दिया।

(६) **वैज्ञानिकों के नाम पर** —परमाणु को निर्मित करने वाले भौतिक कण—इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन तथा न्यूट्रॉन आदि बोसोन (Boson) तथा फर्मिओन (Fermion) नामक दो वर्गों के अन्तर्गत आते हैं। भारत के ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक सत्येन्द्र बोस के नाम पर 'बोसोन' तथा इटली के प्रसिद्धनामा वैज्ञानिक एनरिको फ़र्मि के नाम पर 'फ़र्मिओन' शब्द बने हैं। नोबेल पुरस्कार विजेता भारत के भौतिक-विज्ञानी सर चन्द्रशेखर वेंकट रामन् के नाम पर रमन प्रभाव (Raman Effect), काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय के सेवानिवृत्त प्राचार्य—भौतिक-रसायनज्ञ श्रीधर सर्वोत्तम जोशी के नाम पर जोशी प्रभाव (Joshi Effect), भारत के सत्येद्र बोस तथा जर्मनी के ऐल्बर्ट आइंस्टाइन दोनों के संयुक्त नामों से बोस-आइंस्टाइन साँख्यिकी (Bose-Einsstein Statistics), गॉस के नाम पर गॉस-प्रमेय (Gauss-Theorem) आदि अनेक नाम उनके आविष्कर्ताओं के नाम पर रखे गये हैं।

(७) **संक्षिप्तीकरण के आधार पर**—रसायन में प्रयुक्त लम्बे नामों के प्रथमाक्षरों को लेकर, जन-साधारण की सुविधा के लिए, छोटे नाम बना दिये गये हैं; जैसे—ट्राइ नाइट्रो टॉलूईन (Tri Nitro Toluene) के लिए टी ऐन टी (TNT) तथा डाइक्लोरो डाइफ़िनाइल ट्राइक्लोरीएथेन (Dichloro Diphenyl Trichloro-ethane) के लिए डी डी टी (D D T) बड़े शब्दों वाले पदार्थों के संक्षिप्त (छोटे) नाम हैं। इसी प्रकार, अनाज को कीड़ा लगने से बचाने के लिए प्रयुक्त कैप्स्यूल में भरी दवाई बेन्जीन हेक्सा क्लोराइड (Benzene Hexo Chloride) के लिए बी एच सी (BHC), कपड़े धोने के कृत्रिम पाउडर (Synthetic detergent) के लिए सिंडिट (Syndet), मानव-निर्मित रेशे (Fibre) से बने कपड़े (Poly Fibre) के लिए Polyfibron, पानी व बिजली के लिए प्रयुक्त पाइप बनाने में, लोहे के स्थान पर, प्रयुक्त कृत्रिम पदार्थ (हाई पोलीमर) पोली विनाइल क्लोराइड (Poiy Vinyl Chloride) के लिए पी वी सी (PBC) आदि संक्षिप्त नाम प्रमुक्त होते हैं।

पहले रसायन में ही यह संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति थी, किन्तु बाद में भौतिकी आदि सभी में इसका प्रयोग होने लगा। जैसे—१९३५ ई० में सर्वप्रथम राडार (RADAR) शब्द का निर्माण हुआ। यह शब्द Radio Directing and Ranging नाम के उपकरण के प्रथम अक्षरों (RA, D, A, R) से बनाया गया था।

(८) **विभिन्न भाषाओं से अनूदित**—१९१२ ई० में अमरीकी जैव-रसायनज्ञ कैजीमीर फन्के ने देखा कि चावल की भूसी में एक ऐसा पदार्थ विद्यमान है जो बेरीबेरी (Beri-beri) रोग की रोकथाम

करता है। प्रारम्भ में इस पदार्थ को 'ऐमीन' (Amine) कहा गया। इस प्रकार के जितने भी रोगनिवारक पदार्थ थे उनको फन्के ने ऐमीन वर्ग का ही समझा और उनका नाम विटैमीन (Vitamine) रखा जो लैटिन 'विटा' (Vita = जीवन) से बना है। अतः विटैमीन (Vitamine) का अर्थ हुआ 'जीवन का ऐमीन'। बाद में पता चला कि इसमें ऐमीन (NH_2) वर्ग नहीं होता। किन्तु विटैमीन शब्द बहुत अधिक प्रचलित हो गया था, अतः Vitamine का अन्तिम वर्ण 'e' उड़ा दिया गया, जिससे कि वैज्ञानिकों को यह भ्रम न हो कि विटैमिनों में ऐमीन (Amine) वर्ग होता है। तब से इसकी वर्तनी विटामिन (Vitamin) हो गई है।

प्राचीन रोमवासी काल (समय) की गणना चन्द्रमा के आधार पर करते थे। अमावस्या से अगले दिन जब चाँद निकलता था तो रोम के पुरोहित नये मास के प्रारम्भ होने की घोषणा करते थे, अतः वे मास के प्रथम दिन को कलैंड्स (Calends, लैटिन—Calare = घोषणा करना) कहते थे। कालान्तर में यह शब्द सम्पूर्ण मास के लिए प्रयुक्त होने लगा। बाद में बारहमासी सारणियों के लिए यह कलैंडर (Calendar) शब्द में विकसित हो गया।

राइबोज (Ribose) नाम अरबी से आया है। अरब से अरैबिनोज (Arabinos) शब्द बना जिसको गम अरैबिक (Gum Arabic) भी कहते हैं और जो सर्वप्रथम अरब से दूसरे देशों को निर्यात किया जाता था। 'गम' (Gum) शब्द यूनानी 'कुमी' (Kummi = रस) से लैटिन में 'गुमी' (Gummi) बना और उसी से आधुनिक गम (Gum) शब्द निसृत है। इस प्रकार 'गम अरैबिक' (Gum Arabic) का अर्थ हुआ 'अरब का रस', यही अरैबिनोज (Arabinos) का अर्थ भी है।

इतालवी अमादिओ आवोगाद्रो (Amadeo Avogadro, १७७६–१८५६) ने लैवोशिए (Lavoisier) की रासायनिक पारिभाषिक शब्दावली का विकास किया। उसने तत्वों के लैटिन नामों के कैपिटल अक्षरों से उनको संक्षेप में व्यक्त करने की प्रथा डाली। यथा—ताँबे (Coppre) को लैटिन के क्युप्रम (Cuprum) के Cu से, लोहे (Iron) को लैटिन के फ़ेरम (Ferrum) के Fe से व्यक्त किया। उसने ही एक संयुक्त पदार्थ (यौगिक) को उसमें विद्यमान तत्वों के परमाणुओं के समूह से लिखने की पद्धति (सूत्र या फॉर्मूला) आरम्भ की; जैसे—तूतिया (Copper Sulphate) को $CuSO_4$ सूत्र से प्रदर्शित किया।

सत्रहवीं शताब्दी में अम्ल (Acid) के प्रतिरोधी के लिए 'ऐलकनि' (Alkali = क्षार) शब्द का प्रयोग हुआ था। यह शब्द अरबी 'ऐलकिलि' (Alquili = पौधे की राख) का लिप्यन्तरित रूप है। 'ऐसिड' (Acid = अम्ल) शब्द लैटिन के 'ऐसिरे' (Acara = खट्टा) शब्द से बना है। परन्तु आधुनिक रसायन ने इस शब्द को नये अर्थ प्रदान किये हैं।

'केन्द्र' (Centre) यूनानी शब्द 'केंत्रान' (Kentron = छेदना, चुभोना) का संस्कृत में लिप्यन्तरण है। केंत्रान का शब्दार्थ है 'सूक्ष्म बिन्दु'। नुकीली परकार से वृत्त खींचते समय उसकी नोक से कागज में में एक बिन्दु (छिद्र) बन जाता है जो कि उस वृत्त का केन्द्र ही होता है। अतः यूनानी में यह शब्द केन्द्र के लिए प्रयुक्त होता था। प्राचीन आइरिश भाषा में इसके लिए 'सिंटेर' (Cintair = पैना) शब्द है। संस्कृत में केन्द्र शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यूनानी ज्योतिष से प्रभावित भारतीय खगोलज्ञ वराहमिहिर (५५० ई०) ने ज्योतिष में किया था।

(९) गुणों के आधार पर—ब्रूनो में खगोलज्ञ कोपरनिकस के सिद्धान्तों को विकसित करके कहा कि 'न केवल पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है वरन् सूर्य भी घूमता है'। उस युग में ईसाई धर्म में

अंधविश्वासी लोगों (पोप) का बोलबाला था, अतः ईसाई धर्म की मान्यता के विरुद्ध यह बात कहने के कारण ब्रूनो को १६०० ई० में जीवित जलाकर मार दिया गया। ब्रूनो के अनुयायी तथा महारानी एलिजैबेथ के व्यक्तिगत त्रिकित्सक विलियम गिलबर्ट ने परस्पर आकर्षित करने वाली शक्तियों का अध्ययन किया और उसने ही 'इलेक्ट्रिसिटी' (Electricity) शब्द बनाया। यूनानी में ऐम्बर (Amber) नाम के चीड़ के जीवाश्मिल राल (Fossilised resin) को इलेक्ट्रॉन (Elektron) कहते हैं। इसको कपड़े से रगड़ने पर इसमें पंख, ऊन आदि को आकर्षित करने की शक्ति आ जाती है। इसी से गिलबर्ट ने आकर्षित करने वाली शक्तियों का नाम इलेक्ट्रॉन (Elektron) से इलेक्ट्रिसिटी (Electricity = विद्युत) रखा।

१८८७ ई० इंगलैंडवासी सर जे० जे० थोमसन (१८५६-१९४०) ने पदार्थ के अतिसूक्ष्म ऋणावेशित कण की खोज की और इसका नाम कोरपुसल (Corpusela, लैटिन—Corpusculum = सूक्ष्म पदार्थ) रखा। बाद में स्टोनी ने इसको इलेक्ट्रॉन (Electron, यूनानी—बिजली पैदा करने वाली राल, ऐम्बर) नाम दिया। १९३२ ई० में एन्डरसन ने अतिसूक्ष्म धनावेशित कण की खोज की और उसका नाम पोजीट्रॉन (Positron) रखा। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसका नाम पोजिटिव (Positive) से पोजीटोन (Positon) होना चाहिए था, किन्तु 'r' अक्षर इलेक्ट्रॉन से समानता बनाने के लिए लगा दिया गया इसी प्रकार, बाद में खोजे गये आवेशरहित (Neutral) सूक्ष्म कण का नाम न्यूट्रॉन (Neutron) रखा गया। १९२० ई० में लॉर्ड रदरफोर्ड ने परमाणु के केन्द्रक (Neucleus) पर स्थित धनावेशित सूक्ष्म कणों को प्रोटॉन (Proton, यूनानी—Protos = प्रथम) नाम दिया।

यूनानी हैरोडोटस (४८४-४२५ ई० पू०) पश्चिमी नृशंस-शास्त्र और इतिहास का पिता कहा जा सकता है, क्योंकि इसी ने सर्वप्रथम इतिहास तथा मानव-विज्ञान पर विधिवत् पुस्तकें लिखी थीं। उसने ही 'डेल्टा' (Delta = मुहाना) शब्द का निर्माण किया था। मिस्र की नील नदी जिस स्थान पर भूमध्य सागर में गिरती है उसका रूप उसे त्रिभुज (tringle) के समान लगा और यूनानी वर्णों में डेल्टा (△) अक्षर का आकार त्रिभुज जैसा होता है। अक्षरों के आकारों पर बाद में भी अनेक वैज्ञानिक शब्दों, जैसे यू-नली (U-tube) और टी—संधि (T-joint) आदि का निर्माण हुआ।

थेल्स (५०० ई० पू०) को यूनानी ज्योतिष का पिता माना जाता है। उसके युग में त्रिभुज को ट्राईगिल (Triangle) नहीं वरन् ट्रिगॉन (Trigon), यूनानी Tri = तीन, gon, Gonia = कोण, अर्थात् त्रिकोण) कहते थे। समद्विबाहु त्रिभुज को आइसोसिलीओ (यूनानी—Isoselio, Isos = बराबर, skelos = टाँग)–नाम भी उसी का दिया हुआ माना जाता है; क्योंकि आदमी जब अपनी दोनों टाँगें खोलकर खड़ा होता है तो उसकी टाँगें पृथ्वी के साथ समद्विबाहु त्रिभुज (Isoslas Triangle) बनाती हैं।

अरस्तू के समय पुच्छल तारों को यूनानी में 'कोमेट्स' (Komates = लम्बे बाल) कहते थे; क्योंकि पुच्छल तारे की आकृति उनको किसी लम्बे बिखरे बाल वाली मदमत्त दौड़ती नारी के समान प्रतीत होती थी। रोम वालों ने इनको 'स्टेली कोमेटी' (Stellae Cometae = बालधारी सितारे) नाम दिया और अंग्रेजी में इनको अब केवल 'कोमेट' (Comet) कहा जाता है।

अरबों ने कॉफी का नाम क़हवा (सुरा) रखा था, क्योंकि उन्होंने इसे सुरा (शराब) जितना उत्तेजक पाया था। अरब से जब यह १६०० ई० में यूरोप गई तो फ्रांस में इसे कॉफ़ी (coffee) कहा गया। स्पेन में कॉफ़ी बेचने और पीने के छोटे-छोटे स्थानों को कैफ़े (Cafe) और कैफ़ेटेरिया (Cafetaria = कॉफ़ी-गृह) कहा जाता था। १८२० ई० में एक जर्मन रसायनज्ञ रूंगे (Runge) ने कॉफ़ी से एक यौगिक कॉफ़ीन (Cofline) को अलग किया था।

अपोलोनियस (२२० ई० पू०) ने सर्वप्रथम शंकु (Cone) के विभिन्न भागों से सम्बन्धित शांकव परिच्छेदों (Conic Sections) के शास्त्रों को नया वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। उसने पैराबोला (Parabola = परवलय), हाइपरबोला (Hyperbola = अतिपरवलय) और इलिप्स (Ellipse = दीर्घवृत्त) शब्द बनाये। उसने पैराबोला को यूनानी के दो शब्दों—'पैरा' (Para = अलग) तथा बॉलिन (Ballin = फेंकना) अर्थात् 'आगे से फेंकना' से बनाया। पैराबोला पथ पर चलने वाला कोई विन्दु कभी भी अपने उद्गम स्थान पर वापिस नहीं आता। क्योंकि हाइपरबोला की आकृति दो पैराबोलाओं को उल्टा सटाकर रखने से बनती है, अतः पैराबोला में यूनानी उपसर्ग 'हाइपर' (Hyper = ऊपर या आगे) लगाकर उसने हाइपरबोला (Hyperbola) शब्द बनाया। प्राचीन यूनानियों ने देखा कि एक वृत्ताकार तश्तरी की प्रतिच्छाया (Shadow) सम्पूर्ण रूप से वृत्त नहीं होती; अर्थात् उसमें कुछ त्रुटि रह जाती है। त्रुटि को यूनानी में इलीपसिस (Elleipsis) कहते हैं; इसी से इलिप्स (Ellipse) शब्द का विकास हुआ।

ऑक्सफ़ोर्ड के प्रो० जॉन वेलिस ने १६५५ ई० में 'Arithmetica Infinitorum नामक पुस्तक प्रकाशित की। १६५७ ई० में इसका बीजगणित प्रकाशित हुआ, जिसमें उसने इनफिनिटी (Infinity = अनन्त) के लिए सर्वप्रथम '∞' संकेत बनाया जो आज भी चलता है। ∞ संकेत का अर्थ है 'अनन्त की दशा,' परन्तु साधारणतः इसे अनन्त (Infinity) के लिए प्रयुक्त किया जाता है। 'फाइनाइट' (Finite) शब्द लैटिन के 'फिनिसि' (Finise = अन्त) से बना है। इसमें 'इन' (In = नहीं) उपसर्ग लगाने से बना इनफाइनाइट' (Infinite = नहीं है अन्त जिसका)।

१८९४ ई० में इंगलैंडवासी सर विलियम रैमज़े (१८५२–१९१६) ने वायु में एक गैस खोजी जिसका नाम उसने आर्गन (Argon = निकम्मा) रखा। यह नाम यूनानी शब्द 'एर्गन' (Ergon = कार्य) में A (नहीं) उपसर्ग लगाने से बना है। सचमुच में रासायनिक दृष्टि से आर्गन निष्क्रिय (Inactive) है। १८९४–९८ के मध्य रैमज़े ने वायु में और तीन नई गैसें खोजीं, जिनके नाम उसने रखे—नीऑन (Neon, यूनानी—Neos = नया), क्रिप्टॉन (Krypton = छिपा हुआ) और ज़ीनॉन (Xenon, यूनानी = Zenos अजनबी)। १९०० ई० में जर्मन भौतिक-विज्ञानी फ्रैड्रिक अर्नेस्ट डोन ने रेडियम तत्त्व से निकली एक गैस का नाम इसी परम्परा में रेडॉन (Radon) रखा।

फ्रांसीसी रसायनज्ञ ऐन्तोइन लौराँ लैवोशिए (१७४३–१७९४) ने Hydrogene (जो अंग्रेजी में Hydrogen हो गया) को यूनानी शब्द Hydro (पानी) में genes (उत्पादक) प्रत्यय लगाकर बनाया। उसने १७७८ ई० में Oxygene (अंग्रेजी में Oxygen) को यूनानी के Oxys (तेज़) में genes (उत्पादक) प्रत्यय लगाकर तेज़ (अम्ल) पैदा करने वाले के अर्थ दिये। परन्तु उसका यह विचार बाद में गलत सिद्ध हुआ कि ऑक्सीजन 'अम्ल-निर्माता' है। इसी पद्धति पर १७९० ई० में फ्रांसीसी रसायनज्ञ चैप्टल (Chaptal) ने नाइट्रोजन (Nitrogen, Nitre = शोरा, genes = उत्पादक, अर्थात् शोरा-उत्पादक) शब्द बनाया। लैवोशिए ने इसको 'ऐज़ोट' (Azote = जीवनहीन) नाम दिया था। लैवोशिए के Azote नाम के कारण ही आज भी जैव-रसायन के अनेक नाइट्रोजनधारी पदार्थ Azo compounds, Diazo compounds, Hydrazo compounds, Azonian compounds आदि कहलाते हैं।

१८३४ ई० में जर्मन रसायनज्ञ हलहार्ट ने बेन्ज़ीन (Benzene) नामक पदार्थ को प्रयोगशाला में बनाया और उसका नाम बेन्ज़िन (Benzin) रखा। बेन्ज़ीन शब्द का विकास हिन्देशिया के एक वृक्ष बेन्ज़ोइन (Benzoin) से हुआ है, जिससे एक रालधारी (gum) जैसा पदार्थ गम बेन्ज़ोइन प्राप्त होता है। इस राल से एक अम्ल (बेन्जोइक अम्ल) आसानी से मिल जाता है। एक दूसरे जर्मन रसायनज्ञ लीबिग ने कहा कि 'in' अन्ताक्षरों वाले पदार्थों में नाइट्रोजन होता है, अतः इसका नाम बेन्जोल

(Benzol) रखा जाये। किन्तु 'ol' अन्ताक्षर ऐल्कोहालों में होता है। अस्तु, इंगलैंड, फ्रांस और अमरीका में 'ol' के स्थान पर 'ene' सुझाया गया जो सामान्यतः हाइड्रोकार्बनों (Hydrocarbons) का संकेत होता है। १८३७ ई० में फ्रांसीसी रसायनज्ञ अगस्ते लौरों ने जर्मन वैज्ञानिक जगत के Benzin और Benzol के विवाद से ऊपर उठकर इसका नाम फ़ीनोल (Phenol) सुझाया, जो कि यूनानी शब्द Phainein (चमकाना) शब्द से बना है। आज बेन्जीन अणु में जब कोई हाइड्रोक्सिल (OH) वर्ग होता है तो पदार्थ को 'फ़ीनोल' (Phenol) कहते हैं।

१९०१ ई० में जापानी जैव-रसायनज्ञ जोकिशि टैकमीन (Jokichi Tahamine) ने ग्रन्थियों में उपस्थित एक ऐसे पदार्थ का पता लगाया जो कुछ इन्द्रियों में कुछ विशिष्ट क्रियाओं के लिए उत्तेजना पैदा कर देता है। ऐसे पदार्थों का नाम 'होरमोन' (Hormone, यूनानी—Horman = गति प्रदान करना) रखा गया।

१९५७ ई० में रूस ने कृत्रिम उपग्रह के लिए 'स्पुटनिक' (Sputnik = वह जो किसी दूसरे के साथ-साथ यात्रा करे) नाम दिया। स्पुटनिक पृथ्वी के साथ-साथ और उसके चारों ओर यात्रा करता है।

१८९१ ई० में अमरीका के बहुमंजिले भवनों के लिये प्रयुक्त 'स्काईस्क्रेपर' (Skyserapper) शब्द इतालवी Grattacielo (विशालकाय व्यक्ति) शब्द का रूपान्तर ही है।

मैप (Map = मानचित्र) लैटिन के 'मापा' (Mappa = Napkin या दस्तरख्वान का कपड़ा) शब्द से बना है।

(१०) **त्रुटिपूर्ण नाम**—जिस प्रकार समाज में 'आँख के अंधे नाम नयनसुख' वाले व्यक्ति होते हैं, उसी प्रकार वैज्ञानिक जगत में कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो नामकरण- संस्कार -कर्त्ता पुरोहित (वैज्ञानिक) की भूलों के परिचायक हैं। उदारणार्थ—ऑक्सीजन शब्द का अर्थ है 'अम्ल उत्पादक'। आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से सिद्ध हो गया है कि ऑक्सीजन सदैव ही अम्ल उत्पन्न नहीं कर पाती है।[४]

कार्बोहाइड्रेट शब्द का अर्थ है $Cn(H_2O)n$ अणुसूत्र वाले यौगिक, जबकि आज ऐसे कार्बोहाइड्रेट ज्ञात हैं जिनका अणुसूत्र इस अणुसूत्र के अनुसार नहीं है।

सन्दर्भ संकेत—

१. "बुलेटिन ऑफ मैथेमैटिकल ऐसोसियेशन", इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, १९२८–२९, पृ० ३४।
२. डा० ब० ल० उपाध्याय का "प्राचीन भारतीय गणित", १९७८, पृष्ठ १८६।
३. त्रैमासिक पत्रिका "ज्ञान-विविधा", १९८४, वर्ष २, अंक ३ में प्रकाशित लेखक का 'शून्य' शीर्षक का लेख।
४. डॉ० ओमप्रकाश शर्मा द्वारा लिखित पुस्तक "वैज्ञानिक शब्दावली : इतिहास और सिद्धान्त", १९६८।

प्रवक्ता, रसायन विभाग
मेरठ कालिज, मेरठ.

□ डॉ० मुहम्मद इसराइल खां

नैतिक शिक्षा की आधार-शिला संस्कृत

हम भारतीयों का जीवन अतीत से प्रभावित है। हम आर्यों की सन्तान हैं और आर्यों की अमूल्य निधि वेद हैं। वेद √विद् से बना है, जिसका अर्थ ज्ञान है। वेद वे अपौरुषेय ज्ञान हैं, जिन्होंने आदि से अब तक भारतीयों के जीवन को प्रभावित किया है। संस्कृत शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक √कृ धातु में क्त प्रत्यय लग कर बना है, जिसका अर्थ है—'जिसका संस्कार किया गया है।' इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि संस्कृत वह विद्या है, जो परिष्कृत है तथा अपने प्रभाव से दूसरों को संस्कृत या परिष्कृत करती है। संस्कृत का भण्डार अपार है। यह वैदिक काल से लेकर अब तक अनेक स्रोतों में प्रभावित होती रही है तथा हमारे जीवन-क्षेत्र को सिञ्चित करती रही है। हमारा सम्पूर्ण सस्कृत-साहित्य मुख्यतः दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग वैदिक साहित्य है तथा दूसरा भाग लौकिक साहित्य है। दोनों ने अपनी-अपनी विभिन्न प्रणालियों से मानव-जीवन को प्रभावित किया है। इन दोनों का प्रभाव अनेक क्षेत्रों में रहा है, परन्तु प्रकृत सन्दर्भ में हम यह स्पष्ट रूप से बता देना चाहते हैं, कि संस्कृत-वैदिक तथा वैदिकेतर दोनों ने हमारे नैतिक स्तर को कितना प्रभावित किया है। हम सर्वप्रथम इस कथन पर विचार वैदिक सन्दर्भ में करेंगे।

हम जानते हैं कि वेदों में ऋग्वेद सर्वोपरि है। ऋग्वैदिक काल में काव्य नैतिकता का बोल-वाला था। नीति से नैतिक शब्द बना है। नीति का अर्थ पथ-प्रदर्शन है। सामान्यतः इसका सम्बद्ध चरित्र अथवा व्यवहार से है, परन्तु इस शब्द का अर्थ अन्य क्षेत्रों में जाकर अन्य अर्थों को भी ध्वनित करता है।[1] मुख्यतः इसका सम्बन्ध चरित्र अथवा व्यवहार से है। यह नीति धर्म से भी प्रभावित होती है, परन्तु धर्म से हट कर सत्य तथा न्यायपूर्ण कार्य करने में भी नैतिकता का अर्थ प्रसृत है।

ऋग्वैदिक काल में जीवन-विधा एक नियम से प्रभावित थी। उस समय देवों के सम्बन्ध से ऐसी बातों का प्रतिपादन किया गया है, जो मानव को अत्यन्त प्रभावित करती हैं। हम उदाहरण के रूप में वरुण को ले सकते हैं। वरुण नैतिकता के देव माने गये हैं। ऋग्वेद में वरुण का प्रमुख स्थान है। वह नियमों का संचालन करते हैं। वह मनुष्यों के पापों एवं पुण्यों तथा सत्य एवं असत्य का हिसाब रखते हैं। इस बात को लक्ष्य में रखकर एक मन्त्र में कहा गया है :

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति।
कृतानि या च कर्त्वा ॥[2]

भाव यह है कि वरुण मनुष्यों के किये गये तथा होने वाले कार्यों को देखते हैं।

वेद की स्वतः मान्यता है कि यह संसार किसी नियम के वशीभूत हुआ कार्य कर रहा है। समय पर सूर्य निकलता है तथा समय पर अस्त होता है। इसी प्रकार उषा समय पर आती है और वह अत्यन्त प्राचीन काल से उसी प्रकार चली आ रही है, जिस प्रकार वह आज नियम का पालन करती आ रही हैं। एक मन्त्र[3] में कहा गया है कि हे उषा! 'तुम व्रतम् अनुचरसि' अर्थात् हे उषा! तुम व्रत को लक्ष्य करके विचरण कर रही हो।

ऋग्वेद में 'ऋत' का वर्णन प्राप्त होता है। ऋत का अर्थ शाश्वत नियम है, जो स्वचालित है तथा वह विश्व का धारक है। इस ऋत से ही सभी का संचालन होता है। सूर्य, नक्षत्र, पृथिवी, वायु,

पर्जन्य, पूषन् आदि सभी प्राकृति वस्तुयें इस नियम का उल्लंघन नहीं कर सकतीं। ऋत को प्राकृतिक नियम कहा गया है। सर मोनियर विलियम्स ने इसके अर्थ इस प्रकार किये हैं : "...Proper, right, fit,...honest, order, law, rule qesp, in religion); sacred or pious action or Custom, divine law, faith divine truth......।"[४]

यहाँ ऋत के माध्यम से एक संदेश दिया गया है, जो सार्वभौमिक है, जिसका सत्य एवं नियम से सम्बन्ध है। ऋग्वेद तथा अन्य वेदों के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय मनुष्यों का जीवन ऐसे नियमों से सुचालित था। जब कोई समाज अथवा राष्ट्र नियमों में बंध जाता है, तब उससे समाज अथवा राष्ट्र की उन्नति होती है, ऐसे नियम उपदेश-प्रद होते हैं और वे सभी को एकता के सूत्र में बांध देते हैं। वैदिक काल में ऐसी ही स्थिति थी।

गृह्यसूत्रों तथा उपनिषदों का सन्देश आज भी अमर है। गृह्यसूत्रों के समय ऐसे नियमों का प्रतिपादन हो गया था, जिससे गृहस्थों का जीवन नियम-बद्ध था। इस सम्बन्ध में गृह्यसूत्रों के विशेष-विशेष तथा सामान्य नियम अवलोकनीय हैं। इसीप्रकार उपनिषदों के नियम न केवल भारतीय हैं, अपितु सार्वभौमिक हैं। विश्व के मानवता के सिद्धान्त उनमें निहित हैं। उनके अवलोकन से हमारा न केवल एहिक, अपितु पारलौकिक जीवन सुखी हो सकता है। आज उपनिषदों की शिक्षा हमारे लिये नितान्त आवश्यक हैं। उपनिषदों में आख्यानों के माध्यम से सुखद उपदेश अथवा शिक्षा दी गई है। हम उदाहरण के लिये कठोपनिषद् को ले सकते हैं। कठोपनिषद् में नचिकेता का वृत्तान्त उपदेश पूर्ण है। इस सन्दर्भ में एक स्थल द्रष्टव्य है :

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः
तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षमाद् वृणीते॥[५]

यहाँ दिखाया गया है कि नचिकेता को श्रेयस का मार्ग प्राप्त होता है तथा प्रेयस का भी, परन्तु वह प्रेयस (भोग मार्ग) को छोड़कर श्रेयस (कल्याण) का मार्ग अपनाता है। इससे उपदेश मिलता है कि मनुष्य को तृष्णाओं को त्याग कर कल्याण एवं श्रेयस्कर मार्ग को अपना चाहिये।

वैदिक साहित्य की भांति वैदिकेतर अथवा लौकिक साहित्य का नैतिक शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्व-पूर्ण स्थान है। वाल्मीकिकृत रामायण का सन्देश हर परिवार, घर, देश तथा राष्ट्र के लिये अनुकरणीय है। इसीप्रकार पुराणों में अनेक नैतिक तत्व यत्र-तत्र भरे हुये हैं। आज का हिन्दू-धर्म पुराणों से अत्यन्त प्रभावित है। हम देखते हैं कि पुराणों को आधार बनाकर वैष्णव, शैव आदि सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। देवों के सम्बन्ध से पुराणों का विभाजन किया गया है। इस प्रकार पुराणों के सात्त्विक, राजस् तथा तामस् तीन भेद हो जाते है[६]। इन पुराणों में अनेक आख्यान तथा कथायें संग्रहीत हैं; जो उपदेशपूर्ण हैं। उन आख्यानों में नैतिकता का मधुर पुट है। पुराण वेदों से प्रभावित हैं और अनेक वैदिक कथनों का पुनः प्रतिपादन पौराणिक पुट के साथ हुआ है।[७]

संस्कृत का आख्यान-साहित्य नैतिक क्षेत्र में अपना अनोखा प्रभाव रखता है। आख्यान-साहित्य के नीति-कथा में स्थल-स्थल पर आदर्श एवं उपदेश की प्रवृत्ति दिखाई देती है। नीति-कथाओं का उद्देश्य कहानियों द्वारा ऐसी बातों का उपदेश देना है, जिनसे धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी बातों का ज्ञान होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि नीति-कथाओं का प्रतिपाद्य विषय सदाचार, राजनीति तथा व्यवहारिक ज्ञान है। ऐसे आख्यानों से मनुष्यों का जीवन सुखी तथा सफल हो सकता है। हम नीति-

कथाओं में देखते है कि उनमें पशु, पक्षी आदि का वर्णन हुआ है । ये हमारे जीवन के अग हैं । उनके जीवन-वृत्तान्त से अनेक उपदेशपूर्ण बातों का ज्ञान प्राप्त होता है । नीति-कथाओं को भाँति लोक-कथाओं का वर्ण्य-विषय उपदेशपूर्ण तथा शिक्षाप्रद है । इनमें नीति एवं आचार सम्बन्धी जिन बातों का प्रतिपादन किया गया है, वे अन्य साहित्य में दुर्लभ हैं । पंचतंत्र, हितोपदेश, वृहत्कथा आदि के महत्त्व को सारा विश्व स्वीकार करता है ।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत के नीति-काव्य अत्यन्त शिक्षाप्रद हैं । भर्तृहरि के नीति शतक को कौन नहीं जानता । भर्तृहरि ने नीतिशतक में एक स्थल पर लिखा है :

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैताहृशाः ।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृक्षा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीन वचः ।।

यहाँ यह कहा गया है कि मनुष्य को अपनी दीनता का प्रख्यापन नहीं करना चाहिये, अपितु उसे अपने कार्य अथवा बल पर भरोसा करना चाहिये । ऐसी शिक्षायें अमूल्य हैं । संस्कृत-साहित्य में सुभाषित-संग्रहों का नैतिक क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान है । हाल का गाथाशप्तशती विश्वविख्यात है । इस ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य अनेक एतत्सम्बन्धी ग्रन्थ हैं, जिनमें सुभाषितों का संग्रह है । सुभाषित वे उक्तियाँ है, जो जीवन के मूल्यों का अवलोकन करती हैं ।

सत्य तो यह है कि संस्कृत साहित्य अमूल्य निधियों का भण्डार है । संस्कृत जीवन के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डालती है । उपर्युक्त विवेचन नैतिक पक्ष को लेकर प्रस्तुत किया गया है । ऐसे ग्रन्थों के अवलोकन और मनन से हमारा ऐहिक जीवन सफल हो सकता है, अतएव संस्कृत हमारे जीवन का एक अंग है । हमारा हित तथा अहित इसके अपनाने तथा त्यागने से हो सकता है ।

संकेत-सन्दर्भ—

१. तु० सर मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत–इंगलिश डिक्शनरी (दिल्ली, १९७४), पृ० ५६५ ।
२. ऋग्वेद १/२५/११ । ३. वही, ३/६१/१ ।
"पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनुव्रतंचरसि विश्ववारे ।"
४. सर मोनियर विलियम्स, वही, पृ० २२३ । ५. कठोपनिषद् १/२/२ ।
६. डॉ० डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ, ब्रह्मा इन द पुराणाज, (गाजियाबाद, १९८१), पृ० १ तथा आगे ।
७. तु० डॉ० रामशङ्कर भट्टाचार्य, पुराणागत वेद विषय सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, प्रयाग, १९६५ ।

———

रीडर, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.

□ डॉ० कृष्णकुमार

प्राचीन संस्कृत साहित्य में : जन्तुओं के प्रति धार्मिक आस्थायें

(संस्कृत नाटकों के विशेष सन्दर्भ में)

प्राचीन भारतीयों का जन्तुओं के प्रति हृदयगत स्नेह इतना स्वाभाविक और गम्भीर था कि इसमें भक्ति का भी समावेश हो गया था। इस युग के मनीषियों ने उसमें देवत्व की भी कल्पना की, जन्तुओं में देवत्व का भाव रखकर वे उनसे मनोकामनाओं की पूर्ति तथा अनिष्ट के निवारण की भी कल्पना करने लगे थे।

भगवान् विष्णु के अनेक अवतारों की कल्पना पौराणिक साहित्य में की गई है। इनमें से अनेक अवतार जन्तुओं के रूप में हैं। विष्णु को मत्स्य-अवतारधारी कहा गया है। लोककल्याण के लिये उन्होंने प्रथम अवतार मत्स्य के रूप में लिया था। पौराणिक कथाओं के अनुसार भग्वान् मत्स्य का रूप धारण करके मनु के पास पहुँचे तथा नवीन सृष्टि की रचना के निमित्त मनु की तथा अन्य वस्तुओं की रक्षा की। देवी को मीनाक्षी कहा जाता है। अर्थात् उनकी आँखे मीन के समान हैं। इसका यह भी अभिप्राय है कि जिसप्रकार पलकों से रहित मछली कभी आँखो को बन्द नहीं करती, इसीप्रकार देवी सतत जागरूक रहकर जगत् की रक्षा और पालन करती हैं। मत्स्य का सम्बन्ध कामदेव से भी है। कामदेव की ध्वजा पर मत्स्य का चिह्न रहता है। कामदेव को मत्स्यकेतन या मीन केतन भी कहते हैं।

भगवान् विष्णु ने कच्छप के रूप में भी अवतार लिया था। अतः कच्छप को देवता मान लिया गया है। कच्छप को गङ्गा-यमुना नामक सरिता देवियों का वाहन भी माना गया है। प्राचीन मूर्तियों में गङ्गा और यमुना को कच्छप वाहन पर स्थित दिखाया गया है। पुराणों के अनुसार कच्छप पृथिवी को वहन करता है।[1]

भगवान् विष्णु ने शूकर के रूप में भी अवतार लिया था। अतः शूकर को भी देवता का पद प्राप्त हुआ था। इस रूप में उन्होंने समुद्र में से पृथिवी का उद्धार किया और हिरण्याक्ष नामक दैत्य का बध किया था। विष्णु का नरसिंह अवतार भी प्रसिद्ध है। इस रूप में इनके शरीर का ऊपर का भाग सिंह का और नीचे का भाग मनुष्य का था। सिंह को भी इसीलिये देवता का पद मिला। विष्णु के हंसावतार की गणना २४ अवतारों में है। गौ हिन्दू संस्कृति में अति पूजनीय मानी गई है। इसको भी देवता का पद प्राप्त हुआ। गौ का पूजन करने और गोदान करने से सारी मनोकामनाओं की पूर्ति होती है। पुराणों के अनुसार गौ भवसागर से पार कराती है। यह मृत्यु के पश्चात् वैतरणी से पार उतारती है। अतः संस्कारों के समय विशेष रूप से अन्त्येष्टि संस्कार में गोदान का विशेष महत्व है।[2]

प्राचीन महर्षियों ने गौ देवता के रूप में कामधेनु की कल्पना की थी। यह समुद्र से निकला एक रत्न थी, जो सकल कामनाओं को पूरा करती है।[3] रघुवंश के प्रथम और द्वितीय सर्ग में कामधेनु और उसकी पुत्री के अतिशय प्रभाव की कल्पना की गई है।

धार्मिक कर्मकाण्डों के सम्पादन के लिये और यज्ञों की आहुतियों के लिये गौ को अनिवार्य माना गया। इसको होमधेनु कहा गया था। गौ के दूध, घी का प्रयोग यज्ञों में होता था।[4]

सर्प में भी देवत्व की कल्पना की गई है । इसके माध्यम से सम्पूर्ण नाग संस्कृति का विकास हुआ था । कृष्ण ने विभूतियों में अपने को नागों में शेष और सर्पों में वासुकि कहा है ।[५] विष्णु शेषनाग की शय्या पर शयन करते हैं । यह पृथिवी उसके फणों पर आश्रित है ।[६] दूसरी-तीसरी शताब्दी ईस्वी में भारतवर्ष में नागपूजा का प्रचलन बहुत था । नाग देवी-देवताओं की मूर्तियों की भी मन्दिरों में प्रतिष्ठा की गई थी । गुप्तकाल में भी इसका प्रचार रहा । हिन्दू संस्कृति में नागपूजा का विशेष महत्व है । नागपञ्चमी के प्रमुख त्यौहार पर, जो श्रावण शुक्ल पञ्चमी को मनाया जाता है, विशेष रूप से नागपूजन किया जाता है । पुराणों में यह भी कल्पना है कि नाग मनुष्य की आकृति धारण करके विचरण कर सकते हैं । उनका निवास पाताल लोक है । मनुष्यों के साथ-साथ नाग कन्याओं के विवाह करने के वर्णन प्राप्त होते हैं । एक नाग कन्या उलूपी ने पाण्डव अर्जुन से विवाह किया था । नागों का सम्बन्ध शिव से भी है । शिव उनको आभूषण के रूप में लपेटे रहते हैं । प्रजापति की एक पत्नी कद्रू सर्पों की माता थी, जिसने कि गरुड़ की माता विनता को दासी बनाकर रख लिया था । सर्पों का निवास पाताल लोक कहा गया है ।

काक (कौआ) में देवत्व की कल्पना हुई । काक भुसुण्ड नामक देवता के रूप में यह प्रसिद्ध हुआ । धार्मिक कर्मकाण्डों में काकों के लिये बलि प्रदान की जाती है, अतः इनको वलिभुक् भी कहा गया है ।[७] नीलकण्ठ पक्षी का कण्ठ नीला होने के कारण इसमें शिवत्व माना गया । कालकूट विष को कण्ठ में धारण करने से शिव का कण्ठ नीला हो गया था । हिन्दुओं में नीलकण्ठ को मारना पाप समझा जाता है । इसका दर्शन अति शुभ माना गया है ।

अनेक जन्तुओं ने देवताओं के वाहन के रूप में भी प्रतिष्ठा पाई । वृषभ को शिव का वाहन होने से देवत्व मिला । वह शिव का द्वारपाल भी बना । इसका नाम नन्दी था । शिव मन्दिरों में शिव की दो प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं—लिङ्गाकार और मानवाकार । लिङ्ग मूर्ति के समक्ष द्वार के समीप ही नन्दी की मूर्ति अश्वय ही प्रतिष्ठित होती है । बिना नन्दी के दर्शन किये शिव के दर्शन नहीं किये जाते । मनुष्याकार मूर्तियों में शिव को नन्दी पर आरुढ़ बनाया जाता है ।

विष्णु का वाहन गरुढ़ नामक पक्षी है । पुराणों के अनुसार यह कश्यप प्रजापति से विनता का पुत्र था । तप करके इसने विष्णु के वाहनत्व को प्राप्त किया था । गढवाल के मन्दिरों में गरुड़ पर आरुढ विष्णु की भव्य मूर्तियाँ उपलब्ध हैं । प्रमुख विष्णु मन्दिरों के समक्ष, यथा देवप्रयाग और आदि बदरी में विष्णु के मन्दिर के सामने ही गरुड़ का मन्दिर है । गरुड के स्वतन्त्र मन्दिर भी मिलते हैं । जिनमें दोनों पंखों को फैलाये हुये गरुड की मूर्ति नाग पर आरुड़ होती है । हंस को ब्रह्मा का वाहन होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । यद्यपि ब्रह्मा की मूर्तियाँ कम है, तथापि जो उपलब्ध हैं वे हंस पर आरुढ़ हैं । सरस्वती का वाहन भी हंस कहा गया है । सरस्वती की मूर्तियाँ तथा चित्र हंसारूढ़ बनाये जाते हैं । ११ वीं शताब्दी में राजा भोज ने सरस्वती मन्दिरों के रूप मे विद्यालयों की स्थापना की थी । इनमें हंसारूढ़ मूर्तियाँ स्थापित की गई थी । उनमें से कुछ आज भी धारानगरी में उपलब्ध होती हैं ।

अश्व को इन्द्र का वाहन होने का सौभाग्य मिला था । उच्चैःश्रवा नामक अश्व समुद्र के मन्थन से इन्द्र को मिला था । सूर्य के रथ को खींचने वाले सात अश्व हैं, जिनका संचालन अरुण करता है । गज को भी देवता का पद मिला । ऐरावत नाम का हाथी समुद्र मन्थन से निकला और इन्द्र को दे दिया गया ।

महिष को भी देवत्व मिला । यह यम का वाहन है । देवता का पद प्राप्त होने से कुत्ता भी वञ्चित नहीं रहा । उसको भैरव का वाहन बनाया गया था । महाभारत' की कथा के अनुसार स्वर्गा—

रोहण के समय युधिष्ठिर का कुत्ता भी पीछे-पीछे स्वर्ग में पहुँचा था। 'ऋग्वेद' के सरमा-पणि संवाद के अनुसार सरमा नाम की कुतिया देवताओं की दूत बन कर पणियों के पास गई थी।

शक्ति के प्रतीक सिंह को भी देवताओं का वाहन होने का गौरव प्राप्त हुआ। स्वयं शक्तिरूपा दुर्गा देवी ने उसको अपना वाहन बनाया। दुर्गा सिंहवाहिनी है तथा उसकी मूर्तियाँ सिंह पर आरुढ़ बनाई जाती है। मकर भी देवता का वाहन बना। यह समुद्र देवता का वाहन है। इसको कामदेव का वाहन भी कहा जाता है। गंगा-यमुना का भी यह वाहन कहा गया है।

जहाँ अनेक पशु-पक्षी देवताओं के वाहन कल्पित हुये, वहाँ मयूर और मूषक भी पीछे क्यों रहते ? ये दोनों शिव के पुत्रों के वाहन बने। कार्तिकेय ने मयूर को और गणेश ने मूषक को वाहन बनाया था। उल्लू पक्षी भी इस सौभाग्य से वञ्चित नहीं रहा। स्वयं समृद्धि की देवी लक्ष्मी ने उसको अपना वाहन बनाया।

रामायण के अनुसार राम-रावण युद्ध में राम की सहायता बन्दर, रीछ आदि वन्य जातियों ने की थी। सम्भवतः ये जातियाँ वन्य मनुष्य जातियाँ ही रही होगी। परन्तु उत्तरवर्ती पौराणिकों ने उनको पशु मानकर, उनके अन्दर देवत्व की कल्पना कर ली। पुराणों में यह भी कल्पना की गई कि विष्णु जब राम रूप में अवतार होने लगे तो अनेक देवता वानरों के रूप में अवतीर्ण हुये। अतः वानरों में देवत्व की कल्पना की गई। वानरों में भी हनुमान सबसे अधिक पूज्यनीय थे। वे राम के परम भक्त प्रसिद्ध हैं। प्राचीन किवदन्तियों के अनुसार वे वायु देवता के पुत्र थे। तथा शिव के अंश से अवतीर्ण हुये। वे शक्ति के प्रतीक हैं तथा मनोकामनाओं को पूरा करने वाले समझे जाते हैं। सारे भारतवर्ष में इनके मन्दिर मिलते हैं। बन्दरों में देवत्व की कल्पना के कारण हिन्दुओं में बन्दर को मारना पाप समझा जाता है।

एक ओर जहाँ विभिन्न पशु-पक्षियों में जहाँ देवत्व की कल्पना की गई, वहीं दूसरी ओर कुछ जन्तुओं को पवित्र मानकर उनको देवताओं के लिये उपहृत करने की प्रचलन हुआ। देवताओं के निमित्त से किये जाने वाले यज्ञों में पशुओं को काटकर आहुति दी जाने लगी। देव-प्रतिमाओं के समक्ष ही पशुओं की बलि होने लगी, कालिदास यज्ञों में बलि का समर्थन करते हैं। वे पशुओं का बध रूप क्रूर कार्य करने वाले श्रोत्रिय को भी दयालु कहते हैं।[८]

भट्टनारायण ने कौरवों को युद्ध-रूपी यज्ञ में बलिभूत पशु कहा है।[९] मुरारि ने यज्ञों में पशु-बलि का समर्थन करके विशिष्ट अतिथियों का स्वागत वत्सतरी के मांस से कराया।[१०] पशुबलि के लिये विशेष यज्ञ-स्तम्भ (यूप) गाड़े जाते थे।[११] कालिदास ने ऐसे ग्रामों का उल्लेख किया है, जो श्रोतियों को दान में दिये गये थे तथा जिनमें यूप गाड़े गये थे।[१२] यूपों से पशुओं को बाँधना एक विशेष यज्ञीय प्रक्रिया थी।[१३] यूपों की रचना खदिर या विभीतक की लकड़ी से की जाती थी।[१४] उत्तरवर्ती काल में देवताओं की विशेष रूप से दुर्गा (शक्ति) की प्रतिमाओं के समक्ष पशुओं का वध करके बलि दी जाने लगी। इनमें महिष को प्रधानता दी गई। क्योंकि उसको महिषासुर का प्रतीक माना गया। भगवती दुर्गा महिषमर्दिनी है।

जन्तुओं को उपलक्ष्य बनाकर शुभ-अशुभ का भी विचार किया गया है। इनमें शकुन और अपशकुनों की सूचना मिलती है। इनमें सर्प, कौआ, कुत्ता और गीदड़ मुख्य हैं।

सर्प द्वारा मार्ग को अवरुद्ध कर लेना अशुभ सूचक था। न्यायालय में जाते हुये सर्प द्वारा मार्ग रुक जाने पर चारुदत्त को अशुभ की आशंका हुई थी।[१५]

सूखे वृक्ष पर बैठकर सूर्य की ओर मुख करके यदि कौआ चीख रहा है तो यह मृत्यु का सूचक था।[१६] कौवे की कठोर वाणी महान् अशुभ की सूचक है।[१७] बाहर जाने पर कौवे का सूखे वृक्ष पर बैठकर बोलना अनिष्ट का संकेत करता है।[१८] सुअर पर बैठे चीखते कौवे का मिलना भी अशुभ सूचक है।[१९]

कुत्ते और गीदड़ की ध्वनियों को अशुभ सूचक माना गया है। कुत्ते का रोना, विशेष रूप दोपहर में, अनिष्ट को सूचना देता है।[२०] मध्याह्न के समय गीदडों का घूमना तथा चिल्लाना अशुभ का सूचक है।[२१]

भारतीय परम्पराओं में शुभ-अशुभ सूचक जन्तुओं का विशेष महत्व है। बिल्ली के रोने और रास्ता काटने को अशुभ का सूचक माना जाता है। बिल्ली की हत्या हो जाना महान् पातक है, जिनका गम्भीर प्रायश्चित कहा गया है।

कुछ परिस्थितियों में जन्तुओं से शुभ की सूचना भी मिलती हैं। प्रातःकाल घर की अटारी पर बोलता कौआ प्रिय के आगमन की सूचना देता है।[२२] गौ शुभ की सूचक है। गौ-दर्शन, विशेष रूप से सवत्सा गौ का दर्शन कल्याणकारी होता है। कालिदास ने इस रिवाज का वर्णन किया है, कि घर से प्रस्थान करते समय सवत्सा गौ की प्रदक्षिण करनी चाहिये।[२३]

मानव का पशु के साथ अति प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा। प्राचीन ऋषियों ने प्रकृति के सभी पशुओं के साथ स्नेह-सम्बन्ध की कल्पना की और उनकी रक्षा के लिये धार्मिक आस्थाओं की प्रतिष्ठा की। परन्तु मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिये इनका संहार करने से नहीं चूका और भयानक रूप से शिकार करता रहा। अनेक पशु-जातियाँ तो प्रायः लुप्त हो चुकी हैं। परन्तु पशु का मनुष्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और इनकी रक्षा करना उसका एक निश्चित कर्तव्य है।

सन्दर्भ-संकेत

१. हनूमन्नाटक १३.३७।
२. पञ्चरात्र पृ० ५१।
३. बालरामायण।
४. अभिज्ञानशाकुन्तलम् पृ० ३४१, महावीरचति ४.५७।
५. भगवद्गीता ११.२–८२९।
६. अनर्घराघव १.२०।
७. अनर्घराघव ५.१।
८. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६.१।
९. वेणीसंहार १.१५।
१०. अनर्घराघव पृ० १११।
११. मत्तविलास पृ० ११।
१२. रघुवश २.४४।
१३. रघुवंश ११.३५।
१४. अष्टाध्यायी ५.१.२ पर महाभाष्य।
१५. भुजगपतिरयं मे मार्गमाक्रम्य सुप्तः। मृच्छकटिक ९.१२।
पन्थाः सर्पेण रुद्धोऽयम्। मृच्छकटिक ९.१५।
१६. शुष्कवृक्ष स्थितो ध्वाङ्क्ष आदित्यायभि मुखस्तथा।
मयि चोदयते वामं चक्षु र्घोरमक्षसंशयम्। मृच्छकटिक ९.११।
१७. वीणावासवदत्तम् पृ० २४।
१८. हनूमन्नाटक पृ० ५७।
१९. हनूमन्नाटक पृ० ६९, ५.२८।
२०. हनूमन्नाटक ३.२।
२१. हनूमन्नाटक ३.२.।
२२. पदम्प्राभृतक श्लोक २९।
२३. रघुवंश २.७१।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
गढवाल विश्वविद्यालय
श्रीनगर (गढवाल)

□ डॉ० निगम शर्मा

सौन्दर्य

सुन्दर वस्तु आँखों को मोहक और आकर्षक लगती है। कहा भी है, 'ज्यों बड़री अँखियान लखि आँखिन को सुख होत'। क्यों न हो, सुन्दर वस्तु नयन को विकसित तथा मन को पुलकित करती है। सुन्दर के भाव को सुन्दरत्व, सुन्दरता या सौन्दर्य कहते हैं। अब प्रश्न उठता है—सुन्दर शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? इसका अर्थ और निष्पत्ति इसप्रकार कर सकते हैं। सु + दर, दरं का अर्थ आदर है। अभिप्राय यह हुआ कि जिस वस्तु के प्रति हमारे मन में आदर की भावना जागे, वह वस्तु सुन्दर है। इस निष्पत्ति के लिये भगवान् पाणिनि का भी परामर्श लिया जा सकता है। वे कहते हैं कि 'ग्रह, वृ, दृ, निश्चि और गम धातु से अप् प्रत्यय हो—'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च—३-३-५८। सुन्दर शब्द की निष्पत्ति आप इस प्रकार भी कर सकते हैं—सु उनत्ति चित्तं द्रवी करोति, जो चित्त को भली प्रकार से कोमल = आर्द्र कर दे। सुन्दर वस्तु चित्त को नम्र, कोमल और मृदुल बनाती है। इसी हेतु 'सुषमा' का प्रयोग होता है। सु + सम—जहाँ पर समान रूप से सन्तुलन बना रहे, उसे 'सुषमा' कहेंगे नहीं तो विषमता आ जायेगी। किसी वस्तु को सम भी इसी हेतु से कहते हैं कि जिसमें समान रूप से मा = मान, लक्ष्मी, शोभा रहे। इसमें 'सु' के आ जाने से कुछ शोभा का और विस्तार हो गया। यह सौन्दर्य चित्त में सञ्चार करता है अतः इसे 'चारु' कहा गया है। रम्यता भी इसी हेतु है कि हृदय में रमणीयता को प्रदान करता है। प्रीति के कारण यह हृदय की रूचि को सम्पुष्ट करता है, इसी हेतु इसे 'रुचिर' कहा गया है। मनोरम वस्तु को कान्त भी इसी हेतु कहा जाता है कि वह हृदय को अनुकम्पित करती है और कन्या, कनक, कर्पूर, चन्दन और चन्द्रमा में जो कान्ति है, वह भी इसी रुचिकर दीप्ति के कारण है। सुन्दर वस्तु मन को बलात् अपनी ओर खींचती है, अतः इसे मनोहर या मनोरम कहते हैं। ऐसा लगता है—सुन्दरता कुछ अज्ञात ध्वनि भी करती है, जिसे आर्ष-दृष्टि ही जान सकती है तभी तो ध्वन्यर्थक मजि धातु से 'मञ्जु' शब्द के निष्पादन की व्यवस्था महर्षि पाणिनि देते हैं। जो आनन्ददायक ध्वनि नयनों को प्रदान करे, उसे 'मञ्जुल' कहेंगे।

उषा की ऋग्वेद में 'सूनरी' ४–५२–१ कह कर प्रशसा की गयी है, जिसका अर्थ है—'सुन्दर नेत्री। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सौन्दर्य में नेतृत्व शक्ति भी होती है, इसी हेतु रूप-लावण्य से सम्पन्न त्रिपुर-सुन्दरी की आराधना का विवरण 'तन्त्रसार' में दिया गया है। सुन्दर एक वृक्ष का भी नाम है जिसके दहकते अंगारे को जल में भावित करके औषधि निर्माण की व्यवस्था दी गयी है। सुन्दरता की कान्ति मनुष्य में सौम्यता उत्पन्न करती है। इससे मानव धीर, प्रशान्त, स्थिर तथा निर्विकार बनता है। सौन्दर्य की भद्रता मनुष्य को बन्धन में लपेटती है, इसी हेतु इसे बन्धुर भी कहा जाता है। सौन्दर्य के देवता कामदेव को भी सुन्दर कहा गया है। यह मन का मन्थन करता है, अतः यह मन्मथ है। समन्तभद्र शिवत्व की प्राप्ति के लिये इस मन्मथ का मन्थन आवश्यक है।

सौन्दर्य का चिन्तन से भी सम्बन्ध है। लज्जा, विनय और धीरता से भी गठ-बन्धन माना गया है। दया, दाक्षिण्य, वैदग्ध्य एवं विद्या से भी सौन्दर्य का प्रेम है। शुचिता, (राग-द्वेष-राहित्य), स्वच्छता, प्रसन्नता एवं सत्यता से भी सौन्दर्य का मौलिक प्रेम है। अक्रोध, अहिंसा एवं मनो-निग्रह से भी सौन्दर्य की मंगल-वृद्धि होती है।

वाल्मीकि-रामायण के प्रथम काण्ड के प्रथम सर्ग में श्रीराम जी के सौन्दर्य की मीमांसा ६, १०, ११ श्लोकों में बड़ी ही निश्छल-भाषा में की गयी है। कहा गया है कि सुन्दर ललाट, विशाल वक्षःस्थल तथा लम्बी भुजाओं वाले श्री रामचन्द्र निरन्तर भद्रमुख और प्रसन्न रहते हैं। उनका शुभ-दर्शन मन को मुग्ध और आनन्दित करता है। उनका अङ्ग सम, वैषम्य-रहित, विभक्त और स्निग्ध है।

रूप-माधुरी के लिये त्वचा पर नाना प्रकार के लेप तथा उद्वर्तन (उबटन) का विधान है। आजकल भी लोग इधर बहुत ध्यान देते हैं परन्तु व्यवसाय की अन्तर्ध्वनि की अभिवृद्धि के कारण सौन्दर्य की अभिवृद्धि में कहीं-कहीं बाधा भी पड़ जाती है। चन्दन, कर्पूर, कस्तूरी, पटवास, नाना प्रकार के पुष्प, हल्दी, कूष्माण्ड, दुग्ध, स्वर्णाभूषण, फल, माला आदि सौन्दर्य की प्राप्ति के कारण होते हैं। गरुड-पुराण १६४ अध्याय में बताया गया है कि कूष्माण्ड के क्षार (नाल के क्षार) को गोमूत्र एवं त्वचा के साथ यदि हल्दी को जल में पीस लें और उसे अग्नि में तपा लें और उसे दूध के साथ मिला कर अंग में उबटन लगायें तो इससे रूप में निखार आ जाता है—

कूष्माण्डनाल क्षारस्तु सगोमूत्रश्च सत्वचः।
जलपिष्टा हरिद्रा च सिद्धा मन्दानलेन हि।
माहिष्येण च क्षीरेण वेष्टिता वृषभध्वज,
अस्या उद्वर्त्तनं कुर्यादङ्गगौरत्वमीश्वरम् ॥

सर्षप, दधि, नींबू, आंवला आदि को भी रूप-सिद्धि में कारण माना गया है। व्यसन सौन्दर्य का दमन करता है। ईर्ष्या-द्वेष से भी सौन्दर्य-वृद्धि रुक जाती है। शोभा-समृद्धि के लिये क्रोध का उपशमन करना चाहिये। चित्त की उग्रता अथवा मोह श्री-सम्पदा में कभी भी सहायक नहीं है। ग्लानि, भय, शंका, चिन्ता आदि भी सौन्दर्य को मलिन कर देते हैं। पर-गुण के प्रति असहिष्णु होना बहुत बड़ा अवगुण है। विपत्ति में धैर्य और संयम का अनुध्यान तथा ऐश्वर्य में क्षमा-भाव अवश्य रहना चाहिये। कार्य में बहुत शीघ्रता हानिकारक है। सुचिन्तित और अनुमोदित कार्य मर्यादा को बढ़ाते तथा सौन्दर्य को मधुरता प्रदान करते हैं।

मनुष्य यदि कृष्ण-वर्ण का है तो भी उसमें वैदग्ध्य एवं सौन्दर्य की माधुरी रहती है। यही कारण है श्रीराम, कृष्ण, नल, प्रताप आदि जयशील महापुरुषों में श्याम-वर्ण प्रशंसनीय एवम् आकर्षक-मात्रा को सम्पन्न करता है। अन्तःकरण की सौम्यता एवं शुद्धता को बाहर का वर्ण प्रभावित नहीं कर सकता।

हमें इस ओर जानकर एवं विशेषकर ध्यान देना चाहिये कि तमोगुण मलिनता, मोह, भारीपन तथा तन्द्रा उत्पन्न करता है, जिसके कारण सौन्दर्य आहत हो जाता है। तमोगुण के प्रभाव से आहार-विहार में शुचिता नहीं रहती। बासी, चटपटा, खट्टा, गन्धाकुल, गर्म, मसालेदार तथा गरिष्ठ भोजन तमोगुण को और सम्पन्न एवं समृद्ध करता है। इस कारण दिनों-दिन सौन्दर्य में क्षीणता आती रहती है।

मनुष्य का कैवल्य उसके सौन्दर्य-धाम की शोभा है। अध्यात्म की उन्नत अवस्था में समस्त कल्पनायें स्वच्छ तथा पारंगत हो जाती हैं। चिन्तन की पराकाष्ठा में चिन्तायें डूब जाती हैं। इसी हेतु ऋग्वेद १–४–१ में भगवान् को रूप-निर्माण का शिल्पी कहा है—'सुरूपकृत्नुमूतये' कह कर ऋचा यह उद्बोधन दे रही है कि यदि मनुष्य समर्पण-भाव से ब्रह्म का भावार्द्र-चिन्तन करता है तो निश्चय ही उसकी रूप-माधुरी सम्पन्न एवं सराहनीय हो जायगी। रघुवंश २–४ में श्री कालिदास ने मानव के लिये निर्देश दिया है कि वह अपने तेज में ही अपने को सुरक्षित एवं आवृत्त रखता है। ऋग्वेद ४–१८–५ में भी यही निर्देश है कि ईश्वर-निर्भर व्यक्ति स्वयं अपने तेज (अत्क) से सुवासित एवं सुभाषित रहता है। अध्यात्म से प्रेरित तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति सदैव शुभ-दर्शन = सुसंदृश (ऋ० १–८२–३) रहता है। सौन्दर्य का मद छोटे-छोटे संघर्षों में विजय दिलाता है और बड़े-बड़े संग्रामों में भी कीर्तिमान स्थापित करता है। उसकी उदार

सुमति सदैव सदय तथा उच्च रहती है। पृथ्वी के उद्यान पुष्प उगलते हैं। इनके नाना प्रकार के गन्ध तथा सुरम्य रमणीयता नयनों में कान्ति एवं विकास का सृजन करती है। जड़ी-बूटियों, ओषधियों, पटवास तथा नाना प्रकार के रस-रसायन देकर पृथ्वी शरीर के हीन अङ्गों को पूर्ण तथा पक्व करती है तभी तो पृथ्वी को माता या निर्माता कहा गया है। पृथ्वी के प्राणियों में भी अपना पृथक्-पृथक् गन्ध होता है जो वातावरण को पूर्ण तथा सकाम करता है। जल को देवी कह कर ऋग्वेद में बड़ी प्रभविष्णु प्रार्थना की गयी है (१–२३ सूक्त)। अम्बा कह कर जलदेवी की जो मार्मिक स्तुति है वह निश्चय ही सहानुभूति की पराकाष्ठा है। जल को भेषज इस हेतु भी कहा गया है कि सौन्दर्य का अभाव एक बड़ा भय है। उस भय पर विजय दिलाना जलदेवियों का ही काम है। भेष=भय, उस भेष पर विजय दिलाने से ही इन्हें भेषज कहा गया है। शील, शालीनता, दया, विद्या, शुचिता, अहिंसा आदि शीतल-गुण जलदेवियों के ही प्रभाव से प्राप्त होते हैं। इसी कारण इन्हें शान्ति का वाहन कहते हैं तथा दैवी-वृत्तियों के आवाहन के लिये इनका अमन्द उपयोग होता है। त्वचा की स्वच्छता के लिये जल कारण तो हैं ही, परमाणु रूप में अवस्थित जल के रसमय सार हृदय और आत्मा को शौर्य एवं धैर्य प्रदान करते हैं।

आङ्गन उसे कहते हैं जहाँ अंगनायें बैठ कर बात-चीत करें। अङ्गना भी अग्नि-धर्मा होती है। जिस प्रकार नीली, पीली, लाल, श्वेत लपलपाती ज्वालाओं में अग्नि का तेज उद्भासित होता है उसी प्रकार लाल, पीली, नीली साड़ियों में नारी का तरुण–तेज उद्भासित होता है। इसप्रकार पाँचों भूतों के वैभव में सौन्दर्य की मीमांसा चरितार्थ होती है।

इसप्रकार द्रोह, दुरित, दोष, दैन्य के निवारण से चित्त का विस्तार तथा विकास होता है। अन्तः सौन्दर्य के कारण आनन्द से आनन भी पुलकित एवं कान्तिमान् हो जाता है। तमोगुण के आवरण का जब निवारण हो जाता है तब सात्त्विक-गुण के उद्रेक से चिति शक्ति के आनन्द-मुखर हो उठती है। यही सौन्दर्य का प्रकाशावर्त्तन है। यदि मुख-मण्डल को ध्यान से देखा जाय तो उपमा या सन्तुलन की दृष्टि से नाक का उच्च भाग, ओष्ठ का मध्य निम्न-भाग, अधर का मध्य, चिबुक का निम्न भाग=इन सब से होकर एक रेखा मध्य भाग में अवस्थित होकर पूर्ण मुख-मण्डल को दो भागों में दायें-बायें विभक्त करती है। इसमें दायीं आँख की तुलना बायीं आँख से तथा दायें भाग की तुलना बायें भाग से देख कर विधि-विधान का सन्तुलन देख सकते हैं। इसीप्रकार दोनों कानों के विवर के पास से उभड़े हुए बिन्दु से विभाग करें तो ऊपर नीचे का सन्तुलन देखा-परखा जा सकता है। मूर्तिकार, रेखाकार तथा अन्य ललित-कलाओं के पारखी के लिये यह सामञ्जस्य बड़ी उपादेयता एवं अवलम्बन का विषय है।

जीव का सौन्दर्य ही इन्द्र का इन्द्रत्व है। मनीषा शक्ति से ऋषि लोग इस संचरणशील सौन्दर्य को देखते हैं। दिव्यत्व सम्पादक जलश्री का यही सखा है। ऋग्वेद १०–१२४–६ में यह विषय भली प्रकार समझाया गया है। ऋग्वेद ८–४४–२३ में भी परमात्मा को अहम् और अहम् का परमात्मा कह कर सौन्दर्य की ऐश्वर्य—मीमांसा की गयी है। ऐतरेय में भी कहा गया है—'तद्यो ऽ हं सो ऽ सौ, योऽसौ सोऽहम्'। अर्थात् देहेन्द्रिय साक्षी जो जीवात्मा है वही आदित्य मण्डल का अन्तर्यामी है। जो अदित्य-मण्डल का अधिष्ठाता है वही देह-इन्द्रिय का भी अभिमानी सूर्य है। अतः स्पष्ट है कि इस एकत्व की दृढ़ भावना से एकत्व-बुद्धि की ही साधना करनी चाहिये। जीव का ब्रह्मैक्य प्रसङ्ग सदैव उत्कर्ष के लिये है ब्रह्म के अपकर्ष का विषय यह नहीं है। इसी को भग्नावरणा चित् अथवा आनन्दमय संवित् कहते हैं। यही सौन्दर्य की आत्मा है और यही आत्मा का प्रकाश है। यही शवत्व में शिवत्व की योजना है।

———

रीडर-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

□ आचार्य जनार्दन प्रसाद पाण्डेय

(भ्रमरदूतशतकम् से)

(१)

पूर्णानन्दः परमसुभगः पुण्डरीकायताप्तो ।
गोपीनाथः सहसहचरैर्यामनुं रम्यतीरम् ।
गत्वा स्वैरं द्रुततरगतिर्मञ्जुमूर्तिर्मुकुन्दः
स्तत्रस्नातुं विमलसलिले चिन्तयामास देवः ।।

(२)

गोपैः सार्धं परमसुखदं यामुनं शीतशीतं
रम्यं स्वच्छं ललितललितं वारिसंगाहमानः ।
कृत्वापाणौ शतदलमसौ वीक्ष्य हर्षातुरः सन्
स्मृत्वा राधा सुभगवदनं ह्यासुमूर्च्छामवाप ।।

(३)

तत्रप्राप्ता सरल हृदयाकापि गोपस्य बाला
दृष्ट्वा कृष्णं विरहविधुरं शून्यसर्वाङ्गचेष्टम् ।
भावं ज्ञात्वा सजलनयना मञ्जुसम्भाषिणी सा
वाणीमेनां सुमधुरतमां कोमलाङ्गी जगाद् ।।

(४)

पश्योदीचीं दिशमभिमुखः संस्थिता तत्र राधा ।
कृत्वा कण्ठं कथमपिपुनः पञ्चमं कोकिलेव ।
श्रुत्वा शब्दं श्रुतिसुखकरं लब्धबोधो मुरारिः,
क्वास्ते राधा सरसविसिनी पत्रराजत्कपोला ।।

(५)

संभाष्येत्थं परमपुरुषो मल्लिकापुष्पयूथे
सानन्दं तं कमलनिलयं वीक्ष्य भृङ्गं ययाचे ।
नूनं बन्धो त्वमसि सचिवः कामदेवस्य मुख्यो
यस्मात् कृष्णो विरहविकलः सादरं त्वामुपास्ते ।।

(६)

सन्तप्तेऽस्मिन्प्रलयसदृशे- मद्वियोगे प्रियायाश्-
शान्त्यै नूनं सरसवचनैर्बान्धवः कोऽस्ति लोके ।
यः संक्लेशं चकितहरिणी प्रेक्षणायाः प्रियायाः
दूरीकुर्यान्मनसिजभवं प्रीतिसन्देश वाचा ।।

(७)

तत्रस्वैरं प्रणयकुपिता लेखिता सा शिलायां
बन्धो ! यावत्सजलनयनश्चुम्बनायोद्यतोऽहम् ।
काले तस्मिन् कुवलयदृशीं नैव पश्यामि भृङ्गः
नैवास्त्यस्मिन्जगति पुरुषो यः परार्थं यतेत ।।

(८)

बारं बारं सदयमभितो वासुदेवाभिधानः
कृत्वा वाहू नमसि करुणं प्रालपन्मुक्तकण्ठम् ।
क्वासि त्वं भो ! जलजनयने दर्शनं देहि रावे
एवं वीक्ष्य त्रिभुवनगुरुं प्रारुदंस्तत्र वृक्षाः ।।

(९)

हा हा देवि स्फुटतिहृदयं ध्वंसतेसन्धिबन्धः
मोहस्तावन्ममनयनयोर्दर्शनं संरुणद्धि ।
कम्पाकम्पं वपुषि निहिता शल्यवत् स्नेहशंकुः
कष्टाधिक्यं जनयति सखे कः समुद्धारकोऽस्ति ।।

(१०)

उष्णाज्योत्स्नागरलसदृशश्चन्दनस्यापिसेकः
मन्दं मन्दं मलयपवनः शोषयन्त्येवदेहम् ।
नूनं शोभास्मरणविषया तस्य पद्माननस्य
क्वास्मिँल्लोके विरहजकथा क्वास्ति बुद्धिः कवीनाम् ।।

(११)

प्रातःकाले सुविमलजले भासते यच्चपद्मं
वीक्ष्येत्थं मां प्रमुदितमनस्वालिके वा ददाति ।
तत्प्रष्टव्यो मधुकरसखे वैरभावस्य हेतुः
दर्पाधिक्यं न खलु जनयेन्मङ्गलं जीवितस्य ।।

(१२)

सन्दृश्यन्ते सुरभिभरिता भासमाना अशोकाः
तन्वीमेतां कुसुमितलतां बाहुभिर्वेष्टमानाः ।
सद्योदृष्टा विरहविधुरं पीडयन्त्येव नित्यं
शङ्के स्वैरं निशितविषयाः पत्रवाणस्य वाणाः ।।

(१३)

कुञ्जे कुञ्जे विकसितदले मल्लिकायाः सुरम्ये
गुञ्जन्भृङ्गः प्रतिपलमसौ कामदेवस्य नूनम् ।
स्वेच्छावृत्तिं जनयतितरां रागिलोके जनेषु
नैवात्यस्मिन् जगति निखिले मन्मथं यो दहेत ॥

(१४)

मञ्जर्यश्च भ्रमरकलिता या विभान्त्याम्रवृन्दे ।
या सामग्रे विषमविषवत्सन्ति कन्दर्प बाणाः ।
यत्सत्यं मे विकलहृदये निर्मिताश्छेदनाय
क्वास्मिँल्लोके सरसहृदया प्राणिनस्ते शराः क्व ॥

(१५)

क्रूरश्चन्द्रो जलनिधिजलान्निर्गतः कस्य हेतोः
येनैतस्मिन् मदनकलितेरम्यमासे सुचैत्रे ।
तप्ताऽऽङ्गा प्रखरकिरणैस्तापयत्येव देहं
सत्यं हालाहालविषसमश्शंभुनानैवपीतः ॥

(१६)

तत्कारुण्यं कुरु मयि सखे दुःखितेऽस्मिन्जनेवै
काले तस्मिन् सपदि परमानन्दमूर्तिर्मुकुन्दः ।
कृत्वा पाणी शिरसि सुभगे प्रार्थयामासभूयस्
त्वामेवैकं शरणमधुना यामि तुभ्यं नमस्ते ॥

———

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग
बी० एन० मेहता संस्कृत महाविद्यालय,
प्रतापगढ़

□ डॉ० बिशनलाल गौड़

मेघदूत की काव्य-संवेदना

संवेदन का आशय कवि के अनुभव संसार से होता है। कवि के अनुभव की भावप्रवणता एवं तरलता को व्यञ्जित करने के लिए इसे प्राय: अनुभूति नाम से व्यवहृत किया जाता है। कवि की अनुभूतियाँ किसी भी दशा में निरपेक्ष संवेदन नहीं होती। कवि अन्तत: एक सचेतस मस्तिष्क होता है। संवेदनशील प्राणी के रूप में वह जैसे प्रकृति के विविध रूपों के सम्पर्क से इन्द्रिय-संवेदन प्राप्त करता है वैसे ही सामाजिक प्राणी के रूप में वह सामाजिक द्वन्द्वों के घात-प्रतिघातों से भी संवेदन प्राप्त करता है। नानाविध संवदेनों के सम्यक् परिपाक से उसके मस्तिष्क में अनुभवों का संचय-कोष बनता रहता है। केवल इतना ही नहीं विकसित चेतना वाले प्राणी के नाते वह प्रकृति एवं समाज दोनों के प्रति एवं अपनी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ भी व्यक्त करता चलता है। कवि तथा प्रकृति एवं समाज के बीच होने वाले द्वन्द्वात्मक संवादों से कवि-चेतना का विकास होता है। कवि तथा उसके चारों ओर फैले हुये प्रकृति के अनन्त पदार्थ रूपों के मध्य एवं कवि तथा सामाजिक जीवन-यथार्थ के मध्य सक्रिय अन्त: सम्बन्धों से ही कवि-चेतना गतिभान होती है। अन्त: सम्बन्धों की गतिमान द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया कवि की रचना में रूपायित होती है।

द्वन्द्वात्मक अन्त: सम्बन्धों के आलोक में मेघदूत के कवि की चेतना के विशिष्ट एवं परस्पर पर्याप्त दूरी रखने वाले दो बिन्दुओं को सहज ही समझा जा सकता है। प्रथम तथा मुख्य बिन्दु तो प्रकृति के साथ द्वन्द्वात्मक संवादों से समुदभूत रागमयी, सार्वभौम जीवन-स्पन्द से संसक्ति, उन्मुक्त एवं उदात्त चेतना का रूप है। द्वितीय तथा असुख्य बिन्दु युगीन सामाजिक यथार्थ तथा परम्परा-प्राप्त मूल्यों से द्वन्द्वात्मक संवाद करती हुई अभिजात वर्गीय चेतना का रूप है। कालिदास क कृतित्व में चेतना के दोनों विरोधी ध्रुव आश्चर्यकारी रूप में "विरोधों की एकता" के द्वन्द्वात्मक विकास-नियम को व्याख्यायित करते हैं। मुक्तता और बद्धता के दो विरोधी ध्रुवों के बीच कवि-चेतना पर्याप्त द्वन्द्व झेलती और संवाद खोजती दिखाई जाती है। कभी चेतना का प्रथम रूप उत्कर्ष पाना चाहता है तो कभी दूसरा रूप।

परन्तु यदि कालिदास के समग्र कृतित्व में समायोग की दृष्टि से देखें तो प्राकृतिक द्वन्द्वात्मक संवादों से उद्‌भूत सार्वभौम जीवन-स्पन्द से भरपूर, रागात्मक उदात्त चेतना का ही प्राधान्य है।

कवि की महाकाव्य कृतियों तथा नाट्यकृतियों में सामाजिक संस्थाओं एवं पात्रों का चित्रण अभिजातवर्गीय चेतना के सामाजिक मूल्यों से अनुशासित है। पुरातन राजवंशों के गाथा-कथानकों के आलोक में स्मृतिप्रतिपादित राजधर्म और प्रजाधर्म के आदर्श, वर्णाश्रम व्यवस्था की मान-मर्यादाएँ तथा रीतियाँ-नीतियाँ कवि-युग की अभिजातवर्गीय चेतना से अनुबद्ध एवं अनुशासित है। परन्तु यह एक सत्य है कि कालिदास की कवि-चेतना का नाभिक अभिजात-वर्गीय संवदेनों में नहीं है; उसका नाभिक संकीर्ण घेरों के बाहर सार्वभौम जीवन-स्पन्द के रागमय आलोक से दीप्त चेतना के उदात्त रूप में स्थित है। यही कारण है कि कवि अपने आख्यानमूलक नाटकों और महाकाव्यों में पग-पग पर घटना-चक्र को ऐसा मिथकीय मोड़ देता है कि देखते न देखते जीवन संकरे घेरों से निकल प्रकृति के अनन्त एवं उन्मुक्त आंगन में खेलने लगता है। वास्तव में चेतना का यह रूप ही कालिदास की आत्मनिष्ठ चेतना है। जीवन ऊर्जा से भरपूर, रागात्मक भावों से समृद्ध कवि की आत्मनिष्ठ चेतना उसके वस्तुनिष्ठ अनुभव संसार से

द्वन्द्वात्मक संवाद खोजती है। उसे जीवन की मादकता और मुक्तता से संसिक्त करती है तथा उसमें रूपहले रंगों का सौन्दर्य भरती है। कालिदास की रचना में अप्रस्तुत-विधान कवि की आत्मनिष्ठ चेतना का वस्तुनिष्ठ चेतना के मध्य संवाद-सेतु बन कर आते हैं।

ऋतुसंहार के गीतों में कालिदास प्रकृति के साथ द्वन्द्वात्मक संवाद करता जान पड़ता है। ऋतुओं के सौन्दर्य-उपादान उसके इन्द्रिय-संवेदनों को झंकारते हैं। स्वभावत: कवि का मानस उनमें एक जैविकी ऊर्जा, एक गति अथवा कहिए कि एक सार्वभौम प्राणतत्व का अनुभव करता है। निःशब्द संकेतों में प्रकृति तथा मानव-चेतना उसे एक दूसरे से कुछ कहते-सुनते तथा भावनाओं और क्रियाओं का आदान-प्रदान करते जान पड़ते हैं। प्रकृति के साथ निरन्तर चलने वाले संवाद अन्ततः उसकी अनुभूति को उस "कामार्त्त" स्थिति तक पहुँचा देते हैं, जहाँ "चेतन-अचेतन" एक जीवन का पर्याय बन जाते हैं। मेघदूत की गीतियाँ कालिदास के इसी भाव-प्रवण मानस की देन हैं।

"चेतन-अचेतन" को अविभाज्य जीवन-तत्व अनुभव करने वाली कवि की मनोभूमि ने संवेदना के आयामों की सम्भावनाओं के अनन्त द्वार खोल दिए हैं। जो जीवन जिया जा रहा है; जो एक वस्तु-गत् यथार्थ है; जो समष्टि-जीवन के विकास की प्रक्रिया का अविभाज्य अश है। उससे कट कर "लोको-त्तरयर्णना निपुणकविकर्म" के काव्य-दर्शन का पक्षधर कालिदास तनिक भी अपि नहीं है। उसके अन्तस का रचनाकार कोई प्रस्तर नहीं है जिसे जीवन को स्पन्दित करने वाले वस्तुगत् यथार्थ, सुख-दुःख, राग द्वेष, तथा संयोग-वियोग जैसे द्वन्द्वों के थपेड़ों का संवेदन ही न हो, जिसकी आत्म-चेतना वस्तुगत् जगत् के घटना-चक्रों के प्रति निःस्पन्द रह जाये तथा उनके साथ प्रभाव प्रतिप्रभाव की क्रिया न करे। वह कोई स्वयम्भू स्रष्टा भी नहीं है जो संवेदन का वस्तुगत धरातल से सम्बन्ध-विच्छेद कर कल्पना-शक्ति से असम्भाव्य को वस्तुगत् याथार्थ में ढाल दें। मेघदूत के कवि की कमनीय कल्पना से सृजित असम्भाव्य उपादान भी वस्तुगत् यथार्थ को उसके गन्तव्य तक पहुँचाने के साधन भर रहे हैं, स्वयं में साध्य नहीं है। कल्पना-लोक से उतारे गये यक्ष, यक्षप्रिया, सिद्ध, सिद्धाङ्गना, शिव, पार्वती, त्रिदशवनिता, धनपति कुबेर, तथा कल्पवृक्ष आदि सभी पात्र एवं उनकी क्रियाएँ किसी न किसी वस्तुगत् यथार्थ को संवेद्य बनाने की कलात्मक भूमिका का निर्वाह करते हैं।

मेघदूत के इतिवृत्त की कविकल्पना-प्रसूत कह कर छुट्टी पा लेना कवि-चेतना में छाए वस्तुगत् यथार्थ से आँख चुरा लेना है। कालिदास की कवि-चेतना का यक्ष जीवन के वस्तुगत् यथार्थ से उद्गत् हुआ है। निष्टुर सत्ता के अभिशाप से दमित आत्मसंवेदना ने यक्ष को जन्म दिया है। सत्ता की निष्ठुर दण्ड-प्रकृति से मानवीय सवेदनाओं का दमन जीवन का यथार्थ है, कल्पनालोक का इन्द्रजाल नहीं है। सत्ता के तने तेवर से "अस्तंगमितमहिमा" बेबस का कहीं दूर एकान्त में सिसक-सिसक जीना वस्तुगत् यथार्थ है। आषाढ़ के प्रथम दिन उमड़ घुमड़ आये कजरारे मेघ को निहार दमित आत्म सवेदनाएँ गीत बन वह चली हैं। यथार्थ-संवेदन की इस "अवन्ध्या" भूमि में कालिदास कल्पना के "शिलीन्ध" उगाता है। आत्म-सवेदना के विस्तार का ही दूसरा नाम कल्पना है। वह जब यथार्थ की धरती से जुड़ कर चलती है तभी हृदयग्राह्य होती है अन्यथा वितृष्णा पैदा करती है।

मेघदूत की गीतिकाओं में कवि-संवेदना आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ संवेदनों का रचापचा संवादी रूप हैं। चेतना के इस संश्लिष्ट रूप की अभिव्यक्ति कवि के सौन्दयंबोध में सवंत्र दिखाई देती है। मेघ का मार्ग वर्णन करते हुए कवि चेतना प्राकृतिक सौन्दर्य के संवेदनों से ओतप्रोत रही है। इस सौन्दर्य-बोध की सर्वातिशायी विशिष्टता इस तथ्य में निहित है कि कवि ने यथार्थ के धरातल को नहीं भुलाया है। वह

जो वस्तुगत् है, उसमें रमा है, उसके प्रत्येक स्पन्द को आत्मनिष्ठ चेतना के स्पन्द से जोड़ा है, उसके अन्दर पूरी तरह से अपनी निजता को "उडेला है। मार्ग के आदि से अन्त तक आने वाले सभी अंचलों के प्राकृतिक सौन्दर्य की मादकता को पिया है। उसके विशिष्ट रूप से आत्मीयता बनाई है तथा उसके स्वत्व को क्षत नहीं होने दिया है। रामगिरि की "सरसनिचुल उपत्यका' 'सद्यः "सीरोत्कषण सुरभि" मालदेश, परिणतफल वाले काननाम्रों से छन्नोपान्त आम्रकूट, विन्ध्यवाद विर्शीर्णा रेवा, केतकी पुष्पों से सजे दर्शाणदेश, चलोर्मि वेत्रवती, दर्शितावर्तनाभि निर्विन्ध्या उदयनकथाकोविदग्रामवृद्ध अवन्तीदेश, शिप्रा और द्युलोक के टुकड़े जैसी सजीली उज्जयिनी, प्रसन्न पय वाली गम्भीरा, स्कन्द से अधिष्ठित देवगिरि, चर्मण्वती, ब्रह्मावर्त, हिमाद्रितल में बसा कनखल, शैलराज से उतरती गगा, तुषारगौर हिमालय, हंसों का द्वार कौन्चरन्ध्र, देववनिताओं का दर्पण कैलास, धनपति की अलका—सभी के वर्णन में सौन्दर्य-संवेदन की वस्तुगतता झलकती है।

मेघ-मार्ग के सौन्दर्य-चित्रण में कवि-संवेदना का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष भी उभर कर आया है। वह है उसका लोक-संस्कृति के तत्वों से अनुप्राणित होना। तत्तत् अंचलों के लोक-जीवन के आंचलिक वैशिष्टच अपनी समग्र भावोत्तेजना के साथ कवि-चेतना में उतर आये हैं। मेघ-वर्षा के साथ कृषि-फल की आशा लगाए भ्रूविलासानभिज्ञ प्रीतिस्निग्ध मालदेश की कृषक-ललनाओं के भोले नयन, कपोलों पर छाए स्वेदसलिल को पोंछने की थकान से कुम्हालाए झूमरों वाले दशार्णा-देश की मालिनों के आनन, विदिशा के समीपवर्ती शिलावेश्मों में नागरजन के पण्यस्त्रीरमण, समृद्धिशालिनी उज्जयिनी की वनिताओं के सुगन्धधूपों से केशसंस्कार, भवनमयूरों का नर्तन, जन-जन में फैली वत्सराज उदयन तथा वासवदत्ता की प्रेम-'कथा, देवगिरि के लोक-जीवन में चर्चित स्कन्द-जन्म की देव-कथा, चर्मण्वती के साथ जुड़ी रन्तिदेव के गोमेध की लोक-गाथा, ब्रह्मावर्त्त के लोक जीवन में प्रसरित गाण्डीवधन्वा अर्जुन की शौर्य-कीर्ति, भृगुपति यशोवर्त्म क्रौञ्च-रन्ध्र आदि के संवेदना-संस्पर्श कवि को लोक-जीवन से उपलब्ध हुये हैं। रचनाकार के इन काव्य,संवेदनों में लोक-जीवन का युगीन रूप तथा सांस्कृतिक परम्परा के अवदान पूरी तरह घुल मिल गए हैं। ये सवेदन भारत की धरती के विविध अंचलों में पनपे लोक-जीवन के साथ बाह्य और आभ्यन्तर दोनों स्तर पर सांस्कृतिक आत्मीयता का भाव पैदा करते हैं। वहाँ का सब कुछ रचनाकार का तथा रचनाकार उन सबका अपना लगता है।

धनपतियों की बस्तियों की प्रतिरूप कल्पना-नगरी 'अलका' का सौन्दर्य-संवेदन भी कवि-युग के यथार्थ की भूमि से ही उगा है। उस युग के जीवन में यह यथार्थ किस वर्ग के जीवन से जुड़ा था यह कहीं बाहर से जानने की आवश्यकता नहीं है। धनपति कुबेर एक व्यक्ति नहीं, वर्ग है। वह वर्ग कालिदास के अपने शब्दों में "वित्तेश" लोगों का वर्ग है जिसका यौवन के अलावा कोई वय नहीं होता। हम समझते हैं, रचनाकार ने वित्तेश वर्ग के सदाबहार यौवन को रेखांकित करके उस वर्ग के जीवन का समग्र यथार्थ संश्लिष्ट रूप में रख दिया है। सदाबहार यौवन वाले वित्तेश वर्ग के लिए ललितवनिताओं से इन्द्रधनुषी रङ्ग वाले अभ्र 'लिह प्रासाद, छलकती मदिरा अहर्निश बजते मुरज, चूर्णमुष्टि को विफल कर देने वाले रत्नप्रदीप, एक साथ हँसती षड् ऋतुएँ सब कुछ एक यथार्थ है। इस यथार्थ को रचनाकार ने समग्रता के साथ अपनी कविता में उतारा है।

वियोगिनी यक्ष-प्रिया के भावचित्रों का उत्स न तो पात्र की दिव्यता में है और न उसके आभिजात्य में ही। रचनाकार की संवेदनाएँ तो प्रिय के वियोग में छटपटाते और सिसकते प्राण-तत्व के साथ जुड़ी हैं। अतः एव सर्वसंवेद्य है तथा सार्वभौम है। यदि ऐसा न होता तो रचनाकार वियोगमथिता मानवी और 'शिशिरमथिता पद्मिनी' का संवाद न करा पाता। अमृत शिशिर चन्द्रकिरणों को निहार

बेबसी की खीझ से आहत, अश्रुबोझिल पलकों से नयनों को मूँदती मानवी में वह अभ्र छाए दिन में "न प्रबुद्धा न सुप्ता" स्थलकमलिनी का बिम्ब कथमपि न झाँक पाता।

यायावर कालिदास के "मेघदूत" में वियुक्त तथा वियोगिनी के सभी भावचित्र तथा संवेदन भावप्रवण लोक-जीवन से प्राप्त हुए हैं। कवि-चेतना प्रवासी पथिक जन तथा पथिकवनिताओं के साथ गहरे और गहरे जुड़ी हुई है। वियोगी यक्ष की अपनी प्रिया की "वेणी" के उद्वेष्टन की चिन्ता प्रवासी लोकमानस की वेणीमोक्ष की उत्सुकता है। प्रवासी प्रिय के सकुशल आगमन हेतु देवपूजा, प्रिय का चित्राङ्कन, मधुरवचना सारिका से प्रिय-चर्चा, मलिनवसन, प्रेमगीतों में खो जाना देहली पर अंकित पुष्पों के सहारे विरह के दिन गिनना जैसे सभी संवेदन भावप्रवण लोकमानस के साथ आत्मीयता बनाने से कवि-चेतना के अपने बन सके हैं। यक्ष के संदेश में उभयत्र कुशल का "पूर्वभाष्य" न मिल सकने की बेबसी और व्यथा, मिलन की आशा-किरन सभी संवेदन लोक-मानस में अपना उत्स रखते हैं। प्रवासी जन के लोक-गीतों में इन संवेदनाओं को आज भी पाया जा सकता है। कला का श्रेष्ठतम संवेदन वही है जहाँ प्रत्येक प्राण अपना "स्व" अनुभव करने लगे। मनुष्य के सामाजिक जीवन का भी श्रेष्ठतम मूल्य यही है। मानव-चेतना की वहीं चिरसाध है, यही उसका गन्तव्य है, जहाँ एक की सवेदना बहुतों की बन सके। काव्य-रचना में यह यथार्थ जितना अधिक रूपायित होता है उतनी ही अधिक उसकी सामाजिक सार्थकता एवं मूल्यवत्ता होती है। मेघदूत के कवि की काव्य-संवेदना में सार्वभौम "स्व" की अनुभूति का तत्व मूलस्वर है। अतः एव यह विश्व-साहित्य की भव्य थाती है।

प्राध्यापक संस्कृत-विभाग
लाजपत राय महाविद्यालय,
साहिबाबाद

☐ डा० (कु०) अदिति भट्टाचार्य

मेघदूत की 'प्रोषितभर्तृका'

यक्षाधीश्वर कुबेर के निर्दिष्ट कार्य में प्रमाद करने के कारण किसी यक्ष को अपनी प्रिया से वियोग होने का शाप अपने स्वामी कुबेर से मिला। अभिशप्त यक्ष को एक वर्ष के लिये प्रवास हुआ।[1] विरही यक्ष और 'प्रोषितभर्तृका' अर्थात् उसकी विरहिणी पत्नी। उन दोनों के विरह वेदना के कारण ही सम्पूर्ण मेघदूत विप्रलम्भ शृंगार से सराबोर है।

जिस स्त्री का पति प्रवासी है उसे प्रोषितभर्तृका कहते हैं। यह आठ नायिकाओं में अन्यतम है।[2] अलकापुरी में विद्यमान यक्षपत्नी का पति रामगिरि में है।[3] अतः वह प्रोषितभर्तृका हुई। प्रोषितभर्तृका के लिये धर्मशास्त्रकार याज्ञवल्क्य इसप्रकार लिखते हैं—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका।। (आचाराध्याय)[4]

अर्थात् प्रोषितभर्तृका सती धर्म के पालन के लिये क्रीडा, देहसंस्कार, (शरीर को सुसज्जित करना) समाज में जाना, और उत्सव को देखना, हास्य करना और दूसरे के घर में जाना इन सब कर्मों का परित्याग करे।

मेघदूत में कवि कालिदास ने यक्षपत्नी के चरित्र को प्रोषितभर्तृका की कसौटी पर खरा उतारा है। धर्मशास्त्र के बताये गये आचारसंहिता से कहीं बढ़कर यक्षपत्नी ने सतीधर्म को निभाया है। वह तो त्याग और संयम की साकार मूर्ति है। साथ ही अति सुकुमार भी है। इसी कारण अपनी पत्नी की जीवन रक्षा चाहने वाले ('दयिताजीवितालम्बनार्थी')[5] उस यक्ष ने मेघ द्वारा अपना कुशल क्षेम भेजना प्रथम कर्त्तव्य समझा। वह यह भलीभाँति जानता है कि आशारुपी बन्धन, प्रेमपूर्ण, फूल के समान, सुकुमार तथा विरह में तत्क्षण नष्ट होने वाले अबलाओं के जीवन को प्रायः रोक देता है।[6] अतः वेचार यक्ष क्या करता? उसकी सुकुमार प्रिया उसके विरह में प्राण ही न त्याग दे ऐसा सोचकर पत्नी-प्रेम में विह्वल होता हुआ वह यह भी विचारने में असमर्थ रहा कि कहाँ तो धुँआ, तेज, जल और वायु के समुदाय से उत्पन्न जड़ मेघ और कहाँ कुशल इन्द्रियों से युक्त प्राणियों से भेजे जाने वाले सन्देश के वचन। तीव्रोत्कण्ठा के कारण इस बात पर विचार न कर यक्ष ने मेघ से क्षमा याचना की क्यूँकि काम से आकुल जन चेतन और अचेतन के विवेक में स्वभाव से ही दीन हो जाते हैं।[7] अतः मेघ को ही यक्ष ने पत्नी के पास अपना कुशल वृत्तान्त भेजने के लिये सन्देशवाहक के रूप में चयन किया। वह मेघ से यह विनती करता है कि उसकी पत्नी के सम्मुख वह (मेघ) अपना परिचय देने से पूर्व 'हे अविधवे'[8] इस सम्बोधन द्वारा अपने वक्तव्य को प्रारम्भ करे अन्यथा वह 'कोमलहृदया' उसे (मेघ को) देखते ही किसी अनिष्ट की संभावना से अपने प्राणों को त्याग सकती है।

उधर यक्ष ने मेघ द्वारा सन्देश भेजना परम-कर्त्तव्य समझा और इधर अलकापुरी में उसकी पत्नी एक 'प्रोषितभर्तृका' के रूप में अपने विरह के तप से सन्तप्त है। अलकापुरी ऐश्वर्य का आगार है।[9] प्रत्येक भोग का साधन वहाँ सुलभ है।[10] यक्षों के आँसू आनन्द से ही गिरते हैं अन्य किन्हीं कारणों से नहीं प्रिय समागम से हटाये जाने वाले कामबाण से ही ताप है अन्य कोई दूसरा ताप नहीं, प्रेम-कलह से ही विरह प्राप्ति है दूसरे विषय से नहीं। इसीप्रकार यौवन के अतिरिक्त जहाँ अन्य अवस्था नहीं है।[11]

जहाँ अभिसारिकाओं का रात का मार्ग सूर्योदय होने पर गति के कारण अलकों से गिरे हुये मन्दरापुष्पों से, पत्रलताओं के टुकड़ों से कानों के गिरे हुये सुवर्ण कमलों से, शिर:स्थित मोतियों की लड़ियों से और कुचप्रदेश पर टूटे हुये सूत्रों वाले हारों से जाना जाता है।[१२]

ऐसे वातावरण में जहाँ संगीत है, विलास है,[१३] भोग है, ऐश्वर्य है, यौवन है–यक्षपत्नी का विरह-कालीन संयम एक असिधाराव्रत से कम नहीं। यक्षमेघ से अपनी प्रिया के विरह कष्ट का वर्णन बड़े ही आतुरता से करते हुये कहता है—

"हे मेघ, अलङ्कारों से रहित और बारम्बार अतिशय दुःख से शय्या पर रखे हुये कोमल शरीर को धारण करती हुई दुर्बल मेरी प्रिया को देखकर तुम भी नूतन जलरूप आँसू निश्चय गिगाओगे, क्योंकि प्रायः कोमल हृदय वाले सब लोग करुणापूर्ण चित्त-वृत्ति वाले होते हैं।"[१४] यक्षपत्नी ने अपने पति के प्रवास काल में क्रीडा के साथ-२ अपना सम्पूर्ण शृगार का भी परित्याग किया है। वह केवल एक मलिन-वसन धारण करती है।[१५]

जिस अलकापुरी की वधुयें छः ऋतुओं के फूलों से शृंगार करती हैं, हाथों में लीलाकमल, अलकों में माध्य पुष्पों का गुम्फन, मुख में लोध्र पुष्पों के पराग से उज्ज्वल शोभा, जूड़े में नूतन कुरबक के फूल, कान में सुन्दर शिरीषपुष्प तथा सीमन्त में कदम्ब पुष्प का प्रयोग करती हैं[१६] उसी अलकापुरी की यक्ष-पत्नी ने केवल पुष्प शृंगार को ही नहीं छोड़ा अपितु शुद्ध स्नान करना भी प्रारम्भ कर दिया। अर्थात् स्नान से पूर्व तेल या उद्वर्तन आदि का प्रयोग नहीं करती, सतीधर्म के अनुसार उसे शरीर संस्कार का निषेध किया गया है अतः केश शुद्ध स्नान से रुखे और न संवारने से कपोल स्थल पर लटकने लगे हैं।[१७] यक्षपत्नी के वियोग के प्रथम दिन अर्थात् जिस दिन यक्ष अपनी पत्नी से सुदूर जा रहा था तब जाने से पूर्व उसने अपने ही हाथों से अपनी पत्नी की एक चोटी को गूँथा था और शाप की समाप्ति पर पत्नी के साथ पुर्नमिलन के समय उस बंधी हुई एक वेणी को उसे खोलना था। इस बीच उसकी पत्नी ने न तो केश संवारा न ही तेल का प्रयोग किया। उसकी अलकें जटाजूट होकर मुख पर बिखरने लगीं और उसने उस कठोर और विषम एक वेणी को ही धारण किया। विरहावस्था में यक्षपत्नी ने अपने नखों को भी नहीं काटा। जैसे कि स्वयं यक्ष ही अपनी पत्नी के सतीधर्म के कठोर व्रत का वर्णन करते हुये मेघ से कहता है—

'आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा,
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम्।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृतसारयन्तीं,
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण॥[१८]

यक्ष की पत्नी का सौन्दर्य अद्वितीय है। उसके अङ्ग प्रत्यंग का उपमान ही यक्ष को ढूँढे नहीं मिलता, जिसे देखकर वह अपने पीड़ित मन को ईषत् शान्त कर सके।[१९] वह मेघ को अपनी पत्नी का परिचय देते हुये कहता है कि "वह कृश है, युवती है, पके हुये दाडिम के बीजों के समान दन्तपंक्ति से युक्त है, परिपक्व बिम्बफल के समान लाल अधरोष्ठ से शोभित है, क्षीण कटि युक्त, भीत मृगी के समान चञ्चल नेत्रों से शोभित गम्भीर नाभियुक्त उन्नत कुचों से कुछ झुकी हुई और युवती में ब्रह्मा जी की प्रथम रचना की समान जो स्त्री होगी—उस घर में प्रवेश करो।[२०]

उपर्युक्त सौन्दर्य चित्रण से यह प्रतीत होता है कि अलकापुरी में यक्ष की पत्नी से सुन्दर अन्य कोई युवती नहीं थी, अतः उस रूपश्री को ढूंढने में मेघ को किसीप्रकार की कठिनाई नहीं होगी।

यक्ष अपनी पत्नी के अलौकिक रुप का आस्वादन जब अपनी कल्पना में ही करता है तभी एकाएक उसे यह भी ध्यान आता है कि विरह के दिनों में प्रोषितभर्तृका के रूप में उसकी पत्नी पाले से पीड़ित कमलिनी के समान दूसरे ही रूप को प्राप्त होगी ।[२१] यक्ष को यह विदित है कि उसकी प्रिया एक पतिव्रता स्त्री है । उसने पति के विरह में अपने सम्पूर्ण शृंगार का त्याग कर दिया है । अपनी पत्नी के शृंगार रहित सन्तप्त मुख का स्मरण करते ही यक्ष विह्वल होते हुये मेघ से कहता है—

"(हे मेघ) अधिक रोने से सूजे हुये नेत्रों से युक्त निःश्वासों के गर्म होने से कान्तिहीन ओष्ठवाला, हथेली के ऊपर रखा हुआ, प्रसाधन न करने से अलकों के लटकने से अपूर्ण दर्शन वाला प्रिया का मुख तुम्हारे आवरण से क्षीण कान्ति वाले चन्द्रमा की दीनता को निश्चय धारण कर रहा होगा ।"[२२]

विलास और ऐश्वर्य की चरम कोटि पर पहुँची हुई अलकापुरी में वास करने वाली 'यक्षप्रिया' भी संयम और त्याग की पराकाष्ठा तक पहुँचती है । एक वर्ष की दुःसह विरह-वेदना को सहन करते हुये अनन्त कठिनाईयों का सामना करती है । साथ ही अगणित कष्टों को भी झेलती है जो कि मेघदूत के कतिपय श्लोकों में दर्शनीय है ।

प्रोषितभर्त्तका-यक्षपत्नी ने हँसना तो क्या बोलना भी कम कर दिया है ।[२३] केवल अपने प्रिय के चिन्तन में ही समय व्यतीत करती है, कभी-कभी जब मौन असह्य हो उठता है तो अपनी पालतू सारिका से ही बातें करके मन बहलाती है ।[२४] वह अपने घर से कहीं अन्यत्र जाती नहीं है, न किसी से मिलती है, न ही अपने दुःख को किसी के सामने अभिव्यक्त करती है । सतीधर्म की सभी मर्यादाओं का पालन एक पतिव्रता पत्नी के रूप में वह कर रही है । अपने दीर्घ विरहकाल यापन के लिये वह बहुत कुछ करने का प्रयास भी करती है परन्तु असफल हो जाती है । कभी तो स्वयं की विह्वलता तो कभी अश्रु-प्रवाह बाधक हो जाते हैं ।

यक्षपत्नी गायन-वादन कला में निपुण परन्तु यदा-कदा जब वह अपने मन को बहलाने के लिये अपनी उत्सङ्ग में वीणा रखकर गाने की चेष्टा करती है, तो निरन्तर अश्रुपात से वीणा की तन्त्रियों को बार-बार पोंछती है और अन्ततोगत्वा उसका स्वर भी पति की स्मृति में विस्मृत हो जाता है ।[२५]

पति वियोग से दुर्बल यक्षपत्नी प्रायः अपने स्वामी यक्ष के काल्पनिक स्वरूप को साकार करने के लिये चित्र रचना का भी प्रयास करती है[२६] किसी कवि ने विरहकाल में दिल बहलाने के कुछ साधन निम्नस्थ श्लोक में बताये हैं—

"वियोगाऽवस्थासु प्रियजनसदृक्षाऽनुभवनं
ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि ।
तदङ्गस्पृतष्टानामुपगततवां स्पर्शनमपि
प्रतीहारः कामव्यथितमनसां कोऽपि कथितः ।।[२६]

अर्थात् प्रियजन के सदृश पदार्थ का अनुभव करना, चित्ररचना, स्वप्न के समय में दर्शन, प्रिय के अङ्ग से स्पष्ट पदार्थों का स्पर्श करना, इसप्रकार काम-पीड़ित चित्तवालों के मनोविनोद के उक्त उपाय कहे गये हैं ।

यक्षपत्नी संयम और त्याग की मूर्ति है । अपने एक पत्नी[२८] धर्म को निभाने के लिये उसने जीवन के सभी सुखों का परित्याग किया । ऐश्वर्य में पली हुई कोमलाङ्गी को कोमल शय्या पर सोने का अभ्यास था । परन्तु अब विरह के समय उसने साधारण शैय्या का भी परित्याग कर दिया, वह भूमि पर ही लेटती है ।[२९] वेदना से क्षीण गर्म आंसुओं को प्रवाहित करती हुई एक ही करवट से रात्रि व्यतीत करती है ।[३०]

यक्षपत्नी अपने मनोबल को दृढ़ करने के लिये पूजा-पाठ में भी अपना ध्यान लगाती है।[११] इस प्रकार प्रतिमाह अपने गृह के देहली पर एक-एक फूल को रखते हुये यह गणना करती है कि अब और कितने दिन प्रिय के समागम के लिये अवशिष्ट हैं।[१२]

कवि कालिदास की दृष्टि में भी प्रियतम के वियोग में स्त्रियों के कालयापन के लिये प्रायः उक्त साधन ही हैं।[१३] यक्ष अपनी पतिव्रता पत्नी के प्रेम और निष्ठा के लिये अपने को सौभाग्यशाली समझता है। उसे अपने ऊपर गर्व है, अपनी पत्नी पर पूर्ण आस्था है, प्रेम है, अतः वह मेघ से अपने मनोभाव को व्यक्त करते हुये कहता है—

"तुम्हारी सखी (मेरी प्रिया) का मन मेरे प्रति प्रेम पूर्ण है, मैं इस बात को जानता हूँ, इस कारण से मैं पहले वियोग में 'वह ऐसी हो गई है' इसप्रकार तर्कना करता हूँ, अपने को सौभाग्यशाली समझने का भाव मुझे वाचाल नहीं बना रहा है। हे भाई, मैंने जो कुछ कहा है वह सब शीघ्र ही तुम्हें प्रत्यक्ष हो जायेगा।[१४]

मेघदूत में चित्रित 'प्रोषितभर्तृका' का चरित्र इस बात की उद्घोषणा करता है कि भारतीय स्त्रियाँ अपनी एक पत्नी धर्म को कितने सहजभाव से निभाती हैं। यही उनके जीवन का आदर्श है। भारतीय संस्कृति के प्रतीक स्वरूप एक पतिव्रता नारी का परिचय हमें यक्षपत्नी के प्रोषितभर्तृका के रूप में ही प्राप्त होता है।

———

संदर्भ-संकेत—

१. मेघ, पूर्व,—१

२. 'दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया' दशरूपक २,४३।

३. मेघ, पूर्व—१

४. मेघदूत, व्याख्याकार श्री शेषराज शर्मा रेग्मी, पृष्ठ २०२।

५. मेघपूर्व ४।

६. तां चावश्यं दिवसगण नातत्परामेकपत्नी,
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां,
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥ मेघपूर्व, १०।

७. वही, ५।

८. मेघ उत्तर, ३६।

९. मेघ पूर्व, ६३, मेघ उत्तर, ३, ४, ८।

१०. मेघ उत्तर १।

११. आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै,
नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति,
वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति॥ मेघ उत्तर, ३।

१२. वही, ६ ।

१३. वही, ३, ५, ७ ।

१४. सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती,
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम् ।
त्वामप्यस्त्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं,
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तिरात्मा ॥ वही, ३० ।

१५. मेघ० उत्तर २३, 'मलिनवसने' ।

१६. वही, २ ।

१७. वही २८, 'शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्' ।

१८. मेघ, उत्तर २६, ३६, 'अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि' ।

१९. श्यामास्वङ्गं, चकितहरिणी प्रेक्षणे दृष्टिपातं,
वक्त्रच्छायां शशिनि, शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रू विलासान्,
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि ! सादृश्यमस्ति ॥ मेघ ३०, ४१

२०. तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां,
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥ मेघ ३०, १९

२१. "जातां मन्ये शिशरमथितां पद्मिनीवान्यरुपाम्" वही, २०

२२. मेघ० उत्तर, २१

२३. वही २०, "तां जानीथाः परिमित कथां जीवितं में द्वितीयं"

२४. वही २२, "पृच्छन्ती वा मधुरवचनां 'सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि ? रसिके'! त्वं हि तस्य प्रियेति ॥"
उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य, निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥

२५. मेघ उत्तर—२३,

२६. वही—२२, "मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्ये लिखन्ती"

२७. मेघदूत—व्याख्याकार श्री० शेषराजशर्मा रेग्मीः पृष्ठ २०५.

२८. मेघ० पूर्व. 'एकः पतिः यस्याः सा एकपत्नी'

२९. मेघ० उत्तर २५, 'अवनिशयनां'

३०. आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषो हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥ वही–२६

३१. वही, २२, "आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा"

३२. वही, २४, "शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।"

३३. वही, "प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः"

३४. जाने सख्यास्तव मयि मनः सम्भृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतो प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि ।
वाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ॥ मेघ उत्तर—३१

प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग
मेरठ कालिज, मेरठ ।

□ डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार

संस्कृत के रामकथाश्रित नाटक

आदि कवि वाल्मीकि की वाणी से प्रस्त्रुत काव्यामृतरूप रामायण संस्कृत-साहित्य की अमूल्य निधि है। इन ग्रन्थरत्न को उपजीव्य बनाकर गीर्वाणवाणी-प्रणयी अनेक काव्यशिल्पियों ने महाकाव्य, चम्पूकाव्य, रूपक, गद्य काव्य आदि के माध्यम से अपनी काव्यमन्दाकिनी को प्रवाहित किया है। महाकवि कालिदास का रघुवंश, क्षेमेन्द्र की रामायणमञ्जरी तथा दशावतारचरित, अभिनन्द का रामचरित, भट्टि का भट्टिकाव्य, कुमारदास का जानकीहरण, शाकल्लमलाचार्य का उदारराघव, रूपनाथ उपाध्याय का श्रीरामविजय, पाणिवाद का राघवीयम् आदि रामकथाश्रित महाकाव्य प्रसिद्ध हैं। भोजराजकृत रामायण चम्पू, वेंकटकृत उत्तररामचरितचम्पू आदि चम्पुओं में भी रामकथा का सरस निबन्धन हुआ है। वेदान्तदेशिक का हंसदूत, रुद्रन्यायपंचानन का वातदूत आदि संदेशकाव्य भी रामकथा से गौरवान्वित हैं। सोमदेव का कथासरित्सागर, क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामञ्जरी, वासुदेव की रामकथा आदि कथाकाव्यों के कलेवर में भी रामकथा अनुप्रणाणित है। रामकथा को माध्यम बनाकर अनेक नाटकों का भी प्रणयन हुआ है।

रामकाव्य की इसी व्यापकता को देखकर प्रसन्नराघवनाटककार महाकवि जयदेव ने—'कथं पुनरमी कवयः सर्वे रामचन्द्रमेव वर्णयन्ति' इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुये कहा है कि इसमें कवियों का क्या दोष है, यह तो उन गुण-गणों का दोष है जो सब राम में आकार एकत्र हो गये हैं—

स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां।
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः॥ प्रसन्न० १.१२

संस्कृत साहित्य में रामकथा के प्रसंगों को लेकर लिखे गये जो नाटक उपलब्ध होते हैं उनमें से कुछ का (१८ वीं शती तक लिखे गये नाटकों का) परिचयात्मक संक्षिप्त विवेचन नीचे दिया जा रहा है।

१. प्रतिमा (चतुर्थ शती ई० पू०)

इस नाटक की रचना महाकवि भास द्वारा की गई है। सात अंकों में राम के वनवास से लेकर रावण वध पर्यन्त घटनाओं का वर्णन कविकल्पना से रंजित प्राप्त होता है। तृतीय अंक में पिता की अस्वस्थता को सुनकर ननिहाल से वापिस आते हुये भरत मार्ग में अयोध्या के निकटस्थ प्रतिमागृह में अपने वंशजों की प्रतिमाओं के साथ दशरथ की भी प्रतिमा को देख उनकी मृत्यु की सूचना प्राप्त कर लेते हैं। इसीके आधार पर इस नाटक का नाम प्रतिमा रखा गया है। पंचम अंक में कवि ने सीताहरण का चित्र एक नूतन रूप में प्रस्तुत किया है। रावण परिव्राजक वेष में राम के निवासस्थान पर पहुँचता है। राम उसका आतिथ्य करते हैं। वार्तालाप के प्रसंग में रावण दशरथ के श्राद्ध के लिये सुवर्णमृग के निवाप का उपदेश करता है। इतने में कपट सुवर्णमृग दिखाई देता है। राम उसका पीछा करने लगते हैं। लक्ष्मण तीर्थयात्रा से लौटते समय कुलपति की अगवानी के लिये गये हुये हैं। पीछे रावण सीता को हर लेता है।

२. अभिषेक (चतुर्थ शती ई० पू०)

यह भी भास की कृति है। इसमें ६ अंक हैं, जिनमें रामायण के किष्किन्धाकाण्ड से युद्धकांड तक की कथा स्वल्प परिवर्तन के साथ वर्णित है। रामायण की भाँति इसमें सागर पर सेतुबन्धन नहीं होता, किन्तु वरुण की कथा से समुद्र स्वयं दो भागों में विभक्त हो जाता है। पंचम अंक में कुंभकर्ण तथा इन्द्रजित् के वध के अनन्तर रावण राम-लक्ष्मण के कटे मस्तकों की प्रतिकृति बनवा कर सीता को छलने का प्रयत्न करता है, किन्तु सफल नहीं होता। अन्तिम अंक में युद्ध में रावण के वध के पश्चात् सीता की अग्नि परीक्षा के समय अग्निदेव स्वयं उपस्थित होकर सीता को निष्पाप घोषित करते हैं तथा राम को अपना अभिषक कराने के लिये कहते हैं। अभिषेक के साथ नाटक समाप्त होता है।

३. महावीरचरित (अष्टम शती ई०)

भवभूतिरचित इस नाटक में राम-सीता के विवाह से लेकर राम के राज्याभिषेक तक का वृत्त वर्णित है। कथानक के परिवर्तन में कवि ने अपनी कल्पना को खुला छोड़ा है। सीता और उर्मिला अपने चाचा कुशध्वज के साथ विश्वामित्र के आश्रम में जाती हैं। वहीं राम-लक्ष्मण उन्हें देख उनके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। विश्वामित्र कुशध्वज की राम को जामाता बनाने की प्रबल इच्छा देख वहीं हर चाप मंगाने का आदेश देते हैं। राम के धनुर्भंग कर देने पर उनका सीता के साथ विवाह हो जाता है और लक्ष्मण आदि के लिये विश्वामित्र उर्मिला आदि को मांग लेते हैं। कई घटनाओं के मूल में राक्षसों का षडयन्त्र दिखाया गया गया है। परशुराम के क्रोध का कारण यह बताया गया है कि रावण का सचिव माल्यवान् राम के विरुद्ध उन्हें भड़काता है। तब परशुराम मिथिला में शिवधनुर्भंजक राम का दमन करने पहुँचते हैं। राम का वनवास भी शूर्पणखा की माया से घटित होता है। बाली ने जो राम के साथ युद्ध किया उसमें भी माल्यवान् की प्रेरणा कारण बताई गई है। यह वीर रस-प्रधान नाटक है।

४. उत्तररामचरित (अष्टम शती ई०)

सात अंकों में भवभूति ने वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड से सम्बद्ध कथानक को नाटकीय सूत्र में बद्ध किया है। प्रथम अंक में राम के अभिषेकोत्सव में आये हुये जनक के मिथिला लौट जाने से उदास सीता के मनोरंजन के लिये राम सीता को लक्ष्मण के साथ चित्रवीथि में चित्रित चित्रों को देखते हैं, जिनमें राम का अपना पूर्वचरित चर्चित है। कविकल्पनाप्रसूत यह प्रसंग संस्कृत-साहित्य में अपूर्व माना जाता है। इसके अतिरिक्त तृतीय अंक में तमसा, मुरला एवं भागीरथी नदियों का मानवीकरण, राम की वनदेवता वासन्ती से भेंट, दण्डकारण्य में राम के सम्मुख छायासीता की उपस्थिति, चतुर्थ अंक में वाल्मीकि आश्रम में जनक, कौसल्या, अरुन्धती, वसिष्ठ आदि गुरुजनों की उपस्थिति, पंचम अंक में चन्द्रकेतु तथा लव के मध्य हुये युद्ध का वर्णन तथा सप्तम अंक में सीता की निर्दोषता प्रमाणित करने के लिये अयोध्या-निवासियों एवं राम के सम्मुख वाल्मीकिनाटक का प्रदर्शन आदि प्रसंग कवि की मौलिक कल्पनायें है। लव-कुश के जन्म तथा शम्बूक के वध की कथा रामायण में वर्णित कथा से भिन्न है। उत्तरामचरित के अन्तिम अंक में कवि ने रामायण के विपरीत राम-सीता का मिलन करा कर नाटक को सुखान्त बना दिया है। यह नाटक करुण रस के चित्रण में अद्वितीय है।

५. उदात्तराघव (अष्टम शती ई०)

अनङ्गहर्षकृत इस नाटक में ६ अंक हैं, जिनमें राम के वन-गमन से रावण-वध के पश्चात्

अयोध्या में प्रत्यागमन तक का वृत्त चित्रित किया है। कवि ने यहाँ सीताहरण का एक नूतन रूप प्रस्तुत किया है। इसमें लक्ष्मण स्वर्णमृग का वध करने के लिये जाते हैं। उनके जाने के पश्चात् रावण आश्रम के कुलपति का रूप धारण कर राम-सीता के पास आता है और अपने अनुज को भेजने के कारण राम की निन्दा करता है। उसी समय एक छद्मवेषी राक्षस आकर सूचना देता है कि कनकमृग राक्षस के वेष में आकर लक्ष्मण को ले जा रहा है। इसे सुनकर राम सीता को रावण की रक्षा में छोड़कर लक्ष्मण की सहायता के लिये चले जाते हैं। तृतीय अंक में सीता को हर कर जाते हुये रावण के साथ हुये युद्ध में आहत मरणासन्न जटायु रक्तरंजित चंचु से एक पत्ते पर पत्र लिखकर किसी ऋषि के द्वारा राम के पास भेजता है, जिसमें रावण के संहार का अनुरोध किया गया है। इस नाटक में माया के प्रभाव से राक्षसों द्वारा रामपक्षीय लोगों का रूप धारण करने के भी अनेक प्रसंग मिलते हैं।

६. कुन्दमाला (नवम शती ई०)

राम के उत्तरचरित पर आधारित एक नाटक आचार्य दिङ्नाग या धीरनाग का कुन्दमाला नाटक है। यह ९ वीं शती ई० में रचा गया था। ६ अंकों के इस नाटक में सीता-परित्याग से लेकर राम-सीता के पुनर्मिलन तक का वृत्त प्रस्तुत है। उत्तररामचरित के समान यह नाटक भी सुखान्त है। इसके तीसरे अंक में गोमती के तट पर भ्रमण करते हुये राम-लक्ष्मण को नदी की तरंगों के मध्य बहती हुई कुन्द-पुष्पों की एक माला दिखाई देती है। उसकी गूंथने की कला देखने पर राम को सीता का स्मरण हो आता है, और वे जिधर से माला बहती हुई आई है, उधर ही लक्ष्मण के साथ चल पड़ते है। चौथे अंक में कवि ने वाल्मीकि के प्रभाव से अदृश्य छाया सीता का राम से मिलन कराया है। पांचवें अंक में लव-कुश राम के सम्मुख रामायण गान करते हैं। षष्ठ अक में पृथ्वी देवी स्वयं प्रकट होकर सीता की पवित्रता को पुष्ट करती हुई राम को सीताग्रहण के लिये प्रेरित करती है। अन्ततः राम वाल्मीकि के आदेशानुसार लव-कुश सहित सीता को ग्रहण करते हैं। इस नाटक पर भवभूति का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। यह नाटक भी करुण रस से परिपूर्ण है। कहीं-कहीं विप्रलम्भ शृंगार, वत्सल तथा अद्भुत रस का परिपाक भी हुआ है।

७. आश्चर्यचूडामणि (नवम शती ई०)

दाक्षिणात्य कवि शक्तिभद्र कृत अद्भुतरसप्रधान इस नाटक में वाल्मीकि रामायण की अरण्यकाण्ड से युद्धकाण्ड तक की प्रमुख कथा को नाटकीय रूप दिया गया है। इसके सात अंकों में शूर्पणखा के आगमन से सीता की अग्नि परीक्षा तक का वृत्त वर्णित है। इस नाटक का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें आश्चर्यजनक घटनाओं की रोचक परम्परा उपस्थित की गई है। यहाँ राम के पास मुनियों द्वारा प्रदत्त एक मुद्रिका तथा सीता के पास एक चूड़ामणि है जिनके स्पर्शमात्र से मायावी राक्षस अपने असली रूप में आ जाते हैं। इसी कारण इस नाटक का नाम आश्चर्यचूड़ामणि रखा गया है।

८. अनर्घराघव (दशम शती ई०)

महाकवि मुरारि द्वारा प्रणीत सात अंकों के अनर्घराघव नाटक में यज्ञ रक्षार्थ राम-लक्ष्मण को लेने के लिये विश्वामित्र के अयोध्या में पदार्पण से लेकर राम के अभिषेक तक की घटनाओं का चित्रण है। इसमें रावण का दूत शौष्कल उसके लिये सीता को माँगने मिथिला में स्वयंवर-स्थल पर पहुँचता है। शूर्पणखा कैकेयी की दासी मन्थरा के वेष में मिथिला जाकर कैकेयी का जाली पत्र लक्ष्मण को देती है, जिसमें कैकेयी ने दशरथ से वरयाचना की है। कवि ने राम की पुष्पक विमान-यात्रा का अद्भुत तथा मनोहारी वर्णन किया है। पाण्डित्य का प्रदर्शन इस नाटक में पर्याप्त है।

९. बालरामायण (दशम शती ई०)

यह राजशेखर द्वारा विरचित दस अंकों का वीररस प्रधान नाटक है। प्रस्तावना में कवि ने स्वयं को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ तथा भवभूमि का अवतार कहा हैं। इस नाटक में भवभूति तथा मुरारि का अनुकरण करते हुये सीता स्वयंवर से लेकर राम के अभिषेक तक का सम्पूर्ण चित्र प्रदर्शित किया गया है। कवि ने कथानक को नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है। यहाँ रावण भी अपने मन्त्री प्रहस्त के साथ सीता को पाने की इच्छा से स्वयंवर-स्थल में पहुँचता है। तृतीय अंक में सीता की अप्राप्ति से खिन्न रावण के मनोविनोदार्थ सीता-स्वयंवर नामक नाटक खेला जाता है। पचम अंक में सीता-विरह से आकुल रावण स्वयं मनोविनोद के लिये अपने लीलोद्यान में छहों ऋतुओं का वर्णन करता है। कवि ने राम विरोधी सभी घटनाओं में रावण का हाथ माना है। राम का निर्वामन तक रावण के आदेश से दशरथ एवं मन्थरा के वेष में मायामय तथा शूर्पणखा कराते हैं। राम सागर पर सेतुवन्ध करा रहे हैं, उसी समय रावण उन्हें आकुल करने के लिये माया-सीता का कटा सिर समुद्रतट पर फेंकता है। नवम अक में विमानारूढ़ इन्द्र स्वयं ही राम-रावण के संग्राम का वर्णन करते हैं। ऋतु, युद्ध आदि के वर्णन में कवि विशेष दक्ष है।

१०. उल्लाघराघव (त्रयोदश शती पूर्वार्द्ध)

गुर्जरदेशीय सोमेश्वर कवि विरचित ८ अंकों का यह नाटक राम के विवाह से लेकर राज्याभिषेक तक का वृत्त वर्णित करता है। अन्तिम अंक में कवि द्वारा एक नूतन उद्भावना प्रस्तुत की गई है। अंक के आरम्भ में राम, लक्ष्मण, सीता, विभीषण आदि पुष्पक-विमान पर आरूढ़ हो अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं। इसी बीच लवणासुर का कार्पटिक नामक एक दूत अयोध्या में आकर सूचना देता है कि लंका-युद्ध में राम-लक्ष्मण मारे गये तथा सीता सती हो गई, और अब रावण पुष्पक-विमान से अयोध्या की ओर आ रहा है। इस वृत्त को सुनते ही सेना सज्जित की जाती है तथा कौसल्या-सुमित्रा अग्निप्रवेश का निश्चय कर सरयू तट पर जाती है। उसी क्षण राम का विमान पहुँचता है, जिसमें भरत विभीषण को देखकर उस पर वाण चलाना चाहता है, किन्तु वसिष्ठ उसे रोक देते हैं।

११. प्रसन्नराघव (त्रयोदश शती पूर्वार्द्ध)

पीयूषवर्ष जयदेवकृत 'प्रसन्नराघव' रामकथा पर आश्रित एक रूपक है, जो नाटकों की श्रेणी में आता है। यह नाटक सात अंकों में विभक्त है और इसमें रामायण के सीता स्वयंवर से लेकर राम-रावण-युद्ध के पश्चात् राम के अयोध्या लौटने तक के वृत्त को चित्रित किया गया है। इस नाटक का कथानक मुख्यत: वाल्मीकि रामायण में वर्णित रामचरित पर आधारित है, फिर भी इसमें कवि ने अनेक अनूठी कल्पनायें भी की हैं, जिनमें से कुछ ये हैं।

सीता के विवाह हेतु स्वयंवर का आयोजन; दो बन्दीजनों द्वारा स्वयंवर में उपस्थित राजा-महाराजाओं का परिचय करवाना और जनक की प्रतिज्ञा की घोषणा करना, सीता से विवाह के लिये रावण तथा बाणासुर का उपस्थित होना और शिव धनुष को उठाने के प्रयत्न में विफल होना; धनुरा-रोपण में विफल नृपतिगणों का जनक के अनुरोध पर उनका आतिथ्य स्वीकार करने के लिये कुछ दिन मिथिलापुरी में ही निवास करना; मिथिलापुरी की वाटिका में विवाह से पूर्व ही राम-सीता के पूर्वानुराग का वर्णन; धनुर्भंग के पश्चात् विश्वामित्र द्वारा दशरथ को बुलवाये बिना और उनकी अनुमति के बिना ही स्वेच्छा से राम-सीता का विवाह करवा देना, परशुराम द्वारा शिवधनुष के आरोपण की शर्त हटा लेने के लिये जनक के पास संदेश भेजना; जनक द्वारा उसकी अवहेलना करने पर धनुर्भंग के बाद कोपा-

विष्ट होकर परशुराम का मिथिला में आकर राम एवं लक्ष्मण के साथ वाक्कलह करना; राम का परशुराम के साथ युद्ध-योग्य भूमि पर जाना और वहाँ वैष्णव-धनुष का आरोपण करके परशुराम का तेजोभङ्ग करना; माण्डवी और श्रुतिकीर्ति का जनक की कन्या के रूप में उल्लेख; यमुना, गंगा, गोदावरी, सरयू, तुंगभद्रा आदि नदियों और सागर का मानवीकरण करके उनके मुख से अपने-अपने तट पर घटित रामकथा को सुनवाना; सीता द्वारा प्राणत्यागार्थ त्रिजटा के अंगारखण्ड लाने और अग्नि जलाने की याचना; त्रिजटा द्वारा सीता को राम के पास कोई चिह्न तथा संदेश भेजने की प्रेरणा देना; त्रिजटा द्वारा आकाशचरिणी होकर मेघनाद द्वारा हनुमान को बाँधे जाने और हनुमान द्वारा किये लंकादाह एवं समुद्रलंघन का वर्णन आदि। रामायण की कथा में कवि द्वारा किये गये इन स्वकल्पनाप्रसूत परिवर्तनों एवं परिवर्द्धनों तथा सरल भाषा, हृदयस्पर्शी भावों, अद्भुत कल्पनाओं, अनूठे पदलालित्य, उचित अलङ्कार-सज्जा, प्रसाद, माधुर्य आदि गुणों, रसपेशलता आदि के कारण रामकथा को आधार बना कर लिखे गये नाटकों में इस नाटक का गौरवपूर्ण स्थान बन गया है।

१२. मैथिलीकल्याण (त्रयोदश शती ई०)

जैन कवि हस्तिमल्ल रचित पाँच अंकों के इस नाटक में राम-सीता के पूर्वानुराग, धनुर्भंग, विवाहोत्सव आदि का चित्रण है। प्रथम चार अंकों में कवि ने केवल पूर्वानुराग का ही शृङ्गारपूर्ण वर्णन किया है। प्रतीत होता है कि जयदेव के ही पूर्वानुराग-प्रसंग से इन्होंने प्रेरणा प्राप्त की है। प्रथम अंक में सीता अपनी सखी विनीता के साथ कामदेव भवन में आकर झूला झूल रही हैं। राम-सीता को देख उसके लावण्य पर मुग्ध हो जाते हैं। द्वितीय अंक मे सीता-विरह से आकुल राम विदूषक के साथ माधवी कुंज में जाते हैं। अकस्मात् वहाँ सीता और विनीता भी पहुँच जाती हैं, तथा राम की मनःस्थिति उन्हें ज्ञात हो जाती है। तृतीय अंक में सीता की पंढ नामक सखी राम के पास सीता की वियोगावस्था का करूण्य-पूर्ण वर्णन कर राम को चन्द्रकान्ताधारागृह में आने के लिये कहती है। राम संकेतित स्थान पर पहुँच सीता के सम्मुख अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं। अन्तिम अंक में राम चापारोपण कर सीता को प्राप्त कर लेते हैं।

१३. दूतांगद (त्रयोदश शती ई०)

इस एकांकी छाया नाटक की रचना महाकवि सुभट्ट द्वारा हुई है। इसमें कवि ने स्थान-स्थान पर राजशेखर आदि कवियों के अनेक श्लोक ले लिये हैं। यहाँ अंगद के दूतकार्य से लेकर राम लंकात्याग तक के वृत्तान्त का वर्णन है। कवि ने वाल्मीकि-रामायण के अंगद-रावण-संवाद के प्रसिद्ध वृत्त का चित्रण करने में अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है।

१४. हनुमन्नाटक (चतुर्दश शती ई०)

कहा जाता है कि इसकी रचना पर्याप्त पहले हो गई थी, किन्तु १४वीं शती तक इसमें अनेक प्रक्षेप जोड़े जाते रहे। इसके दो संस्करण प्राप्त हैं—एक मधुसूदन मिश्र का तथा दूसरा दामोदर मिश्र का। प्रथम महानाटक के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें ८ अंक हैं। द्वितीय हनुमन्नाटक के नाम से विख्यात है, जिसमें अंकों की संख्या १४ तक पहुँच गई है। इसमें स्थान-स्थान पर प्राचीन कवियों के श्लोक प्राप्त होते हैं। इस नाटक पर मुरारि, राजशेखर एवं जयदेव का पर्याप्त प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है।

१५. उन्मत्तराघव : भास्करभट्ट कृत (चतुर्दश शती ई०)

इस पर कालिदास के विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। राम और लक्ष्मण एक साथ मायामय स्वर्णमृग को पकड़ने के लिये जाते हैं। सीता अपनी सखी मधुरिका के साथ

पुष्पचयन के लिये निकटस्थ तपोवन में चली जाती है, जहाँ वह दुर्वासा के शाप से मृगी बन जाती है। राम सीता के विरह में उन्मत्तों की भाँति प्रलाप करते हुये इधर-उधर भटकने लगते हैं। अन्त में अगस्त्य मुनि सीता को शापमुक्त कर राम से उसका मिलन करा देते हैं।

१६. उन्मत्तराघव : विरूपाक्षकृत (पञ्चदश शती ई०)

यह विप्रलम्भ-शृङ्गार-प्रधान नाटक है, जिसमें रामायण के आधार पर सीताहरण का वृत्त चित्रित है। हेममृग का वध कर लौटने पर राम जब कुटी में सीता को नहीं पाते तब उन्मत्तों की भाँति विलाप करते हुये उसे इतस्ततः खोजने लगते हैं। राम के उन्माद तथा एकांकी लक्ष्मण द्वारा रावण को जीतने के प्रसंगों के चित्रण में कविकल्पना की चारुता सराहनीय है।

१७. अद्‌भुतदर्पण (सप्तदश शती ई०)

इसके रचयिता दाक्षिणात्य कवि महादेव हैं। इसके दस अंकों में अंगद के दौत्यकर्म से लेकर राम के राज्याभिषेक तक वृत्त वर्णित है। नाटक के नामकरण का आधार वह कौतूहलपूर्ण दर्पण है जिसकी सहायता से तीन योजन तक की घटनायें सरलतापूर्वक देखी जा सकती है। नाटक अद्‌भुत रस प्रधान है।

१८. सीता-राघव (अष्टदश शती ई०)

सात अंकों का यह नाटक कवि रामपाणिवाद द्वारा ट्रावनकोर के महाराज मार्तण्डवर्मा के आमन्त्रण पर आये हुये विद्वान् ब्राह्मणों के समक्ष अभिनीत करने के लिये लिखा गया था। प्रथम अंक में विश्वामित्र का शिष्य चारायाण अयोध्या जाकर राजा दशरथ से राम को सीता-स्वयंवर में मिथिला ले जाने की अनुमति माँगता है। द्वितीय अंक में मायावसु और करम्बक नामक दो असुर राम से ताड़का तथा सुबाहु के वध का बदला लेने के लिये क्रमशः दशरथ और सुमन्त्र के वेष में मिथिला पहुँचते हैं, तथा राम को धनुर्भंग से रोकना चाहते हैं। किन्तु इसी बीच शतानन्द के साथ वास्तविक दशरथ के उपस्थित हो जाने पर भेद खुल जाता है। तृतीय अंक के अन्त में सीता, उर्मिला, श्रुतकीर्ति एवं माण्डवी की विदाई का दृश्य अतिशय करुणाजनक है। चतुर्थ अंक के विषकम्भक से यह ज्ञात होता है कि शूर्पणखा के आदेश से अयोमुखी राक्षसी ने मिथिला में स्थित कैकेयी के पास जाकर राम को वनवास दिलाने के लिये प्रेरित किया है। पंचम अंक में मायावसु नामक असुर चारण वज्रांगद के वेष में आकर राम आदि को निराश करने के लिये सीता और हनुमान के वध की सूचना देता है। किन्तु तभी दधिमुख के आ जाने से मायावसु का छल प्रकट हो जाता है। अन्तिम दोनों अंकों में अशोकवाटिका-स्थित सीता का दर्शन, युद्ध तथा विजय के अनन्तर सबका पुष्पक-विमान पर आरूढ़ हो मार्ग में पड़ने वाले विभिन्न स्थलों का वर्णन करते हुये अयोध्या लौटने का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त रामकथा विषयक कतिपय अन्य नाटक भी लिखे गये थे जिनका संकेत केवल काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में ही मिलता है।

———

I/116 फूलबाग
पंतनगर (नैनीताल)

□ डॉ० धर्मप्रकाश अग्रवाल

अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में कालिदास का मनोवैज्ञानिक चित्रण—

काव्य मानव-भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति है। जो कवि जितनी अधिक स्वाभाविकता के साथ इन भावनाओं का चित्रांकन अपने काव्य में करता है, वह उतना ही महत् प्रमाणित होता है। मनोविज्ञान इन भावों का सहज स्वाभाविक रूप हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। सच्चे कवि का भावांकन इस सहजता से संयुक्त होकर सामाजिकों को भाव-विभोर करता रहता है। इसीके आधार पर कवि द्वारा स्रष्ट पात्र सजीव एवं निजी व्यक्तित्व से सम्पन्न बनते हैं। महाकवि कालिदास इस दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक प्रतिभा से सम्पन्न प्रमाणित होते हैं। अपनी इस प्रतिभा के कारण ही उन्होंने अपने पात्रों की सजीवता एवं उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व में कहीं भी व्याघात उपस्थित होने नहीं दिया। सम्राट् से लेकर साधारण परिचारक तक, राजमहिषी से लेकर साधारण परिचारिका तक तथा गृहस्थ एवं संन्यासी सभी का स्वाभाविक चित्रण उनके काव्य एवं नाटकों में उपलब्ध होता है।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' महाकवि की प्रौढ़तम नाट्यकृति है। महाकवि की मनोविज्ञान-विश्लेषण प्रतिभा इसमें अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई है। आश्रम के वातावरण की पवित्रता में लालित-पालित ऋषि–कन्याओं का हास-परिहास, उनका सारल्य एवं उनका नैसर्गिक स्नेह—ये सभी यौवन की नैसर्गिक उत्फुल्लता धारण करके भी नागरिक कृत्रिमता से रहित ही रहते हैं। आश्रम का सम्पूर्ण वातावरण निश्छलता से परिव्याप्त है। प्रेम के सयोग-वियोग दोनों पक्षों का समर्थ चित्रण उसमें हुआ है। इसीप्रकार पितृ-हृदय के भाव, बाल-मनोवृत्तियाँ आदि भी अकृत्रिम नैसर्गिक रूप में व्यक्त हुई हैं। यहाँ संक्षेप में मानसिक वृत्तियों के चित्रण में कवि-प्रवर की प्रकृष्टता का निदर्शन किया जा रहा है।

'शाकुन्तलम्' का प्रमुख रस श्रृंगार है। अतः नायक-नायिका का जिस क्रम से एवं जिसप्रकार से इसमें चित्रण हुआ है ' उससे प्रेमी-प्रेमिका की मानसिक स्थिति अपनी पूर्णता में उभर उठी है। वन के सरल वातावरण में परिपोषित, किशोरावस्था एवं यौवन की संधि में स्थित शकुन्तला दुष्यन्त के प्रति उत्पन्न अपने हृदय के आकर्षण का कितने सहज शब्दों में वर्णन करती है—"कधं इमं जणं पेक्खिअ वतोवण विरोहिणी विआरस्य गमणीअह्मि संवुत्ता।" प्रथम दर्शन में स्वभावतः ही वह अधिक मुखर नहीं हो सकती थी। प्रायः 'श्रृंगार-नाट्य' का ही प्रयोग कराकर कवि ने उसकी मुग्धा नायिका-वृत्ति की रक्षा के साथ ही उसकी भावनाओं को भी आकर्षक-सुकुमार रूप में व्यक्त कर दिया है। राजा के समक्ष ही सखियों के हास-परिहास एवं शकुन्तला के विलास-कोप आदि द्वारा इस प्रेम का किंचिद् आभास दिया गया है। आश्रम में जाते समय ऊरुस्तम्भ होना एवं कुशाओं से वस्त्र छुड़ाने के बहाने दुष्यन्त को मुड़-मुड़ कर देखना उसके प्रेम को कुछ और स्पष्ट करता है। प्रथम दर्शन में प्रेम का इतना ही विकास चित्रित कर कवि ने आश्रम-कन्या की स्वाभाविक संकोचशीलता की रक्षा के साथ ही दर्शकों के औत्सुक्य-वर्द्धन में भी प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की है। अपनी अन्तरंग सखियों से भी शकुन्तला अपने प्रणय का निवेदन संकोच-सहित ही करती है। पूर्ण युवा नागर नायक के प्रेम-भाव का स्वभावतः ही मुक्त एवं स्थूल स्वरूप में परिचय दिया गया है।

पुरुष की प्रकृति ही है कि वह सरलतया प्राप्त प्रेयसी को उचित महत्त्व नहीं दे पाता, फिर यदि प्रेम-प्रार्थना प्रथम स्त्री पक्ष से हो तो उसके प्रति पुरुष का उच्च भाव कुछ कम हो जाता है। अतः शकुन्तला को प्रेम-पत्र-लेखन में अपने तिरस्कार की आशंका होना बहुत उपयुक्त बन पड़ा है। इसीप्रकार प्रिया का अपने प्रति प्रेम-भाव जानते हुये भी उसके मुख से सुनने के लिये लालायित रहता है। दुष्यन्त भी इसी लालसा के कारण सखियों के सम्मुख प्रेम व्यक्त करती हुई शकुन्तला के शब्द सुनने के लिये व्यग्र हो उठता है। उसके मुख से अपने प्रति प्रेम की बात सुनकर वह इतना हर्ष-विभोर हो जाता है कि पीड़ाकारी स्मर को अपना उपकारी मानता हुआ उसके प्रति कृतज्ञता से भर उठता है।

दुष्यन्त के प्रेम में आबद्ध एवं विरह-व्यथित होने पर भी शकुन्तला प्रगल्भ नहीं हो पाती। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम फील्डिङ्ग का कथन है कि "नारी काम-सम्बन्धों में स्वभावतः संयमी एवं संकोचशील होती है। उसकी इस अभिवृत्ति में लज्जा, परोक्षता एवं काम-कर्म की सिद्धि में विलम्बकारिता की वृत्तियों के कवच का भी योग रहता है। इसी कारण पुरुष के प्रेम की उपलब्धि के लिये उत्सुक रहते हुये भी नारी अपने सहज आचरण में अपनी उदासीनता का प्रदर्शन करती हुई पुरुष को अपने ऊपर विजय-प्राप्ति के लिये प्रेरित करती है।"[१] कालिदास की शकुन्तला भी प्रथम सखियों को ही सम्बोधित करके कुछ वाक्यों का उच्चारण करती है; तत्पश्चात् धीरे-धीरे एक-आध वाक्य दुष्यन्त से कह पाती है। उपयुक्त अवसर पर सखियों के प्रस्थान कर जाने पर राजा के पास एकांकी रह जाने से शकुन्तला कुछ व्याकुल सी हो उठती है। जाने से रोकने के लिये दुष्यन्त द्वारा अपना हाथ पकड़े जाने पर वह 'मुञ्च मुञ्च मे' आदि शब्द शीघ्रता में कह जाती है, किन्तु राजा लज्जित होकर कहीं प्रयत्न-विरत न हो जाये—इसलिये वह क्षमा-याचना-सी करते हुये प्रिय को अधिक प्रयत्न-रत करने के लिये कह उठती है—

"(भाग्यं) कधं दाणिं ण उवालहिस्सं, जं मं अत्तणो अणीसं कदुअ परगुणेहिं लोहावेदि। (कथमिदानीं न उपालप्स्ये यन्मामात्मनः अनीशां कृत्वा परगुणैर्लोभयति)।"

जैसा ऊपर कहा गया है, प्रेयसी की यह सहज वृत्ति होती है कि वह स्वयं काम-पीड़ित होते हुये भी न तो प्रिय को त्वरित अंग-समर्पण कर देती है और न ही उसे प्रयत्न-विमुख होने देती है। बीच-बीच में हाव-भाव द्वारा उसे और अधिक उत्तेजित करती रहती है। इस 'मान-मनोबल' में उसे अत्यधिक सुख एवं आत्म-गौरवर की अनुभूति होती है। उपर्युक्त एवं आगामी' प्रस्थानागमन' एवं 'मुख-मारुत-सेवन' प्रसंगों के माध्यम से महाकवि ने शकुन्तला की इसी वृत्ति का मार्मिक चित्रण किया है।

कामशास्त्र का यह स्वाभाविक सिद्धान्त है कि काम-व्यथित होते हुये भी नारी अपनी आकांक्षा शब्दों में व्यक्त नहीं करती, वरन् अपनी चेष्टाओं और सकेतपूर्ण शब्दों से उसे व्यंजित करती है। कुशल नायक इन संकेतों के प्रति सावधान रहता है। दुष्यन्त के इस कथन में उक्त दोनों तथ्यों का मनोरम चित्रण हुआ है—

"अप्यौत्सुक्ये महति दयितप्रार्थनासु प्रतीपाः।
काङ्क्षन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने॥
आबाध्यन्ते न खलु मदनेनैव लब्धान्तरत्वा-।
दाबाधन्ते मनसिजमपि क्षिप्तकालाः कुमार्य्यः॥"

मुख-मारुत-सेवन प्रसंग में हस्त-स्पर्श से रोमांचित एवं ईषत् स्तब्ध दुष्यन्त को जिस समय शकुन्तला शीघ्रता करने के लिये कहती है—"तुवरदु तुवरदु अज्जउत्तो (त्वरतां त्वरतां आर्यपुत्रः)"—उस

समय प्रथम बार ही प्रयुक्त इस आर्यपुत्र' शब्द का विशिष्ट महत्त्व है। शकुन्तला इसके द्वारा अपने अचिर समर्पण का संकेत देती हुई दुष्यन्त के उत्साह एवं प्रयत्न को और तीव्रता प्रदान करती है। इसीप्रकार, मुख-मारुत प्रदान द्वारा उसके नेत्र के रज-कण दूर करने की दुष्यन्त की प्रार्थना पर जब वह कहती है—"किन्तु उणअहं ण दे वीससेमि (किन्तु पुनरह न ते विश्वसिमि)"—तो स्पष्ट ही वह चुम्बन-भय के आवरण में अपने समर्पण की सूचना देती हुई चुम्बनार्थ प्रिय का उत्साह-वर्धन करती प्रतीत होती है। फूंक मारते समय शकुन्तला का सुकुमारता से स्फुरित अधर भी इसी भाव का सूचक है। इसप्रकार इन प्रसंगों में अभिव्यक्त नारी की मनोवृत्तियों के सूक्ष्म चित्रण की कवि-प्रतिभा पर मुग्ध हो जाना पड़ता है।

नारी का कोमल एव सहज विश्वासी हृदय जिस प्रिय को आत्म-दान कर देता है, जिसके सहवास की मधुर कल्पना में विभोर वह भावी जीवन की स्वर्णिम सुखद अनुभूति में अनुरत रहता है, यदि वही उसका 'सर्वस्व' उसकी आस्था पर आघात कर डाले तो प्रवञ्चिता भग्न हृदया नारी अपने अस्तित्व की व्यर्थता की पीड़ा में बिलख उठती है। जहाँ तक उसका स्वयं का सम्बन्ध है, वह इसका दोष भी अपने प्रेम-पात्र पर आरोपित न करके इसे अपने भाग्य की ही विडम्बना मान लेती है, किन्तु यदि प्रवञ्चक पुरुष अपने विश्वासघात पर किञ्चिन्मात्र भी लज्जित न होकर उलटे समस्त स्त्री-जाति पर ही लांछन लगाने का प्रयत्न करे तो कोई भी स्वाभिमानिनी दयिता इस निर्लज्ज आचरण को सहन नहीं कर सकेगी। इसी कारण, जब अपने निकट आई हुई गर्भवती शकुन्तला को दुष्यन्त पहचानना ही अस्वीकृत नहीं कर देता, बल्कि सम्पूर्ण नारी-जाति को भी स्वभाव से ही मायाविनी कहने लगता है, तो शकुन्तला की सहन-शीलता समाप्त हो जाती है। आत्म-प्रताडना, ग्लानि एवं क्षोभ से भरी वह राजा के इस राक्षस-रूप में उसे 'आर्य' तक कहने में अपना अपमान समझती है। उसे धिक्कारती हुई वह रोष-पूर्वक कहती है—

"अणज्ज ! अत्तणो हिअआणुमाणेण किल सव्वं पेक्खसि। को णाम अण्णो धम्मकञ्चुअव्ववदेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तुह अणुआरी भविस्सदि। (अनार्य्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन किल सर्वं प्रेक्षसे। को नाम अन्यो धर्मकञ्चुकव्यपदेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तव अनुकारी भविष्यति।)"

कर्त्तव्य, शील, सदाचार एवं हृदय की अवशता की प्रतिमूर्ति प्रवञ्चिता नारी का मानसिक क्रन्दन उक्त शब्दों में मूर्तिमान् हो उठा है। अश्रु ही उसका अन्तिम आश्रय रह जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि आर्य नारी इसी सीमा तक बढ़ सकती है। कविप्रवर कालिदास क्रोधावेश में भी शकुन्तला के मुख से निम्न स्तर के शब्दों का उच्चारण नहीं कराते। उनकी शकुन्तला पवित्र एव उच्च-हृदया नारियों में अग्रगण्य है। अपने प्रेम पर वह आत्म-सर्वस्व न्यौछावर कर देती है। अतः उसके मुख से हीन शब्दोच्चारण करना न केवल उसकी गरिमा के प्रतिकूल होता, वरन् आर्य नारी के मनोविज्ञान के विरुद्ध भी होता। अतः इस स्थिति में नायिका के गौरव की रक्षा करते हुये उसकी मानसिकता की समर्थ अभिव्यञ्जना करने में कवि की मनोवैज्ञानिक प्रतिभा असाधारण रूप से सफल हुई है। इसीप्रकार, अपने निष्कलुष चरित्र की भी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये जब राजपुरोहित उसे आप्रसव अपने गृह में रहने के लिये कहता है तो शकुन्तला के भाग्य की विडम्बना उसकी इस आत्म-ग्लानि में सहज साकार हो उठती है—

"भअवदि ! वसुन्धरे ! देहि मे अन्तरं। (भगवति ! वसुन्धरे, देहि मे अन्तरम्।)"

सीमारहित काल तक चलने वाला दुःख मानव में आत्मग्लानि, अधैर्य एवं निराशा उत्पन्न कर देता है। अपनी ही बुद्धि हीनता से उत्पन्न होने पर तो यह दुःख मनुष्य को पश्चात्ताप की ज्वालाओं में और भी तीव्रता से जलाने लगता है। षष्ठ अंक में वियोगाग्नि-दग्ध दुष्यन्त के विभिन्न शोक-पूर्ण उद्गारों में उपर्युक्त कवि सजीव हो उठे हैं। परित्यक्ता शकुन्तला के अश्रुपूर्ण नेत्रों में झलकने वाली उसकी दीनता

एवं कातरता पुनः पुनः स्मृति-पटल पर अंकित होकर दुष्यन्त के हृदय को, अपनी क्रूरता के लिये, 'विषैले बाणों के समान' बेधने लगती है । स्वतः प्राप्त जीवन का वह अलभ्य सुख उस समय तिरस्कृत कर दिये जाने के कारण अब अतीत की ही वस्तु बनकर रह गया है । उसकी पुनप्राप्ति की आशा मात्र दुराश बनकर रह जाती है—"असन्निवृत्यै तदतीतमेव मनोरथानामतटप्रपातः ।" इसीप्रकार अत्यन्त कष्ट-पीड़ित हताश शकुन्तला भी सखी से राजा द्वारा बालक भरत का रक्षा-करण्डक उठा लेने की घटना सुनकर अपने सौभाग्य पर शीघ्र विश्वास नहीं कर पाती—"ण मे आसंसो अत्तणो भाअधेएसुं । (न मे आशंसा आत्मनो भागधेयेषु ।)"

सुख की अपेक्षा दुःख मानव-हृदय को शेष मानव-जगत् के निकट लाने का सफल साधन है—यह मनोविज्ञान का सहज सत्य है । दुःखी मनुष्य ही परकीय भावनाओं पर किये जाने वाले आघातों को स्वयं भलीभाँति अनुभव कर सकता है । अतः वह पर-पीड़न से विरत रहना चाहता है । इसी कारण, जो दुष्यन्त पञ्चमांक के प्रारम्भ में रानी हंसवती के उपालम्भ को परिहास में उड़ा देता है, वही षष्ठांक में स्वयं व्यथित रहने के कारण, रानी वसुमती का आगमन सुनकर इस भय से शकुन्तला का चित्र छिपाने के लिये उत्सुक हो उठता है कि कहीं रानी के हृदय को सपत्नी-दाह दग्ध न कर डाले ।

बहुत समय तक दुःखी रहने पर यदि सुख अकस्मात् बरस पड़े तो उसे अपनी सहिष्णुता की सीमा में समेट लेना कभी-कभी दुःख-दग्ध हृदय के लिये अशक्य हो जाता है और कभी-कभी इसके अनिष्टकारी परिणाम भी हो जाते हैं । इसीलिये कवि-पुंगव कालिदास ने दुष्यन्त एवं शकुन्तला का अप्रत्याशित मिलन तुरन्त नहीं कराया, बल्कि प्रथम बाहु-स्पन्दन एवं रक्षा-करण्डक आदि की घटनाओं द्वारा दुष्यन्त को तथा सखी के संशयात्मक सन्देश के माध्यम से शकुन्तला को भावी सुख के लिये तैयार कर लिया है । तत्पश्चात् प्रेमी-युगल को कुछ क्षणों तक एकान्त प्रदान कर अपने हृदय के भार को हल्का कर लेने का अवसर देकर भी महाकवि ने मानवीय भावों के अपने उत्कृष्ट ज्ञान की छाप पाठकों के हृदय-पटल पर अंकित कर दी है । इस स्थिति में अतीत की बातों की सहज चर्चा करके दोनों प्रेमी अपने अन्तर की स्वच्छता एवं निष्कपटता प्रकट करते हुये एक-दूसरे के प्रति संभव शंकाओं का निराकरण करने का समर्थ प्रयास करके पारस्परिक पवित्र प्रेम की अनुभूति-धारा में अवगाहन करने लगते हैं ।

विप्रलम्भ की पीड़ा से दुष्यन्त को निकालकर उसमें वीर रस का संचार करने के लिये मातलि का राज-सहचर विदूषक को पीड़ित करना भी अत्यन्त मनोवैज्ञानिक बन पड़ा है । विरह-वेदना को धीरे-धीरे अमर्ष में परिवर्तित करके तत्पश्चात् वीर-भाव की निष्पत्ति की गई है ।

यद्यपि 'शाकुन्तलम्' में प्रेम-भाव एवं शृंगार रस की प्रधानता है, तथापि सखियों की, पिता की एवं बालक की भावनाओं का भी उसमें उत्तम एवं स्वाभाविक प्रस्फुटन हुआ है । पति-गृह के लिये विदा होती हुई शकुन्तला को मुद्रिका दिखाकर राजा को प्रणय-स्मृति दिलाने के लिये सावधान करती हुई भी प्रियंवदा एवं अनसूया उसे दुर्वासा-शाप की बात बतलाकर उसके स्नेह-शील हृदय को व्यथित करना उचित नहीं समझतीं, अतः शकुन्तला की शका को वे केवल यह कहकर शान्त कर देती हैं कि "सिणेहो पावमासङ्कदि (स्नेहः पापमाशङ्कते)" । सखियों की पारस्परिक मधुर चुटकियाँ भी बहुत ही स्वाभाविक रूप में मनोवैज्ञानिक स्तर पर उपस्थित की गई हैं ।

महर्षि कण्व वीरागी अवश्य थे, किन्तु जन्म-काल से ही स्वयं द्वारा लालित-पालित शकुन्तला से वियुक्त होते समय उन्हें सहज स्नेह से शून्य चित्रित करना उनकी मानवता पर भीषण आघात होता । कुछ समय का साहचर्य जड़ पदार्थों के प्रति भी मानव-मन में ममता उत्पन्न कर देता है और उनसे वियुक्त होना कष्ट-कारक प्रतीत होने लगता है, तब जिसे महर्षि ने अनेक वर्षों तक अपने हाथों से पाला, उस

शकुन्तला के प्रति उनके सरल अन्तर में स्नेह-धारा कैसे प्रवाहित न होती ? यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि शकुन्तला को विदा करते समय कण्व कर हृदय विचलित हो उठे, कण्व अश्रु-गद्गद् हो जायें और दृष्टि शून्य में बिलख उठे—

"यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥"

जब शकुन्तला तपश्चरण व्यापार के कारण उन्हें निरुत्कण्ठ हुआ कहती है तो उनका हृदय मानों विदीर्ण हो उठता है । इस व्यथा का अत्यन्त व्यञ्जनापूर्ण चित्रण कवि ने ऋषि के इन निःश्वास-युक्त शब्दों में किया है—"वत्से ! मामेवं जड़ीकरोषि ।" स्पष्ट ही महाकवि की अनुभूति-तरलता अत्यन्त मार्मिक है ।

बालक के मनोभावों का भी कुशल चित्रण कालिदास की तूलिका से हुआ है । शकुन्तला दुष्यन्त को पहचानकर उनकी जय उच्चारण करती हुई उमड़ते हुये आनन्दाश्रुओं से रुद्ध-कण्ठ हो जाती है । राजा भी उसे सान्त्वना प्रदान करते हैं । इस दृश्य को देखकर बालक सर्वदमन के मानस में उत्पन्न विस्मय, उत्कण्ठा आदि भावों का हृदय-स्पर्शी चित्रण भी कवि कालिदास ने किया है । एक 'अपरिचित' के साथ अपनी माता को भारी हृदय एवं आनन्दपूर्ण वाणी से वार्तालाप करते देखकर वह राजा के विषय में अत्यन्त सहज एवं सरल प्रश्न कर उठता है—"अम्ब ! को एसो ?" इन अल्प शब्दों में ही बाल-हृदय की सम्पूर्णता झाँक उठी है ।

मानवीय भावों का ही नहीं, पशु आदि की अनुभूति का चित्रण भी कवि-शिरोमणि के संवेदनशील हृदय को व्यक्त कर रहा है । कुशसूची-विद्ध अपने मुख के व्रणों पर स्नेह-पूर्वक इंगुदी का तैल लगाने वाली तथा स्निग्धता-सहित अपने हाथों से श्यामाक घास खिलाने वाली शकुन्तला को विदा होते देखकर निश्चय ही उसका पालित हिरण व्यथित हो उठा होगा । शकुन्तला के चरणों में लोटता हुआ-सा वह मृग उसके वस्त्रों को खींचता हुआ मानों उसे व्यथित नेत्रों से रोकने का यत्न करता है ।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि-कुल-चूड़ामणि कालिदास की भावों की मनोवैज्ञानिक अभिव्यञ्जना की क्षमता अपूर्व थी । 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' एकाकी ही इस क्षेत्र में उनकी अप्रतिमता की स्थापना करने में पूर्ण समर्थ है ।

सन्दर्भ-संकेत—

१. 'सैक्स एण्ड लव-लाइफ', पृ० १६

अध्यक्ष-हिन्दी-विभाग,
सनातन धर्म कॉलेज,
मुजफ्फरनगर, उ० प्र० ।

डा० राजेन्द्रसिंह शास्त्री

चम्पू का स्वरूप

मनुष्य समाज का सर्वाधिक संवेदनशील प्राणी है, जो अपनी संवेदना को दूसरों तक पहुँचाना चाहता है तथा अपनी अनुभूतियों को दूसरों तक पहुँचा कर उन्हें लाभान्वित करना चाहता है। इसी प्रयास की सत्परिणति का फल काव्य है। संस्कृत के आचार्यों के अनुसार "कवेः कृतिः काव्यम्" अर्थात् कवि की कृति ही काव्य है। इसे ही दूसरे शब्दों में इसप्रकार कहा जा सकता है कि जिसमें मानव मन की अनुभूतियों, कल्पनाओं एवं संकल्पों की तथा जीवन की उदात्तता, सप्राणता एवं शाश्वत मूल्यों की सरस अभिव्यक्ति हो, काव्य है। सहृदय व्यक्ति द्वारा कवि की इस अभिव्यक्ति का चक्षुः एवं कर्णेन्द्रिय से ग्रहण करने के कारण काव्य के दृश्य एवं श्रव्य दो भेद होते हैं।[1] शैली के आधार पर श्रव्य काव्य के पद्य, गद्य[2] एवं मिश्रकाव्य तीन भेद होते हैं।[3] मिश्रकाव्य के उपभेद प्रबन्धात्मक मिश्रकाव्य का एकमात्र एवं सर्वोत्कृष्ट अङ्ग चम्पूकाव्य है, जिसमें गद्य-पद्य के समन्वित रूप की चरमोत्कृष्टता एवं प्रौढ़ता पायी जाती है। गद्य-पद्य के समन्वित रूप को कलात्मक चमत्कार के प्रदर्शन का साधन मानकर रसानुरागी कवि अपनी अनुभूतियों को नवनवोन्मेषशालिनी काव्य-प्रतिभा से अभिव्यक्त करने लगा, जिसमें गद्यकाव्य के अर्थगाम्भीर्य एवं पद्यकाव्य की रागात्मकता की समष्टिगत चमत्कृति उत्पन्न हुई। गद्यपद्य के मिश्रित रूप के माध्यम से व्यक्त कवि की कवित्वमयी भावनाओं की अनुभूति कर सहृदय सामाजिक भी आनन्दित हो उठा। कालान्तर में गद्यपद्य का यह अनूठा एवं लोकोत्तर मिश्रित रूप ही 'चम्पू' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

चम्पू शब्द की व्युत्पत्ति चुरादिगण की गत्यर्थक चपि धातु से कर्तृवाच्य 'ऊ' प्रत्यय लगाकर "चम्पयति चम्पति इति चम्पूः" के रूप में निष्पन्न होती है।[4] यह व्युत्पत्ति शब्द के स्वरूप को तो उपस्थित करती है परन्तु चम्पू शब्द का जिस रचना के लिए काव्यजगत् में व्यवहार हो रहा है, उसे प्रकट करने में समर्थ नहीं है। गति के ज्ञान, गमन एवं प्राप्ति अर्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चम्पू उस विद्या को कहते हैं, जो ब्रह्मानन्द सहोदर रस का आनन्द प्राप्त कराये। इस व्युत्पत्ति में अतिव्याप्ति दोष होने के कारण चम्पूकाव्य विशेष परिलक्षित नहीं होता। डा० रामनाथ वेदालङ्कार ने चम्पू शब्द की 'चम्पयति योजयति गद्यपद्ये इति चम्पूः' यह व्युत्पत्ति की है, जिसमें गति की गद्य एवं पद्य के योजन-क्रिया के रूप में सम्भावना की है।[5] यह व्युत्पत्ति भी चम्पूकाव्य मात्र को लक्षित न कर मिश्रकाव्य के अन्य भेदों[6] को भी लक्षित करने के कारण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है।

हरिदास भट्टाचार्य ने चम्पू की आत्मा चमत्कार को ध्यान में रखते हुए इस शब्द की व्याख्या इसप्रकार की है—

'चमत्कृत्य पुनाति सहृदयान् विस्मितीकृत्य प्रसादयतीति चम्पूः।[7] अर्थात् सहृदयों को चमत्कृत एवं विस्मित करके पवित्र एवं प्रसन्न करने वाला काव्य चम्पू है। चम्पूकाव्यों में औचित्य, गुण एवं रस की अपेक्षा उक्ति-वक्रता एवं शाब्दी चमत्कार के प्रदर्शन की सर्वाधिक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने के कारण ही इन्होंने यह व्याख्या प्रस्तुत की है। वस्तुतः उनकी इस व्याख्या की संगति व्युत्पत्ति के परिप्रेक्ष्य में ठीक प्रतीत नहीं होती क्योंकि व्याख्येय चम्पू शब्द में चमत्कार एवं पवित्रीकरण का सूचक कोई भी पद उपलब्ध नहीं है। इसीकारण उपर्युक्त सभी व्युत्पत्ति एवं व्याख्याओं को देखकर आज के संस्कृत

समालोचक डॉ० हीरालाल जैन एवं डा० ए० एन० उपाध्ये के मत में चम्पू शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरण से सुस्पष्ट नहीं होती। अतः उनके मत में यह द्रविड भाषा का शब्द है।[८]

वस्तुतः चम्पू शब्द की निम्नप्रकार से व्युत्पत्ति की जा सकती है—'चमत्कृत्या पुनाति पवते वेति चम्पूः' इस विग्रह में चमत उपपद पवनार्थक पूञ् धातु से कर्त्रर्थ में क्विप् प्रत्यय तथा क्विप् का सर्वापहार लोप करने पर स्वाद्युत्पत्ति के बाद चम्पूः शब्द की निष्पत्ति होती है। यहाँ लोक-व्यवहार से स्त्रीत्व विवेक्षित है।[९] चमत् निपात के अत् भाग का लोप भी अभीष्ट है।

चम्पू शब्द की निम्न प्रकार से भी व्युत्पत्ति की जा सकती है—

चम्पू शब्द चुरादिगण की गत्यर्थक चपि धातु से ऊङ्[१०] प्रत्यय, नुम आगम,[११] न को अनुस्वार[१२], अनुस्वार को परसवण[१३], णि का लोप[१४] कर निष्पन्न होता है, जिसका विग्रह 'चम्पयति गमयति चमत्कृतिं इति चम्पूः' होता है। इसप्रकार यह शब्द योगरूढ़ प्रतीत होता है। इस व्युत्पत्ति में जिज्ञासा होती है कि गमादि गण में चम्प् धातु का पाठ नहीं है। फिर ऊङ् प्रत्यय कैसे हुआ? चम्प् को गमादि में आकृति गण की धातु मानकर ऊङ् प्रत्यय से ही चम्पू शब्द की निष्पत्ति सम्भव है क्योंकि वैयाकरणों के द्वारा शिष्टोक्त सभी शब्दों का साधुत्व माना गया है।[१५]

चम्पूकारों द्वारा बहुप्रयुक्त चम्पू के स्थान पर 'चम्बु' शब्द भी चम्पू रचनाओं में उपलब्ध होता है। यथा—

"स्थाप्यते चम्बु चैतद्द्वीपवज्जम्बूद्वीपे।[१६]

यहाँ गत्यर्थक भ्वादिगण की चम्ब्[१७] धातु से बाहुलक उ प्रत्यय[१८] कर 'चम्बति इति चम्बु' इस विग्रह में 'चम्बु' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ उदपात्र (लौटा) है।[१९] उदपात्र के रूप में चम्बु की स्थापना तो सम्भव हो सकती है परन्तु रचना विशेष के सूचक अर्थ में चम्बु शब्द की प्रयोग विषयक संगति उपचार से 'स्थाप्यते' क्रिया का अर्थ विरच्यते मानने पर होगी। ऐसा मानने से काव्य रूपी चम्बु की जम्बू द्वीप रूपी साहित्य में स्थापना सम्भव होती है। यहाँ चम्बु शब्द रचना विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसीप्रकार चक्रकवि ने अपनी चम्पूकृति 'द्रौपदी परिणय' में चम्पू के लिए 'चम्बु' शब्द का प्रयोग किया है।[२०] अन्य कई चम्पू रचनाओं में 'चम्बु' का प्रयोग उपलब्ध होता है।

चम्पू के स्वरूप के सम्बन्ध में पं० के० भुजबल शास्त्री का मत

संस्कृत के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत चम्पू शब्द की व्याख्या का खण्डन करते हुये पं० के० भुजबल शास्त्री अपने 'चम्पूकाव्य' नामक लेख में 'चम्पू' शब्द की व्याख्या के सम्बन्ध में कर्नाटक के सुप्रसिद्ध कवि वेन्द्रे के मत को उद्धृत करते हुये कहते हैं—

"उनके मत में चम्पू शब्द का सीधा सम्बन्ध जैन तीर्थङ्करों के पंच कल्याणों से है। उनका स्पष्ट मत है पंच-पंच शब्द ही गम्-गम्' की तरह चम्पू शब्द बना है। साथ ही साथ उनका कहना है कि निःसन्देह साहित्य-संसार को चम्पूकाव्य जैनों की अनुपम देन है। कन्नड़ और तुलु भाषाओं में 'संपु' और 'चंपे' के रूप में जो शब्द उपलब्ध हैं, उनका अर्थ सुन्दर और मिश्र होता है। बहुत करके इन्हीं शब्दों से चम्पू शब्द निष्पन्न हुआ होगा। आज भी कन्नड़ और तुलु भाषा के 'केन' 'चेन' ये मूल शब्द केंपु और चेंपु के रूप में निष्पन्न होकर सुन्दर और मनोहर अर्थ को प्रदान करते हैं। गद्य-पद्य मिश्रित काव्य विशेष को जनता ने सर्वप्रथम सुन्दर एवं मनोहर अर्थ में चेंपु के नाम से पुकारा होगा और वही बाद में रूढ़ि

के बल से चेम्पू या चम्पू के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। इस सब का तात्पर्य यह है कि चम्पू शब्द संस्कृत का न होकर निःसन्देह द्राविड़ भाषा का है।[२१]

वेन्द्रे ने पंच-पंच शब्द से गम्-गम् की भाँति किसी भी व्याकरण के अनुसार प्रकृति एवं प्रत्यय बताकर चम्पू शब्द सिद्ध नहीं किया। इनके मत में उपर्युक्त चम्पू शब्द की व्युत्पत्ति का आधार पंच शब्द के स्वरूप की कुछ-कुछ सजातीयता ही प्रतीत होती है। इन्होंने चेम्पू शब्द की रूढ़ि बल से चम्पू या चम्पू के रूप में प्रसिद्धि को चम्पू शब्द की निष्पत्ति का कारण माना है। उनका यह मत पुष्ट प्रमाणों के अभाव में चम्पू शब्द को द्राविड़ भाषा का सिद्ध करने का आग्रह मात्र प्रतीत होता है।

वे चम्पू शब्द को कन्नड़ का कहकर चम्पू काव्यों को जैनों की देन सिद्ध करना चाहते हैं परन्तु उन्होंने कोई भी कन्नड़ चम्पू संस्कृत के नलचम्पू से पूर्व का उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने इस प्रसङ्ग में नवमी शताब्दी के गुणवर्म के 'शूद्रक' एवं 'हरिवंश' कन्नड़ रचनाओं को प्रस्तुत किया है। श्री शास्त्री उपर्युक्त दोनों कन्नड़ रचनाओं को चम्पू सिद्ध करने के लिये लिखते हैं—

"यद्यपि ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए हैं, परन्तु इन ग्रन्थों से उद्धृत पद्य हमें व्याकरण एवं संकलन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। अभिनववादी विद्यानन्द ने अपने 'काव्यसार नामक सङ्कलन ग्रन्थ में गुणवर्म विरचित 'शूद्रक' ग्रन्थ से नाम निर्देश के साथ अनेक संस्कृत कंद और गद्यभाग को उद्धृत किया है। इसी में 'हरिवंश' कृति की अवतरणिका भी दी गयी है। यद्यपि 'काव्यसार' १६वीं शताब्दी का ग्रन्थ है, फिर भी कतिपय पद्यों के सिवा इसमें उद्धृत सभी उद्धरण चम्पूकाव्यों के हैं। गुणवर्म के 'शूद्रक' और 'हरिवंश' से उद्धृत पद्य उपलब्ध चम्पूकाव्यों के पद्यों से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि गुणवर्म के ये दोनों ग्रन्थ चम्पूकाव्य थे।[२२]

पं० के० भुजबल शास्त्री ने 'शूद्रक' एवं 'हरिवंश' कन्नड़ रचनाओं के कतिपय पद्यों के उद्धृत अवतरणों की उपलब्ध चम्पूकाव्यों से समानता के आधार पर 'इन्हें चम्पू रचना माना है। इन्हीं कृतियों के कतिपय उद्धरणों को देखकर श्री शास्त्री ने कैसे इन्हें चम्पू सिद्ध कर दिया? किसी भी रचना की पद्य या गद्य को देखकर उसे किसी विशेष विद्या के अन्तर्गत नहीं रखा जाता, विशेषकर चम्पू की गद्य या पद्य अथवा दोनों को देखकर चम्पू नहीं कहा जा सकता। शास्त्री जी के कथन को पढ़कर ऐसी निम्न दो शङ्काएँ उत्पन्न होती हैं, जो यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१) उपलब्ध चम्पुओं के पद्यों की समानता किसी अन्य रचना के पद्यों से समानता रखती हो तो क्या वे सभी रचानाएँ चम्पू कही जायेंगी।

(२) क्या विशिष्ट प्रकार की पद्य चम्पू कही जाती है?

गद्य-पद्य मिश्रित काव्य को चम्पू कहा जाता है। इस सर्वमान्य लक्षण के अनुसार उपर्युक्त रचनाएँ चम्पू सिद्ध नहीं होती। शास्त्रीजी के सर्वाधिक भ्रामक कथन को यहाँ उद्धृत करना भी आवश्यक है, जो स्वयं उनके मत को ही खण्डित करता है। वह यह है कि कतिपय पद्यों के अतिरिक्त इसमें उद्धृत सभी उद्धरण चम्पू काव्यों के हैं। उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि कतिपय पद्य जिन्हें छोड़कर सभी उद्धरण चम्पूकाव्यों के हैं, कौन से हैं? क्या ये 'शूद्रक' या 'हरिवंश' के हैं? जिन्हें छोड़कर शेष उद्धरणों की समानता उपलब्ध चम्पूकाव्यों से की है। यदि ऐसा है तो क्या किसी रचना के कुछ पद्यों की समानता चम्पू से तथा कुछ पद्यों की समानता चम्पू से न हो फिर भी वह चम्पू कही जाती हो। किसी भी काव्याचार्य ने चम्पू की विशिष्ट पद्य की ओर सङ्केत नहीं किया। उन्होंने 'हरिवंश' एवं 'शूद्रक' के गद्य के

सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की, जिसकी कथावस्तु गद्य-पद्य के माध्यम से अग्रसर होती हो वही रचना चम्पू कही जाती है। इस आधार पर शास्त्री जी द्वारा उदधृत हरिवंश एवं शूद्रक रचनाओं को चम्पू नहीं माना जा सकता। शास्त्रीजी ने चम्पू शब्द को द्राविड़ भाषा का सिद्ध करने के लिए लिखा है—

"गुणवर्म के पूर्व भी कन्नड़ में चम्पू ग्रन्थ रचे गये थे, इस बात का समर्थन करने के लिए यद्यपि हमारे पास सुदृढ प्रमाण मौजूद नहीं हैं फिर भी इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें अवश्य विचारणीय हैं। सोलहवीं शताब्दी के कवि मङ्गरस एवं दोड्डय के उल्लेखों को आधार मानकर 'कविचरिते' के मान्य लेखक आर० नरसिंहाचार्य का कहना है कि उपर्युक्त उभय कवियों के द्वारा निर्दिष्ट श्रीविजय का 'चन्द्रप्रभचरितचम्पू' "कविराजमार्ग" में प्रतिपादित श्रीविजय के द्वारा रचा गया होगा विद्वानों का मत है कि श्रीविजय का काल आठवीं शताब्दी या नवमीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए। इस हिसाब से कन्नड़ में चम्पूकाव्यों का काल 'श्रीविजय' तक चला जाता है अर्थात् श्रीविजय के काल में कन्नड़ भाषा में चम्पूकाव्यों का प्रचार अवश्य रहा।"[२३]

श्री शास्त्री जी ने "चन्द्रप्रभचरितचम्पू" के लेखक श्री विजय का काल ८वीं या ९वीं शताब्दी माना है, जो मात्र अनुमान है। कन्नड़ चम्पूकार श्रीविजय के काल का निर्धारण ठोस प्रमाणों के आधार पर न होने के कारण अनुमान के आधार पर कैसे यह मान लिया जाय कि यह कन्नड़ चम्पू संस्कृत के नलचम्पू से प्राचीन है? यदि इनके सभी उपर्युक्त कल्पित अनुमानों को सत्य भी मान ले तो भी चम्पू शब्द या यह विधा संस्कृत की अपेक्षा कन्नड़ में प्राचीन सिद्ध नहीं होती क्योंकि संस्कृत के प्रसिद्ध काव्य-शास्त्री आचार्य दण्डी (६०० ई०) ने चम्पू की स्पष्ट परिभाषा काव्यादर्श में प्रस्तुत की है। इस अकाट्य प्रमाण से सिद्ध होता है कि चम्पू शब्द द्राविड़ (कन्नड़) भाषा का न होकर संस्कृत का ही है। कन्नड़ भाषा के किसी लाक्षणिक ग्रन्थ या अन्य किसी भाषा के कन्नड़ में चम्पू के सम्बन्ध में कोई लक्षण (परिभाषा) या परिचय प्रस्तुत नहीं किया है। दण्डी से पूर्व का कन्नड़ या किसी भी भाषा का कोई चम्पू उपलब्ध नहीं होता। डॉ० के कृष्णमूर्ति ने लिखा है—

"कुछ विद्वान् 'चम्पू' शब्द के विकास का अनुमान कन्नड़ से करते हैं।" कृष्णमूर्ति ने भी इन विद्वानों के मत के सन्दर्भ में कोई ठोस मत प्रस्तुत न करते हुये नलचम्पू को ही चम्पूसाहित्य का प्रथम चम्पू माना है।[२४]

इस प्रसङ्ग में यह बात अवश्य स्वीकरणीय है कि दण्डी के पूर्व तथा पश्चात् का नलचम्पू से पूर्व तक का कोई भी चम्पूकाव्य उपलब्ध नही होता। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि इस अन्तराल का चम्पूसाहित्य विनाश के कराल गाल में लुप्त प्रायः हो गया।

उपर्युक्त विवेचन के सन्दर्भ में प्रस्तुत प्रमाण में शास्त्रीजी के लेख के अग्रभाग का कथन बाधक सिद्ध होता है, जिसका यहाँ विवेचन करना आवश्यक है।

पं० भुजबल शास्त्री चम्पू शब्द या चम्पू विधा को कन्नड़ का मानते हैं। इसीके सम्बन्ध में वे अपने तर्कों को लिखते हैं—

"द्वितीय काव्यादर्श को लीजिए। यह पता नहीं लगता है कि १०वीं शताब्दी के पूर्व के दण्डी के परिचित संस्कृत चम्पू ग्रन्थ कौन से हैं? हरिचन्द्र का 'जीवन्धरचम्पू' नहीं हो सकता। हाँ, इस सन्दर्भ में सहसा यह विचार उठ खड़ा होता है कि महाकवि दण्डी के परिचित चम्पू ग्रन्थ तमिल एवं कन्नड़ के क्यों नहीं हो सकते? क्योंकि विदर्भवासी दण्डी बाद में कवि के पल्लवों के आस्थान में आ गया था। ऐसी दशा में दण्डी का तमिल एवं कन्नड़ चम्पूकृतियों से परिचित होना आसान और स्वाभाविक है।"[२५]

उपर्युक्त कथन से लेखक सिद्ध करना चाहता है कि दण्डी ने अपने काव्यादर्श में चम्पू का जो लक्षण दिया है, वह तमिल एवं कन्नड़ चम्पुओं के सम्पर्क में आने के बाद उन्हीं को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध में यही संगत प्रतीत होता है कि जिस कवि ने संस्कृत का लक्षण प्रस्तुत किया हो, वह लक्षण किसी अन्य भाषा एवं देशज भाषाओं की विधाओं को ध्यान में रखकर एवं पढ़कर दे, यह सर्वथा असम्भव एवं अनुपयुक्त प्रतीत होता है। जिस भाषा में वह लक्षण ग्रन्थ प्रस्तुत कर रहा है उन्हीं के उपजीव्य एवं उपजीवक ग्रन्थों को पढ़कर एवं ध्यान में रखकर ग्रन्थ का निर्माण करेगा। समग्र संस्कृत काव्यशास्त्र में भी यही प्रवृत्ति देखने में आती है। लक्ष्य-ग्रन्थों को देखकर ही लक्षणों का निर्धारण हुआ है। इस तथ्य से स्पष्ट है कि दण्डी ने संस्कृत के चम्पुओं को ध्यान में रखकर चम्पू के लक्षण का निर्माण किया, न कि कन्नड़ चम्पुओं को ध्यान में रखकर। उस काल का कोई कन्नड़ चम्पू भी उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर दण्डी ने चम्पू का लक्षण प्रस्तुत किया हो।

चम्पू शब्द द्राविड़ भाषा एवं चम्पू साहित्य को जैनों की देन सिद्ध करने वाले मतों की समीक्षा करने के बाद यही सुसंगत प्रतीत होता है कि यह चम्पू शब्द तथा चम्पू साहित्य सस्कृत भाषा की देन है।[२६]

छठी शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के कान्तिचन्द्र विद्यारत्न भट्टाचार्य प्रभृति काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रदत्त चम्पू की परिभाषाओं[२७] में अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष उपलब्ध होता है। सभी ने चम्पू को अपने-अपने विशिष्ट विशेषणों के सहित गद्य-पद्य निर्मित काव्य के रूप में परिभाषित किया है। इसी प्रकार चम्पूकारों, इतिहासकारों एवं कोषकारों ने भी चम्पूकाव्य की विशेषताओं का उल्लेख किया है। परन्तु ये विशेषताएँ सभी चम्पुओं में उपलब्ध नहीं होती है।

चम्पूकाव्य की विशेषताएँ—अलङ्कारशास्त्रियों, चम्पूकारों एवं संस्कृत-साहित्य के इतिहासकारों के चम्पू के सम्बन्ध में व्यक्त विचारों तथा उपलब्ध चम्पूकृतियों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर चम्पूकाव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं।

चम्पू गद्य-पद्यमयी रचना होती है वस्तुतः चम्पू की यह विशेषता उपलब्ध सभी चम्पुओं में मिलती है।

चम्पुओं के गद्य और पद्य के प्रयोग की भाषा में कोई नियम नहीं है। चम्पू शाङ्क एवं सोच्छ्वास होते हैं। इसके अतिरिक्त स्तबक, उल्लास, तरङ्ग एवं काण्ड आदि के विभाजन में भी उपनिबद्ध होते हैं। कथावस्तु का आद्योपान्त निर्वाह करने वाले, कथावस्तु की भूमिका या उपसंहार के रूप में प्रस्तुत कर मध्य में स्थान, वर्णन एवं नायक-नायिकाओं का सजीव रूप प्रस्तुत करने वाले तथा कथावस्तु के अभाव वाले विशुद्ध वर्णनात्मक चम्पूकाव्य उपलब्ध होते हैं। चम्पुओं के वर्ण्य विषय जीवन और जगत् के प्रत्येक क्षेत्र से ग्रहीत है। चम्पूकार चम्पू के आकार, कथावस्तु के ग्रहण, विभाजन, नायक-नायिका, प्रारम्भ, उपसंहार-वाक्य, छन्दप्रयोग एवं रसव्यञ्जना आदि में किसी नियम का पालन न कर स्वच्छन्द मनोवृत्ति के पक्षपाती प्रतीत होते हैं। चम्पुओं में गद्य-पद्यात्मक मिश्रित शैली के अतिरिक्त वर्णन की अन्य पुरुषात्मक एवं संवादात्मक शैली भी प्राप्त होती है, जो अनभिनेय है। अधिकांश चम्पुओं में अलङ्करण एवं गाढबन्धता की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है—

चम्पुओं की विशेषताओं के आधार पर नवीन परिभाषा—

चम्पूकारों द्वारा चम्पुओं की उपर्युक्त विशेषताओं के प्रयोग की स्वच्छन्दता के कारण पूर्व के

काव्यशास्त्री चम्पू की अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति के दोष से मुक्त पूर्ण एवं निर्दुष्ट परिभाषा नहीं कर सके। आधुनिक समालोचक डॉ० छविनाथ त्रिपाठी ने चम्पू की दोषमुक्त परिभाषा[८] करने का प्रयत्न किया परन्तु इसके सभी विशेषणों की निरर्थकता सिद्ध हो जाने पर चम्पुओं की उपलब्ध विशेषताओं के आधार पर दण्डी की परिभाषा को कुछ विस्तृत रूप में इसप्रकार कहा जा सकता है—

"गद्य-पद्य के मिश्रण की मात्रा के प्रयोग में अव्यवस्थित, विभाजन के नामकरण, कथावस्तु के ग्रहण में स्वतन्त्र बहुविध शैलियों में व्यक्त, प्रचुर रूप से गद्यकाव्य के तथा आंशिक रूप से महाकाव्य के सदृश तथा शेष काव्याङ्गों की विशेषताओं को अङ्गरूप में ग्रहण करने वाली चमत्कार प्रधान गद्य-पद्यात्मक काव्य-रचना चम्पू कही जाती है।"

वस्तुतः चम्पू की ये उपर्युक्त विशेषताएँ चमत्कार को उत्पन्न करती हैं। चम्पूकारों के स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण में चमत्कार की सर्जना निहित है। इन विशेषताओं के आधार पर काव्य में शब्दात्मक एवं अर्थात्मक चमत्कार का गुम्फन सुगमता से किया जा सकता है। नलचम्पू से लेकर नूतनातिनूतन चम्पूकृतियों में यह प्रवृत्ति बहुल या आंशिक रूप में दृष्टिगोचर होती है। उपर्युक्त विशेषताओं का चमत्कार में अन्तर्भाव कर सूत्र रूप में चम्पू की निम्न परिभाषा की जा सकती है—

"चमत्कारप्रधानं गद्यपद्यात्मकं काव्यं चम्पूः।"

अर्थात् चमत्कार प्रधान गद्यपद्यात्मक काव्य-रचना चम्पू कही जाती है।

सन्दर्भ संकेत—

१. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्। साहित्यदर्पण ६/१।

२. छन्दोबद्धपदं पद्यं······। वही ६/३१४
गद्यं छन्दोरहितं अमिताक्षरं पद्यं छन्दोबद्धं मिताक्षरं। काव्यादर्श—१। पृ० ११ टी० भा०
अपादः पदसंघातो गद्यं पद्यं चतुष्पदम्। मन्दारमरन्दचम्पू—शेषबिन्दुः पृ० १८६।

३. गद्यं पद्यं च मिश्र च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्। काव्यादर्श—१/११, अ० पु० ३३७/८,
सरस्वतीकण्ठाभरण—२/३०, म० म० च० शे० वि० पृ० १८६।

४. आनन्दकन्दचम्पू का उपोद्धात् पृ० १ एवं पं० नन्दकिशोर शर्मा द्वारा सम्पादित नलचम्पू का उपोद्धात पृ० ६।

५. डा० रामनाथ वेदालङ्कार द्वारा सम्पादित नलचम्पू की भूमिका पृ० २।

६. विरुद एवं करम्भक, साहित्यदर्पण—६/३३६–३७। आज्ञापत्र या दानपत्र—चालुक्य बादशाह विनयादित्य का दानपत्र—J. U. R. M. PT IX P. 171। म० म० च०—शे० वि० ११ पृ० १८८–८९।

७. नलचम्पू का उपोद्धात पृ० ६ की टिप्पणी सं० २ पं० नन्दकिशोर शर्मा द्वारा सम्पादित।

८. स्वाभाविक था ऐसी प्रतिभाओं का भी उदित होना जो एक ही कृति में अपने गद्य और पद्य दोनों प्रकार के रचना-कौशल की अभिव्यक्ति करना चाहे। ऐसी रचनाएँ चम्पू के रूप में सम्मुख आयी। इनका नाम चम्पू क्यों पड़ा यह अभी तक एक रहस्य ही है। संस्कृत धातुओं और व्याकरण से इस नाम की कोई व्युत्पत्ति समझ में नहीं आती। चम्पूकाव्य कर्ताओं ने भी उसे नहीं समझाया। बहुत सम्भव है कि यह आर्यभाषा का शब्द न होकर द्राविड़ भाषा का हो। पुरुदेवचम्पूप्रबन्ध का प्रधान सम्पादकीय पृ० ५।

९. लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य । प्रौढमनोरमा की शब्दरत्न टीका पृ० ४२ ।
१०. ऊङ् च गमादीनामिति च वक्तव्यम् । सिद्धान्तकौमुदी वार्तिक संख्या ३९८९ ।
११. इदितो नुम् धातोः । अष्टा० ७/१/५८ ।
१२. नश्चापदान्तस्य झलि । अष्टा० ८/३/२४ ।
१३. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः । वही ८/४/५८ ।
१४. णेरनिटि । वही ६/४/५१।
१५. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । वही ६/३/१०९ ।
१६. शाकिनीसहकारचम्पू १ । पृ० २–३ ।
१७. चम्ब गतौ इति । कवि कल्पद्रुमः । (म्वा० पर० सेट्) चम्बति इति दुर्गादासः । शब्दकल्पद्रुमः भा० २, पृ० ४३४ ।
१८. उणादयो बहुलम् । अष्टा० ३/३/१ ।
१९. काशकृत्स्नधातु व्याख्यान पृ० २४ एवं तेलुगूभाषा में इसी अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होता है ।
२०. एष······शारदाजयकम्बु द्रौपदीपरिणय चम्बुः । द्रौ० प० च० पृ० ४ ।
२१. मरुधर केसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ में पं० भुजबल शास्त्री द्वारा लिखित 'चम्पूकाव्य' नामक लेख से उद्धृत ।
२२. मरुधर केसरी मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज अभि० ग्र० के 'चम्पूकाव्य' नामक लेख से उद्धृत ।
२३. मरु० के० मु० श्री० मि० जी महा० अभि० ग्रन्थ के 'चम्पूकाव्य' नामक लेख से उद्धृत ।
24. A very significant contribution to Sanskrit literature in the Rastrakula was in the Campu form. The first Campu Kavya in Sanskrit who have is the Nala Campu by Trivikram Bhatta in the region of king Indra III···, infact Karanatak writter had a special fascination for this genre and it is even supported by some scholars that the word Campu itself may be of Kannada origion. Contribution of Karanatak to Sanskrit literature in E. S. Cp. 298–299.
२५. मरु० केसरी मुनि श्री मि० महा० अभि० ग्र० के 'चम्पूकाव्य' नामक लेख से उद्धृत ।
26. The Campu is an original branch of Sanskrit literature. Apart from a few works in Chinese literature an equivalent to the Champu is not found in world literature. purva Bharat Campu Intro. p. I.
२७. (अ) गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते । काव्यादर्श १/३१ ।
(ब) ७००–९०० ई० के महर्षि वेदव्यास के अग्निपुराण—मिश्रं वपुरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा । अ० पु० ३३७/३८ ।
(स) १२वीं शताब्दी के चालुक्यवंशीय राजा सोमेश्वर के मानसोल्लास या अभिलषितार्थ चिन्तामणि—गद्यैः पद्यैः समायुक्तमेतद्वर्णनकैर्युतात् ।
चम्पुनाम्ना समाख्याता शुश्रूषेत महीपतिः ।। पृ० १८३ ।
(द) १४वीं शताब्दी के कविराज विश्वनाथ के साहित्यदर्पण—गद्यपद्यमयकाव्यं चम्पूरित्यभिधीयते । यथा—देशकालचरितम् ।७/३३६।

(क) १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के कवि श्रीकृष्ण के मन्दार-मरन्दचम्पू—गद्यपद्यात्मकं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते । शे० वि० ११ । पृ० १८६ ।

(ख) १९वीं शताब्दी के कान्तिचन्द्र विद्यारत्न भट्टाचार्य की काव्यदीपिका—गद्यपद्यमयं मिश्रं चम्पूरित्यभिधीयते । ४ । पृ० ७६ ।

(ग) गद्य-पद्य की विशेषता के अतिरिक्त चम्पू की परिभाषा निरूपित करने वालों में ई० स० १०१० से १०१५ ई० लाक्षणिककार एवं चम्पूकार भोज ने उपर्युक्त परिभाषाओं में उच्छ्वास को सम्मिलित कर चम्पू की निम्न परिभाषा की है—याऽऽख्यायिकेव सोच्छ्वासा दिव्यगद्यपद्यमयी । सा दमयन्ती वासवदत्तादिरिहोच्यते चम्पूः । शृङ्गार प्रकाश ।

(घ) १०८८ से ११७४ ई० के हेमचन्द्र ने साङ्क एवं सोच्छ्वास जोड़कर नवीन परिभाषा की—गद्यपद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा चम्पूः । काव्यानुशासन—८/९ ।

(ङ) उक्ति प्रत्युक्ति एवं विष्कम्भं का न होना भी चम्पूकाव्य की विशेषताओं में सम्मलित करने वाले किसी अज्ञात कवि का कहना है—

गद्यपद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा कवि गुम्फिता ।
उक्ति प्रत्युक्तिविष्कम्भशून्या चम्पूरुदाहृता ॥ केचत्

२८. गद्यपद्यमयं श्रव्यं सम्बन्धं बहुवर्णितम् ।
सालङ्कृतं रसैः सिक्तं चम्पूकाव्यमुदाहृतम् ॥

चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन पृ० ४९ ।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
मुलतानीमल मोदी कालिज, मोदीनगर

□ प्रो० श्रीमती जीवन मजूमदार

'चम्पूरामायणम्' का मूलस्रोत एवं कथावस्तु में मौलिक परिवर्तन

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती ।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते ।।

परमारवंशीय राजा भोज के दिवंगत होने पर किसी कवि की यह प्रशस्ति भोज के प्रकाण्ड पाण्डित्य, विद्वानों एवं पण्डितों के आश्रयदातृत्व का सुन्दर प्रमाण है। आज भी भारतवर्ष में राजा भोज की कीर्ति एक विद्वान् एवं उदार-दानी राजा के रूप में अमर है।

ज्ञान एवं विद्या की प्रत्येक शाखा में भोज के कर्तृत्व के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। उनके द्वारा विरचित ग्रन्थों की संख्या लगभग ८४ तक पहुँच गई है, जो विभिन्न विषयों पर आधारित हैं। 'चम्पू-रामायणम्' महाराज भोज की एक उत्कृष्ट एवं सर्वाधिक प्रिय कृति है। बालकाण्ड से लेकर सुन्दरकाण्ड तक भोज की रचना है। लक्ष्मणसूरि नामक विद्वान् एवं कवि ने युद्ध-काण्ड का प्रणयन कर इस चम्पूकाव्य की पूर्ति की।

चम्पू-रामायण का मूलस्रोत आदि कवि प्रणीत 'वाल्मीकिरामायण' है। भोज ने स्वयं वाल्मीकि-रामायण को इसका आधार-ग्रन्थ बताते हुये 'चम्पू-रामायण' के आरम्भ में स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

वाल्मीकिगीतरघुपुंगवकीर्तिलेशै —
स्तृप्तिं करोमि कथमप्यधुना बुधानाम् ।
गंगाजलैर्भुवि भगीरथयत्नलब्धैः
किं तर्पणं न विदधाति नरः पितृणाम् ।।

परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्यक् विवेचन करने पर इस बात का आभास मिलता है कि रामायण को आधार रूप से स्वीकार करने पर भी 'चम्पू-रामायण' के प्रणयन में कवि ने अपनी मौलिकता का हनन नहीं किया है। फलस्वरूप अनेक दृष्टियों से उसमें वाल्मीकीय-रामायण के साथ साम्य होने पर भी कतिपय वैषम्य दृष्टिगोचर होते हैं। अतः रामायणीय इतिवृत्ती के प्रस्तुतीकरण में कवि की मौलिकता की परख करने के लिये 'चम्पू-रामायण' एव 'वाल्मीकि-रामायण' में परस्पर साम्य एवं वैषम्य का पर्यवेक्षण अत्यन्त आवश्यक है।

साम्य (कथानक)

कथावस्तु के ग्रहण में भोज ने पूर्णतः 'वाल्मीकि रामायण' का पदानुसरण किया है। प्रत्येक काण्ड में कथावस्तु का आरम्भ, विकास तथा अन्त भी रामायण की भाँति ही है। इतना ही नहीं, भोजराज ने चम्पूरामायण के प्रतिकाण्ड में आदिम श्लोकों की रचना में रामायण के उस काण्ड के प्रथम श्लोक का आदि अंश देने का प्रयास दिया है। उदाहरणार्थ—

	वाल्मीकि रामायण	चम्पूरामायण
१	'गच्छता मातुलकुलं भरतेन तदानघः' (अयोध्या-काण्ड)	'गच्छता दशरथेन निर्वर्तितम् (अयोध्या–काण्ड)

२. 'प्रविश्य तु महारण्यं दण्डकारण्यमाप्तवान्' (अरण्य-काण्ड)	'प्रविश्य विपिनं महत्तदनुमैथिली-वल्लभो (अरण्य-काण्ड)
३. सतां पुष्करिणीं गत्वा पद्मोत्पलझषाकुलम् (किष्किन्धा-काण्ड)	'सतां सतां बुद्धिमिव प्रसन्नां पम्पां वियोग-ज्वरजातकम्पः (किष्किन्धा-काण्ड)
४ ततो रावणनीतायाः सीतायाः शत्रुकर्शनः । इयेश पदमन्वेष्टुं चारणाचरिते पथि ॥ (सुन्दर-काण्ड)	ततो हनूमानदशकण्ठनीतां सीतां विचेतुं पथि चारणानाम्" । (सुन्दर-काण्ड)

केवल बालकाण्ड में इस नियम का व्युत्क्रम हुआ है, क्योंकि उसमें नमस्कारादि नम्रताप्रदर्शन पर्यन्त व्यापारों में दूसरी तरह के शब्दों का प्रयोग आवश्यक हो गया था। मूलकथा के अतिरिक्त भोज ने रामायण में वर्णित प्रायः सभी उपकथाओं को भी अपने ग्रन्थ में निबद्ध करने का भरसक प्रयास किया है। इसप्रकार हम देखते हैं कि 'चम्पूरामायण' में जो कुछ भी उल्लिखित है, कथावस्तु की दृष्टि से वह पूर्ण रूप से 'वाल्मीकि-रामायण' के समान है। उसमें घटना-संविधान या वैचित्र्य उत्पन्न करने के उद्देश्य से भोज ने स्व-कल्पित कोई प्रमुख परिवर्तन नहीं किया है।

भावाभिव्यञ्जन—'चम्पू-रामायण' में अनेक स्थल ऐसे उपलब्ध होते हैं जहाँ तत्कालीन परिस्थिति में उठने वाले मानवीय मनोगत भावों की अभिव्यक्ति 'वाल्मीकि-रामायण' से मिलती जुलती है। भावाभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के लिये कवि ने उसीप्रकार अलङ्कारों की सहायता ली है जिसप्रकार वाल्मीकीय रामायण में आदि-कवि ने किया है। विशेषकर उपमालङ्कार के प्रयोग द्वारा कवि ने भाव चित्रण में वाल्मीकि ही जैसी सफलता प्राप्त की है। उदाहरणार्थ—

इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन् नृपानयम् ।
वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः ॥ (२.२.१७

अर्थात् महाराज दशरथ के वचन सुन सभी राजाओं ने वैसे ही प्रसन्नता प्रकट की जैसे बरसते हुये महामेघ के गर्जन को सुनकर मोर नर्तन करते हैं।

'वाल्मीकि-रामायण' के इस श्लोक में महाराज दशरथ के वचन को सुनकर राजाओं की प्रसन्नता की अभिव्यक्ति जिसप्रकार औपम्य विधान द्वारा वाल्मीकि ने की है उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब भोज के निम्नलिखित गद्य-खण्ड में हुआ है—

'ततः प्रावृषेण्यपयोवाहव्यूहस्तनितनादाकर्णसमुदीर्णनिरतिशयाह्लादसंसर्गनिरर्गलनिर्गलत्केकालापिनः कलापिन इव जनाः प्रमदभवकलकलरवमुखरितहरिन्मुखा बभूवुः ।

औपम्य-साम्य के अतिरिक्त अनेक स्थल ऐसे उपलब्ध होते हैं जहाँ परिस्थिति विशेष में कही गई पात्रों की साधारण उक्तियाँ भी दोनों रामायण में प्रायः एक जैसी ही हैं। 'वाल्मीकि-रामायण' में कथित राम की निम्नाङ्कित उक्ति को—

अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम ।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥ (२.१९.६ ।

भोज ने 'चम्पू-रामायण' में इसप्रकार दुहराया है—

**'तातः स्ववाचा व्यवहृत्य हृद्यं वत्साभिषेकोत्सवमंगलं मे ।
प्रणामसंज्ञस्य मयार्पितस्य किं पूर्वमात्रस्य न पात्रमासीत्** । (अयो० का० २६)

दोनों ही श्लोकों का भाव एक है। दोनों ही स्थलों में राम के कथन में कोई मौलिक भेद नहीं है।

अनेक वर्णनात्मक स्थलों में भी भोजराज ने कहीं-कहीं वाल्मीकीय रामायण का अनुकरण किया है। कुछ वर्णन तो ऐसे भी हैं जो कभी आंशिक और कभी पूर्णरूप से कुछ शाब्दिक परिवर्तनों के साथ 'वाल्मीकि-रामायण' से ज्यों के ज्यों वैसे ही उद्धृत किये गये हैं। उदाहरणार्थ-'वाल्मीकि-रामायण' २९९ में वर्णित राम के वनवासी रूप के चित्रण के प्रसङ्ग में राम के लिये प्रयुक्त "जटामण्डलधारिणम् चीरवल्कलवाससम्, 'महाबाहुम्' तथा पुण्डरीकनिभेक्षणम्' इन विशेषणों को भोज ने 'जटाजूटापीडम्, वल्कलधरम्', भुजगपतिभोगोपमभुजम्' एवं 'नलिननयनम् इन पदों के रूप में अवतरित दिया है।

अनेकों साम्य के होने पर भी दोनों ग्रन्थों के वाह्य स्वरूप में वैषम्य भी है। 'वाल्मीकि-रामायण' अनुष्टुप छन्द में निबद्ध एक ऐतिहासिक महाकाव्य है, जबकि 'चम्पूरामायण' गद्य-पद्य की मिश्रित शैली में विरचित होने से एक चम्पूकाव्य। दोनों ग्रन्थों के परस्पर वैषम्य का एक प्रधान कारण यह भी है कि दोनों के रचयिता दो हैं और वे पृथक् पृथक् उद्देश्य से अपने काव्यो के प्रणयन में प्रवृत्त हुये हैं। 'वाल्मीकि-रामायण' की रचना में कवि का प्रमुख उद्देश्य राम जैसे सर्वगुणसम्पन्न, आदर्श-नर-चरित्र के कीर्तन के माध्यम से तत्कालीन भारत की सभ्यता, संस्कृति, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा वैज्ञानिक स्थिति की सम्पूर्ण झांकी प्रस्तुत करना प्रतीत होता है। परन्तु 'चम्पूरामायण' के विरचन में भोज का लक्ष्य, चम्पू की मिश्रित शैली को प्रोत्साहित करने तथा रामायण की कथावस्तु को लेकर एक काव्यात्मक प्रबन्ध के निबन्धन द्वारा सहृदय जन-मानस का समाकर्षण एवं आह्लाद करने तक ही सीमित है। इसीलिये वाह्य रूप के साथ साथ दोनों के आन्तरिक रूप में तथा आकार-प्रकार में महान् अन्तर है।

काव्य के साथ-साथ ऐतिहासिक ग्रन्थ होने के कारण 'वाल्मीकि रामायण' के वर्णनों में तत्कालीन राजनैतिक उथल पुथल का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। परन्तु 'चम्पू-रामायण' के ऐसे प्रसगों में भोज ने उन परिस्थितियों का काव्यात्मक ढंग से मूल्यांकन कर उन्हें काव्यात्मक एवं अलंकृत शैली में ही प्रतिपादित करने का प्रयास किया है।

इसीप्रकार घटना, स्वरूप, उद्देश्य आदि दृष्टिकोण से उक्त कृतिद्वय एक दूसरे से महान् अन्तर पर है। इसके अतिरिक्त दोनों कवियों की अभिरुचि, शैली, काव्यप्रतिभा आदि भी भिन्न भिन्न होने से उनकी रचनाओं में परस्पर वैषम्य परिलक्षित होता है। वाल्मीकि की कविता रसमयपद्धति का सुन्दर उदाहरण है। उनकी रामायण निसर्ग-भावना से संयुक्त, सरस, मधुर तथा प्रसादमयी है। रस ही उसकी आत्मा है तथा स्वाभाविकता ही उसका अलंकार है। परन्तु 'चम्पूरामायण' अलंकृत शैली का ज्वलन्त दृष्टान्त है। उसमें अलङ्कारों का भव्य विन्यास इतना चमत्कारी है कि पाठक वर्ण्य-वस्तु को छोड़कर अलङ्कारों की छटा के प्रति ही आकृष्ट हो जाता है। साधारण विषय के प्रतिपादन में भी कवि ने वैचित्र्य का आधान किया है। इस दृष्टि से भी 'चम्पू-रामायण' तथा 'वाल्मीकि रामायण' एक दूसरे से भिन्न हैं।

'चम्पू-रामायण' में 'वाल्मीकीय-रामायण' की प्रमुख या अप्रमुख घटनाओं में कोई महान् परिवर्तन नहीं किया गया है। परन्तु फिर भी 'चम्पूरामायण' में वाल्मीकि-रामायण की अनेक घटनायें संशोधित, परिवर्धित या विरुद्ध रूप में वर्णित हैं। उन घटनाओं में किसी संशोधन, परिवर्तन, या व्यतिक्रम के बिना भी कार्य चल सकता था, परन्तु कवि ने कहीं-कहीं घटनाओं को उसी रूप में ग्रहण करना उचित नहीं समझा। फलस्वरूप 'चम्पू-रामायण' में वर्णन वैभिन्य, घटनाक्रम में व्यतिक्रम विस्तृत प्रसगों का

संक्षेपीकरण रामायण से इतर शास्त्रों का प्रयोग, नाम में अन्तर आदि अनेक विषमतायें दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ घटनागत वैषम्य के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

वाल्मीकि-रामायण में कौशिक के सत्र की रक्षा करते समय वेदी को रुधिर से आप्लावित देखकर सहसा इधर उधर दौड़ते हुये राम आकाश-मार्ग से आते हुये राक्षसों को स्वयं देखते हैं —

'तां तेन रुधिरौघेन वेदीं वीक्ष्यसमुक्षिताम् ।
सहसाभिद्रुतो रामस्तानपश्यत् ततो रवि (१३०.१३)

परन्तु 'चम्पू-रामायण' में—

'तदनन्तरमन्तरिक्षान्तरालादापतन्तमन्तमानीकभयानकं तं पलाशगणमवलोक्य पलायमानाः करगलितसमित्कुशाः कुशिकनन्दनान्तेवासिनः ससम्भ्रममभिलषिताहवाय राघवाय न्यवेदयन् ।

राक्षसों के आगमन की सूचना उन्हें विश्वामित्र के शिष्य देते है, राम स्वयं उन्हें नहीं देखते ।

इसीप्रकार 'वाल्मीकि-रामायण' में विष्णु को रावण-वध का उपाय सर्वप्रथम ब्रह्मा बतलाते हैं परन्तु 'चम्पूरामायण' में विष्णु को रावण-वध का उपाय ब्रह्मा या देवगण नहीं बतलाते । देवताओं की स्तुति से प्रसन्न होकर विष्णु स्वयं अपने मन में उसके वध का उपाय निश्चित कर देवों से कहते हैं ।

'वाल्मीकि-रामायण' में अंशुमान् के मुख से अपने ६०,००० पुत्रों के दहन का शोकप्रद समाचार सुनकर भी राजा सगर विधिपूर्वक यज्ञ समाप्त करते हैं और ३०,००० वर्षों तक राज्य करने के पश्चात् स्वर्ग सिधारते है । परन्तु 'चम्पूरामायण' में यज्ञ समाप्त करने के पश्चात् पुत्र शोक से ही राजा की मृत्यु का उल्लेख हुआ है। उसके बाद इतनी लम्बी अवधि तक उनके जीने का कोई संकेत नहीं मिलता । 'वाल्मीकि-रामायण' में दिति इन्द्र से स्वयं कहती है कि मेरे ये गर्भस्थ सात खण्ड मारुत नाम से विख्यात होकर तुम्हारे सातों स्थानों के पालक होंगे। परन्तु 'चम्पू-रामायण' के अनुसार दिति स्वयं उन गर्भस्थ सात खण्डों को वायु में परिणत कर स्थान-पालक नहीं बनाती अपितु इन्द्र से वैसा करने की प्रार्थना करती है। इसीप्रकार 'वाल्मीकि-रामायण' में (४.२६, ३–७) में हनुमान् राम से किष्किन्धापुरी चलने की प्रार्थना करते हैं। परन्तु 'चम्पूरामायण' में राम से सुग्रीव उक्त प्रार्थना करते हैं, हनुमान् नहीं। इसीप्रकार की अनेक घटनायें हैं।

कहीं-कहीं तो इस वैषम्य के पीछे कवि का उद्देश्य निहित है और कहीं उसकी प्रामादिक भूल उस वैषम्य का कारण बनी है। कहीं-कहीं कथा-प्रवाह के मध्य किसी घटना में इतना सूक्ष्म अन्तर है कि प्रत्यक्षतः तो वह कुछ विशेष महत्व नहीं रखता, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसका पात्रों के चरित्र पर प्रभाव पड़ता है।

वर्णन की दृष्टि से भी 'चम्पू-रामायण' में कुछ स्थल ऐसे है जहाँ भोज ने 'वाल्मीकि-रामायण' से विल्कुल विपरीत वर्णन प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ—'वाल्मीकि-रामायण' ५.५.१९ तथा ५.९.५८, ५९, ६९, ७३ के अनुसार रावण के अन्तःपुर की सभी सुन्दरियाँ उसके रूप एवं गुण पर अत्यन्त आसक्त थी 'अत्यर्थं सक्तमानसो रावणे ताः वरास्त्रियः'। परन्तु 'चम्पू-रामायण' में कवि ने उक्त वर्णन के पूर्णतया विरुद्ध यह वर्णन किया है—

'तेन पुलस्त्यनन्दनेन सङ्क्रन्दननन्दनाख्व-मन्दिरोद्यानमानीतस्य मन्दारप्रमुखस्य वृन्दारकतवृन्दस्य बन्दीकृतसुर सुन्दरीनयनेन्दीवर द्वन्द्वाच्च करारविन्दकलितकनककलशाच्च मन्दोष्णं स्यन्दमानैर म्बुभिर्जम्बालितालवालस्य……(वा० का० पृ० २५–२६)।

जिससे प्रतीत होता है कि रावण के अन्तःपुर में बन्दी बनाई गई सुर सुन्दरियाँ अतीव दुःखी थीं और परवशता के कारण भय से रो-रोकर रावण की आज्ञा का पालन किया करती थीं। पायस-वितरण का विभाग भी दोनों ग्रन्थों में समान नहीं है। वाल्मीकि-रामायण में विश्वामित्र अपने यज्ञ की रक्षा करने के लिये दशरथ से केवल राम की याचना करते हैं। कही भी उन्होंने अपने साथ ले जाने के लिये लक्ष्मण का नाम गृहीत नहीं किया और वसिष्ठ भी दशरथ के लिये राम को ही भेजने की सम्मति देते हैं, लक्ष्मण को नहीं 'तस्माद्रामं विसर्जय' (१.२१.८)। परन्तु दशरथ स्वयं राम को भेजते समय लक्ष्मण को भी उनके साथ कर देते हैं। परन्तु 'चम्पू-रामायण' में विश्वामित्र लक्ष्मण सहित राम की याचना करते है। यद्यपि इस परिवर्तन में कवि का कुछ विशेष उद्देश्य प्रतीत नहीं होता।

'चम्पू-रामायण' में कुछ स्थल ऐसे प्राप्त होते हैं जिनमें घटनाओं का पौर्वापर्य क्रम-भंग हो गया है, अर्थात् 'वाल्मीकि-रामायण' में जो घटना पहले उल्लिखित है उसका वर्णन यहाँ बाद में हुआ है। और जिसका उल्लेख वहाँ बाद में हुआ है, 'चम्पू-रामायण' में उसका पहले वर्णन हुआ है। 'वाल्मीकि-रामायण' में अपने मुख से छन्दोमयी वाणी को सुनकर 'किमिदं व्याहृतं मया' मैंने यह क्या कहा—इसप्रकार चिन्ता करते हुये वाल्मीकि नदी में स्नान करने के पश्चात् आश्रम को लौटते हैं और शिष्यों में अनेक कथायें कहकर जब ध्यानावस्थित होते है, तब कहीं ब्रह्मा वहाँ पर वाल्मीकि मुनि को देखने के लिये आते हैं। परन्तु 'चम्पू-रामायण' में आश्रम से लौटने के तुरन्त बाद ही ब्रह्मा प्रकट होते हैं—

'स्वाश्रमं प्रति गतवति भगवति वाल्मीकौ······वाणीविलासमपरत्र कृतोपलम्भमम्भोजभूरसहमान इवाविरासीत्' (पृ० ६, ७, श्लोक ७ पूर्वार्ध) परन्तु ऐसे उदाहरण 'चम्पू-रामायण' में अति स्वल्प हैं।

'चम्पू-रामायण' में उल्लिखित व्यक्ति विशेष के नामों में कहीं-कहीं थोड़ा अन्तर पाया जाता है। उदाहरणार्थ—'वाल्मीकि-रामायण' में हिमालय की पत्नी एवं मेरु की पुत्री का नाम 'मेना' बतलाया गया है। परन्तु 'चम्पू-रामायण' में 'मेना' के स्थान पर 'मनोरमा' को सुमेरु की पुत्री तथा हिमालय की पत्नी के रूप में उल्लिखित किया गया है। वाल्मीकि-रामायण में जृम्भकास्त्रों को कृशाश्व नामक प्रजापति का पुत्र बतलाया गया है परन्तु 'चम्पू-रामायण' में कृशाश्व के स्थान पर भृशाश्व के नाम का उल्लेख है।

'वाल्मीकि-रामायण' से विपरीत रूप में चित्रित वर्णनों की भाँति 'चम्पू-रामायण' में कहीं-कहीं घटनायें भी विपरीत ढंग से वर्णित की गई हैं। 'चम्पू-रामायण' में कुछ स्थल ऐसे भी उपलब्ध होते हैं जिनका उल्लेख 'वाल्मीकि-रामायण' में नहीं हुआ है। 'वाल्मीकि-रामायण' में विष्णु के वैकुण्ठ नामक निवास-स्थान, क्षीरोदधि तथा उनके विभिन्न अवतारों का वर्णन नहीं हुआ है। केवल उनके स्वरूप, आभूषण, वस्त्र एवं वाहन का संकेत मिलता है। परन्तु 'चंम्पू-रामायण' में विष्णु के स्वरूपादि का जिस ढंग से कवि ने चित्रण क्रिया है उससे उक्त वर्णन में महान् अन्तर है। इसके अतिरिक्त 'चम्पू-रामायण' में विष्णु के श्यामघन के सदृश सुन्दर वैकुण्ठ नामक धाम का वर्णन है जो सकल लोक के आधिभौतिक आदि त्रिविध ताप नष्ट कर देता है तथा मुनिजनों के चित्तरूप चातकों के लिये शरण्य है। विष्णु के पराक्रम को प्रभावित करने के लिये बा० का० श्लोक १५ में उनके नृसिंहावतार तथा बालकाण्ड श्लोक १९ में 'नामावशेषितमहाबलिवैभवाय' इस चरण द्वारा वामनावतार का वर्णन उपलब्ध होता है, जिसका उल्लेख 'वाल्मीकि-रामायण' के प्रस्तुत प्रसंग में नहीं हुआ है। अतः यह भोज की मौलिक संयोजना है जो उनकी कवित्व-प्रतिभा तथा नवीन अर्थों के सन्निवेश करने की क्षमता का परिचय देती है।

'वाल्मीकि-रामायण' में दशरथ-मरण होने पर कौसल्या का चिता अधिरोहण के आग्रह एवं भरत का उनको वैसा करने से रोकने आदि की कथा का वर्णन नहीं हुआ है। परन्तु 'चम्पू-रामायण' के—

'तत्र सामात्यः समुपेत्य पत्युश्चिताधिरोहणमभिलषन्तीं कौसल्यां भरतः शपथशतैर्निवार्य वसिष्ठादिष्टेन यथा दशरथाय सदा यागशीलाय यायजूकाभिप्रेतं प्रेतकृत्यमकरोत्' (पृ०१८२)—इस गद्य खण्ड में दशरथ के साथ चिता में प्रवेश करने की इच्छा रखने वाली कौसल्या को चिता-प्रवेश से सैंकड़ों शपथ द्वारा रोकने का भी उल्लेख हुआ है। 'चम्पू-रामायण' के अनुसार शूर्पणखा द्वारा जनस्थान के राक्षसों का मरण-वृत्तान्त सुनकर रावण वहाँ की सुरक्षा के लिये आठ राक्षसों को भेजता है। परन्तु 'वाल्मीकि-रामायण' में कहीं भी उक्त प्रकार से जनस्थान के रक्षार्थ आठ राक्षसों को भेजने का उल्लेख नहीं हुआ है। ३.३५ में शूर्पणखा की जनस्थान सम्बन्धी समस्त वार्ता सुनकर स्वयं रावण ही मारीच के पास सहायता माँगने के लिये जाता है, वह किसी को भेजता नहीं। 'चम्पू-रामायण' क एक प्रसंग में रावण तीन शापों का उल्लेख करता है परन्तु 'वाल्मीकि-रामायण' में केवल ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त शाप का ही वर्णन है।

भोज ने 'वाल्मीकि-रामायण' के अति विस्तृत प्रसगों का प्रायः संक्षिप्त अथवा संकेतात्मक ढंग से ही उपस्थित करने का प्रयास किया है। 'वाल्मीकि-रामायण' में अंग देश की भौगोलिक स्थिति का स्पष्टतः उल्लेख हुआ है परन्तु 'चम्पू-रामायण' पृष्ठ ४३ में 'प्रदेशमेकम्' कह कर उसका संकेतमात्र दिया गया है।

'वाल्मीकि-रामायण' में अति विस्तार से वर्णित कथानक को भोज ने कहीं-कहीं संकेतात्मक ढंग से न उपस्थित करके केवल एक श्लोक में सक्षिप्त करने का प्रयत्न किया है। काव्य को संक्षिप्त करने के उद्देश्य से भी कवि ने 'वाल्मीकि-रामायण' मे वर्णित कतिपय प्रसंगों या कथांशों का कोई उल्लेख न करने की शैली भी अपनाई है।

इसप्रकार 'वाल्मीकि-रामायण' एवं 'चम्पू-रामायण' का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् कहा जा सकता है कि विभिन्न दृष्टिकोणों से 'वाल्मीकि-रामायण' पर आधारित होने पर भी 'चम्पू-रामायण' भोज की एक मौलिक रचना है। इसमें यद्यपि कहीं-कहीं कविकृत सूक्ष्म परिवर्तनों से पात्रों के चरित्र पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा है तथापि अधिकांश स्थल ऐसे हैं जहाँ कवि की दूरदर्शिनी सूक्ष्म दृष्टि ने 'वाल्मीकि-रामायण' के वर्णनों में किञ्चित् संशोधन कर अपने पात्रों की उदात्तता एवं महत्ता की पूर्ण सुरक्षा की है। भाव, उक्ति-वर्णन अथवा औपम्य की दृष्टि से इसमें 'वाल्मीकि-रामायण' से जो साम्य उपलब्ध होने हैं उन्हें कवि की अशक्ति न कहकर वाल्मीकि के प्रति आदरभाव मानना अधिक उचित है।

कथात्मक अथवा अन्य दृष्टियों से 'चम्पू-रामायण' में जो वैषम्य प्रतीत होता है, उनमें कवि का मार्मिक उद्देश्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। कहीं-कहीं प्रामादिक भूलें भी उपलब्ध होती हैं, परन्तु उससे कवि की मौलिकता पर कोई आघात नहीं होता। सर्वत्र ही भोज की नव-कल्पनायें, सुन्दर, सजीव एवं सशक्त अभिव्यंजना प्रणाली 'वाल्मीकि-रामायण' से उसकी पृथक् विशिष्टता का प्रतिपादन करती है।

———

अध्यक्षा, संस्कृत विभाग
नेशनल इस्माइल गर्ल्स कालिज,
मेरठ।

□ डॉ० रमेश चन्द्र जैन

उत्तरपुराण पर आधारित जैन संस्कृत काव्य

८९७ ई० में पूर्णता को प्राप्त आचार्य गुणभद्रकृत उत्तरपुराण एक आकर ग्रन्थ है। इसमें तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर भगवान् महावीर तक २३ तीर्थंकरों का इतिवृत्ति पौराणिक काव्यात्मक शैली में निबद्ध किया गया है। बीच बीच में प्रसङ्ग प्राप्त अनेक अवान्तर कथायें ग्रन्थ की रोचकता को बढ़ाने में सहायक हुई हैं। उत्तरपुराण के कथात्मक प्रसङ्गों का आधार लेकर अनेक परवर्ती कवियों ने अपनी रचनाओं का प्रणयन और श्रीवृद्धि की है। ऐसे काव्यों में वीरनन्दिकृत चन्द्रप्रभचरित, महासेनकृत प्रद्युम्नचरित, असग कविकृत वर्द्धमानचरित तथा शान्तिनाथपुराण, वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित, हरिचन्द्रकृत धर्मशर्माभ्युदय, वाग्भट्टकृत नेमिनिर्वाण काव्य एवम् वादीभसिंह कृत छत्रचूडामणि का नाम आता है। यहाँ इन्हीं रचनाओं का उत्तरपुराण के आधार पर तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत है।

उत्तरपुराण और चन्द्रप्रभचरित—ई० सन् ९५०-९९९ के आचार्य वीरनन्दिकृत चन्द्रप्रभचरित में भगवान् चन्द्रप्रभ का चरित काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस चरितकाव्य के बीज हमें तिलोयपण्णत्ति में प्राप्त होते हैं। यहाँ तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के माता-पिता, शिष्य संख्या, तीर्थ प्रवर्तन काल आदि का संक्षिप्त रूप में उल्लेख प्राप्त होता है, विस्तृत कथा उत्तरपुराण में प्राप्त होती है। उत्तरपुराण की विकसित कथा चन्द्रप्रभचरित में किञ्चित् परिवर्तन के साथ दृष्टिगोचर होती है। किञ्चित् परिवर्तन प्राप्त होने पर भी मूलकथा में कोई अन्तर नहीं आया है। कथानक में वैषम्य निम्नलिखित है—

उत्तरपुराण के अनुसार राजा श्रीषेण निष्पुत्र था, वह पुत्र न होने के कारण मन में खिन्न हुआ और अपने पुरोहित के उपदेशानुसार भक्तिभावपूर्वक जिनेन्द्रार्चन किया। चन्द्रप्रभचरित के अनुसार राजा श्रीषेण की रानी गेंद खेलते बालक को देखकर स्वयं की सन्तान न होने के कारण दुःखी हुई। अनन्तर उसने आनन्द नामक अवधिज्ञानी मुनि के दर्शन किए। मुनिराज ने पुत्र उत्पन्न होने की भविष्यवाणी की।

उत्तरपुराण के अनुसार श्रीपद्म नामक जिनराज के उपदेश से श्रीषेण ने प्रव्रज्या अङ्गीकार की। चन्द्रप्रभचरित के अनुसार श्रीषेण उल्कापात निमित्त पाकर विरक्त हो गए। उत्तरपुराण के अनुसार श्रीषेण का पुत्र श्रीवर्मा उल्कापात देखकर विरक्त हो गया।

चन्द्रप्रभचरित के अनुसार अजितसेन को चण्डरुचि नामक असुर हरकर ले गया था। उत्तरपुराण में हरण की घटना नहीं है।

उत्तरपुराण के अनुसार अजितसेन गुणप्रभ नामक जिनेन्द्र के द्वारा कहे हुए धर्मरसायन का पान कर प्रव्रजित हो गया। चन्द्रप्रभचरित के अनुसार अजितसेन क्रुद्ध गज द्वारा नागरिकों के कुचले जाने पर विरक्ति को प्राप्त हो गया।

उत्तरपुराण के अनुसार दर्पण में मुख देखते समय मुख पर स्थित किसी वस्तु को देखकर चन्द्रप्रभ महाराज को विरक्ति हुई। चन्द्रप्रभचरित के अनुसार चन्द्रप्रभ महाराज को सभा में वृद्ध व्यक्ति को देखकर विरक्ति हुई।

उत्तरपुराण और प्रद्युम्नचरित—महाकवि महासेन द्वारा रचित प्रद्युम्नचरित (ई० सन् ९७४) महाराज श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के चरित्र से ओतप्रोत चौदह सर्गों वाला एक संस्कृत महाकाव्य है। इस

काव्य की कथावस्तु का आधार जिनसेन प्रथम का हरिवंशपुराण है। इस पुराण में प्रद्युम्न का जीवन-चरित ४७ वें सर्ग के २० वें पद्य से ४८ वें सर्ग के ३१ वें पद्य तक पाया जाता है। गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण के ७२ वें पर्व में भी प्रद्युम्न का चरित अङ्कित है। महासेन ने उक्त पुराणग्रन्थों से ही कथावस्तु को ग्रहण किया है। उत्तरपुराण की कथावस्तु की अपेक्षा प्रद्युम्नचरित की कथावस्तु में निम्नलिखित वैषम्य है।

उत्तरपुराण के अनुसार धूमकेतु नामक ज्योषिती देव प्रद्युम्न को खदिर नामकी अटवी मे तक्षकशिला के नीचे रखकर चला गया। प्रद्युम्नचरित के अनुसार धूमकतु नामक दैत्य ने प्रद्युम्न को वातरक्षक गिरि की कन्दरा में रख दिया और उस कन्दरा के द्वार को एक शिला से आवृत कर दिया।

उत्तरपुराण के अनुसार कनकरथ ने द्विजटी नामक तापस के व्रत ग्रहण किए। प्रद्युम्नचरित के अनुसार वह मुनि हो गया।

प्रद्युम्नचरित के अनुसार एक दिन भीम ने राजा के राज्य में प्रवेश कर नगर को जलाया और जनता को कष्ट दिया। मधु ने उसके राज्य पर आक्रमण किया। यह घटना उत्तरपुराण में वर्णित नहीं है।

उत्तरपुराण के अनुसार काञ्चनमाला प्रद्युम्न पर आसक्त हो गई। जब प्रद्युम्न ने उसे अङ्गीकार नहीं किया, तब उसने उस पर मिथ्या दोषारोपण किया, जिससे कालसंवर ने विद्युद्दंष्ट्र आदि अपने पाँच सौ पुत्रों को एकान्त में बुलाकर आज्ञा दी कि यह देवदत्त (प्रद्युम्न) अपनी दुष्टता के कारण वधयोग्य है, अतः किसी उपाय से इसे प्राणरहित कर डालिए। वे पुत्र प्रद्युम्न को उत्साहित कर वन की ओर ले गए और उसे मारने के उन्होंने अनेक प्रयत्न किए। प्रद्युम्नचरित के अनुसार कालसंवर के ५०० पुत्र प्रद्युम्न के युवराज होने के कारण उससे द्वेष करने लगे और उसे विजयार्द्ध की गुफाओं में ले गए। जिनमें नाग, राक्षस अदि निवास करते थे। इन पुत्रों पर विजय प्राप्त करने के बाद प्रद्युम्न पिता की आज्ञा से काञ्चनमाला के भवन में गया, वहाँ काञ्चनमाला उस पर मुग्ध हो गई। प्रद्युम्न द्वारा स्वीकार न किए जाने पर उसने प्रद्युम्न पर बलात्कार का आरोप लगाया। राजा ने प्रद्युम्न को पकड़ने हेतु सेना भेजी, किन्तु विद्याबल के कारण वह उसका कुछ भी नहीं कर सका।

उत्तरपुराण के अनुसार प्रद्युम्न ने जब श्रीकृष्ण की सारी सेना जीत ली तब नारद ने श्रीकृष्ण से उसका परिचय कराया। प्रद्युम्नचरित के अनुसार कृष्ण प्रद्युम्न के पराक्रम को देखकर आश्चर्यचकित हुए और उन्होंने उसके साथ बाहुयुद्ध का प्रस्ताव रखा। दोनों बाहुयुद्ध की तैयारी में थे कि नारद आ गए और उन्होंने श्रीकृष्ण को प्रद्युम्न का परिचय कराया।

उत्तरपुराण और वर्द्धमानचरित—महाकवि असगकृत वर्द्धमान चरित (९८८ई०) महाकाव्योचित गुणों से सम्पन्न एक सुन्दर काव्य है। इसमें भगवान् महावीर के वर्तमान और पूर्ववर्ती अनेक जन्मों का काव्यात्मक शैली में वर्णन है। भगवान् महावीर का ही प्रारम्भिक नाम वर्द्धमान था। वर्द्धमान के जीवन सूत्र तिलोयपण्णत्ति में आए है। वहाँ बतलाया है—

सिद्धत्थरायपियकारिणिहिं णयरम्भिकुंडले वीरो।
उत्तरफग्गुणिरिक्खे चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो॥ तिलोय४/५४९

तीर्थंकर वर्द्धमान कुण्डलपुर में पिता सिद्धार्थ और माता प्रियकारिणी से चैत्रशुक्ल त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

मग्गसिर बहुलदसमी अवरण्हे उत्तरासुणाधवणे ।
तदियखवणम्भि गहिदं महत्वदं वड्ढमाणेण ।। तिलोय ४/६६७

वर्द्धमान ने मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के दिन अपराह्न में उत्तरानक्षत्र के रहते नाथवन में तृतीय भक्त के साथ महाव्रतों को ग्रहण किया ।

महाकवि असंग ने अपने वर्द्धमानचरित की कथावस्तु उत्तरपुराण के ७४वें पर्व से ग्रहण की है । इस पुराण में मधुवन में रहने वाले पुरूरवा नामक भिल्लराज से वर्द्धमान के पूर्वभवों का आरम्भ किया गया है । कवि ने उत्तरपुराण को कथावस्तु को महाकाव्योचित बनाने के लिए काट छाँट भी की है । असग ने पुरूरवा और मरीचि के आख्यान को प्रारम्भ में छोड़कर श्वेतपत्रा नगरी के राजा नन्दिवर्द्धन के आंगन में पुत्रजन्मोत्सव से कथानक का आरम्भ किया है । इसमें सन्देह नहीं कि यह आरम्भस्थल बहुत ही रमणीय है । उत्तरपुराण की कथावस्तु के प्रारम्भिक अंश को घटित रूप में न दिखलाकर पूर्वभवावलि के रूप में मुनिराज के मुख से कहलाया है । इस प्रकार उत्तरपुराण की कथावस्तु अक्षुण्ण रह गई है ।[१] सम्भवत: संक्षिप्तीकरण की दृष्टि से जटिल नामक ब्राह्मण के जन्म से लेकर स्थावर ब्राह्मण के रूप में जन्म तथा अनन्तर स्वर्ग प्राप्ति तक का वर्णन वर्द्धमानचरित में वर्णित नहीं किया गया है । उत्तरपुराण में धनञ्जय राजा के स्थान पर सुमित्र तथा प्रभावती रानी के स्थान पर मनोरमा का उल्लेख किया गया है । अन्य सब वृत्तान्त समान हैं ।

उत्तरपुराण और पार्श्वनाथचरित—वादिराजसूरि (१०१०-१०६५ ई०) कृत पार्श्वनाथचरित संस्कृत भाषा में काव्यरूप में लिखा गया तीर्थंकर पार्श्वनाथ सम्बन्धी सर्वप्रथम ग्रन्थ है । इसकी कथावस्तु का मूल स्रोत तिलोयपण्णत्ति, चउप्पन्नमहापुरिसचरिय एवम् उत्तरपुराण है । अपभ्रंश में पद्मकीर्तिकृत पासणाहचरिउ की रचना पार्श्वनाथचरित से पूर्व हो गई थी, अत: वादिराजसूरि ने उसका भी अवलोकन किया होगा । पार्श्वनाथ चरित की कथावस्तु उत्तरपुराण की कथावस्तु से पूरी तरह साम्य रखती है । उत्तरपुराण में पार्श्वनाथ के ऊपर उपसर्ग करने वाले देव का नाम शम्बर तथा पार्श्वनाथचरित में भूतानन्द लिखा गया है, अन्य सब कथानक समान है ।

उत्तरपुराण और धर्मशर्माभ्युदय—उत्तरपुराण के ६१वें पर्व में धर्मनाथचरित वर्जित हैं । यहीं से ईसा की दशवीं शताब्दी में महाकवि हरिचन्द्र ने कथानक ग्रहण कर धर्मशर्माभ्युदय ग्रन्थ की रचना की है । यद्यपि तीर्थंकर धर्मनाथ के जीवनसूत्र तिलोयपण्णत्ति में पाए जाते हैं, तथापि उत्तरपुराण में कथा कुछ विस्तृत रूप में पाई जाती है । उत्तरपुराण में तीर्थंकर धर्मनाथ के पिता का नाम भानु आया है, किन्तु धर्मशर्माभ्युदय में महासेन है । माता नाम भी सुप्रभा के स्थान पर सुव्रता आया है । धर्मशर्माभ्युदय में शास्त्रीय महाकाव्य के समस्त लक्षण पाए जाते हैं । यहाँ वर्णन चमत्कार दर्शनीय है ।

उत्तरपुराण और नेमिनिर्वाणकाव्य—महाकवि वाग्भट विरचित नेमिनिर्वाणकाव्यम् (१०७५-११२५) बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के पुण्यचरित के आधार पर लिखा गया रसात्मक काव्य है । कवि ने जिनसेन प्रथम के हरिवंशपुराण से कथावस्तु को ग्रहण किया है । इस काव्य में अरिष्टनेमि की जन्मतिथि श्रावण शुक्ल षष्ठी बताई गई है । इसका हरिवंशपुराण से मेल नहीं बैठता है । उत्तरपुराण में उक्त तिथि प्राप्त होती है, पर जीवनवृत्त हरिवंशपुराण के समान है । कवि ने हरिवंशपुराण और उत्तरपुराण के साथ तिलोयपण्णत्ति जैसे ऋषिग्रन्थों का अध्ययन भी किया है ।[२] उत्तरपुराण में जलक्रीडा के प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा के साथ श्रीकृष्ण का हास्यालाप है । इसे सुनकर नेमिकुमार के हृदय में राग की

प्रादुर्भूति जानकर श्रीकृष्ण राजा उग्रसेन के घर स्वयं जाकर उनकी पुत्री राजीमती की नेमिकुमार के लिए याचना करते हैं। नेमिनिर्वाण काव्य में राजुल और नेमि का रवैतक पर पारस्परिक दर्शन और दर्शन के फलस्वरूप दोनों के हृदय में प्रेमाकर्षण की उत्पत्ति वर्णित है।

उत्तरपुराण और क्षत्रचूडामणि—दशवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व में हुए ओडयदेव अथवा वादीभसिंहकृत क्षत्रचूडामणि एक सूक्तिप्रधान सरस काव्य है इसकी कथावस्तु कवि परमेष्ठी के वागसंग्रह से ग्रहण की गई प्रतीत होती है। उत्तरपुराण में भी जीवन्धरचरित वर्णित है। अपनी रचना गद्यचिन्तामणि के प्रारम्भ में वादीभसिंह ने कथास्रोत के विषय में लिखा है—

इत्येवं गणनायकेन कथितं पुण्यास्त्रव शृण्वतां।
तज्जीवन्धर वृत्तमत्र जगति प्रख्यापित सूरिभिः ॥
विद्यास्फूर्तिविधाय धर्मजननीवाणी गुणाभ्यर्थिनां।
वक्ष्ये गद्यमयेन वाङ्मयसुधावर्षेण वाक्सिद्धय ॥ ग चि. श्लो.१५

उत्तरपुराण की कथावस्तु और क्षत्रचूडामणि की कथा में निम्नलिखित वैषम्य है—

उत्तरपुराण के अनुसार रानी विजया ने दो स्वप्न देखे। पहला स्वप्न यह देखा कि राजा ने आठ घण्टों से सुशोभित अपना मुकुट रानी को दे दिया है और दूसरा स्वप्न देखा कि मैं अशोकवृक्ष के नीचे बैठी हूँ, परन्तु उस अशोकवृक्ष की जड़ किसी ने कुल्हाड़ी से काट डाली है और उसके स्थान पर एक छोटा अशोक का वृक्ष उत्पन्न हो गया है।[३] क्षत्रचूड़ामणि के अनुसार रानी ने तीन स्वप्न[४] देखे।

१. नष्ट हुआ अशोकवृक्ष।[५]
२. मुकुट सहित छोटा अशोक वृक्ष।[६]
३. आठ मालायें।[७]

क्षत्रचूडामणि के अनुसार काष्ठाङ्गार ने स्वयं विचार किया कि महाराज सत्यन्धर के जीवित रहते हुए मैं पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हूँ, अतः उन्हें मारकर मुझे स्वतन्त्र राजा बन जाना चाहिए। अतएव उसने बहाना बनाकर अपने मन्त्रियों से कहा कि राजा को मारकर अपनी रक्षा करने और स्वतन्त्र बन जाने के लिए एक देव आकर मुझे सदा प्रेरणा करता है।[८] उत्तरपुराण के अनुसार रुद्रदत्त पुरोहित ने काष्ठाङ्गार को सलाह दी कि यह राज्य तेरा हो जाएगा, तू राजा को मार डाल।[९] काष्ठाङ्गार के निषेध करने पर रुद्रदत्त पुरोहित ने कहा कि इस राजा के जो पुत्र उत्पन्न होने वाला है, वह तेरा प्राण घातक होगा, इसलिए इसका प्रतीकार करना चाहिए।[१०] काष्ठाङ्गार ने रुद्रदत्त के कहने अपनी मृत्यु की आशङ्का कर राजा को मारने की इच्छा की।[११]

उत्तरपुराण के अनुसार राजा को जब यह ज्ञात हुआ कि काष्ठाङ्गार उसे मारना चाहता है तो उसने शीघ्र ही रानी को गरुडयन्त्र पर बैठाकर प्रयत्नपूर्वक वहाँ से दूर कर दिया।[१२] क्षत्रचूडामणि के अनुसार राजा सत्यन्धर ने मयूरयन्त्र में रानी को बैठाकर उसे आकाश में उड़ा दिया।[१३] उत्तरपुराण के अनुसार राजपुत्र की उत्पत्ति का समय निकट जान एक पक्षी उसके पुण्य से प्रेरित हो गरुडयन्त्र का रूप बनाकर राजकुल में पहुँची।[१४]

उत्तरपुराण में सुरमञ्जरी के चूर्ण को जीवन्धर ने श्रेष्ठ प्रमाणित किया।[१५] क्षत्रचूडामणि में गुणमाला के चूर्ण को जीवन्धर ने श्रेष्ठ बतलाया।[१६]

उत्तरपुराण में वृद्ध के वेष में जीवन्धकुमार गुणमाला के महल में गए और योग्य अवसर पर अपना रूप दिखाकर उसके साथ विवाह किया।[१७] क्षत्रचूडामणि के नवम् लम्ब में यह घटना सुरमञ्जरी के साथ घटित होती है।

उत्तरपुराण के अनुसार महारानी विजया ने चन्दना आर्या के समीप संयम धारण कर लिया।[१८] क्षत्रचूडामणि में उन्होंने पद्मा नामक आर्या से दीक्षा ग्रहण की।[१९] उनके साथ सुनन्दा भी दीक्षित हुई। उत्तरपुराण के अनुसार महारानी विजया के साथ जीवन्धरकुमार की आठों रानियों तथा उन रानियों की माताओं ने संयम धारण कर लिया।

उत्तरपुराण के अनुसार महाराजा जीवन्धर दो बन्दरों के झुण्डों को परस्पर लड़ते देख संसार से विरक्त हो गए।[२०] क्षत्रचूडामणि में वानर वानरी के प्रेमकलह के बीच वानरी से माली द्वारा कटहल का फलं छीना जाना महाराज जीवन्धर की विरक्ति का कारण है।[२१]

उत्तरपुराण में जयद्रथ को माता के उपदेश से हंस के बच्चे को पकड़ने का पश्चाताप होता है।[२२] इस घटना के बहुत बाद वे दीक्षित होते हैं। क्षत्रचूड़ामणि के अनुसार उक्त घटना पर पिता जयद्रथ को समझाते हैं, जिससे वह अत्यन्त वैराग्य को प्राप्त होकर अपनी आठ स्त्रियों के साथ दीक्षित हो जाता है।[२३]

संकेत-संदर्भ

१. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री: संस्कृत काव्य के विकास में जैनकवियों का योगदान पृ० १४४

२. डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री: संस्कृत काव्य के विकास में जैनकवियों का योगदान पृ० २८७

३. उत्तरपुराण ७५/१९१–१९३

४. क्षत्रचूडामणि १/२३

५. वही १/२६

६. वही १/२५

७. वही १/२५

८. वही १/३९–४१

९. उत्तरपुराण ७५/२११

१०. वही ७५/२१४

११. वही ७५/२१६–२१७

१२. उत्तरपुराण ७५/२१८–२१९

१३. क्षत्रचूडामणि १/६३

१४. उत्तरपुराण ७५/२०५–२०६

१५. उत्तरपुराण ७५/३५७

१६. क्षत्रचूडामणि ४/२०

१७. उत्तरपुराण ७५/६२९–६३५

१८. वही ७५/६८३–६८४

१९. क्षत्रचूडामणि ११/४६

२०. उत्तरपुराण ७५/६७७

२१. क्ष० चू० ११/२४–२७

२२. उत्तरपुराण ७५/५३८–५४२

२३. क्षत्रचूडामणि ११/८७–८९

———

प्राध्यापक–संस्कृत विभाग
वर्धनाम कालिज
बिजनौर

☐ डॉ० हरिनारायण दीक्षित

अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्ये राष्ट्रियभावना

अधुना संस्कृतसाहित्यसमीक्षासंसारे कतिभ्यश्चिद् वर्षेभ्यः 'अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यम्' इत्याख्यो विशेषण-विशेष्यभावविभूषितोऽतिरमणीयः सार्थकश्चैकशब्दो भूयांसं प्रचारमागतोऽस्ति। अनेन इदं तथ्यं प्रकाशितं जातमस्ति यत्संस्कृतभाषायाम् अद्यापि पर्याप्तमात्रायां सर्जना वोभूयमाना विद्यते; तथा एषा भाषापि साहित्यसम्पन्नाः अन्याः सुजीविताः भाषाः इव वर्तते। अतो ये जनाः इमां भाषां मृतभाषां मन्यन्ते, ते महाघने अज्ञानान्धकारे सन्ति; स्वकीयराष्ट्रस्य च अतिमहत्त्वपूर्णां साहित्यसम्पत्तिं नैव परिचिन्वन्ति; तथा राष्ट्रं पथोभ्रष्टं कृत्वा तदीयां विपुलां क्षतिं कुर्वन्ति।

ममास्मिन् विषये कश्चिदपि सन्देहो नास्ति यदास्माकीनम् अर्वाचीनं संस्कृतसाहित्यं लोकदृष्ट्या महदुपयोगि, मात्रादृष्ट्या महद् विशालं तथा राष्ट्रदृष्ट्या अत्यन्तं महत्त्वपूर्णं साहित्यं विद्यते। एतदीय-परिशीलनेन च इदं सुतरां स्पष्टं भवति यद् वैदिकं पौराणिकं प्राचीनं च लौकिकं संस्कृतसाहित्यमिव एतदपि साहित्यं भारतीयायाः संस्कृतेः संस्कृतभाषायाश्च महत्त्वमुद्घोषयितुं प्रभवति; एवमेव च भावकान् काव्यरसिकानपि अमन्दमानन्दयति। मम दृष्टौ अस्य साहित्यस्य श्रीवृद्धिकारकाणां साहित्यकाराणां संख्यापि भूयसी विद्यते। किन्तु इदानीमहम् एतेषां सर्वेषाम् सर्वविधानां वा अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यकाराणां तथा एतत्प्रणीतानां सर्वेषां सर्वविधानां वा ग्रन्थरत्नानां परिचयं नैव प्रदास्यामि। यतोहि निर्धारितविषयानुसारेण 'अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्ये राष्ट्रियभावना' एव मया भवतां पुरस्तात् उपस्थापनीयास्ति। अतोऽस्मिन्नवसरे अहम् अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यस्य केवलं राष्ट्रियभावनाभिव्यंजकानामेव कतिपयानां काव्यानां काव्यकाराणां च विवरणं संक्षेपेण प्रस्तुतं करिष्यामि।

मम मतेन राष्ट्रियभावना सा भावनास्ति यथा सम्प्रेरितस्य सम्प्रभावितस्य च जनस्य हृदि स्वीय-राष्ट्रस्य भूमिं, जनसमूहं, संस्कृतिं, सभ्यताम्, इतिहासं, धर्मं, साहित्यं, कलां, राजनीतिं, रक्षकं, जीवनदर्शनं तथा एवमेव अन्यान्यं मूलभूतं तत्त्वं प्रति गरिम्णो महिम्नश्च नैसर्गिकः स्वाभिमानो वसति। अनया एव भावनया सम्पूर्णे राष्ट्रे अनेकत्वेऽपि एकत्वभावनायाः एका अभेद्या भावधारा सदैव सर्वत्र च प्रवहति; राष्ट्रं च सदा सर्वे स्वीयमेव मन्यन्ते; अतएव च तदीया अखण्डतापि सदैव जीवन्ती सन्तिष्ठते।

अहं प्रत्येमि यदत्र भवन्तो हर्षमनुभविष्यन्ति इदं ज्ञात्वा, यदिदानीं स्वकीये अर्वाचीने संस्कृतसाहित्ये एकपञ्चाशदुत्तरद्विशतसंख्याकानि (२५१) राष्ट्रियभावनाभरितानि काव्यानि समुपलभ्यन्ते; तथा राष्ट्रिय भावनाभरितकाव्यकर्तॄणामपि भूयसी संख्या वर्तते। एषां संख्या मम ज्ञानानुसारेण द्वित्रिंशदुत्तरशतसंख्यां (१३२) तु नूनमेव संस्पृशति। अहं मन्ये यदिमे उभे अपि संख्ये अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यस्य राष्ट्रियदृष्ट्या महत्त्वं संसाधयितुं सुपर्याप्ते वर्त्तेते।

अथाग्रे अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्ये समुपलभ्यमानानामेषां राष्ट्रियभावनासंवलितानां काव्यानां तत्कर्तॄणाञ्च नामश्रवणसमीहायाः समुदयः सुतरां स्वाभाविको विद्यते। अतस्तन्निरासाय षष्ठयन्तकाव्य-कारनामनिर्देशपूर्वकं प्रथमान्तकाव्यसंख्यानं करोमि; सधैर्यम् अधीयताम्……सर्वश्रीमदम्बिकादत्तव्यासस्य शिवराजविजयः सामवतं च, राजराजवर्मणो गैर्वाणीविजयः, शङ्करलालस्य गोरक्षाभ्युदयम्, अखिलानन्द-शर्मणो दयानन्ददिग्विजयम्, श्रीपादशास्त्रिहसूरकरस्य पृथ्वीराजचहवाणचरितम्-क्षत्रपतिशिवाजीमहाराज-

चरितम्-श्रीशिखगुरुचरितामृतम्-महाराणाप्रतापसिंहचरितम्-श्रीरामदासचरितम्–राजस्थानसतीनवरत्नहारः–महाराष्ट्रस्त्रियवीररत्नमंजूषा, सौराष्ट्रवीररत्नावलिः तथा महाराष्ट्रवीररत्नमंजूषा, गङ्गाप्रसादोपाध्यायस्य आर्योदयम्, महामहोपाध्यायपण्डितरामावतारशर्म्मणो भारतगीतिका भारतीयमितिवृत्तं च, मूलशङ्करमाणिक्लाल याज्ञिकस्य प्रतापविजयं छत्रपतिसाम्राज्यं च, पण्डिताक्षमायाः सत्याग्रहगीता–उत्तरसत्याग्रहगीता–शङ्करजीवनाख्यानम्–श्रीतुकारामचरितम्–स्वराज्यविजयः श्रीरामदासचरितं च, श्रीहरिनन्दनभट्टस्य सम्राट्चरितम्, श्रीनिवासशास्त्रिणश्चन्द्रमहीपतिः, मथुराप्रसाददीक्षितस्य वीरप्रतापनाटकम्-भारतविजयनाटकम्-वीरपृथ्वीराजविजयनाटकम् तथा गान्धीविजयनाटकम्, रङ्गाचार्यस्य श्रीशिवाजीविजयम्, नारायणपतित्रिपाठिनः श्रीभारतमातृमाला, पञ्चाननतर्करत्नस्य अमरमङ्गलम्, जीवन्यायतीर्थस्य चण्डताण्डवम्-महाकविकालिदासम्-साम्यतीर्थम्-विवेकानन्दचरितम् एवं स्वातन्त्र्यसन्धिक्षणः, चिड्गुड्डरवरदाचारियरस्य सुषुप्तिवृत्तम्, मेधाव्रतस्य दयानन्ददिग्विजयम्-मातः का ते दशा-लालबहादुरशास्त्रिप्रशस्तिः-चित्तौड़दुर्गम्-तद्भारतवैभवम् तथा प्रकृतिसौन्दर्यम्, हरिदाससिद्धान्त वागीशस्य वङ्गीयप्रतापम्-मेवाड़प्रतापं शिवाजीचरितं च, वासुदेवद्विवेदिनो भोजराज्ये संस्कृतसाम्राज्यम्-कौत्सस्य गुरुदक्षिणा स्वर्गीयसंस्कृतकविसम्मेलनं च, ब्रह्मश्री कपालीशास्त्रिणो भारतीस्तवः, श्रीनिवासताडपत्रीकरस्य गान्धीगीता, बालकृष्णभट्टस्य कनकवंशं स्वतन्त्रभारतं च, रमाकान्तोपाध्यायस्य दयानन्दचरितम्, रामकृष्णभट्टस्य स्वातन्त्र्यज्योतिः राष्ट्रध्वजश्च, जयरामशास्त्रिणो जवाहरवसन्तसाम्राज्यं, श्रीगान्धिबान्धवं च, स्वामिभगवदाचार्यस्य श्रीमहात्मगान्धिचरितम, क्षत्रे विश्वनाथकेशवस्य अपूर्वः शान्तिसंग्रामः-श्रीसुभाषचरितम्-प्रतापशाक्तम्-शिक्षणम्-जवाहरस्वर्गारोहणम्-अन्वर्थको लालबहादुरोऽभूत् तथा श्रीविवेकानन्दचरितम्, कपिलदेवद्विवेदिनः परिवर्तनम्, महादेवपाण्डेयस्य भारतशतकम्, नीरपाजेभीमभट्टस्य काश्मीरसन्धानसमुद्यमः हैदराबादविजयं च, रामनिरीक्षणसिंहस्य स्वाधीनभारतम्, द्विजेन्द्रनाथविद्यामार्त्तण्डस्य स्वराज्यविजयम्, डॉ० श्रीधरभास्करवर्णेकरस्य मन्दोर्मिमाता-प्रश्नावलीविमर्शः-जवाहरतरङ्गिणी-मातृभूलहरी-स्वातन्त्र्यवीरशतककम्-श्रीशिवराज्योदयम्-विवेकानन्दविजयम्-शिवराजाभिषेकम्-अध्यात्मशिवायनं तथा श्रमगीता, लीलारावदयालायाः कटुविपाकः-स्वर्णपुरवृषीवलाः-वीरभा तथा जयन्तु कुमाऊँनीयाः, नारायणशास्त्रिकाङ्करस्य स्वातन्त्र्ययज्ञाहुतिः, वासुदेवशास्त्रिवागेवाडीकरस्य क्रान्तियुद्धम्, भागीरथप्रसादत्रिपाठिनः वृषकाणां नागपाशः, पी० गोपालकृष्णभट्टस्य महाराज्ञीझाँसीलक्ष्मीवायी, सुबोधचन्द्रपन्तस्य झाँसीश्वरीचरितम्, यतीन्द्रविमलचौधरेः भारतहृदयारविन्दम्–महिमामयभारतम्–मेलनतीर्थम्–भारतविवेकम्–भारतराजेन्द्रम्–सुभाषसुभाषम्-देशबन्धुप्रियम्-भारतजनकम्-भारतलक्ष्मीः-भास्करोदयम्-आनन्दराध तथा महाप्रभुहरिदासम्, रमाचौधरेः देशदीपम्-भारततातम्-भारतपथिकम्-भारतवीरं निवेदितनिवेदितं च, हरिहरत्रिवेदिनो नागराजविजयं गणाभ्युदयं च, रुद्रदत्तपाठकस्य भारतीयरत्नचरितम्, भवालकरवनमालायाः पाददण्डम्, शिवप्रसादभारद्वाजस्य भारतसन्देशः–अजेयभारतं कसरिचङ्क्रमं च विद्याधरशास्त्रिणो दुर्बलबलम्, सुरेशचन्द्रत्रिपाठिनो वीरोत्साहवर्धनम्, शशिधरशर्मणो वीरतरङ्गिणी, एस० के० रामचन्द्ररावस्य पोरवदिग्विजयम्, रामकैलाशपाण्डेयस्य प्रबुद्धभारतं भारतं च, के० एन० एलुत्तच्छनस्य केरलोदयः, पुल्लेल श्रीरामचन्द्ररेड्डिनः सुसहतभारतम्, डॉ० उमाशङ्करत्रिपाठिनः क्षत्रपतिचरितम्, श्रीराम भि० वेलणकरस्य प्राणाहुती-रणश्रीरङ्गः-जवाहरचिन्तनम्-स्वातन्त्र्यचिन्तामणी—क्षत्रपतिशिवराजः—लोकमान्यस्मृतिः-कल्याणकोषः—तिलकायनम्–कालिदासचरितं तथा संगीतसोभद्रम्, ज्वालापतिलिङ्गशास्त्रिणः शान्तिदूतः, आचार्य श्रीब्रह्मानन्दशुक्लस्य श्रीगान्धिचरितं श्रीनेहरूचरितं च, श्यामवर्णद्विवेदिनो विशालभारतम्, गोपालशस्त्रिदर्शनकेसरिणः पाणिनीयनाटकं नारीजागरणं च, महामहोपाध्याय हरिहरस्य प्रभावतीपरिणयम्, डॉ० कृष्णलालस्य शिञ्जारवः-उर्वीस्वनः अनन्तमार्गश्च, कृ० वा० चितले संज्ञकस्य भारतस्वातन्त्र्यं लोकमान्यतिलकचरितं च, श्रुतिकान्त-

शर्मणोऽनुवादकृतिरूपं श्रीगुरुगोविन्दसिंहभगवत्पादजीवनेतिवृत्तम्, पलसुलेगजानन बालकृष्णस्य विनायकवीर-गाथा-समानमस्तु मे मनः-हिन्दूसम्राट्स्वातन्त्र्यवीरः-धन्योऽहं धन्योऽहं तथा विवेकानन्दचरितम्, शठकोप-विद्यालङ्कारस्य भारतीविजयम्, भण्डारकरत्र्यम्बकशर्मणः श्रीस्वामिविवेकानन्दचरितम्, कालिकाप्रसादशुक्लस्य अनुवादकृतिरूपो भारतस्य सांस्कृतिको दिग्विजयः, अणे माधवहरेः श्रीतिलकयशोऽर्णवः, डॉ० रेवाप्रसाद-द्विवेदिनः सीताचरितम्, रमाकान्तमिश्रस्य जवाहरलालनेहरूविजयनाटकम्, वङ्गवासिविश्वेश्वरस्य प्रवुद्ध-हिमाचलम्, मधुसूदनशास्त्रिणो हिन्दूविश्वविद्यालयमहाकाव्यम्, डॉ० वीरेन्द्रकुमारभट्टाचार्यस्य कलापिका-शार्दूलशकटम्-शरणार्थिसंवादः कविकालिदासं च, डॉ० रमेशचन्द्रशुक्लस्य गान्धिगौरवम्-लालबहादुरशास्त्रि-चरितम् -बंगलादेशः-भरतचरितामृतम्-विभावनम्-इन्दिरायशस्तिलकम्-सुगमरामायणं तथा चारुचरितचर्चा, यज्ञेश्वर शास्त्रिणो भारतराष्ट्ररत्नम्, डॉ० वोम्मकण्ठिरामलिङ्गशास्त्रिणः सत्याग्रहोदयम्, प्रमुदत्तस्वामिनः पूर्वभारतम्, के० आर० वैशम्पायनस्य देशस्वातन्त्र्यकाले राष्ट्रधर्मः, शिवगोविन्दत्रिपाठिनः श्रीगान्धिगौरवम्, द्वारकाप्रसादत्रिपाठिनो भारतगणराज्यस्य प्रधानमन्त्रिणः-गान्धिनस्त्रयो गुरवः शिष्याश्च तथा अन्तरिक्षनादः, रामकृष्णशर्मणो वंगलादेशोदयम्, रघुनाथप्रसादशर्मणः श्रीजवाहरज्योतिर्महाकाव्यम्, हरदेवोपाध्यायस्य भारतमस्ति भारतम्, श्रीकृष्णसेमवालस्य इन्दिराकीर्त्तिशतकं हिमाद्रिपुत्राभिनन्दन काव्यं च, बलभद्रप्रसाद-गोस्वामिनो नेहरूयशः सौरभम्, डॉ० के० एस० नागराजस्य भारतवैभवम्, श्रीकृष्णजोशिनः श्रीकृतार्थ-कौशिकम्-श्रीपरशुरामनाटकं तथा सत्यसावित्रम्, डॉ० सत्यव्रतशास्त्रिणः इन्दिरागान्धीचरितं तथा थाईदेशविलासम्, चूनीलाल सूदनस्य भगतसिंहचरितामृतं काश्मीरविहरणं च, डॉ० किशोरनाथस्य अनुवाद-कृतिरूपो बापूः, डॉ० शिवसागरत्रिपाठिनः प्राणाहुतिः डॉ० कपिलदेव द्विवेदिनो राष्ट्रगीताञ्जलिः, रामनाथपाठकस्य राष्ट्रवाणी, स्वयम्प्रकाशशर्मणः श्रीभक्तसिंहचरितम्, मुतुकुलं श्रीधरस्य नवभारतम्, अभिराज डॉ० राजेन्द्रमिश्रस्य वाग्वधूटी-राधामाधवीयम्-फण्टूचरितभाणः तथा अकिञ्चनकाञ्चनम, भोजमपि-शुक्लस्य कादम्बरीनाटकम्, डॉ० रमाकान्त शुक्लस्य भाति मे भारतं तथा जय भारतभूमे, डॉ० वी० राघवस्य पुनरुन्मेषः, सहस्रबुद्धेः प्रतीकारम् अब्दुलमर्दनं च, विनायक वोकीलस्य शिववैभवं रमामाधवं च, वेङ्कटरत्नस्य इन्दिराविजयम्, पद्म शास्त्रिणो वंगलादेशविजयम्-स्वराज्यं लोकतन्त्रविजयं च, करमरस्य लोकमान्यालंकारः, श्रीधर वेङ्कटेशस्य मातृभूशतकम्, परमानन्दस्य शिवभारतम् पिण्ड्ये जयरामस्य पर्णालप-र्वतग्रहणाख्यानम्, वेङ्कटेश वामनस्य शिवावतारप्रवन्धः, पुरुषोत्तमकवेः शिवकाव्यम्, केशवपण्डितस्य राजारामचरितम्, दिलीपदत्तशर्मणः प्रतापचम्पूः मुनिचरितामृतं च, एम० के० ताताचार्यस्य भारतीमनोरथम्, वी० आर० लक्ष्मी अम्मलस्य भारतीगीता, रामरायस्य राष्ट्रस्मृतिः, प्रभुदत्त शास्त्रिणः संस्कृतवाग्विजयः, लक्ष्मीनारायणशानभागस्य राष्ट्रपतिगौरवम्, के० वी० एल० शास्त्रिणो महात्मविजयम्, वी० नारायण नायरस्य महात्मनिर्वाणम्, वासुदेवात्मारामलाटकरस्य राष्ट्रपति डॉक्टरराजेन्द्रप्रसादचरितम्, विश्वनाथ-शास्त्रिणो भारतभजनम्, रामकुवेरमालवीयस्य श्रीमालवीयकाव्यम्, बी० एन० दातारस्य अन्तिमयात्रा, साधुशरणमिश्रस्य गान्धिचरितम्, लोकनाथशास्त्रिणो गान्धिविजयम्, श्रीपाद कृष्णमूर्त्तेः राजेन्द्रप्रसादाभ्युदयम्, विद्यानिधिशास्त्रिणः श्रीगान्धिचरितामृतम्, ईशदत्तपाण्डेयस्य प्रतापविजयः, गैरिकपाटि लक्ष्मीकान्तस्य भव्यभारतं भारतरत्नं च, महालिङ्गशास्त्रिणो भारतीविषादः, अमृतकलशस्य हम्मीरप्रबन्धः तथा मानवेदस्य पूर्वभारतचम्पुः इति ।

अस्मिन् सन्दर्भे मया इदमपि निवेदनीयमस्ति यत् प्राचीनसंस्कृतसाहित्यस्येव अर्वाचीनसंस्कृत-साहित्यस्यापि अनेकाः कृतय अधुनापि अप्रकाशिताः एव सन्ति; अनेकाश्च कृतयः प्रकाशिताः सत्योऽपि पर्याप्तं प्रचारं प्रसारं च न लभन्ते ; अतएव सर्वासां कृतीनां प्राप्तेरसम्भवात् मदीयज्ञानस्य च परिसी-मितत्वात् अत्र स्वसमुपदर्शिताम् इमां सूचीम् अहं सम्पूर्णां नैव मन्ये । वस्तुतस्तु एषा सूची सम्पूर्णा भवितुमपि नैव शक्नोति । यतोहि साम्प्रतम् अनेके काव्यकाराः प्रतिदिनं स्वीयया नव्यया भव्यया राष्ट्रभाव-

भरितया कवितया राष्ट्रदेवतायाः सपर्यां कुर्वन्तः सन्ति । अतोऽस्यां सूच्यां वृद्धिस्तु अनारतं भविष्यत्येव । अनया च वृद्ध्या संस्कृतभाषासमुपासकानामपि गौरवं सततं वर्धिष्यते इति मामको दृढो विश्वासः ।

उपरिवर्णितस्यास्य अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यस्य परिशीलनेन इदं तथ्यं प्राकाश्यमायातमस्ति यह एषु काव्यग्रन्थेषु राष्ट्रियभावनानुरूपं क्वचिद् स्वीय राष्ट्रियभौगोलिकसीम्नां रक्षा—सुरक्षादिविषये भावाः प्रकटिताः सन्ति; क्वचित्स्वीयं राष्ट्रं प्रति इतरसर्वविधप्रेमातिशायिनी प्रेमभावना प्रकटितास्ति; क्वचिद् राष्ट्रस्य भौतिकीं, सांस्कृतिकीं तथा आध्यात्मिकीं सम्पत्तिं प्रति आत्मीयतायाः स्वाभिमानस्य च सुदृढाः विचाराः प्रस्तुताः सन्ति; क्वचिद् राष्ट्रस्य विकासकार्येषु निष्ठा प्रदर्शितास्ति; क्वचिद् राष्ट्रस्य कस्यापि क्षेत्रविशेषस्य अथवा जनसमूहविशेषस्य प्राकृतिकीं विपत्तिं स्वीयां विपत्तिं मत्वा यथाशक्ति तन्निरासाय तनुमनोधनैः प्रयत्नाः विहिताः सन्ति; क्वचिद् राष्ट्रियस्य गरिम्णो महिम्नो वा प्रतिष्ठां प्रति अदम्यभावना प्रकटितास्ति; क्वचिद् राष्ट्रस्य प्रगतिकरान् नायकान् प्रति हेतुपूर्वकं समादरभावाः प्रकटिताः सन्ति; क्वचिद राष्ट्रस्य स्वाधीनता—पराधीनताकालीनदशयोः सुख–दुःखविवरणपूर्वकं वैषम्यं प्रदर्शितमस्ति; क्वचिद् हिन्दू-मुसलिमजनानां कृते पारस्परिकैक्यभावनायाः मार्मिकाः प्रसंगाः प्रस्तुताः सन्ति; क्वचिद् राष्ट्रभूमौ मातृभावना संसाधितास्ति; क्वचिद् राष्ट्रभूमौ स्वर्गातिशायिता वर्णितास्ति; क्वचिद् राष्ट्रभूमेः सुजलता, सुफलता, मलयजशीतलता, सर्वविधानन्ददायिता च दर्शितास्ति; क्वचिद् राष्ट्रस्य सीम्नां रक्षां कुर्वतीनां भारतीयसेवानां व्यक्तिगतसुखसौविध्यत्यागात्मकं रोमांचजनकं शौर्यं प्रकटितमस्ति; क्वचिद् राष्ट्रविरोधिनीनां भारतीयसमाजघुणोपमानां कुरीतीनां हानिप्रदर्शनपूर्वकं तन्निरासाय प्रेरणाः प्रदत्ताः सन्ति; क्वचित्पंचशीलोपदेशाः दत्ताः सन्ति; क्वचिद् नराधमानां राष्ट्रद्रुहां निन्दा कृतास्ति; क्वचिद् नरोत्तमानां राष्ट्रभक्तानां प्रशंसा विहितास्ति; क्वचिद् राष्ट्रस्य रक्षोपायाः प्रदर्शिताः सन्ति; क्वचिद् राष्ट्रस्य नीतयो निरूपिताः सन्ति; क्वचिद् राष्ट्रस्य भाषासमस्या निरूप्य समाहितास्ति; क्वचिच्च अन्ताराष्ट्रियभावनायाः अर्थात् विश्वमङ्गलकामनायाः अपि प्रचार-प्रसारयोः विश्वासः प्रकटीकृतोऽस्ति । एवमह पश्यामि यदेषु काव्येषु राष्ट्रियभावनायाः विविधेषु पक्षेषु पर्याप्तः प्रकाशो लभ्यते । एतदतिरिक्तम् अस्मिन्नर्वाचीने संस्कृत-साहित्ये इदमपि तथ्यम् अनावृतं परिलक्ष्यते यद् एतत्कालीने संस्कृतसाहित्ये भारतराष्ट्रस्य सेवापरायणानां प्रगतिकराणां निर्विशेषं प्रजापालकानां समाजसेवकानां राष्ट्रार्पितसर्वस्वानां राजनीतिनायकानां लोकनाय-कानां पोरस–महाराणाप्रतापसिंह–अमरसिंह–क्षत्रपतिशिवाजी–गुरुगोविन्दसिंह–रानीदुर्गावती–झासीरानी लक्ष्मीवायी -महात्मागान्धि-पण्डितजवाहरलालनेहरू-नेताजिसुभाषचन्द्रबोस–सरदारभगतसिंह-चन्द्रशेखरआजाद-लोकमान्य बालगङ्गाधरतिलक-लालालाजपतराय-विनायकदामोदरसावरकर-देशवन्धुचित्तरंजनदास-रफी अहमद किदवई-सीमान्तगान्धि अब्दुलगफारखान-मीरमक्बूलशेरबानी-सरदारवल्लभभाईपटेल-डॉ० राजेन्द्रप्रसाद-युवराज कर्णसिंह-लालबहादुरशास्त्रि-सरोजिनी नायडू-इन्दिरागान्धी-हेमवतीनन्दनबहुगुणा प्रभृतीनां राष्ट्रने-तृणाम्, तथा गुरुनानक-स्वामिदयानन्द-स्वामिविवेकानन्द-समर्थगुरुरामदास-सन्ततुकाराम-योगिराजारविन्द-रवीन्द्रनाथटैगोर-राजाराममोहनराय-भगिनिनिवेदिता-मदनमोहनमालवीय-आचार्य विनोबाभावे सदृशानां भारतीय समाजसुधारकाणां राष्ट्रार्पितानि जीवनचरितानि समवलम्ब्य यानि काव्यानि विरचितानि विरच्यमानानि च सन्ति, तेषु तत्तच्चरितमाध्यमेन सर्वैरेव तत्तत्काव्यप्रणेतृभिः कविवरैः राष्ट्रियभावनायाः विहिता विधीयमाना च साङ्गोपाङ्गाभिव्यंजना तु पाठकानां मनांसि रोमोद्गमजनन पुरस्सर बलादाकर्ष-तीति न कापि संशीतिः ।

मदीयोऽयमनुभवोऽस्ति यद् अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यस्य भूयान् भागो राष्ट्रियभावनया एव ओत-प्रोतोऽस्ति । इतिहासः साक्षी विद्यते यद् भारतीयानां दुर्भाग्येण भारतवर्षो बहुकाल यावत् वैदेशिकानाम् आक्रामकाणां यवनानां तथा कपटकूटपटूनाम् अंग्रेजानाम् आधीन्ये आसीत् । तस्मिन् काले भारतीया संस्कृतिः

सभ्यता, प्रजा भूमिश्च सुतरां विपन्नाः आसन् । अतएव अत्रत्याः देशभक्ताः राष्ट्रियभावनाभिभूताः सम्प्रत्येव उपरिपरिसंख्याताः कतिपयाः संवेदनशीलाः संस्कृतसाहित्यकाराः अनया मर्मच्छेदिन्या पराधीनतापीड़या आहताः भवन्त आसन् । तैरिदम् अनुभूतम्, यद् भारतीयेषु जनेषु यदि राष्ट्रियचेतना नेव जागरिता क्रियते, तर्हि इदं सुविशालं राष्ट्रं सर्वदाकृते पराधीनमेव भविष्यति । अतस्तैः भारतस्य भारतीयतायाश्च रक्षा—सुरक्षाहेतवे देशारातिभिः समं सदा संघर्षकराणां सद्य एवात्र परिसंख्यातानां लोकनायकानां नायकानां समाजसुधारकाणां महापुरुषाणां च जीवनलीलाः आधारीविधाय उपरिपरिवर्णितानि विविधानि राष्ट्रियभावनात्मकानि काव्यानि निर्माय भारतीयेषु जनेषु स्वराष्ट्राभिमानस्य चेतना प्रोद्दीपिता कृतास्ति । अस्मिन्नेव सातत्ये भारतीयतां प्रति गौरववर्धकाणामपि बहूनां काव्यानां सर्जना जातास्ति: जायमानापि चास्ति । यैरसंशयं जनेषु राष्ट्रियभावनायाः उदयविकासौ निरन्तरं जायमानौ स्तः ।

मम मतेन तु अर्वाचीने संस्कृतसाहित्ये राष्ट्रियभावनायाः साम्राज्यमेव विलसति । एतद्युगीनासु अधिकांशवतीषु कृतिषु राष्ट्रियभावनाया एव सर्वाधिकमात्रायां प्राकाश्यमायातास्ति । अनेकाः कृतयस्तु केवलं राष्ट्रियभावनाया एव प्रसारहेतवे लिखिताः सन्ति । फलस्वरूपेण तासु आदितः समारभ्य इति पर्यन्त सर्वत्रैव राष्ट्रियभावना एव स्वीयेषु विविधेषु स्वरूपेषु पाठकानामनुभूतिविषयतां समायाति । अतएव अर्वाचीन-संस्कृतसाहित्यस्य एष युगस्तु अस्माभिः राष्ट्रियभावनायाः स्वर्णिमो युगो वक्तुं शक्यते । उल्लेखनीयमस्ति यद् एतद्युगीने संस्कृतसाहित्ये राष्ट्रियायाः एकतायाः सम्प्रभुतायाश्च रक्षा-सुरक्षोपदेश-सन्देश-समकालमेव राष्ट्रस्य सर्वाङ्गीणविकासकरणार्थमपि उपदेशो लभ्यते; यो हि भारतस्य भारतीयतायाश्च गौरववृद्धये परमोपादेयो विद्यते । अनया दृष्ट्या अत्र परिसख्याताः इमे सर्वे एव राष्ट्रियभावनात्मककाव्यकाराः मम वन्दनीयाः सन्ति । अहं विश्वसिमि, यदेषामेव प्रयासेन भारते संस्कृतभारती भूयः स्वीयां प्रतिष्ठां प्राप्स्यति ।

अन्ते चात्र अहं स्वकीयेभ्यो राष्ट्रनेतृभ्यः तथा शिक्षाविद्भ्यः परामर्शं दातुकामोऽस्मि यत्ते स्वीय-भारतराष्ट्रस्य स्वतन्त्रां सम्प्रभुताम् अक्षुण्णां रक्षितुम, तथा भारतीयेषु भारतीयतां प्रति अनुरागपूर्णं स्वाभिमानं जागरयितुं तथा तेषु स्वीयं राष्ट्रं, स्वराष्ट्रस्य संस्कृतिं, सभ्यतां, भाषां, धर्मं जीवनदर्शनं च प्रति सततं निष्ठोदयं कर्तुं विद्यालयानां, महाविद्यालयानां तथा विश्वविद्यालयानां शैक्षणिकाणां कार्यक्रमाणां माध्यमेन सर्ववर्गीयेषु विद्यार्थिषु राष्ट्रियभावनाभरितस्य संस्कृत-साहित्यस्य प्ररोचनापूर्वकं प्रचार-प्रसारौ कर्तुं कारयितुं च सत्वरं क्रियाशीलाः भवेयुः; तथा प्रौढशिक्षायाः कार्यक्रमेष्वपि अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यस्य राष्ट्रियभावनापूर्णान् कतिपयान् अंशान् सम्मिलितान् कारयेयुः; येन भारतराष्ट्रस्य आबालवृद्धजनेषु एककालावच्छेदेन राष्ट्रचेतनायाः शङ्खो नदेत् तथा विश्वमंचे भारतं शक्तिसम्पन्नम् अजेयम् अभेद्यं च राष्ट्रं सिद्धं भवेत् ।

———

रीडर अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
कुमायूँ विश्वविद्यालय
नैनीताल

☐ डॉ० रणजीत शर्मा

आधुनिक संस्कृत महाकाव्यों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

आधुनिक संस्कृत महाकाव्यों की प्रमुख प्रवृत्तियों पर विचार करने से पूर्व यहाँ आधुनिक संस्कृत महाकाव्यों पर भी थोड़ा विचार करना अपेक्षित है क्योंकि जिस अर्थ में, मैं संस्कृत के महाकाव्यों की चर्चा करना चाहता हूँ, उस अर्थ में अभी संस्कृत में 'आधुनिक' शब्द पच नहीं पाया है । मैं 'आधुनिक' शब्द को काल-सापेक्ष और विचार-सापेक्ष दोनों ही अर्थों में ग्रहण करता हूँ । काल-सापेक्ष की दृष्टि से भारत में आधुनिक-काल का प्रवेश लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-भाग से होता है, जब से इस्ट-इण्डिया कम्पनी से ब्रिटिश-शासन के हाथों में भारत का शासन-सूत्र आया । काल-सापेक्षता में कविता को सार्थक ढंग से पहचानने की क्षमता भी है तथा काल-सन्दर्भों को समझने की विज्ञता और दृष्टि भी है पर विचार-सापेक्ष-पद्धति में आधुनिक की अवधारण में वैज्ञानिक-दृष्टि और तार्किक-चेतना का विवेक तथा अविश्रान्त-जिज्ञासा और 'इदमित्थम्' का निषेध है ।

विज्ञान और तकनीकी का द्रुत-विकास, यातायात और दूर-संचार के साधनों में वृद्धि औद्योगीकरण आदि, जो आधुनिकता के मूल में रहे हैं और जिनका यूरोप में विकास एक शताब्दी पूर्व हो चुका था,— का आगमन भारत में ब्रिटिश-शासन के प्रवेश के साथ-साथ ही हुआ । भारतीय-साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ा । बंगला और हिन्दी में लगभग तभी से आधुनिकता का यह प्रभाव परिलक्षित होने लगता है । संस्कृत में यह प्रभाव, बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के जन्म होते ही झलकने लगा । कुछ खींचतान कर आधुनिकता के कुछ तत्त्वों का विखण्डित रूप में इससे पूर्व भी खोजने के प्रयास भी हुए हैं और यत्किञ्चित् शैलीगत बदलाव को 'आधुनिकता' का नाम दिया गया है, परन्तु वहाँ तक महाकाव्यों में वह वैज्ञानिक आधार दृष्टि नहीं आता जिससे आधुनिकता का स्वरूप (उभय पक्ष) उजागर होने में कुछ मदद मिले । अपने प्रस्तुत पत्र में, मैंने बीसवीं शताब्दी के ही संस्कृत के महाकाव्यों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है । मेरी धारणा है कि यदि कभी संस्कृत-साहित्य के इतिहास का काल-सापेक्ष वर्गीकरण और नामकरण हुआ तो इसी काल को संस्कृत-साहित्य के इतिहास का ''आधुनिक-काल' स्वीकार किया जायेगा ।

वस्तुतः आधुनिकता एक बदलती हुई जीवन-दृष्टि का नाम है । एक जीवन-दृष्टि पौराणिक थी, एक जीवन-दृष्टि मध्यकालीन थी और इनसे भिन्न एक नई जीवन-दृष्टि आधुनिक है । इस जीवन-दृष्टि के मूल में विज्ञान है, बुद्धि है, राष्ट्रिय चेतना का विवेक है, कैक्टस सा विकसित यथार्थ है, 'स्व' की केन्द्रिता है, स्वायत्तता है और विचारों की सापेक्षता में सामयिक विवेकिता है ।

> मान्यः स मे यः परमो हि धर्मः, परं स सापेक्षतयैव सेव्यः ।
> देवद्रुहां पापकृतां खलानां जानीहि हिंसामपि तामहिंसाम् ॥[1]

अब न तो पौराणिक विश्वासों और आस्थाओं के लिए कोई स्थान है और न ईश्वर को सारे मूल्यों का नियन्ता स्वीकार कर चलने वाली मान्यताओं का ही विशेष अस्तित्व है । 'स्व' में केन्द्रित ''कोई क्या कहता है" की परवाह किए बिना अपनी डगर चलने वाला व्यक्ति तर्क और बुद्धि से संचालित होने लगा है । उसका अपना विवेक ही उसका ईश्वर है । अपनी नियति के लिए वह स्वयं ही जिम्मेदार है । पुराने आदर्शों और विश्वासों की अपेक्षा वह अपने जीवन के यथार्थ को अधिक महत्त्व देता है । अतीत

जीवी होने की अपेक्षा वह वर्तमान में समग्रता से जीना चाहता है। रूढि और परम्पराओं में शोधन करता है और आवश्यकता पड़ने पर विरोध भी करता है, दुर्दम्य जिजीविषा के साथ वह उनका पुनरुत्थान और पुनर् मूल्याङ्कन करता है और मार्ग की बाधाओं का दूर करने का सक्रिय संकल्प भी लेता है। राजनीति से बेझिझक बात भी कर लेता है और नारी-स्वतन्त्र्य एवं उसकी सत्ता की वैचारिक तथा क्रियात्मक वकालत भी कर लेता है। ऐसी इस आधुनिकता का निर्माण एका-एक नहीं हुआ है। मानवी-चेतना के विकास से ही हम यहाँ तक पहुँचे हैं। इसमें डार्विन का विकासवाद, आइंस्टीन का सापेक्षतावाद, मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, फ्रायड, युंग और एडलर आदि का मनोविज्ञानवाद, सार्त्र का अस्तित्व वाद, तथा अनेक प्रकार के नृवंशीय और सामाजिक चिन्तकों के चिन्तन का प्रभाव है। द्वितीय विश्व-युद्ध ने इसमें प्रमुख भूमिका निभाई है। बढ़ती हुई जनसंख्या और सिमटते हुए जीविका के संसाधनों स्वरूप जीवन में घुटन, टूटन, कुहासा, आक्राश, सन्त्रास और क्षोभ आदि की वृद्धि हुई है।

इस परिप्रेक्ष्य में यदि सस्कृत के महाकाव्यों का अध्ययन करें, तो लगता है कि यह आधुनिकता बीसवीं शताब्दी के महाकाव्यों में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई ध्वनित हुई है। यद्यपि अभी भी शिशुता की झलक छुट नहीं पाई है, भले ही स्मर- मित्र यौवन अङ्ग-अङ्ग में झलकने लगा है।

यह आधुनिकता अलौकिकता के स्थान पर मनुष्य को अधिकाधिक महत्त्व देना, परम्परा में शोधन, पुनर्व्याख्यायित कर पुनरुत्थान अथवा पुनर्मूल्यङ्कन, प्रश्नाकुलता और सन्देह, वैचारिता और राजनैतिक चेतना की प्रधानता और सजगता, वैयक्तिकता और सामाजिकता का समन्वय (व्यक्तिवाद पर चोट) यथार्थ के प्रति ललक, राष्ट्रिय-चेतना, स्वत्व के लिये नारी का स्वयं उभर कर आना, आदि प्रवृत्तियों के रूप में अभिव्यक्त हुई है। अब यहाँ इनमें से कुछ प्रवृत्तियों पर विस्तृत विचार अपेक्षित है।

अ—काव्य की दृष्टि से—

मनुष्य को अधिकाधिक गरिमा देना:—आधुनिक संस्कृत महाकाव्यों में मानव को ही केन्द्र मानकर मानव को अधिकाधिक गरिमा देने का प्रयास सर्वत्र है। अवतार या पौराणिक पात्र नर हो या नारी सभी रोजमर्रा देखेभाले जाने वाले जीते-जागते, हाड़-मांस के चरित्र नजर आते हैं। राम, सीता, ऊर्मिला रुक्मिणी, राधा, सावित्री, कृष्ण, अर्जुन, कर्ण प्रभृति चरित्रों को, सामान्य जन की भाँति सन्देह की झूला में झूलते, इधर से उधर, उधर से इधर झोंटे खाते, अन्तर्द्वन्द्व पूर्ण मन: स्थिति में अकुलाते, डुबकी खाते, नूतन जीवन प्रेरणा और मूल्यों की तलाश में हाथ-पैर पटकते देखा जा सकता है।

अवतार चरितों और अलौकिक सत्ता के पृष्ठ पोषक पौराणिक आख्यानों को पुनर्व्याख्यायित करने का सुष्ठु प्रयास आज के महाकाव्यों में हुआ है और हो रहा है।

गुप्तचरी रिपोर्ट से सीता के चरित्र पर संशयालुता से राजा राम खिन्न हैं। दूत-मुख से प्रियतमा सीता के प्रति तिरस्कार में वाविष को पचाने से पूर्व ही मूर्च्छित हो जाना राम का सामान्य जन के धरातल पर उतर आना है। होश में आने पर—

ममैव किन्वत्रपरिच्युतात्मनस्–त्रुटिर्यदेषा जनतास्त्यशिक्षिता।
पितु: स दोष: शिशुरत्ति यद् विषम्–भिषग् हि वाच्यो यदिव वर्धते राजा ॥[२]

यह कैसा दुर्भाग्य है, राक्षस रावण के घर रहने का दुर्भाग्य तो स्वत: प्रमाण है, पर अग्नि शुद्धि नहीं। लगता है—शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह रावण अभी भी लोगों के मन में फायड के आद्य-विम्ब काम के समान सर्वत्र सक्रिय है।

कथन्नृप्सो गृहवास दुर्भगं–स्वत: प्रमाणं न च वह्निशोधनम्।
अवैमि नष्टो वपुषाप्यनङ्गवज्जनान्तरेषु कृती स रावण: ॥[१]

दुराहे पर खड़े 'सीताचरितम्' के राम का समाज-धर्म और वैयक्तिक व्यक्तित्व के अस्तित्व के हित अनिश्चय की स्थिति का चित्र—

समाज धर्मः स्थित एकतोऽन्यतो विभाति वैयक्तिकता च मत्पुरः ।
उदस्यतामत्र लताद्रुमोऽथवा परस्पराश्लिष्टतमात्मनोर्द्वयोः ॥[४]

'रघुवंशम्' और 'उत्तररामचरितम्' से "सीताचरितम्" की सीता अधिक जीवित और अधिक आधुनिक है तभी तो स्वगृहनिष्कासन पर टिप्पणी न करते हुये भी व्यङ्ग्योक्ति कसते हुये कहती है—यदि आपका अक्षय राज्य, सुख-शान्ति के जल से शीतल है, तो उसमें तपन पैदा करने वाली मुझ जैसी तुच्छ, निन्दित नारी का क्या काम है ?

किन्तु देव ! यदि सौख्य वारिभिः शीतमस्ति तवराज्यमंक्षयम् ।
तेन मादृशं विगीतवृत्तिना जन्तुना किमिह तापकारिण ॥[५]

पुरुषत्व और पदत्व के व्यामोह में नारी के अस्तित्व और सत्ता को नकारने या भूलने वाले हर नर को यह एक सभ्य और करारा सबक है। समझौतावादिनी या चुपचाप सहन करते हुए अपने कार्य में लगी रहने वाली परम्पराओं की नारियों से कुछ भिन्न लीकें बनाती हुई सीता स्वतन्त्र और स्वाभिमानिनी नारी बनकर चली है, झुकना वह जानती नहीं। अपना कर्तव्य कर्म निर्वाह करते हुये स्वनिर्मित पथ पर आगे बढ़ी है। वह किसी पर भार बनकर एक क्षण भी रहना पसन्द नहीं करती और न किसी की बाँसुरी बने रहना ही चाहती है।

पुरुषत्व के मोह में नारी की सत्ता के अस्तित्व को नकारने वालों के लिये ऊर्मिला ललकार बनकर आई है। लोकतन्त्र के नाम पर अपनी गद्दी बचाने वालों का नारी पर कलङ्क-वर्षण अथवा लोकतन्त्र में लोक पर ध्यान न रख, केवल तन्त्र पर ही ध्यानावस्थित तथा अपना वर्चस्व, प्रभुत्व और कुर्सीत्व बनाये रखने के लिये नारी का मान-मर्दन ऊर्मिला को कथमपि स्वीकार्य नहीं। नारी की सत्ता और सम्मान बनाये रखने के लिये वह गृहस्थ धर्म से भी बगावत करने को तैयार है, पर इस पहल को वह नारी के हाथ में लेना, देना नहीं चाहती।

पुरुषः स्थितिमीदृशीं यदि प्रतिहन्तुं क्रमते स्वतस्ततः ।
अबला प्रबलत्वमीयुषी किमु न स्याज्जगतीतले ॥[६]

खासतौर से 'अहम्' के घमण्ड में आगा-पीछा न सोच, नारी के चरित्र पर नर जब कीचड़ उछालने पर उतारु हो जाये तो, उसे टकराने में कोई हिचक नहीं, झिझक नहीं। अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण मनः स्थिति में 'रुक्मणीहरणम्' की रुक्मणी भी सामान्य नारी की भाँति सन्देहों में डूबती उतराती चित्रित है।

'सीताचरितम्' के राम, सीता और ऊर्मिला जैसे पात्रों की तरह कुछ अन्य महाकाव्यों के पात्र भी जनसामान्य की तरह चित्रित हैं। उदाहरणार्थ एक छोटी सी परिचयात्मक सूची प्रस्तुत है–

डॉ० परमानन्द का 'चीरहरणम्' आधुनिक नारी समस्या पर करारा प्रहार है और 'कौन्तेयम्' अवैध-सन्तति तथा जातिवाद की पनपती विष-वल्लरी पर कुठाराघात है। छज्जूराम शास्त्री का 'परशुराम-दिग्विजयम्' बहुत कुछ अर्थों में आधुनिकता का एक आयाम है।

परम्परा में शोधन, पुनरुत्थान अथवा पुनर्मूल्याङ्कन—पुनरुत्थान अतीत को वर्तमान में उतार लाना चाहता है। उसी में कुछ सुधार कर वर्तमान के सन्दर्भ में उसकी प्रासङ्गिकता जताने के लिये उसे व्यवहार्य रूप देना चाहता है। आगे देखने की बजाय, सीधे खड़े मेंढक की तरह पीछे की ओर देखता है। हम कौन थे ? क्या हो गए ? से सबक लेता है। महात्मा गान्धी विषयक 'भारत-पारिजातम्', 'पारिजाता-

पहारः', 'पारिजातसौरभम्', 'सत्याग्रह-गीता' और 'गान्धिगौरवम्' का कथ्य, सत्य और अहिंसा का पुनरुत्थानवादी राजनैतिक रुख है। अखिलानन्द शर्मा और मेधाव्रत के "दयानन्ददिग्विजयम्" परम्परा में शोधन और पुनरुत्थान के साथ-साथ पुनर्मूल्याङ्कन की प्रवृत्ति को, सुधारवादिता और इतिवृत्तता के परिप्रेक्ष्य में पनपने में अग्रसर हैं। "नेहरु यशः सौरभम्" में बलभद्रप्रसाद गोस्वामी ने त्रिसूत्र का पुनर्मूल्याङ्कन कर उस त्रिसूत्र रूप यज्ञोपवीत की वर्तमान में प्रासङ्गिकता, उपादेयता को स्पृहणीय रूप में प्रस्तुत किया है।

गिने-चुने लोगों में ही यज्ञोपवीत धारण करना आज एक परम्परा का निर्वाह मात्र रह गया है। उद्देश्य शायद ही किसी को ज्ञात हो फिर क्रियात्मक रूपता का प्रश्न ही क्या ? या देश-विभाजन के समय हुए नर-संहार के कारण पाकिस्तान से आए हुए बन्धुओं को हिन्दुत्व का सूचक-त्रिसूत्र-व्यवहार्य हो गया था। आज जब पुरातन ऋणत्रय बीती बात बनकर रह गये हैं, तब नेहरु जैसे भावी जन नायक को हिन्दुत्व मात्र तक सीमित चिह्न क्योंकर स्वीकार्य होता—पर यज्ञोपवीत संस्कार में बालक नेहरू ने—जन्म-भूमि, जनजीवन तथा भारतीय जाति के समुद्धार की प्रतिज्ञा का प्रतीक त्रिधा-निबद्ध नवयज्ञ सूत्र-यज्ञोपवीत–सहर्ष धारण किया।

स्वजन्मभूमेर्जन जीवनस्य, जातेः समुद्धार कृत प्रतीकम्।
दधार संस्कार महोत्सवेऽसौ त्रिधा निबद्धं नव यज्ञसूत्रम्॥

अखिलानन्द शर्मा ने १० = २४, १० = २७ में श्राद्ध की युगानुकुल व्याख्या देकर आज के युग में श्राद्ध-विधि के प्रति ललक पैदा की। सांस्कृतिक-चिन्तकों के चरितों पर आधारित समस्त महाकाव्य शोधन, पुनरुत्थान और पुनर् मूल्याङ्कन प्रवृत्ति के पोषक बन कर आए हैं।

नारी स्वतन्त्र बनती अस्मिता—

आधुनिक संस्कृत के महाकाव्यों में नारी अपनी अस्मिता बनाने में सफल रही है। सीता, सावित्री, रुक्मिणी जैसे प्रमुख पात्र अपने अस्तित्व के प्रति सजग हैं। वे किसी की हाथ की कठपुतली बने रहना पसन्द नहीं करतीं। "कुछ सत्ता है नारी की" कभी नहीं भूल पातीं। नारियों को स्त्री होने के कारण संसार भर शङ्का की दृष्टि से देखता और बदनामी करता है, करे, पर लोकनायक के विवेक का दीपक तो उनके लिए नहीं बुझता।

आर्य ! यद्यपि मनस्विजनः स्त्रीति विश्ववचनीयतास्पदम्।
लोकनायक विवेक दीपकस्तत्कृते न परिहीयते परम्॥

दूसरे वश्यमानस महात्माओं को परतः प्रमाण नहीं हुआ करता।

आर्य ! यद्यपि शुचित्वमात्मनः सेद्धुमर्हति न साक्षिणं विना।
किन्तु वश्यमनसां महात्मनां वर्त्मगे न परतः प्रमाणिता॥

दूसरी ओर ऊर्मिला जैसी उपेक्षिताओं को, कैकेयी जैसी लाञ्छिताओं की बीसवीं शताब्दी के महाकाव्यों में अपनी कहने का ही नहीं, अपितु समाज की विरोध के लिए विरोधिता का प्रतिरोध करने का और स्वत्व को छीनने के लिए बढ़े हाथ को रोकने और आवश्यकता पड़ने पर काटने, अस्तित्व नकारने वाले मालिन्य को मेटने तथा कुर्सी के लिये किये गये राजनैतिक वाक्छल को नंगा करने का पूरा-पूरा अवसर दिया है। ऊर्मिला में व्यष्टि की सत्ता के लिये अकुलाहट है, छटपटाहट है पर ध्वंस कहीं नहीं, सर्वत्र विवेकिता का साम्राज्य है "मानव व्यक्तित्व को उपेक्षित, निरर्थक, नगण्य सिद्ध करने वाली, किसी दैवी-शक्ति या राजनैतिक सत्ता के आगे न झुकने वाला, मनुष्य की अन्तरङ्ग वृत्ति के प्रति आस्थावान्, प्रत्येक व्यक्ति के स्वाभिमान के प्रतिसजग, दृढ एवं संगठित अन्तःकरण संयुक्त सक्रिय किन्तु अपीडक, सत्यनिष्ठ तथा विवेकशील" व्यक्तित्व झलकता है और थोपी हुई व्यवस्था से मुक्ति का मन्त्र काम्य हो चला है।

वैयक्तिकता और सामाजिकता का समन्वय (व्यक्तित्ववाद पर चोट)—व्यष्टि और समष्टि के बीच भेद की दीवारें टूट रहीं हैं। व्यष्टि समष्टि की ओर उन्मुख है। जिन्हें समाज नीच कहता है पर वे भी तो हैं प्राणी, भले ही उनके पास सवर्णों जैसी न हो वाणी। इसी लघुता को आज काव्य में स्थान मिलने लगा है। लघुत्व उभर रहा है, सामूहिकत्व पनप रहा है, इसका एक परिणाम तो यह सामने है कि व्यष्टि समष्टि एक साथ मिलकर सामूहिक नेतृत्व के—नायक विहीन काव्य—अपनी सत्ता बनाने लगे हैं और पुरानी लीक से हटे-हटे से लगने लगे हैं। 'जनविजयम्' महाकाव्य इस दृष्टि से उत्तम उदाहरण है। व्यक्ति प्रधान नेतृत्व की अपेक्षा सामूहिक नेतृत्व की ओर झुकाव का एक कारण यह भी है कि व्यक्ति प्रधान नेतृत्व अधिनायकत्व की ओर झुकने लगता है, व्यक्ति-पूजा को बढ़ावा देता है जिससे बाद में नेतृत्व संभालने वाले उत्तराधिकारी कुछ अपरिपक्व रह जाते हैं तथा सकार की जगह नकार की राजनीति उभरने लगती है। 'जनविजयम्' के कवि ने सामूहिक नेतृत्व को सराहा है वहीं सामूहिकत्व में उभरते—घटकवाद को आड़े हाथों लिया है। आज के कवि का जितना मन की छान-बीन पर ध्यान है, तन की आवश्यकता का भी उसकी दृष्टि में उतना ही मान है। निरी आध्यात्मिकता से उसे कोई लगाव नहीं, पर शान्तनु सम, तन्वङ्गी, लचीली, नशीली मत्स्यगन्धा के समान भौतिकता के पीछे अन्धा नहीं। मध्यम-मार्ग पर चलता हुआ बेलेन्स को बिगाड़े बिना आज का महाकाव्य कदम-कदम आगे बढ़ रहा है।

सुरक्षा हेतु सामूहिकत्व का सम्पर्क आज अपरिहार्य हो गया है। अलग रहकर व्यक्ति टकराव और संघर्ष को तो बचा जायेगा पर उसका स्वयं 'स्व' कहीं खो सा जायेगा या कुछ नहीं रह जायेगा। अतः व्यष्टि और समष्टि की समन्वयवादी दृष्टि मधुपर्क सम उभय पक्षों के लिये कल्याण की सम्भावनाओं को लिये हुये हैं।

यथार्थ के प्रति ललक—

गली, कूचे, गाँव, बाजार, राजनीति आदि सभी जगह से शब्द चुनता हुआ, तरह-तरह के शब्दों के लिबास में रहता हुआ भी आज का कवि कभी-कभी निर्वसन होने में सहज सुख का अनुभव करता है। अनेक प्रकार के आदर्शों से हटकर दुनियादारी के बन्धनों में बंधी अपनी वाणी को, अन्तश्चेतना को, निर्वसन–नंगा–देखना चाहता है जिससे उसे मन ही मन अनिर्वचनीय सा सन्तोष-सुख मिलता है। 'जनविजयम्' महाकाव्य अभिव्यक्ति और कथ्य की दृष्टि से यथार्थ के नतोन्नत धरातल पर टिका है। प्रासादों की रंगीन सन्ध्याओं में कवि घूम आया है, रईसों के चोचलों को कवि देख आया है तो शान्त-कुटीरों में कवि रह आया है। सफल नेतृत्व के साथ व्यग्र मस्तिष्क और मानस शुचि शुभ नेताओं की कथनी और करनी के अन्तर को कवि ने देखा है, परखा है, सहा है। जीवन के हरे-भरे उद्यानों के निकट अयाचित भयावह गर्त भी झांके हैं, जीवन के उजले पक्ष तथा राजनीति के गन्दे और अन्धेरे गलियारों और—

निन्दा-घृणा-संशय-भीति-लोभ-प्रवञ्चना-स्वार्थ हठ प्रयोगा।
कुचक्र-चक्र-स्खलन-प्रमाता-गतोत्पथा कुत्सित राजनीति ॥[७]

का जो रूप, जैसा देखा है, अनुभव किया है उसे नंगे रूप में खुलकर कहा है।

आज के इतिहास का यह—

उत्पादनं यः कुरुते, न सैव भोक्तुं कदाचिल्लभते किमेतत्।
अन्य श्रमेणर्जित-पुञ्जिकां यो विनियोज्य शेते, सहिभोगमेति ॥
मृदिष्टिका-प्रस्तर-लोह-खण्डैः संघृष्य देहं नव वास्तुरूपम्।
निर्मान्ति येते श्रमिका वराकाः पदं न दातुं प्रभवन्ति तत्र ॥

शरीर-हृद्-बुद्धि-समष्टि निष्ठ श्रमस्य ददाति कोऽत्र।
दत्तेन तेनोदर पूर्ति रेव प्रच्छादनं वा वपुषोऽपि तु स्यात्॥[८]

कटु सत्य रहा हैं। एक ओर अपार धनराशि, जहाँ वानानुकूलित अतिथि-गेहों (गेस्ट हाऊसों) में सुरा और सुन्दरी में डुबकी खाये हुये रईस, इत्र फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं, वहीं दूसरी और झुग्गी झोंपड़ी में माँ की हड्डी से चिपक-चिपक जाड़े की रात बितायी जाती है, ऐसा वैषम्य क्यों? यदि धन का समभाग-विभाजन हो जाये तो राष्ट्र में मची भ्रष्टाचार की जय-जय, भाई भतीजेवाद की दुन्दभि और आपाधापी की आई-आई स्वयं शान्त हो जाये।

अपारमेषां द्रविणं दरिद्रता दुनोति तेषां हृदय दिवानिशम्।
मनुष्यता नो मनुजेषु भिद्यते तथापि वैषम्यमिदं कुतस्तनम्॥
जनेषु कस्मान्न विभज्यते समं समानरूपेण समीहितं वसु।
न कस्य चिद् यत्सहजं समीक्ष्यते न कोऽपि तत्राधिकृतो विशेषभाक्॥[९]

आज जग पीडित है अधिक सुख से, और पीड़ित अधिक दुःख से। जब तक सम-भाग न होगा धन का, तब तक वैषम्य कभी भी कम न होगा। ऐसे ही पुरुष अनेक व्याह रचा ले, एक की चिता ठण्डी न हो, दूसरी को अंकशायिनी बना ले, पर वैधव्य की मारी नारी मन से भी पर पुरुष का स्पर्श न करे और मेंहदी रचे हाथ वैधव्य का असह्य दुःख झलते रहे [रुक्मिणीहरणम् ११=८६, ९०] कवि को पुरुष की इस व्यवस्था पर झुंझलाहट है पर निराशा नहीं, तार्किक चेतना है, यथार्थ के प्रति एक आग्रह है, जो आधुनिक होने के स्वयं में आयाम हैं।

प्रश्नाकुलता—प्रश्न जिज्ञासा-भाव को जगाता है, तो सन्देह मन को उद्वेलित कर ज्ञान-क्षेत्र में अग्रसर करता है। इसीलिए—"उदयतामत्र लता द्रुमोऽथवा" [सीताचरितम् २.३५] में स्वयं से प्रश्न करते-करते सीताचरितम् के राम निश्चय बुद्धि हो प्राणसमा सीता-लता को छोड़ने को उद्यत हो गये और सीता का प्रश्नवाचक सुझाव नेतृत्व का मुँह बन्द करने तथा कुर्सी की रक्षा के हित कितनी ही कलियों के कुचल जाने को बुरा न मानने वालों को खुला चेलेञ्ज है। "जनविजयम्" का कवि जनता के पीड़िकों से, आश्वासन-दान-दक्षों से प्रश्नों की झड़ी लगा देता है—

कियच्चिरं वेत्स्यथ मूढक मां? कियच्चिरं लुण्थ मे मतानि।
भाग्येन खेला कियच्चिरं मे? कियच्चिरं ब्रूत विशेषणं च॥[१०]

प्रश्नों की बौछार करते-करते आज की प्रमुख समस्या नारी अपहरण और बलात्कार को उठाकर व्यग्र मानस शुचि शुभ्र वेशों से कवि पूछ वठता है—

कियच्चिरं राजपथेऽबलानां शठैरभीतैः क्रियतेऽभिमर्शः।
कथं बलात्कार हृती च तासां न वा विधतो बत रोम कूपम्॥[११]

समाचार पत्रों में रोज उछलती खबरों, राष्ट्र की कलङ्कभूत ज्वलन्त समस्या दहेज की मांग पूरी न होने के कारण रोज-रोज मरने वाली अनागिन ललनाओं की ओर से कान में तेल डालकर सोयी हुई सरकार से कवि पूछता है—

कियच्चिरं यौतुक लुब्धकैः हा! बध्वा बधः ताडनदाहने च।
कियच्चिरं लोकमनः प्रतीतिः कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्॥[१२]

दूसरे के धन पर, चरित्र पर, वचन पर सन्देह-दृष्टि रखना मानव समाज की एक प्रवृत्ति है पर उसी सन्देह-दृष्टि प्रवृत्ति का सन्धान जब सन्देह-दृष्टि व्यक्ति पर किया जाता है, तब वह सन्देह-दृष्टि

व्यक्ति अकुला उठता है, तड़प उठता है। अपनी छोटी सी पुष्टि के लिये बड़े से बड़े चरित्र पर लाञ्छन लगाना उसके लिये सामान्य सी बात है। 'सीताचरितम्' का कथ्य ही सामान्य से जन की सन्देह-दृष्टि और अपने पक्ष की पुष्टि का परिणाम है।

राष्ट्रिय-चेतना—रागात्मक, विचारात्मक और क्रियात्मक त्रिविध राष्ट्रिय-चेतना की प्रवृत्ति का उच्चतम निखार संस्कृत महाकाव्यों में अपने सौम्य रूप में चरम शिखर पर है। सांस्कृतिक-चिन्तकों के स्वर में भूखण्ड एवं उसकी प्राकृतिक सुषमा और सांस्कृतिक-गरिमा, जाति, धर्म, इतिहास, परम्परा भाषा और साहित्य आदि के प्रति रागात्मिका वृत्ति, राजनैतिक विचारधारा एवं आर्थिक नीतिमयी जीवन-दृष्टि युक्त विचारात्मक वृत्ति अपने यौवन पर है, वहाँ विवेकानन्द, गाँधी, नेहरू, लालबहादुर शास्त्री और इन्दिरा जैसे व्यक्तित्वों के रागात्मक, विचारात्मक एव क्रियात्मक राष्ट्रिय चेतना के स्वर का सूर्य—"क्रियात्मकं जीवनमेव मङ्गलम्" मध्य आकाश तक स्वतन्त्र विचरण करता हुआ देश-विदेश की सीमाओं को आलोकित करता नजर आता है।

कहीं भारत के अतीत गौरव का ज्ञान है, तो कहीं भारत की प्राकृतिक सुषमा और सांस्कृतिक गरिमा में अनजान क्षितिजों को रमा लेने वाला सहारा है। 'स्वराज्यविजयम्' 'दयानन्ददिग्विजयम्' 'रामानन्ददिग्विजयः' आदि महाकाव्यों में ये रूप खूब निखरे हैं। 'विवेकानन्दचरितम्' 'सत्याग्रहगीता' और शङ्करजीवनाख्यानम्' में देशीपन, सामयिक-विचार और कुछ कर गुजरने की अहिंसात्मक क्षमता का उभरता चित्र है।

"चरित्र गीतिर्नवराष्ट्रचेतना प्रसूतिः" यथातथ्य क्रियात्मक राष्ट्र नायकों के चरित्रों के गायन से राष्ट्रिय-चेतना में नया मोड़ आ गया है। चरित्रों का गान करते-करते गायक स्वयं अनजाने चरित-नायक के पद-चिह्नों का अनुगामी हो जाता है, जिससे गायकों की दृष्टि भी राष्ट्रियता के संकुचित (तंग) दायरों को तोड़ विश्वबन्धुत्वमयी अन्ता राष्ट्रियता की ओर बढ़ने लगती है। 'नेहरू यशः सौरभम्" 'नेहरू चरितम्' 'इन्दिरागाँधी चरितम्' राष्ट्रिय-चेतना के क्रियात्मक रूप हैं।

गाँधी विषयक महाकाव्यों में किसी से न टकराते हुये जन मानस में विश्व बन्धुत्व की चाह पैदा करने की ललक है। त्र्यम्बक शर्मा भण्डारकर, श्रीधर भास्कर वर्णेकर, डॉ० सत्यव्रतं, द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, डॉ० परमानन्द शर्मा, वलभद्र प्रसाद गोस्वामी, क्षमाराव, ब्रह्मानन्द शुक्ल, भगवदाचार्य, रेवा प्रसाद द्विवेदी, पं० लक्ष्मी नारायण शर्मा, मेधाव्रत प्रभृति के महाकाव्यों में राष्ट्रिय-चेतना का स्वर काव्यों के आरम्भ से लेकर अन्त तक तीव्र से तीव्रतर होता चला है। त्र्यम्बक शर्मा–भण्डारकर का आह्वान गीत हर युवक को आगे बढ़ने के लिये कदम मिलाकर एक साथ चलने के लिये खुला निमन्त्रण है। ब्रह्मानन्द शुक्ल की राष्ट्रिय-चेतना अन्तर्राष्ट्रिय चेतना की विश्वधारा से जा मिली है। अर्थ नीतियों पर काव्यात्मक शैली में डॉ० सत्यव्रत और डॉ० परमानन्द के महाकाव्यों में चित्रण स्पष्ट है और प्रजातन्त्र में प्रजा—स्व—तन्त्र के अधिपत्य के जमाव का निःशुल्क प्रदर्शन है। 'चीरहरणम्' राष्ट्र के समक्ष मुँह खोले खड़ी नारी समस्या और 'कौन्तेयम्' अवैध सन्तति और जातिवाद की समस्या को उठाये हुये राष्ट्रिय-चेतना को झकझोर रहा है।

आधुनिक संस्कृत महाकाव्यों का प्राचीन महाकाव्यों की प्रवृत्तियों से भिन्न पथ है जैसे सामयिक घटना क्रम और देसीपन को लिए राजनैतिक चेतना के प्रति जागरुकता के प्रति संवेदनशील रहना आज के काव्यों का अविभाज्य अंग हो रहा है—जनतन्त्र जनतन्त्र न रहकर जन का ही तन्त्र बनकर रह गया और तन्त्र के जन का शब्द ही विधि (कानून और भाग्य) बन गया तथा वह विधि भी सत्ता बुभुक्षु की सुविधा बनकर रह गया।

सत्ता भोक्तुमिच्छु का वाक्य ही कार्य जगत् में आप्त वाक्य बनकर आ गया।
बूढ़े बड़े माननीयों का मान उसके आगे नतमस्तक सा हो गया या ढह गया॥
निर्मुक्त स्वच्छन्द सत्ता बुभुक्षुका अयाचित तथाकथित शुभ संगम—
मनीषियों को बिना कारा के ही कारा सा बनकर रह गया॥
शब्दो विधिर्विधिरभूत्सुविधा च तस्य, सर्वत्र चास्य वचनं परमाप्तवाक्यम्।
मानं च वृद्धमहसामपि संचकार, कारायते सुधियाँ शुभ संगमोऽस्य॥[13]

उगते सूर्य को नमस्कार करने की लालसा और पदोन्नति की कामना करने वाले झूठे प्रशंसक अधिकारी भोर होते ही आकर घर के चारों ओर मंडराने लगते क्योंकि न जाने स्वयंभू भगवान् के हित कब, कहाँ, क्या करना पड़ जाय। डरे-डरे से, सहमे सहमे से धन के भूखे भेडियों को अपने इर्द-गिर्द देख स्वयं को युवराज समझने की भूल कौन नहीं कर बैठता—

प्रातर्गृहे तमधिकारिणः सिषेवे, शुश्रूषया स्व च कदा च ननु किं विधेयम्।
आज्ञाकरा उपगता प्रणता सभेयाः तस्या दधुः मनसि किं युवराज भावम्॥[14]

अतीत जीवी न होकर नदी के समान आज का स्मृति रूप भूत और आज के सपने स्वरूप भविष्य की छाया से दूर, जो अपना है, उस वर्तमान में समग्रता से जीना और श्रृङ्गार भावना के ह्रास को दैनन्दिन अधिकाधिक स्थान दिया जाना बढ़ रहा है। श्रृङ्गार-भावना का ह्रास तो एक प्रबल प्रवृत्ति के रूप में उभर रहा है। प्रत्येक महाकाव्यकार मानो आँखों को गङ्गाजल से धोकर लेखनी उठाता है। दूसरे आज का संस्कृत काव्य मनोविनोद मात्र नहीं रह गया है और न किसी को खुश करने के लिए ही रचा जा रहा है। आज काव्य का रुझान एकाङ्गी न रहकर बहुमुखी हो गया है क्योंकि जीवन का लक्ष्य बहुमुखी हो गया है। डेढ़, दो दर्जन महाकाव्यों को उलट-पलट कर देखा परन्तु "रुक्मिणीहरणम्" की संयत श्रृङ्गार-सलिला के अतिरिक्त सर्वत्र श्रृङ्गारिकता मुँह छिपाये मिली।

आ—अभिव्यक्ति की दृष्टि से—

आधुनिक—काल में भावों के साथ रचना-विधान में भी यथाशक्य परिवर्तन हुआ है। वस्तु संगठन, काव्य रूप, भाषा—प्रयोग, बिम्ब—विधान, नूतन उपमान और प्रतीकों पर आधुनिकता की छाप परिलक्षित है पर यह कहीं नहीं कि—नूतनता की झोंक में, उचित अनुचित का विचार किये बिना पुरातन को एकदम बिसरा दिया हो। घटना की जगह, घटना-प्रभाव अथवा व्यक्ति के चरित्र को महत्ता मिलने लगी है। भाषण शैली और आत्म निवेदन शैली में अथवा समाधिस्थ मनसा अपने मन के तीव्र आक्रोश को निकालना, सत्ता पर करारी चोट करना पत्र प्रणाली और सम्प्रेषणीयतामय सन्देश काव्यात्मक अभिव्यक्ति का रूप बन चला है।

सरलीकरण के प्रति पक्षपात, भाषा और साहित्य को कूप-जल से निकाल कर बहता नीर बनाना, जन जनतक प्रचार और प्रसार करना तथा व्याख्या अनपेक्ष्य रचना करना, आधुनिक कवियों को प्रिय हो चला है। लोक-प्रचलित मुहावरों का संस्कृतीकरण कहीं- कहीं तो मूल से भी आगे बढ़ गया है। जैसे दीवान के लिये—धिया मानं यस्य सः=धीमानः, वसूल—वसु=धनं, उना=आदेशेन, कोपेन वा, लीयते=गृह्यते, यत्र तत्=वसूलम्, कुर्सी जैसे शब्दों का नूतनोद् भव, चमचागिरि जैसे जन प्रचलित शब्दों का असल रूप में प्रयोगकर "गान्धिगौरवम्" और "जनविजयम्" आदि महाकाव्यों ने भाषा को समृद्ध से समृद्धतर बनाने में योग दिया है और भाषा को बहता नीर बनाने का सुष्ठु प्रयास किया है। 'नेहरु यशः सौरभम्' में भाषा का प्रशासनिक स्वर है और 'स्वराज्य विजयम्' में सरल भाषा का, प्रयोग है। 'इन्दिरा गान्धी चरितम्' में सीधी, सरल, अप्रसाधित राह की राहगीर प्रयोगवादी भाषा है। 'विवेकानन्दचरितम्' में भाव और भाषा में देशभक्ति का स्वर है, छन्दों का अजायबघर है, देश भक्तों के लिये, आह्वान गीत

के रूप में साफल्य-मोक्ष का खुला द्वार है, युग धर्म—स्वदेश प्रेम का क्रियात्मक प्रचार है और कर्म क्षेत्र भारत के गौरव की रक्षा की सिद्धि का द्वार है। 'जनविजयम्' में हृदय-स्पर्शिता और दो टूक बात करने वाली स्पष्टवादिता है, फिर भी —भाषा सरल और सुबोध होते हुये भी, जीती-जागती समर्थ संस्कृत उभरकर आई है परन्तु नेहरूचरितम् की भाषा, पश्चिमा कृति होने के कारण, प्रसाद गुण सम्पन्न, प्राञ्जल एवं परिष्कृत है। काव्य में इतिहास और कल्पना का मणि-काञ्चन संयोग है अतएव भाषा में लालित्य का आ जाना नितान्त नैसर्गिक है।

अनेक नये उपमानों और प्रतीकों का प्रयोग भी आधुनिक महाकाव्यों में खुलकर हुआ है। षड्यन्त्रकारी विषैले, कुत्सित राजनीतिज्ञों के लिये कुछ सर्प का प्रयोग कितना व्यवहार्य है? पारिजात सौरभम्, पारिजातापहारः, और भारत पारिजातम् (तीनों गान्धीचरित) में भाषण शैली और आत्म-निवेदन शैली पर साधुत्व और संन्यासित्व की छाप एकदम स्पष्ट है और समाधिस्थ मनसा मन की घुटन, कुहासा और आक्रोश के निकालने का ढग—'जनविजयम्' में अपने प्रखर रूप में उजागर है। पत्र और सन्देश शैली का स्वर शिवराज्योदयम्' में मुखर है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संस्कृत के आधुनिक महाकाव्यों में अनेक ऐसी प्रवृत्तियाँ उभर कर समाने आई हैं जिन्हें काल-सापेक्ष और विचार-सापेक्ष दोनों ही दृष्टियों से आधुनिक कहा जा सकता है। जन-सामान्य को अधिक से अधिक महत्त्व देने की बात आज की प्रजातान्त्रिक और समाजवादी जीवन-पद्धतियों के सर्वथा अनुकूल है, जिसका संस्कृत के आधुनिक महाकाव्यों में यथार्थ रूप में चित्रण हुआ है।

'जनविजयम्' 'चीरहरणम्' और 'कौन्तेयम्' प्रभृति कुछ इनी गिनी रचनाओं को छोड़कर इन महाकाव्यों में साहित्य के बदलते प्रतिमानों और आज के ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव वैसी द्रुतगति से परिलक्षित नहीं हो रहा है, जिस द्रुत-गति से अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओ के—काव्य में तुरत झलक जाता है, शायद इसके पीछे वर्तमान चकाचौंध से दूर रहते हुए अपनी साधु-वृत्ति के सहारे चलने की प्रवृत्ति संस्कृतज्ञों की मनस्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं होने दे पा रही हों अथवा आगा-पीछा देखते हुये बहाव में व्यर्थ उखड़ने की अपेक्षा कुछ ठहराव की प्रवृत्ति काम कर रही हो वर्तमान में बदलते प्रतिमा को बौने, वांस का नहन्ना से अधिक न मानने का 'अहम्' आड़े आ रहा हो और यह भी सम्भव है कि साधन और सुविधा की कमी में अपरिचय की मजबूरी, बदलते प्रतिमानों को पचाने, पनपाने में दूरी बनाये हुये हो।

सन्दर्भ-संकेत—

१. डॉ० श्रीधर भास्कर वर्णेकर, शिवराज्योदयम्, सर्ग ५ श्लोक सं० ३८.
२- रेवाप्रसाद द्विवेदी सीता चरितम् ।२।२६। ३. वही २—२७ ।
४. सीताचरितम्—२-३५ ।। ५. वही ३—८ ।। ६.—४-५७ ।
७. जनविजयम्—७—१६ । ८. जनविजयम्—१.७१, ७२, ७३ ।
९. रुक्मिणीहरणम्—११=८७, ८८ । १०. जनविजयम्—१५—४ ।
११. जनविजयम्—१५-१३ । १२. जनविजयम्—१५-१४ ।
१३. जनविजयम् ८-४३।। १४. जनविजयम् ८-४४ ।

———

अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
देवनागरी कालिज
गुलावठी, बुलन्दशहर।

□ डॉ० सुभाषो वेदालङ्कारः

राजस्थान-प्रदेशे नवीनं संस्कृत-साहित्यम्

आदिकवेर्वाल्मीकेरारभ्य संस्कृत-साहित्य-निर्माणस्य या परम्परा चिरात् प्रवर्तिता आ अद्यावधि चापि सततं प्रवर्तते समस्तेऽपि भारतवर्षे। मध्यकाले तावत् साहित्य-मन्दाकिनी मन्दप्रवाहाजायत न चासौ विच्छिन्ना। आंग्लशासनेऽपिप्रभूतं संस्कृत-साहित्यमलेखि विद्वत्तल्लजैः कविवरेण्यैश्च। शतशः रचनाः प्रकाशमुपगताः नैकाश्च विलुप्ताः।

स्वतन्त्रभारते नवीन-संस्कृत-साहित्य-सर्जने महती प्रवृत्तिः परिलक्ष्यते। राजस्थान-प्रदेशोऽपि तत्र पृष्ठगामी नास्ति। समभूवन्नत्रापि बहवः कविपुङ्गवाः कोविदप्रवराश्च यैः स्वलेखनीभिः सुललितानि कमनीयानि काव्यानि विलिखितानि।

संस्कृत-साहित्य-निर्माणप्रसङ्गे दृश्यश्रव्यभेदयोः सर्वविधासु सर्वासु च शैलीषु गुम्फितानि गद्य-काव्यानि, पद्यकाव्यानि, नाटकानि कथाश्च विबुधकुलदिनकराणां विविध-शास्त्रपारङ्गतानां पंडितानां कवन कलां वैदुष्यञ्च प्रदर्शयामासुः। गीतिकाव्यानि, मुक्तककाव्यानि, नवीनशैल्याः संस्कृतकविताः, संस्कृत गीतानि, गज्जलिकाश्च सर्वतः सम्मानं लभन्ते।

नवसाहित्यप्रचारे प्रसारे च लग्नाः संस्कृत-कल्याणी, संस्कृत-भारती, संस्कृत-रत्नाकरः, स्वर-मङ्गलाः प्रभृतयः पत्रिका अपि सततं प्रकाशमुपगताः।

प्रातः स्मरणीया सर्वविद्यानिधयः भट्टमथुरानाथशास्त्रिणः, राजस्थानस्य कविषु प्रधानं स्थानं दधति। तैः खलु नैककृतिषु नैकशैलीषु अभिनवसंस्कृतसाहित्यस्य परम्परा प्रचालिता। संस्कृत-छन्दोभिः सह हिन्दी-भाषायाः सोरठ-दोहा—घनाक्षरीप्रभृतीनां छन्दसामपि प्रचुरप्रयोगस्तैरकारि। तेषु च संस्कृत-छन्दस्सु, सततं सुरुचिपूर्णं साहित्यं तेषां कल्पनया प्रसूतम्। नैतावदेव अपितु संस्कृत-वाङ्मये नूतनकाव्य सरणि-निर्माणे उर्दूभाषाया अपि छन्दांसि तैरङ्गीकृतानि। उर्दू-गज्जलिकायाः स्वरे सरण्याञ्च शतशः पद्यानि कविताश्च तेऽलिखन्। राजस्थाने संस्कृत-गीति-प्रवर्तका अपि त एव सन्ति।

'जयपुर-वैभवम्' नाम्ना विख्यातं तेषां सरसं काव्यं जयपुरगौरवं तदितिवृत्तञ्च प्रस्तौति। 'गोविन्द वैभवं', नाम गीतिकाव्यं गीता-प्रेस-गोरखपुरेण प्रकाशितं, यत्र कविः नैकरूपेषु कृष्णस्तुतिञ्चकार। कृष्णस्य रूपमाधुर्यं, वेणुवादनम्, भवसागरतारणसामर्थ्यं, प्रभृति विषयेषु कवेः कविता विलासो दर्शनीयो ननु। अस्मिन् काव्ये बहुशः व्रजभाषाछन्दांसि प्रयुक्तानि, घनाक्षरी-छन्दसि श्रीकृष्णस्वरूपमेवं चित्रितं खलु—

यमुना वरचारी विपिनविहारी सुरसुखकारी दृशममताम्।
वृन्दावनवासी वेणुविलासी सुकृतविकासी संन्नमताम्॥

मङ्गलाचरणं सोरठाछन्दसि विराजते—

मन्दीभवदरविन्दमिन्दीवर-वन्दीकृतम्।
वन्देमहि गोविन्द-चरण मन्दीकृतम्॥

'उद्यान-वीथ्याम्' गलतातीर्थस्य वर्णनं रम्ये सवैय्याछन्दसि कवेः नैपुण्यं प्रकटयति—

परितो गिरिराजिरुदञ्चयते परितोषमिमं मरुता चलता ।
नवनीपसमिद्धसुगन्धवशाऽध्यवनी बहुभाति विरूढलता ॥
अयि मञ्जुलनाथ विभाति मनाक् सरसीकृतसीकरशीतलता ।
गिरिगह्वर गोमुखतो गलतां सलिले सुखं कुरुते गलता ॥

गद्य-साहित्यप्रसङ्गे "आदर्श-रमणी" इत्याख्य उपन्यासः प्रशंसनीयो ननु । श्रीमतां भट्टमहोदयानां लेखनव्यसनमासीत्, अतः शतशो विषयेषु तेषां कथाः, निबन्धाः, यात्रावृत्तानि, विविध-गोष्ठी-वस्तु-वृत्तानि च मञ्जुलभाषायां प्रकाशितानि ।

कोविदवर्मा सूर्यनारायण-शास्त्रिणः "श्रीकृष्णदूतम्" नामकं दूतकाव्यं विलिख्य "उद्योग-लहरी" इति काव्यं चक्रुः । उद्योग-महिमानं प्रदर्शयन् कविः भणति, काव्यरचनापि उद्योगं विना न संभवति । तथा च--

अनेक-प्राग्जन्मार्जित-विविध-पुण्योर्जितया
महाशक्त्या तद्वत् सुकविकृत-सत्काव्यपठनात् ।
अमन्दायोगाद्वा विविध-रुचि-लोकानुभवतः
विरच्यं सत्काव्यं भवति किमु नोद्योगविषयः ॥

को नाम जनिमान् पुमान्न वेद स्वनामधन्यानां जयपुरस्थ-महाराज-संस्कृत-महाविद्यलयस्य भूतपूर्वाचार्याणां श्रीमतां गिरिधरशर्माचतुर्वेदि महाभागनां नाम कीर्तिञ्च । सर्वशास्त्रपारङ्गतेन तेन महा-विदुषा गद्य-पद्य-रथाः नैकरचनाः संस्कृतवाचिगुम्फिताः । तस्य "पुराण-परिजातः" 'प्रमेय-परिजातश्च' चेति कृतिद्वयं सर्वत्र विश्रुतम् । 'गिरिधर-सप्तशती' रुचिरा-प्रसादमयी च गाथा रचना वरीवर्ति । विद्या-सम्पन्नो ननुः गर्वशून्यो भवेदित्युपदिशन् कविः लिलेख यत्—

बहुविद्यागुणगणजो गर्वो धार्मो न सज्जनैः किञ्चित् ।
बहुविद्यागुणमण्डितविद्वद्भिर्नहि वसुन्धरा शून्या ॥

बीकानेर वास्तव्यानाँ विद्वत्प्रवराणां विद्याधरशास्त्रिणां प्रसादगुणालङ्कृता, सरला, सरसा हृद्या सशक्ता शैली तु कस्य न वन्द्या । तेन पंडितकविना "हरनामामृतम्" "विश्वमानवीयम्" चेति महा-काव्यद्वयी कृता । "शिव-स्तुतिः', 'सूर्य-स्तुतिः', 'लीलालहरी' 'विद्याधरनीतिरत्नम्' 'मतिलहरी', आनन्द-मन्दाकिनी, 'विचार लहरी' चेत्यादीनि लघुकाव्यानि लिखितानि । कवेः शैल्याः रुचिकरं मञ्जुलरूपं सर्वत्र प्रस्फुरं प्रतिभाति । हरनामामृतकाव्ये मरुभूमिवर्णने कविः ब्रूते—

ते तुन्दिलाः स्वादुरसाः कलिङ्गाः सा शारदी चञ्चलचन्द्रिका च ।
स्फूर्ति स्फुरन्ती स्फुरगावलीषु क्रमेलकानां गतयश्च तास्ताः ॥
प्रशंसितोऽयं चरकेश्वरेण शरीरविज्ञानविचक्षणेन ।
स्नेहार्द्रभावैकरत्नैर्विशिष्टः शुष्कोऽपिनित्यं सरसः सदेथः ॥
न निन्दनीयो न च शङ्कनीयः मरुप्रदेशोऽकरभूमिरेव ।
यः पांसुलोऽपि प्रयतैश्चरित्रैरपांसुलानां धुरिकीर्तनीयः ॥

कवेः शैलीविलासः दर्शनीयो नन्वत्र—

चिन्तितं साधयेद् धीमान् उद्यमैः कार्यसाधकैः ।
यत् भाव्यं तद् भवत्येव तत्र चिन्ता तु कीदृशी ॥

विद्वत्तल्लजस्यास्य पद्येषु विश्वबन्धुत्वभावनासमलङ्कृतानि पद्यानि गीतानि द्रष्टव्यानि भवन्ति—

न को देशः स्वदेशो नो बान्धवा न च के भवे ।
मर्त्या एव वयं सर्वे मातास्माकञ्च भूरियम् ।।
अपरं मन्यसे त्वं न परः स परः सखा ।
प्रेमार्द्रा यदि दृष्टिस्ते सर्वं प्रेममयं जगत् ।।

जयपुरनगरवास्तव्यः श्रीहरिशास्त्रि,-महोदयो नैककाव्यैः रचनाभिश्च जनहृदयाह्लादनं विबुधजन रञ्जनञ्च चकार । भक्ति प्रधानकाव्यलेखकेषु तस्य विशिष्टं स्थान खलु । भक्तिरचनासु'' 'ललिता-सहस्र-काव्यम्'' 'सिद्धिस्तवः' चेति प्रसिद्धे स्तः । प्रथमकृतौ भावत्याः त्रिपुर-सुन्दर्याः विभिन्नरूपाणां रम्यं वर्णनं कुर्वता कविना तत्स्तुतिराचरिता । कवेः तान्त्रिकशक्तेः कवित्वशक्तेश्च चमत्कारः पदे पदे दृष्टिपथं समामाति । प्रथमपद्ये लक्ष्मीं वर्णयन् कवि र्ब्रवीति—

लक्ष्मीः या प्रकटी चकार कलया कल्पादि कालेऽम्बिका ।
स्थित्यै चास्यजगमाामस्य कृपया प्रारात् स्वयं विष्णवे ।।
विश्वोद्भावनकारिणीमपि च यां सर्वाः श्रमन्ति श्रियः ।
श्रीमाता ललिताम्बिका भगवती साऽऽस्तां मम श्रेयसे ।।

नैके निबन्धाः शतशः पद्यानि च विविधविषयेषु प्रकाशं गतानि विदुषोऽस्य । कवेः कवितासु भारत गौरव-द्योतकं स्तवनमपि वरीवर्ति । देशभक्तेः भावनां नैकत्र प्रकटी भवति—यथा च

जय जय भारतदेश,
शुभ्रहिमाद्रिसुभगमस्तकवत् ।
हिन्दमहासागर कलकल वत्,
तव सुयशस्या विजयपताका ।
स्फुरति सदा हे शुभतीर्थेशा ।। जय जय—

शास्त्रिमहोदयेन 'आदर्श-जीवनम्' नाम महाकाव्यमपि विनिर्मितम् यत्र प्रसाद गुणोऽङ्गी कृतः तद्यथा—

निहन्ति पापं प्रददाति शान्तिं सत्वं समुदभावयतेऽन्तरा च ।
निरस्य दुष्कर्म तनोति शर्म, सतां पवित्रं चरितं सुतीर्थम् ।।

कवि-लहरी उदर प्रशस्तिः' चेति द्वे रचने चापि विख्याते ननु ।

श्रीमनः रामचन्द्रशास्त्रिणः बहवो निबन्धाः पद्यानि च पत्रपत्रिकानां शोभामवर्धमन् । ''श्री हरिभक्तचरितम्'' नाम काव्यमपि प्रसिद्धं तन्नाम्ना । यत्र स्वामिहरिभक्तस्य जीवनचरित्रम् वर्णितंमुसु किल । गुरुमहिमा तत्र दृष्टव्योऽस्ति—

ससार-भोगाद्विरतं प्रशान्तं गोपालसेवानिरतं नितान्तम् ।
श्रीसन्त्रराजं सतत जपन्तं वन्दे गुरुं श्रीहरिभक्तदेवम् ।।

श्रीमता काशिनाथचन्द्रमौलिमहाभागेन अभिनवकाव्यकृतिभः संस्कृतसाहित्यं संवर्धितम् । गजलछन्दसः नूतनरूपेण प्रस्तुतीकरणे तस्य नैपुण्यं प्रशंसनीयं ननु । दिङमात्रं पद्यमेकं विलोकनीयम्—

ज्ञातः केन त्वदीयो भेदः पारोलब्धः किं भवदीयः ।
मग्नाः सर्वे गुणबन्धेषु भवत्पूजा यं सुस्थानमिदं मनोमन्दिरेषु ।।

तस्य रचनासु "शिवार्जुनीयम्" 'शङ्करदिग्विजयम्' 'राजाम्बरीशम्' 'सत्याग्रहः', "संस्कृत-गीताञ्जलिः" इति प्रसिद्धाः सन्ति।

बुधवरः विश्वनाथः नाटके स्वप्रतिभां दर्शितवान्। "वामन-विजयम्", 'कलिकौतुक" ञ्चेति नाटक द्वयमसौ लिलेख। प्रथम तावत् दशदृश्येषु विभक्तं द्वितीयञ्च नवदृश्येषु। वामनविजये भारतगौरवगानं कुर्वन् कविः भणति—

बङ्गैः सगीतकीर्तिः कलितकलकश्चोत्कलैरान्ध्रबन्धुः।
मद्रैरुन्निद्रमुद्रो जवजनितजयोद्गुर्जरः सिन्धुबिन्दुः॥
पञ्चापरैरञ्चितश्रीमधुमधुरो मध्यमुक्तैर्बिहारैः।
आर्यावर्ताऽभिधानो जयतु जनपरो मानिनां जन्मभूमिः॥

'कविसम्मेलनं' नाम प्रहसनमपि कविरलिखत् पद्यमेकं विलोच्यताम्—

कदा बीकानेरेऽति विमलघड़सी सर तटे।
द्विचकुस्थान् छात्रान् भ्रमणनिरतान् कन्दुकरतान्॥
'कहूँगा' भोः छात्रा उपविशत "ट्रांजिस्टर सुनो"।
कुरुध्वं तत्पश्चात् 'सब मिल' जले कूर्दनकलाम्॥

कोविदशिरोमणयो महामहोपाध्यायाः श्रीमन्तो नवल किशोरकांकराः भारतवर्षे सम्प्रति लब्धयशसो विद्यन्ते। गद्य-पद्य-युक्ताः नैकक्कृतयस्तेषां ख्यातिङ्गताः। "यात्राविलास" नाम गद्यकाव्यं तेषांमद्भुतकवित्वं पाण्डित्यञ्च प्रस्फुटितं करोति। तेषां नैकपुस्तकानि पुरस्कृतानि। अद्यत्वे तैः रचितः 'राष्ट्रवेदो" नाम वेदग्रन्थः सर्वत्र चर्चाविषयो वरीवर्ति। वैदिक-छन्दोभिः लिखितीऽसौ प्रथमो मानवकृतो वेदो वर्वति। स च श्रीमतां कांकराणां वेदेषु गतिं वैदुष्यञ्च प्रस्तोति। स चायं वेदोऽस्मिन् वर्षे पुरस्कृत उत्तरप्रदेशसर्वकारेण

डूंगरपुरनिवासी श्रीमान् गणेशरामः शर्मा राजस्थानस्य सुप्रसिद्धः कथाकारः निबन्धकारश्च वरिवर्ति। तस्य च विदुषः शतशो लेखा निबन्धाश्च संस्कृत-पत्रिकासु प्रकाशिताः।

राजगुरुः गोपीनाथः शास्त्री 'काशी-लहरी' नाम्नीं स्वभावोक्त्यलङ्कारालङ्कातां कृतिञ्चकार। राजस्थानप्रान्ते व्यंग्य-प्रधानानि काव्यान्यपि विनिर्मितानि। अस्मिन् प्रसङ्गे त्रिवेदिनः श्रीदीनानाथशास्त्रिणः नामोल्लेखयोग्य आस्ते। तस्य "परीक्षा-पञ्चदशी" प्रशंसनीया नाम। परीक्षामहिमानं वर्णयन् कविरुवाच—

यस्मिन् युगे देवि, विभो परीक्षे! नूनं त्रिलोकी त्वमनुप्रविष्टा।
विमुच्य मातर्भवतीं शरण्यां ब्रूहि व्रजेयं शरणं कमद्य॥
मातः परीक्षे तव वीक्ष्य कालं चित्रं न यद् बिभ्यति देवि शिष्याः।
इन्द्रादिदेवा बलशालिनोऽपि मुह्यन्ति भीता नितरां विचित्रम्॥
दीनोऽहीनोऽप्यथवा दरिद्रो जनः कथङ्कारमपि स्वदैवात्।
चेदीश्वरि! त्वत् कृपयावलीढः प्राप्नोति लोकं सुपदं स एव॥

अस्यामेव श्रेण्यां कलानाथशास्त्रिणः रचना "केनाणकम्" चापि प्रशंसार्हं ननु।

विद्यानिधिः पट्टाभिरामशास्त्री वाल्मीकिरामायणमाश्रित्य बालानां बोधाय "रामायण-संग्रहः" नामकं ग्रन्थमकरोत् ।

एवमेवान्येऽपि ये विद्वांसो नवीनं साहित्यं कृतवन्तः त इमे सन्ति—श्रीनन्दकिशोरःशास्त्री-श्रीगिरिराजः शास्त्री-पंडितवर्मः नैकंकथालेखकः वृद्धिचन्द्रः शास्त्री श्रीगंगाधरः द्विवेदी, श्रीहरिगोविन्दः पाराशरः, श्रीमान् श्रीनारायणः, श्रीदेवकीनन्दनः शर्मा, श्रीराधाकृष्णः शर्मा श्रीमधुकरः शास्त्री, श्रीकृष्णलालः, श्रीलक्ष्मीचन्द्रः मिश्रः, पंडितप्रवरः कोविदरत्नं राष्ट्रपतिपुरस्कारेण पुरस्कृतः गुरुवरः जगदीशचन्द्र शर्म महोदयः प्रभृतीनां नामानि प्रसिद्धानि सन्ति । तेषां लेखाः कविताः निबन्धाश्च बहुशः प्रकाशिताः ।

कल्याणी-पत्रिका-सम्पादकः गोविन्दप्रसादः शास्त्री अष्टनाटकानि लिखितवान् । तानि चेमानि सन्ति-बालशाकुन्तलम्, कृष्णसुरामानाटकम्, हरिश्चन्द्रनाटकम्, श्रवणकुमारनाटकम्, श्रेष्ठशिष्योदाहरण-नाटकम्, भारत-विजयं-नाटकम्, भारतेतिवृन्नाटकम्, पाकगर्वभञ्जनं नाटकम् चेति । सरलसुललित भाषायां गुम्फितानीमानि सर्वाणि पत्रिकासु प्रकाशितानि ।

सौम्यमूर्तिः साहित्यशास्त्रधुरीणः कविवर्मः डॉ० ब्रह्मानन्दः शर्मापि बहुरचनाः चकार । 'तैः "सत्यालोकः' नामकं साहित्यशास्त्रमाप्यलेखि ।

विगतविंशतिवर्षाणां नवीनलेखकेषु श्रीकलानाथः शास्त्री कांकरः, श्रीनारायणः शास्त्री, डॉ० प्रभाकरः शास्त्री, डॉ० हरिरामाचार्यः एतासां पंक्तीनां लेखकः सुभाषो वेदालङ्कारश्चेति प्रमुखाः सन्ति । श्रीमान् कांकरः "स्वातन्त्र्ययज्ञाहुतिः, 'कर्तव्य-परायणता' चेति नाटकद्वयं लिलेख। तस्य बहवो लेखाः गद्यानि निबन्धाश्चापि प्रकाशमगच्छन् । देवर्षिः कलानाथः शास्त्री विशेषेणोल्लेखनीयो ननु । तस्य निबन्ध-द्वयं "धर्मक्षेत्रे" 'कुरुक्षेत्रे' च सर्वत्र ख्यातिङ्गतम् । तस्य उपन्यासः 'जीवनस्य पृष्ठद्वयम्' अतीव रोचकः खलु । सचासौ भारतीपत्रिकायां क्रमशः प्रकाशितः ।

भट्टमथुरानाथतनयोऽयं, आकाशवाणीरूपकाण्यपि रचितवान् । तेषु च महाभिनिष्क्रमणं, चित्तौड़-सिंहः, कर्मक्षेत्रे, महर्षिः भरतः पृथ्वीराजतनयः, विक्रमादित्यश्च प्रमुखानि ननु । सर्वाणि तानि आकाशवाण्या जयपुरकेन्द्रात् प्रसारितानि । डॉ० प्रभाकरशास्त्रिणः कतिचित् कथाः शोधलेखास्तु प्रकाशिता एव । तैः सहासौ "विल्हणचरितम्" 'श्रीशंकराचार्यः' 'महाकविः माघः' इति आकाशवाणीरूपकाण्यपि लिलेख । इमानि रूपकाण्यपि जयपुरकेन्द्रात् प्रसारितानि । डा० हरिराम आचार्यः संस्कृतगीतकारो विद्यते । तेनापि कतिचित् आकाशवाणीरूपकाणि लिखितानि ।

एतस्य निबन्धस्य लेखकस्य नैकरचनाः गद्यपद्यमयाः प्रकाशिताः सन्ति । कतिचित् पुरस्कृता अपि कतिचित् विदेशेष्वपि सम्मानिता ननु । कृतीनां नाममात्रं दीयते—

गद्य-रचनाः

१. महाकविः कल्हणः
२. कल्हणस्य राजतरङ्गिण्यां चित्रिता भारतीय-संस्कृतिः (शोधग्रन्थः)
३. महाराणा-प्रताप-चरितम्
४. संस्कृत-निबन्ध-परिजातः

पद्य-रचनाः

१. संस्कृति-सुधा (पद्यकाव्यम्)
२. ईश काव्यम् "
३. ईश-स्तोत्रम् (स्तोत्रम्)
४. संस्कृत-गीताञ्जलिः
५. संस्कृत-शिशुगीतम्

इमाः रचनाः प्रकाशिताः सन्ति। अस्मिन् वर्षे प्रकाश्यमानाः कृतयस्तावदिमाः सन्ति—

१. भारतगौरवम् (हरिगीतिका-छन्दसि)

२ शैक्सपियर-शतकम्

३. संस्कृत-सोपानम् (भागचतुष्टयम्)

४. संस्कृत-शिशु-बोधः (सचित्र-पुस्तकम्)

प्रकाशितकृतीनां गुणदोषविवेचने विद्वांसो विशेषेण प्रार्थ्यन्ते मया। एतदतिरिक्तं शताधिकं लेखाः, पद्यानि, गीतिकाश्चापि प्रकाशितानि पत्रिकासु।

इत्थञ्च स्फुटं प्रतिभाति यद् विगतेषु सप्तत्रिंशद् वर्षेषु प्रभूतं नवीन-साहित्यं सृष्टं संस्कृतेः सुरभारती-सेवकैः, राजस्थानप्रान्ते। साम्प्रतमपि च प्रभूतं विलिख्यते, विविध-शैलीषु। राजस्थाने नवीन-संस्कृत-वाङ्मय-निर्माणस्येयं प्रकृतिः सर्वथा परिवर्धते। वर्षद्वयपूर्वं, प्रदेशे 'राजस्थान-संस्कृत-अकादमी' चापि स्थापिता। तस्या अध्यक्षैः मण्डनमिश्रमहाभागैः, उपाध्यक्षैः सर्वशास्त्रपारङ्गतैः श्रीरामचन्द्र द्विवेदिभिश्चप्रेरिता उत्साहिताश्च राजस्थान-कवयः विद्वांसश्च नवसाहित्य-सर्जन-रताः सन्तः महत्त्वपूर्णं योगदानं करिष्यन्तीति बलवती मम खल्वाशा।

———

सहायक-प्रोफेसर
संस्कृत-विभाग
राजस्थान विश्वविद्यलय, जयपुर

☐ डा० भवानीलाल भारतीय

स्वामिदयानन्दस्य चरितलेखनविषयकमन्वेषणं तत्रगताः समस्याश्च

एकोनविंश्यां शताब्द्यां भारतवर्षे धार्मिक सांस्कृतिकपुनर्जागरणस्य उन्नायको महर्षिदयानन्द ऐतिह्यप्रसिद्धेषु तेषु महापुरूषेषु प्रगण्यते, येषां विचारैः कार्यैश्च न केवलं समकालीना जना अपितु निखिल-भूमण्डलस्था विज्ञा प्रभाविताः संजायन्ते । महर्षिदयानन्दीयविचाराणां प्रचारः प्रसारश्च तेषां जीवनकाल एव भारतवर्षम्अतिक्रम्य अमेरिका-यूरोपादि महाद्वीपेषु अपि समभूत् । तस्माद् देश-विदेशस्या अनेके प्रवुद्धा जना न केवलं तेषां विचाराणामपितु जीवनमधिकृत्यापि परिचयं प्राप्तुकामाः । यद्यपि वैदिकसमाज व्यवस्थानुकूलं तुरीयाश्रममर्यादावशात् स्वामिदयानन्दः स्वजीवनवृत्ताविषये विस्तरशः वर्णने न रूचि-मादधाति स्म तथापि स्वजीवनकाल एव स निजवृत्तमधिकृत्य किमपि विज्ञापयितुं नैकधाप्रयतितवान् ।

सर्वप्रथमं स स्ववृत्तविषयकानि कतिपयतथ्यानि तदा समुद्घाटितवान् यदा खलु महादेव गोविन्द रानाडे महाभागस्यानुरोधवशात् पूनानगर्यां भाषणमालां प्रस्तौति स्म । भाषणमालाया अन्तिमे दिवसे तथा च १८७५ तमें ख्रीष्टाब्दे ऽगस्तमासस्य चतुर्थ्यांतिथौ बुधवासरे स आत्मविषयकम् उदन्तजातं न्यवेदयत्, अस्मिन् खलु आत्मनिवेदने आकाशीशास्त्रार्थविशिष्टा जावन घटनास्तेन वर्णिताः ।

स्वदेशस्था इव वैदेशिका अपि महर्षे र्जीवनविषये परिचयमवाप्तुं समुत्सुका आसन् । महर्षि द्वारा स्थापितस्य आर्यसमाजस्य यशश्चन्द्रिकां स्वल्पकाल एव सर्वत्र ततां विलोक्य अमेरिकादेशे प्रस्थापितायाः थियोसोफिकलसमित्याः सदस्या अपि अमुं महापुरूष प्रति समाकृष्टाः । अथ यदा खलु थियोसोफिकल समित्याः "थियोसोफिकलस्ट" इत्याख्यस्य मुखपत्रस्य मुम्बईतः प्रकाशनं प्रारेभे तदा तत् पत्रसम्पादकस्य आग्रहवशात् महर्षि निजं चरित्रं धारावाहित्वेन प्रकाशयितुम् अङ्गीचकार । यद्यपि पत्रे ऽस्मिन् प्रकाशितं दयानन्दीयवृत्तं संक्षिप्तं नर्मदास्रोतसः गवेषणाकालं यावदेव विद्यते तथापि लिखितरूपेण समुपस्थितत्वात् तज्जीवनप्रभातस्य प्रमाणिकत्वेन विवृतत्वाच्च चरितमिदं निश्चप्रचं महत्त्वमावहति ।

स्वामिदयानन्दस्य जीवनकाल एव तच्चरितं रचयितुं पश्चिमोत्तरप्रदेशे शिक्षाधिकारित्वेन वर्तमानः पं० गोपालराव हरिः प्रयतितवान् । महानुभावोऽयं जन्मना महाराष्ट्र देशीयः फर्रुखावादमण्डले च विद्यालय-उपनिरीक्षकश्चासीत् ।१९३७ वैक्रमाब्दे स "दयानन्द दिग्विजयार्क" इति नाम्ना दयानन्दचरितं विरचयितुं प्रारब्धवान् । गन्थस्य प्रथमो भागस्तावत् १९३८ वैक्रमाब्दे पूर्तिमगात् । खण्डेऽस्मिन् महर्षेः संक्षिप्तम् इतिवृत्तं कतिपयशास्त्रार्थानांच चर्चा चर्चिता या खलु पौराणिक जैन-मुहम्मद-ख्रीष्टमातवलम्बिभिः सह संजाताः । द्वितीयभागे दयानन्दरचितं वेदभाष्यविषयकं समालोचनं धर्मप्रचारविवरणंच प्रस्तुतम् । अयमपि भागः १९३८ वैक्रमसंवत्सरे प्रकाशनतामवाप । ग्रन्थस्यावशिष्टोंऽशः [तृतीयः खण्डः] लेखनदृष्ट्या यद्यपि १९४२ वैक्रमाब्दे पूर्णस्तथापि तत्प्रकाशनं तु १९४४ वैक्रमसंवत्सरे सजातम् । खण्डो ऽयं पूर्व-प्रकाशित-खण्डद्वयात् आकृतया विस्तरः । तत्र गोरक्षा-आन्दोलनम्, थियोसोफिस्टैः सह मतभेदः, मुंशीइन्द्रमणि विषयको विवादः, उदयपुर-शाहपुरा-जोधपुरादीनां यात्रावृत्तान्ताः अस्वस्थे सतयजमेरनगरे निर्वाणप्राप्तिः इत्याद्युदत्तजातं निहितम् ।

दिवं याते स्वामिनि पत्र-पत्रिकासु या शोकाऽभिव्यक्ति: साऽप्यत्र संकलिता। परोपकारिणी सभायाः प्रथमाधिवेशनस्य कार्यकलापो ऽप्यत्र समुद्धतः। वस्तुतो महर्षेर्जीवनविषये मूलभूतसामग्री सर्वप्रथम् अत्र प्रस्तुता यस्या आश्रय उत्तरवर्तिभिर्जीवनचरितलेखकैः सर्वैरेवअङ्गीकृतः। अस्मिन् ग्रन्थे पत्र-पत्रिकाणाम् उद्धरणानि लघुग्रन्थानाँ प्रत्यक्षदर्शिनांच वक्तव्यानि, स्वामिनः पत्र व्यवहारश्च प्राचुर्येण समाकलितानि।

१८८५ तमे ख्रीष्टाब्दे दिसम्बरमासे श्रीमत्या परोपकारिणीसभया स्वकीये द्वितीयाधिवेशने महर्षिदयानन्दस्य विशदं तथ्यात्मकंच चरितं लेखयितुं प्रस्ताव एकः स्वीकृतः। तदनुसारं सभाया उपसंचिवेन पं० मोहनलालविष्णुलाल पण्डया महाभागेन भारो ऽयं शिरसा वोढुमंगीकृतः। देशवासिनः खलु महर्षिसम्बद्धं वृत्तजातं पण्डयासकाशं प्रेषयितुं प्रेरिताः। परं नायं प्रयासः सफलीभूतः। पण्डयामहाभागस्य प्रमाद एव कारणमत्र संभाव्यते।

दिवं यातस्य दयानन्दस्य पंचसु वर्षेष्वतीतेषु पंचनदप्रदेशीयार्यप्रतिनिधिसभया प्रस्तावमेकं स्वीकृत्य आर्यसमाजप्रवर्त्तकस्य महर्षेः प्रामाणिकं विशदंच चरितं लेखयितुं निश्चयो विहितः। अन्वेषणप्रियः स्वाध्यायशीलश्च पं० लेखराममहाभागः कार्यमिदं साधयितुं प्रार्थितः। पं० लेखरामस्तु दयानन्दीयचरितविषयकं तथ्यजातं संकलयितुं रात्रिन्दिवं प्रयासं प्रारब्धवान्। यत्र कुत्रापि महर्षिः स्वजीवनकाले जगाम तत्र सर्वत्र पं० लेखरामश्चचार एवंच महर्षिजीवनविषयकं तथ्यनिवहं गवेषयितुं प्रायतत। चेत् प० लेखरामो न तावत् काले कालकवलितो भविष्यत् तर्हि निश्चप्रचमेव दयानन्दर्षेः समग्रमपि चरितं व्यवस्थितं प्रामाणिकंच समुपलप्स्यत। परं १८९७ तमे ख्रीष्टाब्दे मार्चमासस्य षष्ठयां तारिकायां मतान्धस्य खलु यवनस्य घातकप्रहारेणाहतो लेखरामो दिवं प्रयातस्तथा च तत्संकल्पितं कार्यं न पूर्णतामियात्। यद्यपि तस्मिन्नेव वर्षेऽक्टूबरमासे मं० मुंशीरामस्य प्रेरणया पं० आत्माराम अमृतसरी महाभागः पं० लेखरामद्वारा संकलितां सामग्रीं व्यवस्थितरूपतया प्रकाशितवान्, तथापि तत्तु संग्रहमात्रमेवावर्त्तत। साहित्यिकशैल्यां लिखित चरितस्य तत्त्वजातं तत्र स्वल्पमेव।

तथापि एतत्तु स्वीकार्यमेव यत् स्वामिनश्चरितलेखनविषये येऽपि प्रयत्ना अनन्तरं संजातास्तेषाम् आधारस्तु लेखरामरचितम् उर्दूभाषानिबद्धं चरितमेव। दयानन्दद्वारा धर्मसमाजं राष्ट्रंच प्रति विहितकार्याणां प्रयत्नानां चायम् ऐतिहासिक आलेखः, यं साधयितुं लेखकेन अत्यध्यवसायो विहितः। सहस्रशः पुरुषाणां प्रत्यक्षसाक्षित्वम्, विभिन्नभाषासु प्रकाशितपत्र पत्रिकाणामुद्धरणानि एवं चान्यप्रमाणान्याधारीकृत्य लिखितो ऽयं ग्रन्थो लेखकस्य प्रभूतश्रमस्य परिचायकः।

लिखितमेव इदं तावत् पूर्वमस्माभिर्यद्देशवासिन इव विदेशस्था अपि जना वैदिकधर्मपुनरुद्धारकस्य, प्रत्न-आर्य-जीवनस्य साक्षात्कर्तुर्महापुरुषस्य दैनन्दिनजीवनचर्यां ज्ञातुमभिलषन्ति स्म। अतएव यूरोपीय भाषाऽनभिज्ञेऽपि, पाश्चात्यचिन्तनप्रक्रिययाऽपरिचितेऽपि दयानन्दे तेषाम् अदभ्यविचाराणां विस्तृतं प्रभावं परिलक्ष्य सुप्रसिद्धो जर्मनदेशीयो विद्वच्चूडामणिः प्राध्यापको मैक्समूलरोऽपि दयानन्दविषये किमपि लेखितुं कृतसंकल्पोऽभवत्, स्वामि उपरतस्य गते खल्वेकस्मिन् वर्षे इंग्लैण्डदेशात् प्रकाशिते मासिकपत्रे महर्षिविषये निबन्धमेकं लिलेख। एवमेव यदा रामकृष्णमिशनप्रेरणया सुप्रसिद्धः फ्रैंचदेशीयो रोमां रोला महाभागो रामकृष्णपरमहंसस्य चरितं लिलेख तदा 'Builders of unity' इति शीर्षकान्तर्गते ऽध्याये स स्वामिदयानन्द विषयेऽपि स्वविचारान् प्राकटयत्।

एकोनविंश्याः शताब्द्या अन्तिमे दशके बंगप्रान्तीय लेखकः श्री देवेन्द्रनाथमुखोपाध्यायो दयानन्दचरित-

लेखने प्रवृत्तः। स खलु इतः पूर्वं सन्तपालस्य चरितं लिखित्वा प्रसिद्धिमभजत। यदा खलु कलिकाल आर्य-समाजस्य अधिकारिभिः स स्वामिदयानन्दस्य विस्तृतं जीवनपरिचयं लेखितुं सानुरोधं प्रार्थितस्तदा मुखो-पाध्यायस्तन्महत्कार्यं स्कन्धेन वोढुं सद्य एव तत्परोऽभवत्। स ह्येकान्तनिष्ठया साधनया च समन्वितो ऽन्वेषणकार्ये संलग्नः, तदानीं यावद् अज्ञात-अल्पज्ञात-अन्यथाज्ञाततथ्यानां सम्यगवबोधस्तेन साफल्येन विहितः। प्रयोजनमिदं साधयितु स विभिन्नस्थानेषु विचचार, विविधजनैः साक्षात्कारेण दयानन्दचरित विषयक-सामग्र्याः संग्रहस्तेन विहितः। प्रथमं तावद् "दयानन्द चरित" इति नाम्ना बंगलाभाषायां स एकं लघुचरितं महर्षेरलिखत्, परं तत्कालं यावन्न स दयानन्द विषयकेण गवेषणकार्येण पूर्णतया संतुष्टिं जगाम। अतः पुनरपि स तथ्यसंग्रहे सोत्साहं प्रवृत्तः। १९१५–१६ यावद् दयानन्दचरितविषयकसामग्र्याः संकलनं विधाय देवेन्द्रनाथो महर्षेविस्तृतं चरितं लेखितुं प्रारब्धवान्।

देवेन्द्रनाथो दयानन्दविषये यत्खलु विशिष्ट तथ्यजातम् अन्वेषितवान् तत्र पितुर्वास्तविकं नाम जन्मस्थानस्य च निर्धारणमिति महत्वपूर्णम्। इतः पूर्वं लेखरामो महर्षेर्जन्मस्थानं सौराष्ट्रराज्यस्य मौरवी-नगरं पिता च अम्बाशंकरनामधेय इति मतं प्रस्थापितवान्। परं देवेन्द्रनाथगवेषणया दयानन्दजन्मभूमिः मौरवीराज्यान्तर्गतटंकाराग्रामः पिता च करसनजी लाल जी तिवाड़ी इति प्रामाणिकतया सिद्धम्। देवेन्द्र-नाथः खलु वाराणस्यां महर्षेश्चरितम् आरचयितुं प्रारब्धवान्, स तावद् भूमिकां चतुरोऽध्यायांश्चेव सम्पूर-यितुं शशाक यावद् अर्द्धांगरुजा पीडितः स पंचत्वं ययौ। अहो विचित्रा हि दैवगतिः। दयानन्दचरित न तु पं० लेखरामो न हि देवेन्द्रनाथ एव पूर्णतया लेखनेऽशक्नोत्। अनन्तरं घासीरामो देवेन्द्रनाथद्वारा संकलितां सामग्रीमाश्रित्य अवशिष्टं चरितं लिलेख। परम् एतत्तु स्वीकार्यमेव यद् या खलु दृष्टिर्देवेन्द्रनाथस्यवर्तते न सा घासीराममलिखितचरिते दृग्गोचरीभवति। इतोऽनन्तरं स्वामिसत्यानन्दो दयानन्दचरितलेखने प्रवृत्तः। तेन देवेन्द्रनाथद्वारा संगृहीतसामग्र्या अपि समुपयोगो विहितः। स्वयमपि स यत्र-तत्र परिभ्रम्य तथ्यसंचयाय प्रयतितवान्। तद्रचिते "दयानन्दप्रकाशे" न तावद् ऐतिहासिकदृष्टिः प्रधानतः या परिलक्ष्यते। भावनाप्रवणलेखकस्य भावनात्मकशैल्यां लिखिता भक्तिप्रधानरचना सा। लेखरामो ह्यांग्लभाषाऽनभिज्ञोऽ-तो न तेन आंग्लभाषापुस्तकेभ्यः पत्रेभ्यश्च प्राप्तसामग्र्याः समुपयोगो विहितः। स्वामीसत्यानन्दविषयेऽपि तुल्यमेतत्। परं देवेन्द्रनाथेन तु आंग्लबंगलादिभाषाभ्यः प्राप्तसामग्र्याः प्रचुरः प्रयोगो विहितः। बंगमहा-राष्ट्रसदृशेषु प्रान्तेषु चिराय परिभ्रम्य तेन दयानन्दविषये विविधा नूतना वार्त्ताः विज्ञाताः।

वक्तुमिदं शक्यम्-यत् पं० लेखरामदेवेन्द्रनाथयोरनन्तरं दयानन्दचरितविषयकम् अन्वेषणकार्यं प्रायः समुपेक्षितमेवाऽभवत्। तथापि जयचन्द्रपृथ्वीसिंहविद्यालंकाराभ्यां दयानन्दचरितविषये कश्चन नूतनो ऽपि पक्षः समुपस्थापितः। पृथ्वीसिंहमेहता महाभागेन "हमारा राजस्थान" इति ग्रन्थे १८५७ तमे ख्रीष्टाब्दे संजाते स्वतन्त्रतासंग्रामे दयानन्दस्य योगदानविषये कश्चित् संकेतः कृतः। वय पश्यामो यद् आत्मचरिते नर्मदास्रोतसो गवेषणं यावत् जीवनवृत्तं तु समुपलभ्यते परं भाविनो वर्षत्रयस्य वृत्तजातं न तत्र विनि-र्दिष्टम्। मेहतामहोदयेन प्रसंगममुमाधारीकृत्य दयानन्दस्यापि स्वतन्त्रतासंग्रामे भागग्रहणं तावत् संभावितम्। तथोक्तं तेन–" क्रान्तियुद्धं प्रति अथवा तत्संगठनं प्रति तस्य कीदृशी अभिरूचिरवर्तत, तत्र तेन साक्षाद् भागो गृहीतो न वेति निश्चयेन न किमपि वक्तुं शक्यम्। तथापि महर्षेर्जीवनघटनानां यस्तिथिक्रमोऽ-स्माभिरुपरि निर्दिष्टस्तेन एतत्तु स्पष्टमेव यत् क्रान्तिकार्यक्रमैर्नैकट्येन परिचयं प्राप्तुम् अवसरस्तु तेन निश्चप्रचम् अवाप्तः। दयानन्दसदृशो भावनाप्रवणो युवा तत् प्रभावेन अस्पृष्ट एव अभविष्यत्, यद्वा युद्ध-साफल्यं वैफल्यं वा प्रति न तच्चेतस काऽपि प्रतिक्रिया जनिष्यत इति तु न कथमपि मन्तुं शक्यते। अतो वर्षत्रयविषयकं तस्य मौनम् अस्ति तावद् गभीरार्थगर्भितम्। "जयचन्द्रविद्यालंकारस्यापि तर्कजातम् अत्र

समानमेव । साधुसम्प्रदाये प्रचलिताया अनुश्रुत्या उल्लेखस्तत्र वैशिष्ट्येन यत्र दयानन्दस्य १८५७ संग्रामे साक्षाद्भागग्रहणं स्वीकृतम् ।

यावन्न सुस्पष्टं प्रमाणमुपलभ्यते तावद् अस्मिन् विषये किमपि कथनं नोपयुक्तं स्यात् । एवमपि महर्षिगृंहत्यागसमये सत्यधर्मजिज्ञासया मुक्तिपथान्वेषणधिया च देशाटने प्रवृत्तः । तत्कालं तावन्न तदीयं राजनीतिकं चिन्तनं प्रौढिताम् अभजत न च वैदेशिकं शासनं प्रति तद्हृदि कश्चिद् उग्रो विचारः समुत्पन्नः । एवं महर्षेस्तात्कालिकविचाराणां परिज्ञानाद् उपर्युक्तमतस्य आपात-रमणीयत्वमेव प्रतीयते । तथापि मेहता विद्यालंकाराभ्याम् अस्मिन् विषये यत् सम्भावितं तत्र सावहिततया विचारोऽपेक्षितः । दुःखास्पदमिद यत् १८५७ स्वतन्त्रतासंग्रामे दयानन्दस्य भूमिकामधिकृत्य तथ्यात्मकमन्वेषणमपहाय वासुदेव वर्मा पिण्डीदास-ज्ञानी सदृशाः लेखकाः स्वतन्त्रतासंग्रामस्य श्रेयः महर्षये दातुकामा दरीदृश्यन्ते पर तैः ह्यैतिह्यम् औचित्यं च कथं व्याहन्यत इति न तैस्तावद् विचारितम् ।

१८७१–७३ इति कालावधौ कदाचिद् दयानन्दः कंचित् कालं बंगप्रान्तेऽ प्युवास । बंगपत्रैस्तात्कालिकं महर्षेर्यात्राविवरणमपि प्रकाशितम् । कानिचित् वर्षाण्यतीतानि यदा कलिकातार्यसमाजस्य पं० दीनबन्धुः वेदशास्त्री हस्तलिखितं पुस्तकमेकमन्विष्य प्रकाशमानीतवान् यच्च तन्मते बंगप्रान्ते स्वामिनं निमन्त्रयितुं ब्राह्मनेतुर्हेमचन्द्र चक्रवर्ती महाभागस्य दैनन्दिनी खल्ववर्त्तत । कलिकातायां चक्रवर्ती महाभागः स्वामिनः सानिध्ये न्यवसत् योगसाधनं च शिक्षितवान् । इयं दैनन्दिनीवेदशास्त्रिणाऽनेकेषु पत्रेषु प्रकाश्यमानीता ।तन्मते च स्वामिस्वतन्त्रानन्देनापि "दयानन्द प्रसंग" इति नाम्ना दैनन्दिनीयं हिन्दी भाषायामनूदिता, यस्या प्रकाशनं कलिकातार्यसमाजद्वारा सम्पन्नम् । चिराय अस्माभिरस्या दैनन्दिन्याः प्रामाणिकत्वं स्वीकृतं तथा च अस्याः साहाय्येन दयानन्दस्य बंगप्रवासचरितं ज्ञातुमपि प्रयासो विहितः, तथापि कालान्तरे ह्यस्याः प्रामाणिकत्व-मधिकृत्य चेतः संशयं भेजे । संशयमपाकर्तुं यदाऽस्माभिः कलिकातार्यसमाजस्थाः "दयानन्द प्रसंगइति" पुस्तकविषये पृष्ठास्तदा तन्मन्त्रिणा वयमेवं सूचिता यन्नात्र पुस्तकं तत् समुपलभ्यते तत्सामग्री तु "आर्यसंसार" इत्याख्ये कलिकातार्यसमाजस्य मुखपत्रेऽवश्यं धारावाहित्वेन वेदशास्त्रिणा प्रकाशिता ।

ततोऽस्माभिः स्वामिस्वतन्त्रानन्दद्वारा संस्थापितस्य दीनानगरीयदयानन्दमठस्याध्यक्षः स्वामिसर्वा-नन्दः (यो हि स्वामिस्वतन्त्रानन्दस्य शिष्यः) अपि पुस्तकविषये पृष्ठः । ततोऽपि निषेधात्मकमेव दलमस्माभिः प्राप्तम् । अहो आश्चर्यं, स्वामिस्वतन्त्रानन्दद्वारा खल्वनूदितो ग्रन्थो न च कलिकातायां नेव च स्वामिनः स्वकीये पुस्तकालये । अस्माकं संशयस्तदा दृढ़तां ययौ यदा दीनबन्धुद्वारा प्रस्तुतं सर्वथा प्रामाणिकं स्वमनोविजृम्भितं "योगी का आत्मचरितः" अथवा "दयानन्द की अज्ञातजीवनी" इत्याख्यं महर्षिविषयकं नूतनं वृत्तमस्माभिर्दृष्टम् । बंगप्रान्ते पाण्डुलिपिरूपेण प्राप्तां सामग्रीमिमामनूद्य यदा दीनबन्धुः "सार्वदेशिक" इति साप्ताहिकपत्रे धारावाहित्वेन प्रकाशयितुं प्रारेभे तदैव वयं संशयदृष्ट्या सामग्रीमिमां दृष्टवन्तः । परं यदा शनैश्शनैरस्या अविश्वसनीयत्वं निश्चप्रचम् अस्माभिः निर्धारितं तदा दयानन्दचरिते विकृतिमापादयितुः प्रयासस्यास्य विरोधं कर्तुं वयमपि समुद्यताः । सन्तोषावहमिदं यद् दयानन्दचरितस्य विमर्शयितार एतेद्देशीया अन्यदेशस्थाश्च डा० जार्डन्स सदृशा विद्वांसोऽस्माकं सत्प्रयासं प्रशंसितवन्तः, चमत्कारिकम् अलौकिक-तत्वजातं दयानन्दचरिते समावेशयितृंश्च समाक्षिप्तवन्तः । संप्रति ग्रन्थस्यास्य प्रामाण्यप्रतिपादने न तु पं० दीनबन्धुः समर्थो न च तत्समर्थको योगी सच्चिदानन्दः ।

गतेषु वर्षेषु पंचनदप्रदेशीयविदुषः अलखधारीमहाभागस्य लेखमेकमाश्रित्य १८७३ तमे ख्रीष्टाब्दे भारतस्य गवर्नरजनरल लार्ड नार्थब्रुकस्य महर्षिणा दयानन्देन सह कलिकातानगर्यां सम्मेलनविवरणमपि पत्र-

पत्रिकासु प्रायश्चर्चाविषयीभूतम् । परम् अस्य प्रसंगस्य प्रामाणिकत्वम् अनुसंधानं तु न तावत्केनापि प्रयासो विहितः । विवशाः सन्तः वयमेव विषयममुं पत्रेपु चर्चितवन्तः । अस्माभिरार्यसमाजस्य सभाः संस्थाश्च निवेदिता यद् भारतस्य राष्ट्रीयाभिलेखागारे लन्दनस्थितपुरातात्विकलेखागारेषु च सुरक्षितायास्तात्कालिक सामग्र्या अनुसंधानं विधाय प्रसंगस्तस्त्र प्रामाणिकता निर्द्धारणीया । अहो कष्टम् न केनापि निवेदनमस्माकं सावहिततया श्रवणविषयीकृतम् । इयं शोच्या स्थितिः खल्वार्यसमाजेऽन्वेषणविषये ।

सारांशोऽयं यद् दयानन्दस्य चरितलेखनस्य समग्रत्वं प्रामाणिकत्वं तदैव सेत्स्यति यदा ह्यद्यावधि लिखितचरितानां तुलनात्मकं परिशीलनं विधीयेत, एवं च तत्र व्यक्तेषु तथ्येषु घटनासु च पूर्वापरक्रमस्य निश्चयः क्रियेत । अथ च ताकालिकदेशविदेशस्थपत्रपत्रिकासु प्रकाशिताः महर्षिविषयकाः संदर्भा पुनरपि समन्विष्य यथास्थानं नियोजिता स्युः, अन्या च या सामग्री न तावदद्यावधि प्राकाश्यं प्राप्ता, तस्या अप्यन्वेषणं विधीयते । निश्चप्रचम्, दयानन्दचरितलेखनंशुभात्मकेन अध्यवसायेन निष्ठया चैव साध्यम् ।

अध्यक्ष, दयानन्द अनुसंधान पीठ
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

□ डॉ० रामकिशोर मिश्र

छन्दस्कारों में कालिदास का योगदान

श्रुतबोध एक छन्दोविषयक लघुग्रन्थ है। इसके रचयिता महाकवि कालिदास माने जाते हैं। राजशेखर (१०वीं शती ई०) ने तीन कालिदासों की सत्ता के प्रति पूर्ण सङ्केत किया है।[1] काव्यजगत् में कालिदास की प्रसिद्धि से अवान्तरकालीन बहुत से कवियों ने 'कालिदास' का प्रसिद्ध अभिधान धारण कर अपने व्यक्तित्व को छिपा दिया था। अतः कालिदास की सत्ता ईशापूर्व परमारवंशीय प्रथम विक्रमादित्य से लेकर धारानगरी के राजा भोज के समय (१२०० ई०) तक मानी जाती है। यह पता नहीं चलता कि श्रुतबोध उनमें से कौन से कालिदास की रचना है। कालिदास के नाम से प्रकाशित होने के कारण उसे यहाँ शेष लौकिक छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों से पूर्व ही स्थान दिया गया है।

श्रुतबोध में कुल ४३ श्लोक हैं, जिनमें प्रथम तीन श्लोकों में ग्रन्थ के नाम, गुरुलघुवर्ण तथा गणादिलक्षण पर प्रकाश डाला गया है, और ४० श्लोकों में आर्या से स्रग्धरा तक प्रसिद्ध ४० छन्दों का वर्णन है। इस छन्दोग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें छन्दों को गुरुलघुवर्णों के आधार पर छन्द लक्षित किये गये हैं। यह ग्रन्थ लक्ष्यलक्षणप्रधान है, इसमें जिस छन्द का जिस पद्य में लक्षण किया गया है, उस छन्द का वही पद्य उदाहरण भी है।

इसके छन्दों पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि श्रुतबोध में केवल मात्रिक तथा वार्णिक लौकिक छन्दों का ही वर्णन है। मात्रिक छन्दों में केवल तीन छन्द ही वर्णित है, और वार्णिक छन्दों में सैंतीस छन्द; जिनमें छत्तीस छन्द समवार्णिक हैं और केवल एक छन्द अर्धसमवार्णिक। छन्दों की एकाक्षर में छब्बीस अक्षरों तक वृत्तियाँ होती हैं, उनमें से इसमें उक्ता, अत्युक्ता, मध्या, प्रतिष्ठा, अष्टि, कृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति और उत्कृति नामक छन्दोवृत्तियों में किसी भी छन्द का विवरण प्राप्त नहीं होता, और विषमपाद के भी किसी छन्द का विवरण नहीं मिलता। अनुष्टुप् और पद्य, उपजाति और आख्यानकी छन्द लक्षणानुसार एक ही हैं।[2] केवल उनके नाम ही पृथक्-पृथक् दिये हैं। सम्भवतः ग्रन्थ का रचयिता इन्द्रवज्रा छन्द के प्रथमपाद और उपेन्द्रवज्रा छन्द के अन्तिम तीन पादों से युक्त इन्द्र को उपजाति का भेद न मानकर आख्यानकी नामक छन्द के रूप में उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार करता है[3], और अनुष्टुप् छन्द को ही पद्य नाम प्रदान करता है।[4] इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ में कुछ प्रसिद्ध तथा प्रचलित छन्दों का ही वर्णन है।

श्रुतबोध में दिये गये उपजाति और आख्यानकी छन्द के पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता के समय में भरतकृत नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण तथा पिङ्गलीय छन्दः सूत्र के अतिरिक्त पश्चाद्वर्ती जनाश्रयकृत छन्दःशास्त्रीय जानाश्रयी छन्दोविचिति (६०० ई०) आदि रचनायें विद्यमान नहीं थीं, जिनमें उपजाति (इन्द्रमाला) छन्द के १४ भेद प्रदर्शित किये गये हैं।[5] उक्त चतुर्दश भेदों में पिङ्गलोक्त उपजाति और आख्यानिकी तथा विपरीताख्यानिकी छन्द समाहित हो जाते हैं किन्तु श्रुतबोधकार ने उपजाति का लक्षण पिङ्गलोक्त लक्षण के आधार पर दिया है और उसके अन्य भेदों का उल्लेख नहीं किया, जैसा कि उन्होंने आख्यानिकी के लक्षण में उसे विपरीतपूर्वा कह कर उसके दोनों भेदों के प्रति संकेत किया है। यदि श्रुतबोध जानाश्रयी छन्दोविचिति के बाद की भी रचना होती तो उसके उपजाति छन्द के लक्षण में भेदों का निर्देश अवश्य होता।

पिङ्गल ने उपजाति छन्द वही माना है, जिसमें इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के दोनों पाद हो।[६] इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य भेदों का उल्लेख नहीं किया, और इसे ही श्रुतबोधकार ने भी मान्यता दी है।[७] जानाश्रयी छन्दोविचित में तो आख्यानिकी और विपरीताख्यानि की छन्द के पाद उपजाति छन्द में समाहित कर दिय गये हैं, जिससे वहाँ आख्यानिकी छन्द के दोनों भेदों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, क्योंकि उनमें इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के चरणों का विधान है, जो कि उपजाति के चतुर्दश भेदो में गृहीत कर लिये गये हैं।[८] पिङ्गल ने उन दोनों छन्दों को स्वतन्त्र मानकर लक्षित किया है[९], और इसी आधार पर कालिदास ने भी उस आख्यानिकी छन्द को एक स्वतन्त्र छन्द माना है, तथा पिङ्गलोक्त लक्षण से भी भिन्न लक्षित किया है।[१०] यह श्रुतबोध का स्वतन्त्र छन्द है, जो जानाश्रयी के इन्द्रमाला (उपजाति) के चतुर्दश भेदों में गृहीत किया गया है।[११] अतः श्रुतबोध में इस छन्द की स्वतन्त्र सत्ता के आधार पर यह माना जा सकता है कि कालिदास की यह रचना जानाश्रयी छन्दोविचिति (६०० ई०) से पूर्व की है, अन्यथा इस पर उसका प्रभाव अवश्य होता।

जयदेव ने श्रुतबोधकार का अन्य मत से चम्पकमाल छन्द का उल्लेख कर निर्देश किया है।[१२] अतः जयदेव के समय (६००-६०० ई०) में श्रुतबोध का प्रचार हो चुका था। इसमें प्रसिद्ध ४० लौकिक छन्दों के लक्षण सोदाहरण मिलते हैं, जिनमें से कालिदास का लौकिक छन्दःशास्त्र में स्वतन्त्र लक्षित छन्दोरूप में निम्नाङ्कित योगदान है—

कालिदास के स्वतन्त्र लक्षित छन्द

समवृत्त

१. मदलेखा (सप्ताक्षरपाद–म स ग) श्रुतबोध[१३]—पद्य ६

२. हंसी (दशाक्षरपाद–म भ न ग) श्रुतबोध—पद्य १६

३. प्रभावती (त्रयोदशाक्षरपाद–त भ स ज ग) श्रुतबोध—पद्य ३५

विषमवृत्त

१. अनुष्टुप्[१४] (श्लोक) अष्टाक्षरपाद ८, ८, ८, ८ (सर्वत्र पञ्चम वर्ण लघु तथा षष्ठ गुरु और द्वितीय तथा चतुर्थपाद में सप्तम लघु एवं प्रथम तथा तृतीय पाद में सप्तम गुरु)—
श्रुतबोध--पद्य–१०

२. पद्य—अष्टाक्षरपाद ८, ८, ८, ८ (सर्वत्र पञ्चम वर्ण लघु और द्वितीय तथा चतुर्थ पाद में सप्तमवर्ण लघु एवं षष्ठवर्ण दीर्घ)—श्रुतबोध, पद्य ११

३. विपरीताख्यानिकी (आख्यान की[१५]) एकादशाक्षरपाद ११, ११, ११, ११ (प्रथम चरण इन्द्रवज्रा-त त ज ग ग का और शेष चरण उपेन्द्रवज्रा—ज त ज ग ग के)—श्रुतबोध, पद्य–२४

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि कालिदास के छन्दोजगत् में समवृत्तों में तीन और विषमवृत्तों में तीन के योग से छः छन्द स्वकृत तथा प्रथमवार लक्षित छन्द हैं, जो पूर्ववर्ती छन्दःशास्त्रीय रचनाओं (भरतकृत नाट्यशास्त्र[१६], अध्याय १५, १६ तथा ३२ तथा पिङ्गलकृत छन्दः सूत्र एवं अग्निपुराण[१७] अध्याय १७१, १७२, १७३ तथा [१८]अध्याय ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५) में लक्षित नहीं हुये हैं।

इसके अतिरिक्त श्रुतबोध में आर्या, गीति, उपगीति, अक्षरपंक्ति, शशिवदना, माणवकाक्रीड, नगस्वरूपिणी, विद्युन्माला, चम्पकमाला, मणिबन्ध, शालिनी, मन्दाक्रान्ता, दोधक, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, स्वागता, वैश्वदेवी, तोटक, भुजङ्गप्रयात, द्रुतविलम्बित, प्रमिताक्षरा, हरिणीप्लुता, वंशस्थ, इन्द्रवंशा, प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका, मालिनी, हरिणी, शिखरिणी, पृथ्वी, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा नामक ३४ छन्दों के लक्षण मिलते हैं, जो पूर्ववर्ती छन्दः शास्त्रीय ग्रन्थ नाट्यशास्त्र, छन्दः सूत्र

और अग्निपुराण में लक्षित हो चुके हैं। अतः लौकिक संस्कृत के छन्दस्कारों में कालिदास का छः छन्दों की रचना करने और उनके लक्षण प्रस्तुत करने का योगदान है।

कालिदास के बाद जो छन्दःशास्त्रीय रचनाएँ लिखी गयीं, उनका रचयिताओं के नामों के साथ कालक्रमानुसार विवरण निम्नाङ्कित है—

(१) जनाश्रयकृत् जानाश्रयी छन्दोविचिति (६०० ई०), (२) जयदेवकृत जयदेवछन्दः (६००–९०० ई०), (३) स्वयम्भूकृत स्वयम्भूच्छन्दः (७००–१००० ई०), (४) नन्दिताढयकृत् गाथालक्षण, (८००–१००० ई०) (५) भट्ट उत्पलकृत बृहत्संहितावृत्ति (१००० ई०), (६) जयकीर्तिकृत छन्दोऽनुशासन (१००० ई०), (७) विरहाङ्ककृत वृत्तजातिसमुच्चय (१००० ई०), (८) राजशेखरकृत छन्दःशेखर (११०० ई०), (९) क्षेमेन्द्रकृत सुवृत्ततिलक (११०० ई०), (१०) भट्टकेदारकृत वृत्तरत्नाकर (११०० ई०), (११) रत्नमञ्जूषा (रचयिता अज्ञात, ११०० ई०), (१२) हेमचन्द्रकृत छन्दोऽनुशासन (११५० ई०), (१३) सुल्हणकृत सुकविहृदयानन्दिनी (११८९ ई०), (१४) कविदर्पण (रचयिता अज्ञात, ११०० ई०), (१५) जिनप्रभकृत अजितशान्तिस्तवटीका (१३०० ई०), (१६) प्राकृतपैङ्गल (रचयिता अज्ञात, १३२५ ई०), (१७) रत्नशेखरकृत छन्दःकोश (१३५० ई०), (१८) दामोदरमिश्रकृत वाणीभूषण (१४०० ई०), (१९) गङ्गादासकृत छन्दोमञ्जरी (१५०० ई०), (२०) वेङ्कटेशकृत वृत्तरत्नावलि (१६००–१६५० ई०), (२१) रामचन्द्रविबुधकृत वृत्तरत्नाकरटीका (१६०० ई०), (२२) चन्द्रशेखर-भट्टकृत वृत्तमौक्तिक (१६१८ ई०), (२३) लक्ष्मीनाथभट्टकृत वृत्तमौक्तिक भाग–२ (१६१९ ई०), (२४) समयसुन्दरकृत वृत्तरत्नाकरटीका (१६३७ ई०), (२५) भास्करकृत वृत्तरत्नाकरसेतु (१६७५ ई०), (२६) नारायणकृत वृत्तरत्नाकरनारायणी (१६८० ई०), (२७) श्रीकृष्णभट्टकृत वृत्तमुक्तावली (१७३२–१७४३ ई०), (२८) जनार्दनकृत वृत्तरत्नाकरभावार्थदीपिका (१७८९ ई०), (२९) राधादामोदर कृत छन्दः कौस्तुभ (१८४७ ई०), (३०) दुःखभञ्जनकृत वाग्वल्लभ (१८८३ ई०), (३१) देवीप्रसादकृत वाग्वल्लभवरवर्णिनी (१९२८ ई०), (३२) दीनेशचन्द्रदत्तकृत छन्दःसन्दोह (१९६८ ई०), (३३) रामकिशोरमिश्रकृत[१९] छन्दोऽनुसन्धानम् (१९८२) ये ३३ छन्दः शास्त्रीय रचनायें हैं।

कालिदासकृत श्रुतबोध (ईशापूर्व प्रथम शती) से पूर्ववर्ती तीन छन्दः शास्त्रीय रचनायें प्राप्त होती हैं, जिनमें सर्वप्रथम भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र (ईशापूर्व ५वीं शती), द्वितीय रचना पिङ्गलकृत छन्दःसूत्र (ईशापूर्व ३००–४०० वर्ष) और तीसरी रचना अग्निपुराण (ईशापूर्व प्रथमशती) है। इसप्रकार इन लौकिक संस्कृत छन्दः शास्त्रीय ३७ रचनाओं में २१५० छन्दों के लक्षण मिलते हैं, जिनमें कालिदास का छन्दस्कारों में चतुर्थस्थान के साथ छः छन्दों का योगदान है।

संकेत-सन्दर्भ—

१. 'एको न जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥'—सूक्तिमुक्तावलिः।
द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्यायकृत संस्कृतसाहित्य का इतिहास, पृष्ठ १८२।

२. कालिदासकृत श्रुतबोध, पद्य—१०, ११ तथा २३, २४, वाराणसी १९७२।

३. श्रुतबोध पद्य–२४ जब कि जानाश्रयी छन्दोविचितिवृत्ति–४/२६–३७ में आख्यानिकी को उपजाति (इन्द्रमाला) के चतुर्दश भेदों में समाहित कर दिया गया है। द्रष्टव्य—जानाश्रयी छन्दोविचिति त्रिवेन्द्रम् (तिरुअनन्तपुरम्) १९४९।

४. श्रुतबोध, पद्य—१० और ११।

५. जानाश्रयी छन्दोविचिति—४/३६–३७ । हेमचन्द्रकृत छन्दोऽनुशासन—२/१५६ ।
६. पिङ्गलकृत छन्दः सूत्र—६/२३, अखिलानन्दशर्मा, मेरठ १९०६ ।
७. श्रुतबोध, पद्य—२३, कनकलाल ठक्कुर, वाराणसी, १९७२ ।
८. जानाश्रयी छन्दोविचिनिवृत्ति—४/३७ ।
९. छन्दः सूत्र—५/३७–३८ ।
१०. श्रुतबोध, पद्य—२४ ।
११. जानाश्रयी छन्दोविचिति—४/३६–३७ के वृत्तिभाग में—'पर्याप्तपुष्प'—पद्य, पृ० ३९ ।
१२. चम्पकमाला वाऽन्यमतेन'—जयदेवच्छन्दः—६/१४ ।
१३. श्रुतबोध, विद्याभवन, संस्कृतग्रन्थमाला नं० ३४, चौखम्बा, वाराणसी, १९७२ ।
१४. कालिदास ने अनुष्टुप् को श्लोक नाम दिया है । श्रुतबोध, पद्य—१० ।
१५. कालिदास ने इसे आख्यानकी नाम दिया है । श्रुतबोध, पद्य—२४ ।
१६. भरतमुनिकृत नाटचशास्त्र, बनारस १९८५ वि० सं०, १९२९ ई०, बड़ौदा १९३४ ई० ।
१७. अग्निपुराण, श्रीरामशर्मा, संस्कृतसंस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली ।
१८. अग्निपुराण, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा, वाराणसी, १९६६ ई० ।
१९. द्रष्टव्य—मेरठविश्वविद्यालयीयसंस्कृतशोधपत्रिका, दिसम्बर १९८२ ई० ।

———

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
म० मा० डिग्री कालिज
खेकड़ा, मेरठ ।

☐ डा० उमाकान्त शुक्ल

नलायन में प्रयुक्त छन्द

डा० श्यामशंकर दीक्षित ने अपने शोध-प्रवन्ध 'तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन-संस्कृत महाकाव्य'[1] में माणिक्यदेवमुनि या माणिक्यदेवसूरि[2] कृत नलायन (नला) में प्रयुक्त छन्दों का परिगणन करते हुए लिखा है—'प्रायः प्रत्येक सर्ग में अनुष्टुप् का प्रयोग अधिक हुआ है। अन्य छन्दों में मालिनी, आर्या, शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, पृथ्वी, द्रुतविलम्बित, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, हरिणी, रथोद्धता, स्वागता, पुष्पिताग्रा, मजुभाषिणी, स्रग्धरा, भृंग, तोटक, भुजंगप्रयात, वंशस्थ, स्रग्विणी, हरिणप्लुता तथा कई प्रकार के अर्धसम वर्णिक वृत्तों का प्रयोग हुआ है। सवैया और षटपदी (छप्पय) का प्रयोग संस्कृत साहित्य में कम मिलता है, किन्तु "नलायनम्" में इनका प्रयोग भी हुआ है।[3] "जैन साहित्य का बृहद् इतिहास" के छठे भाग[4] में डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने डा० श्यामशंकर दीक्षित के ग्रन्थ का सन्दर्भ दिए बिना ही उनके मत को ज्यों का त्यों रख दिया है।[5]

प्रस्तुत पत्र में लेखक का मुख्य लक्ष्य डा० दीक्षित के मत और डा० चौधरी के अनुमत की परीक्षा करना है।

छन्दोविधान से किसी कवि के काव्य-शिल्प की परख ही नहीं होती प्रत्युत इसके द्वारा उसकी कृति के परिमाण को भी नाप-तोल लिया जाता है। पद्य के जो दो भेद—जाति और वृत्त हैं उनमें वृत्त के तीन प्रकार प्रसिद्ध हैं—समवृत्त, अर्धसमवृत्त और विषमवृत्त। माणि० ने मात्र-गणना पर आधृत जिन-जिन जातियों और अक्षर-गणना पर आधृत जिन-जिन वृत्तों का नला० में प्रयोग किया है उनका विवरण अधोदत्त है—

(क) जाति

आर्या तथा औपचछन्दसिक—

दो श्लोकों[6] में आर्या तथा नौ श्लोकों[7] में औपच्छन्दसिक छन्द का प्रयोग हुआ है।

(ख) समवृत्त

इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, दोनों की उपजाति, भ्रमरविलसित, रथोद्धता, स्वागता, दोनों की उपजाति तथा शालिनी —

छन्दःशास्त्र में प्रत्येक पाद में ग्यारह-ग्यारह अक्षरों वाले छन्दों की पारिभाषिक संज्ञा 'त्रिष्टुप्' कही गई है। त्रिष्टुप् समुदाय वाले छन्दों में छह श्लोकों[8] में इन्द्रवज्रा, छह श्लोकों[9] में उपेन्द्रवज्रा उनचास श्लोकों में इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा की उपजाति, जिनमें छह श्लोक[10] ऐसे हैं जिनके प्रथम पाद में, चार श्लोक[11] ऐसे हैं जिनके द्वितीय पाद में, छह श्लोक[11]क ऐसे हैं जिनके प्रथम और द्वितीय पाद में, दो श्लोक[12] ऐसे हैं जिनके तृतीय पाद में, तीन श्लोक[13] ऐसे हैं जिनके प्रथम और तृतीय पाद मे, पाँच श्लोक[14] ऐसे हैं जिनके द्वितीय और तृतीय पाद में, चार श्लोक[15] ऐसे हैं जिनके प्रथम तीन पादों में, छह श्लोक[16] ऐसे हैं जिनके चतुर्थ पाद में, चार श्लोक[17] ऐसे हैं जिनके प्रथम और अन्तिम पाद में, एक श्लोक[18] ऐसा है जिसके द्वितीय और चतुर्थ पाद में, चार श्लोक[19] ऐसे है जिनके प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पाद में, एक श्लोक[20] ऐसा है जिसके तृतीय और चतुर्थ पादों में, दो श्लोक[21] ऐसे हैं जिनके प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पादों में,

तथा एक श्लोक[३२] ऐसा है जिसके द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादों में उपेन्द्रवज्रा तथा अतिरिक्त पादों में इन्द्रवज्रा है[३३] एक श्लोक [३४] में भ्रमरविलसित, इक्कीस श्लोकों[३५] में रथोद्धता, अड़तीस श्लोकों[३६] में स्वागता; एक श्लोक[३७] में रथोद्धता और स्वागता की उपजाति और चौदह श्लोकों[३८] में शालिनी छन्द का निबन्धन हुआ है।

वंशस्थ, तोटक, द्रुतविलम्बित, भुजंगप्रयात, प्रमिताक्षरा और प्रभा—

जिनके प्रत्येक पाद में बारह-बारह अक्षर होते हैं वे छन्द 'जगती' कहलाते है। जगती समुदाय वाले छन्दों में से चार श्लोकों[२९] में वंशस्थ, दो श्लोकों[३०] में तोटक, छत्तीस श्लोकों[३१] में द्रुतविलम्बित, पाँच श्लोकों[३२] में भुजंगप्रयात, एक श्लोक[३३] में प्रमिताक्षरा तथा एक श्लोक[३४] में प्रभा छन्द का प्रयोग हुआ है।

प्रहर्षिणी, रुचिरा तथा मंजुभाषिणी—

प्रत्येक पाद में तेरह-तेरह अक्षरों वाले छन्द "अति जगती" कहलाते हैं। इस वर्ग में ग्यारह श्लोकों[३५] में प्रहर्षिणी, तीन श्लोकों[३६] में रुचिरा एवं आठ श्लोकों[३७] में मंजुभाषिणी छन्द का प्रयोग हुआ है।

वसन्ततिलका और प्रहरणकलिका—

प्रतिपाद चौदह-चौदह अक्षरों वाले छन्दों को 'शक्वरी' कहा जाता है। शक्वरी वर्ग के छन्दों में दो सौ पच्चीस श्लोकों[३८] में वसन्ततिलका[३९], जो इयत्ता की दृष्टि से नला० में अनुष्टुप् के अनन्तर आता है, छन्द का तथा एक श्लोक[४०] में प्रहरणकलिका[४१] छन्द का प्रयोग हुआ है।

मालिनी तथा शशिकला—

प्रत्येक पाद में पन्द्रह-पन्द्रह अक्षरों वाले छन्दों को 'अतिशक्वरी' कहा जाता है। इस वर्ग के छन्दों में एक सौ इक्तालीस श्लोकों[४२] में मालिनी एवं एक श्लोक[४३] में शशिकला[४४] छन्द का प्रयोग हुआ है।

शिखरिणी, पृथ्वी, हरिणी, मन्दाक्रान्ता तथा नर्कुटक—

प्रतिपाद सत्रह-सत्रह अक्षरों वाले छन्द 'अत्यष्टि' कहलाते हैं। इस वर्ग के छन्दों में नौ श्लोकों[४५] में शिखरिणी का, नौ श्लोकों[४६] में पृथ्वी का, दस श्लोकों[४७] में हरिणी का, बानवें श्लोकों[४८] में मन्दाक्रान्ता का एवं एक श्लोक[४८]क में नर्कुटक[४९] छन्द का प्रयोग हुआ है।

शार्दूलविक्रीडित—

प्रतिपाद उन्नीस-उन्नीस अक्षरों वाले छन्दों को 'अतिधृति' कहा जाता है। इस वर्ग के छन्दों में से केवल शार्दूलविक्रीडित का पचपन श्लोकों[५०] में प्रयोग हुआ है।

स्रग्धरा—

इक्कीस-इक्कीस अक्षरों में सम्पन्न प्रत्येक पाद वाले समवृत्त "प्रकृति" कहे जाते हैं। इस वर्ग के छन्दों में से पाँच श्लोकों[५१] में स्रग्धरा छन्द का प्रयोग हुआ है।

(ग) अर्धसमवृत्त

वियोगिनी एवं पुष्पिताग्रा—

नला० में केवल दो अर्धसमवृत्त आए हैं, जिनमें एक श्लोक[५२] में वियोगिनी[५३] तथा उनतीस श्लोको[५४] में पुष्पिताग्रा छन्द का प्रयोग हुआ है।

अतिरिक्त छन्द

छह पादों में निष्पन्न छन्द को षट्पद या षट्पदी कहा जाता है। नला० में षष्टपदी शीर्षक देकर छह पदों का केवल एक छन्द[५५] लिखा गया है।

एक छन्द ऐसा है जिसके प्रत्येक पाद में बीस-बीस अक्षर हैं। ये बीसों अक्षर लघु हैं और इनमें एक ही स्वर का प्रयोग हुआ है। माणि० ने "सर्वलघुरेकस्वरः", शीर्षक के अन्तर्गत उक्त प्रकार का केवल एक छन्द[५६] दिया है।

एक छन्द [५७] ऐसा भी है जो स्वयं में अपूर्ण लगता है। इसके प्रथम इकतीस अक्षरों से इसमें कवित्त नामक छन्द का भान होता है। इसमें कुल चालिस वर्ण हैं। वस्तुतः यह इतना अव्यवस्थित है कि इसका छन्दोभेद निर्धारित नहीं किया जा सकता।

अनुष्टुप्

नला० में प्रधान छन्द अनुष्टुप् है। इस छन्द में निबद्ध श्लोकों की कुल संख्या तीन हजार दो सौ पचास है।[५८]

संक्षेप में नला० में प्रयुक्त छन्दों की सूची इस प्रकार बनती है—

(क) जाति—

आर्या	२
औपच्छन्दसिक	६

(ख) समवृत्त—

अनुष्टुप्	३२५०
त्रिष्टुप् वर्ग (प्रतिपाद ११ अक्षर वाले छन्द)	
इन्द्रवज्रा	६
उपेन्द्रवज्रा	६
उपजाति (उक्त दोनों की)	४६
भ्रमरविलसित	१
रथोद्धता	२१
स्वागता	३८
उपजाति (उक्त दोनों की)	१
शालिनी	१४
जगती वर्ग (प्रतिपाद १२ अक्षर वाले छन्द)	
वंशस्थ	४
तोटक	२
द्रुतविलम्बित	३६
भुजंगप्रयात	५
प्रमिताक्षरा	१
प्रभा	१

अतिजगती वर्ग (प्रतिपाद १३ अक्षर वाले छन्द)	
प्रहर्षिणी	११
रुचिरा	३
मंजुभाषिणी	८
शक्वरी वर्ग (प्रतिपाद १४ अक्षर वाले छन्द)	
वसन्ततिलका	२२५
प्रहरणकलिका	१
अतिशक्वरी वर्ग (प्रतिपाद १५ अक्षर वाले छन्द)	
मालिनी	१४१
शशिकला	१
अत्यष्टि वर्ग (प्रतिपाद १७ अक्षर वाले छन्द)	
शिखरिणी	६
पृथ्वी	६
हरिणी	१०
मन्दाक्रान्ता	९२
नर्कुटक	१
अतिधृति वर्ग (प्रतिपाद १९ अक्षर वाले छन्द)	
शार्दूलविक्रीडित	५५
प्रकृति वर्ग (प्रतिपाद २१ अक्षर वाले छन्द)	
स्रग्धरा	५
(ग) अर्धसमवृत्त—	
वियोगिनी	१
पुष्पिताग्रा	२९
अतिरिक्त छन्द—	
षट्पदी	१
अपूर्ण	१
अज्ञातनाम	१
योग[५९]	४०५०

यह देखा जा सकता है कि डा० दीक्षित ने अपनी सूची में तथा डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने अपनी अनुमत सूची में औपच्छन्दसिक, भ्रमरविलसित, शालिनी, प्रमिताक्षरा, प्रभा, प्रहर्षिणी, रुचिरा, प्रहरण-कलिका, शशिकला, नर्कुटक और वियोगिनी—इन ग्यारह छन्दों को छोड़ दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने चार ऐसे छन्दों को भी सूचीबद्ध किया है जो नला० में हैं ही नहीं—भृंग, स्रग्विणी, हरिणप्लुता और सवैया।

सन्दर्भ संकेत—

प्रस्तुत पत्र में सर्वत्र श्रीयशोविजय जैन ग्रन्थमाला (सं० १४१) भावनगर से प्रकाशित (१९३७ ई०) नलायन का उपयोग किया गया है ।

१. प्रकाशक—मलिक एण्ड कम्पनी, चौड़ा रास्ता, जयपुर–३, प्रथम संस्करण १९६९ ।

२. नलायन के प्रथम तथा चतुर्थ स्कन्ध की समाप्ति पर लिखित श्लोकों से पता चलता है कि इस काव्य के लेखक माणिक्यदेवमुनि हैं । किन्तु प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर लिखी पुष्पिकाओं में माणिक्यदेवमुनि के स्थान पर "माणिक्यदेवसूरि" शब्द का प्रयोग प्राप्त है । समालोचना और इतिहास-ग्रन्थों में भी माणिक्यदेवसूरि का अधिक प्रयोग हुआ है ।

३, पृष्ठ ३७४ ।

४. प्रकाशक-पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी–५ प्रकाशन वर्ष १९७३ ।

५. इस काव्य के प्रत्येक सर्ग में अनुष्टुप् का प्रयोग अधिक हुआ है । अन्य छन्दों में मालिनी, आर्या, शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, पृथ्वी, द्रुतविलम्बित, उपजाति, इन्द्रवज्रा,, उपेन्द्रवज्रा, हरिणी, रथोद्धता, स्वागता, पुष्पिताग्रा, मंजुभाषिणी, स्रग्धरा, भृंग, तोटक, भुजंगप्रयात, वंशस्थ, स्रग्विणी, हरिणप्लुता तथा कई प्रकार के अर्धसम वर्णिक, वृत्तों का प्रयोग हुआ है । सवैया और षट्पदी जैसे संस्कृतेतर छन्दों का प्रयोग इस काव्य में हुआ है (पृष्ठ १३७) ।

६. ३.१.५ तथा ७ (किन्तु इसके उत्तरार्ध में यति भंग दोष है ।)

७. १.३ ३५, १.४.५४, ५५, १.१५.२२, ३.७.७, ४.६.४६, ४.१३.३०, ३१ तथा ५.१४.४६ ।

८. १.१३.५३, १.१४.४६, ४.८.४६, ४.१२.६३, ८.२.६१ तथा ६.३.२१ ।

९. १.७.११, १.१३.५१, ४.२.७४, ४.४.३३, ४.१२.६४ तथा ६.२.३० ।

१०. १.७.१०, २.५-५८, ४.१२.५६, ६५, ५.१०.४३ तथा १०.१,२८ ।

११. २.५.५६, ४.१२.६०, १०.१.२६ तथा १०.२.१० ।

११. (क) १.७.१६, १.१०.२५, १.१३.५२, ३.४.१८, ४.२.७० तथा ४.१२.७० ।

१२. ४.१.२९ तथा ५.१०.४५ ।

१३. ५.१९.११, ६.४.१९ तथा १०.१.३० ।

१४. २.७.१४, ४.१२.५४, ५.१९.६, १० तथा १०.१.२९ ।

१५. १.६.३४, ४.५.९१, १०.१.३१ तथा १०.२.११ ।

१६. १.६.३९, १.१५.२३, ४.१२.५५, ६२, ५.५.४२ तथा ५.१९.१२ ।

१७. २.१६.२०, ५.१०.४४, ५२ तथा ५.२१.८० ।

१८. १.१०.२६ ।

१९. ४.१२.५३, ६१, ७३ तथा १०.४.१५ ।

२०. ४.१२.७२ ।

२१. ४.१२.५२ तथा ५.२१.७७ ।

२२. ८.४.३७ ।

२३. उपजाति के इन प्रकारों को क्रमशः—कीर्ति, वाणी, माला, शाला, हंसी, माया, जाया, बाला, आर्द्रा, भद्रा, प्रेमा, रामा, ऋद्धि और बुद्धि कहा जाता है ।

२४. ३.१.१७ ।

२५. १.७.१२, ३०, ३३, १.८.३३, १.१०.२८, १.१३.५०, १.१४.३५, १.१५.१६, २१, २.६.१६, ३.६.१४, ३.७.१३, १५, १६, १७, ४.४.३६, ४.११.३६, ५.४.३८, ८.३.२७, १०.१.२७ तथा ३२।

२६. १.१.५४ (इसके प्रथम पाद "आदितः कथनमेव मज्जातम्" में छन्दोदोष है), १.७.१४, १.११.२७, २.१.५४, २.६.२६, २७, ३.६.१६, ३.७.१६. २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, (इस श्लोक में अन्तिम पाद "लोकपालकपट्टस्तु कपाटः" में "पट्टक" पद में पकार का गुरु होना दोषावह है। "पट्ट०" के स्थान पर "पट" शब्द का प्रयोग करने पर दोष नहीं रहता।) २७, ("अन्तिम पाद में छन्दोभंग",) २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ४.२.७१, ७२, ४.११ ३३, ३४, ४.१२.५६, ५.१.२४, ६.४.१८, २०, २१, २२, २३, ६.६.४१ तथा ७.२.४२।

२७. ८.१.२६।

२८. ३.७.१८, ५.५.३९, ४०, ५.११.२२, २३, २४, २५, २६, (इस श्लोक का प्रथम पाद "नन्वेष मां मेघवत् कम्पमानम्" छन्दोदोष से ग्रस्त है। शालिनी का गणक्रम यह है—भगण, तगण, तगण, गुरु, गुरु। यहाँ प्रथम भगण नहीं बन पा रहा है। वास्तव में कथानक के अनुरोध से "माम्" के स्थान पर "त्वाम्" शब्द का प्रयोग होना चाहिये। "त्वाम्" करने पर न छन्दोदोष रहता है और न कथानक में कोई व्याघात आता है।) २७, २८, ३२, ५.१४.५१, ८.१.२७ तथा २८।

२९. ३.६.९, १५, ४.१२.५७ तथा ५.२१.७९।

३०. ३.७.१२ तथा ४.४.३२।

३१. १.४.५७, १.७.१३, २४, १.१४.४३, ४४, ४५, ४६, ४७, १.१५.२०, २.१६.२४, ३.३.२०, २५, ३.६.२०, ३.८.३८, ३९, ४०, ४१, ४.४.२५, २६, २७, २८, २९, ३० ३१, ३८, ४.१३.३४, ३५, ५.११.११, १४, १९, २०, २९, ५.२१.८१, ८.४.४१, ९.४.३५ तथा १०.४.१७।

३२. ३.१.६, ८, ९, ११ तथा १०.४.२०।

३३. १०.४.१८।

३४. ५.२.२८ (इसके प्रथम पाद "अधिजलधि वहति कूलंकषा" में प्रभा का लक्षण समन्वित नहीं होता। प्रभा में गणों का क्रम यह होता है—नगण, नगण, रगण, रगण। "वहति कूलंकषा" के स्थान पर "वहन्ति कूलंकषाः" पाठ कर देने पर छन्दोदोष का परिमार्जन हो जाता है।)

३५. २.१६ २३, ३.३.२४, ३.७.९, १०, ११, ५.९.४९, ५.१०.४६, ४७, ४८, ४९ तथा ६.६.४०।

३६. ५.२.२९, ५.१२.४७ तथा ५.१८.५६।

३७. १.७.२५, २६, २.१२.३६, २.१३.३६, ५.११.१७, ३०, ६.४.१४ तथा ८.२.५६।

३८. १.१.५१, १.२.७२, १.३.३७, ३८, ४८, १.५.२०, २१, १.६.३६, ३७, ३८, १.७.१७, १८, १९ २०, २३, २७, ३२, १.८ ३४, १.११.२४, २८, २९, १.१२.४३, ४४, १.१३.५५, १.१४.३९, ४०, ४१, ४२, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, १.१५.२४, २.१.२५, २.२.४२, ४३, ४७, २.३.७, ८, ११, २.४.२३, २४, २.५.५५, २.६.१४, १५, १६, २०, २१, २२, २३, २४, २.७.५, ६, १५, १६, १७, २.८.२२, २३, २४, २५, २८, २.१०.२०, २१, २२, २.११.२१, २.१२.४०, २.१३.३१, २.१४.३४, ३५, २.१५.१५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २६. २.१६.१७, १८, १९, २१, २२, २५, ३.१.१८, १९, २०, २१, २२, ३.२.४३, ३.३.२१, २२, २३, ३.४.१९, २०, २१, २२, २३, २४, ३.५.२५, ३.६.१०, १८, ३.७.६, ३७, ३.८.४२, ४३, ४५, ४६, ३.९.२८, २९, ३०, ३४, ३५, ३७, ३८, ३९, ४०, ४.२.७४, ४.३.२९, ४.४.३४, ३५, ३७,

(इसके प्रथम पाद "आकर्ण्य सूतच्यवनं तमसा वृतोऽयम्" में छन्दोभंग है। "सूतचयवनं" में तकार संयुक्तादय होने से दीर्घ है, फलतः सूतच्य० में भगण नहीं बनता), ४०, ४१, ४.५.६२, ६३, ६४, ४.६.७४, ७५, ७६, ४.७.५३, ५४, ५५, ४.८.३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४५, ४.९.४८, ५७, ४.१०.३८, ४०, ४.११.१३, १४, १७, २१, २५, ४.१२.६७, ६८, ७१, ४.१३.२६, २७, २८, २९, ३६, ५.१.२६, २७, २८, २९, ५.२.२५, २६, ३३, ५.४.३९, ५.५.४३, ५,६.४४, ४५, ४६, ४७, ५.१०.५१, ५.११.२१, ३१, ५.१२.४६, ५.१३.५९, ६०, ६१, ६२, ५.१४.५२, ५.१५ ४१, ५.१६.२९, ३४, ३५, ५.१७.४३, ५.२१.८२, ६.३.७७, ६.५.४९, ५०, ६.६.३९, ६.७.५३, ५४, ७.१.५०, ७.३.६०, ७.४.३२, ७.६.५०, ५१, ५२, ५३, ८.२.५७, ५८, ६०, ८.३.२९, ३०, ८.४.३६, ३८, ४२, ९.१.२८, २९, ३०, ९.२.२८, २९, ९.४.३४, ३६, १०.३.२६, ३७, ३८, १०.४.१४, १६, १९, २० तथा २३।

३९. मुनि काश्यप के अनुसार इसका नाम सिंहोन्नता तथा मुनि सैतव के मत में यह उद्धर्षिणी है—उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः। ××× सिंहोन्नतेयमुदिता मुनिकाश्यपेन। ××× उद्धर्षिणीयमुदिता मुनिसैतवेन। वृत्तरत्नाकर—३.७९–८।

४०. ३.१.१५।

४१. छन्दोमञ्जरी (२.४) में प्रहरणकलिका तथा वृत्तरत्नाकर में इसके लिए प्रहरणकलिता (३.७८) अभिधान का प्रयोग हुआ है।

४२. १.१.१, २.५३, १.२.७१, ७३, १.४.६१, ६२, ६३, १.५.२२, १.६.३३, १ ७.२१, २२, २८, २९, १.१०.२३, १.११.२२, २३, २५, १.१३.५४, १.१४.३४, ३६, ३७, ३८, २.२.४६, २.३.६, १२, २.४.१९, २०, २१, २५, ५३, २.६.१८, २५, २.९.६, २.१०.२४, २.११.२२, २३, २.१३.३४, ३५, २.१४.३०, ३१, ३३, २.१५.२३, २४, २५, २७, २८, २८, २९, ३०, ३.१६.१६, ३.२.४४, ४५, ३.३.१९, ३.४.१६, १७, ३.५.२४, ३.६.११, १२, १७, ३.७.८, १४, ३.८.३२, ३३, ३.९.२५, २६, २७, ३६, ४.२.७३, ४.३.२७, २८, ४.५.९०, ४.६.७७, ४.७.५१, ५६, ४.८.४४, ४.१०.३४, ३५, ३६, ३७, ४.११.१५, १६, २४, २६, ३०, ३१, ३२, ३५, ४.१२.५८, ७४, ४.१३.२४, २५, ३२, ५.१.३१, ५.२.२०, २१, २२, २३, २४, २७, ५.३.३७, ३८, ५.४.३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ५.६.२५, ५.७.३८, ५.१०.५०, ५.१६.३०, ३१, ५.१८.५७, ५८, ५.२०.५९, ७०, ६.१.६९, ७०, ७१, ६.२.२९, ३०, ६.४.१५, ६.७.५१, ७.२.४१, ४३, ४४, ४५, ४६ ७.३.५९, ७.४.३०, ३१, ७.५.४३, ८.१.२९, ८.३.२८, ३१, ८.४.३९, ४०, ९.१.३१, ९.३.३२, ९.४.३३, १०.१.३३ तथा १०.२.१२।

४३. ३.१.१४।

४४. शशिकला को चन्द्रावती भी कहा जाता है। द्र० आचार्य पिंगल-छन्दः शास्त्र, ७–११।

४५. १.१.५२, २.६.३१, २.७.१०, १३, ३.८.३४, ४.१०.२६, ४.११.२८, ५.१०.५४, तथा ७ ५.४१।

४६. १.३ ३६, २.१२.३७, २.१४.३२, ३.२.४६, ३.९.३१, ५.११.१२, ६.३.७९, ६.४.१७ तथा ८.३.२६।

४७. १.६.३५, १.११.२६, १.१५.१८, २.१३.२६, २८, ३७, ३८, ५.१.२२, २३, तथा २५।

४८. १.१.४, ५६, ५८, ५९, ६०, १.६.२९, ३०, ३१, ३२, १.८.३२, १.१०.२०, २४, २७, १.१२.४२, २.४.२२, २.५.५७, २.६.१७, २८, २९, ३०, ३२, २.९.८, ९, २.१०.२३, २.१२.३५,

३८, ३६, २.१३.२५, २७, ३०, ३२, ३३, ३६, ३.३.२५, ३.८.४४, ४७, ४८, ३.६.३२, ३३, ४.४.३६, ४.५.६५, ४.६.६५, ६६, ६७, ६८, ६६, ७०, ७१, ७२, ७३, ४.६.५०, ५८, ४.१०.२७, २८, २६, ३०, ३१, ३२, ३३, ३६, ४.११.१६, २०, २७, ३६, ४.१२.६६, ५.१.१६, २०, २१, ५.२.३०, ३१, ३२, ५.६ २४, ५.७.३४, ३५, ३६, ३७, (इस श्लोक के द्वितीय पाद "श्रुत्वा दुःखं सहृदयहृदयैर्नैव कार्यं भवद्भिः" में चित्रलेखा छन्द है। चित्रलेखा प्रतिपाद अठारह अक्षरों का छन्द होता है और इसमें गणों का क्रम इस प्रकार होता है—मगण, भगण, नगण, मगण, यगण, यगण। मन्दाक्रान्ता प्रतिपाद सत्रह अक्षरों का छन्द है। इस श्लोक को सत्रह और अठारह अक्षरों वाले भिन्न-भिन्न छन्दों की उपजाति नहीं कहा जा सकता और न इसे कोई नवीन छन्द माना जा सकता है। फलतः यह छन्दोदोष ही है, अर्थात् इस मन्दाक्रान्ता में द्वितीय पाद में एक अक्षर अधिक होने से दोष आ गया है।) ५.८.५१, ५.११.१६, ५.१५.४२, ५.२१.७८, ६.२.३२. ६.४.१६, २४, ७.१.४६, ५१, ७.५.३७, ३८, ३६, ४२, ४४, ४५ तथा १०.२.६।

४८. (क) ५.१६.३२।

४६. जिस छन्द में सातवें छठे और चतुर्थ वर्ण पर यति होती है तथा गणों का क्रम नर्कुटक छन्द जैसा अर्थात् नगण, जगण, भगण, जगण, जगण, जगण, एक लघु और गुरु होता है उसे कोकिलक छन्द कहा जाता है—हयदशभिर्नजौ भजजला गुरु नर्कुटकम्॥ × × × मुनिगुहकार्णवैः कृतयति वद कोकिलकम्॥ वृत्तरत्नाकर, ३.६८–६६। यदि इस गणक्रम में सातवें और दसवें वर्ण पर यति होती है तो नर्कुटक छन्द बन जाता है। नर्कुटक को कहीं-कहीं नर्दटक (द्र० छन्दोमञ्जरी, २.६) भी कहा गया है। नला० का ५.१६.३२ श्लोक इसी गणक्रम में है। यति भेद से इसे कोकिलक या नर्कुटक (नर्दटक) दोनों ही कह सकते हैं। सूक्ष्मेक्षिकया विचार करने पर यह श्लोक नर्कुटक (नर्दटक) ही सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें सप्तम और दशम वर्ण पर यति करने पर भावबोध सरलता से होता है।

५०. १.१.३, ४६, ५०, १.२.६६, ७०, १.६.३२, १.१०.२१, २२, १.१४.३०, ३१, ३२, ३३, ५५, २.१.२४, २.७.८, ६, ११, १२, २.८.२६, २७, २.६.७, २.११.२४, २.१३.२३, २४, २६, ३.५.२३, ३.६.१३, १६, ३.८.३५, ३६, ३७, ४.२.६६, ४ ७.५२, ५७, ४.१०.४१, ४.११.१८, २२, २३, २६, ३७, ३८, ४.१२.६६, ४.१३.३३, ५.१.३०, ५.५.४१, ५.६.४८, ५.१०.५३, ५५, ५.११.१५, १८, ५.१४.५०, ५.१५.४३, ५.१६.३३, ६.६.४३, तथा ६.७.५२।

५१. २.२.४४, ४५, २.७.७, ४.४.४२, तथा ६.३.७८।

५२. ६.२.३१।

५३· वियोगिनीछन्द के दूसरे नाम सुन्दरी और वैतालीय भी है।

५४. १.७.१५, ३१, १.४.४८, २.३.६, १०, २.६.१०, ३.८.४६, ४.६.५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५.८.४८, ४६, ५०, ५.११.१३, ५.१७.३६. ४०, ४१, ४२, ६.१.७२, ६.६.४२, ७.३.६१, ७.५.४०, ७.६.४६, ८.१. ५, ८.२.५६, तथा १०.४.२१।

५५. ३.१.१२।

५६. ३.१.१३।

५७. शीतलमचन्दनद्रवममूलमन्त्रं जगदॅ्वशीकरणममृतमसामुद्रमिदं गीतमहो नैषधनृपस्य ॥ ३.१.१० ।

५८. गौरव से बचने के लिए इसके सन्दर्भ नहीं दिये गए हैं । दत्तसन्दर्भ छन्दो के अतिरिक्त शेष सभी छन्द अनुष्टुप् है । इनमें यत्र तत्र छन्दोदोष पाए गये हैं, उदाहरणार्थ ७.४.२४ में अन्तिम पाद "मा मयि भ्रान्ति मा कृथाः" में पञ्चम वर्ण के दीर्घ होने से छन्दोदोष है । तथा ८.४.५ के उत्तरार्ध में यतिभंग दोष देख सकते हैं ।

५९. डा० श्यामशंकर दीक्षित ने 'तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन-संस्कृत महाकाव्य' पृष्ठ ३४६ पर लिखा है कि नला० की "कथावस्तु सौ सर्गों में विभक्त है ।" और डा० गुलाबचन्द चौधरी ने 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग–६) पृष्ठ, १३ पर लिखा है कि नला० में "१०० सर्ग और ४०५६ पद्य हैं ।" वस्तुतः ये दोनों ही सूचनाएँ भ्रामक हैं । नला० में ९९ सर्ग और ४०५० पद्य हैं । डा० दीक्षित ने सातवें स्कन्ध में सात सर्ग बताये हैं (पृष्ठ ३४८) यह गणना भ्रममूलक है । इस स्कन्ध में सर्गों की वास्तविक संख्या छह है ।

———

प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
सनातन धर्म कालिज
मुजफ्फरनगर

डॉ० (कु०) सुषमा अरोड़ा

साहृश्यमूलक अलंकारों में साहृश्य-तत्त्व

सामान्य वाक्-शक्ति जहाँ एक ओर मानव को समस्त प्राणी-वर्ग में श्रेष्ठता प्रदान करती है, वहाँ दूसरी ओर वाणी की आह्लादकता या रमणीयता वक्ता को सामान्य मानव की अपेक्षा एक विशिष्ट कोटि में ला खड़ा करती है। वाणी में विद्यमान स्पष्टता यदि श्रोता को वक्ता के हृदय के निकट पहुँचाती है, तो वाणीगत सौन्दर्य उस निकटता की प्राप्ति के लिये वातावरण प्रस्तुत करता है और साथ ही प्रेरणा भी देता है। अलंकृत वाणी सौन्दर्य के द्वारा न केवल श्रोता को अपनी ओर आकृष्ट करती है, अपितु श्रोता के हृदय के साथ एक रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित करती है, जिसके परिणामस्वरूप वक्ता और श्रोता के बीच विचारों का आदान-प्रदान निर्बाध रूप से सम्पन्न होता रहता है। अलंकरण की इस आह्लादकता को वाणी के व्यवहार में आदिकाल से ही स्वीकार किया गया है। विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेदों में भी अलंकारों की संभवतः इसीलिये उपेक्षा नहीं की गई और यही कारण है कि वैदिक कवियों ने अपनी वाणी को विविध प्रकार से अलंकृत करने में कोई संकोच नही किया है।

विधाता की सृष्टि में प्रत्येक वस्तु में परस्पर भिन्नता (असमानता) ही उसकी मौलिकता है। इस भिन्नता के सर्वव्यापक होने के कारण यत्र-तत्र इसका अभाव अलौकिक और चमत्कारपूर्ण प्रतीत होता है। भाषा के प्रारम्भिक विकासकाल में ही भिन्नता के अभाव रूप साहृश्य के दर्शन से उत्पन्न चमत्कार को पहचान लिया गया और उसके द्वारा भाषा को मनोहर और आकर्षक बनाने के लिये प्रयत्न भी प्रारम्भ किये गये थे, जिसके दर्शन हमें विश्व के प्राचीनतम साहित्य-वेदों—में होते हैं। यथा—

सुन्दर पंखों वाले, सदा साथ रहने वाले, मित्रभाव से उत्पन्न पक्षी रूप ईश्वर और जीव, दोनों ही विश्व रूपी वृक्ष का समान रूप से सेवन करते हैं, किन्तु उनमें से एक उसमें आसक्त होकर फलस्वरूप परिणाम का आस्वादन करता है और दूसरा उसका उपभोग न करता हुआ केवल दर्शन करता है।[1]

प्रस्तुत स्थल पर ईश्वर और जीव पर पक्षी का, विश्व पर वृक्ष का, सुख-दुःखादि परिणामों का पर फल का आरोप करते हुए ईश्वर, जीव और विश्व के सम्बन्ध का वर्णन कितना स्पष्ट, सरल और मनोहारी प्रतीत हो रहा है!

एक अन्य स्थल पर वाणी के प्रसंग में वैदिक कवि की निम्न उक्ति दृष्टव्य है—

वह जानने का प्रयत्न करता हुआ भी वाणी को नहीं जान पाता और सुनता हुआ भी उसे सुन नहीं पाता, किन्तु प्रसन्न होने पर वह वाणी उसके लिये अपने को उसी प्रकार समर्पित कर देती है, जैसे सुन्दर वस्त्राभरणों से सुसज्जित कामना करती हुई पत्नी स्वयं को पति के समक्ष समर्पित कर देती है।[2]

प्रस्तुत स्थल पर विरोधाभास के साथ प्रियतमा पत्नी की उपमा से वाणी का प्रभाव कितने आकर्षक रूप से प्रकट हो रहा है।

इसप्रकार उपर्युक्त उद्धारणों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक ऋषियों ने अपनी वाणी को सुबोध और हृदयग्राही बनाने के लिये अलंकारों का, विशेषतः साहृश्यमूलक अलंकारो का, खुल कर प्रयोग किया है।

साहृश्य अलंकारशास्त्र का एक प्रसिद्ध तत्त्व है। अलंकार योजना में इस (साहृश्य) का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह अलंकारों का मूल है। कवि का उद्देश्य प्रायः वस्तु के इतिहास की भाँति यथार्थ का चित्रण न होकर वस्तु के दर्शन से उत्पन्न अपनी अनुभूति को व्यक्त करना होता है। यदि मुख उसका

वर्ण्य विषय है, तो वह मुख का बाह्य एवं स्थूल वर्णन न करके मुख-दर्शन से उत्पन्न अपनी सौंदर्य-भावना को अभिव्यक्त करेगा। यह सौंदर्य-भावना मुख-दर्शन से उत्पन्न अवश्य होती है किन्तु इसमें कवि की कल्पना का अंश मिला हुआ होता है। यह सौंदर्य भावना बाह्य सौंदर्य से भिन्न होती है, क्योंकि कवि-समर्पित धर्म ही अलंकार कहे जाते हैं, वस्तु में विद्यमान लावण्य आदि धर्म नही। तात्पर्य यह है कि कवि की वर्णना शक्ति ही वस्तुगत सौंदर्य की प्रतीति को उभारने में समर्थ हो पाती है। साहृश्य-विधान को अपना कर कवि जिस अलकारिक भाषा का प्रयोग करता है, उन्हें साहृश्यमूलक अलंकार कहसक ते हैं। काव्यार्थ की अभिव्यक्ति में साहृश्य मूलक अलंकारों का अधिक योगदान रहा करता है। अनेक बार तो काव्यार्थ के उन्मीलन के लिये साहृश्य मूलाधार के रूप में ही अवस्थित होता है। साहृश्य मूलक अलंकार कवि कि चित्तवृत्ति पर आधारित होते हैं। कवि-विवक्षा तथा कवि वर्णना का केन्द्र बिन्दु ही एक साहृश्यमूलक अलंकार को दूसरे अलंकार से पृथक् करता है और वही अलंकार विशेष के अलंकारत्व का निकष भी है।

साहृश्य तत्त्व के आधार पर काव्य चारुत्व से युक्त होकर चमत्कृत हो उठता है। उपमालंकार हो अथवा रूपक, दीपक, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार, सभी में चारुत्व का मूल साहृश्य ही रहता है, यह साहृश्य चाहे वर्णगत हो अथवा पदगत या वस्तुगत। अनुप्रासादि में वर्णगत साहृश्य, यमक, श्लेष (शब्द-श्लेष) आदि में पदगत साहृश्य, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारो में वस्तुगत साहृश्य होता है। यह वस्तुगत साहृश्य भी कहीं वाच्य रूप से रहता है और कहीं गम्य रूप से। वाच्य साहृश्य भी कभी भेद प्रधान होता है और कभी अभेद प्रधान साहृश्य आरोपमूलक और अध्यवसाय भेद से दो प्रकार का माना जाता है। पुनः अध्यवसाय साहृश्य में कभी अध्यवसाय व्यापार की प्रधानता होती है और कभी अध्यवसित व्यापार की। इसके अतिरिक्त साहृश्य पदार्थगत और वाक्यार्थगत भेद से भी दो प्रकार का हो जाता है। इसप्रकार साहृश्य कई प्रकार का है। साहृश्य में वैशिष्ट्य के कारण ही विभिन्न अलंकारों का चारुत्व-विशेष की अनुभूति होती है।

साहृश्य का मूल तत्त्व साधारणधर्म है। साधारणधर्म का निर्देश तीन रूपों में किया जा सकता है—(१) अनुगामी रूप में, (२) वस्तु प्रति वस्तुभाव रूप में तथा (३) बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव रूप में। जब साधारणधर्म उपमेय तथा उपमान में एक रूप में रहता है, तो उसे अनुगामी कहते हैं। जब वह एक होने पर भी विभिन्न वाक्यों में विभिन्न शब्दों द्वारा निर्दिष्ट होता है, तब उसे वस्तु-प्रतिवस्तुभाव के रूप में निर्दिष्ट माना जाता है। जिस समय उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य में धर्म भिन्न-भिन्न होते हैं और उन धर्मों में ही साहृश्य का कथन होता है, तो उसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव कहा जाता है। इसप्रकार साहृश्य और साधारण धर्म के भेदों के आधार पर साहृश्य मूलक अलकार अनेक प्रकार के हो जाते हैं। उदाहरणार्थ उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण में उपमेय और उपमान में भेद या अभेद प्रधान साहृश्य का कथन नहीं होता है, अपितु भेदाभेदतुल्यप्रधान साहृश्य रहा करता है।

रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति इन आठ अलंकारों में अभेद प्रधान साहृश्य की प्रधानता रहा करती है। पुनः इनमें से रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांतिमान्, उल्लेख और अपह्नुति इन छः अलंकारों में उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाता है, अतः इनमें आरोपमूलक साहृश्य की सत्ता रहती है और उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति में उपमेय पर उपमान का अध्यवसाय किया जाता है, अतः इनमें अध्यवसायमूलक साहृश्य का प्राधान्य रहता है।

तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तुपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप अर्थालंकारों में उपमेय

और उपमानगत सादृश्य शब्दत: कथित नहीं होता, अपितु गम्यमान रूप में रहता है। इन अलंकारों में से तुल्ययोगिता और दीपक अलंकारों में स्थित उपमेय और उपमान (दोनों) में विद्यमान सादृश्य का कथन एक वाक्य में किया जाता है एवं वह सादृश्य वाक्य में विद्यमान अथवा वाक्यगत अनेक पदों में रहता है। अत: ये अलंकार पदार्थगत गम्यसादृश्यमूलक वर्ग में समाहित किये जाते हैं। इसके विपरीत प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना अर्थालंकारों में दो वाक्यों की योजना की जाती है तथा सादृश्य वाक्य के अर्थ में निहित रहता है । परिणामत: इन अलंकारों में वाक्यार्थगत सादृश्य माना जाता है। प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना इन तीनों अलंकारों में भी वस्तु-प्रतिवस्तुभाव रूप से साधारण-धर्म का निर्देश होने पर प्रतिवस्तूपमा अलंकार और बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव रूप से निर्देश होने पर दृष्टान्त तथा निदर्शना अलंकार होते हैं।

व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति अलंकारगत उपमेय और उपमान में भेद प्रधान गम्यमान सादृश्य रहता है। समासोक्ति और परिकर अलंकारों में भी सादृश्य गम्यमान रूप में रहता है, किन्तु उनमें उसकी प्रतीति विशेषण के वैचित्र्य के कारण होती है। इसीप्रकार श्लेष (अर्थ-श्लेष), अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति और आक्षेप अलंकारों में गम्यमान सादृश्य की प्रतीति में विशेषण और विशेष्यगत वैचित्र्य रहा करता है।

सादृश्यमूलक अलंकारों का सर्वप्रथम वाच्यसादृश्यप्रधान और गम्यसादृश्यप्रधान के रूप में वर्गीकरण करके पुनः उनको विभिन्न वर्गों में इसप्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

(क) वाच्यसादृश्यप्रधान—भेदाभेदतुल्यप्रधान—(१) उपमा (२) उपमेयोपमा (३) अनन्वय (४) स्मरण।

अभेदप्रधान—(अ) आरोपमूलक—(१) रूपक (२) परिणाम (३) संदेह (४) भ्रांतिमान् (५) उल्लेख और (६) अपह्नुति।

(ब) अध्यवसायमूलक—(१) उत्प्रेक्षा (२) अतिशयोक्ति।

(ख) गम्यसादृश्यप्रधान—(अ) पदार्थगतगम्यसादृश्यमूलक—(१) तुल्ययोगिता (२) दीपक।

(ब) वाक्यार्थगतगम्यसादृश्यमूलक—(१) प्रतिवस्तूपमा (२) दृष्टान्त (३) निदर्शना।

(स) भेदप्रधानगम्यसादृश्यमूलक—(१) व्यतिरेक (२) सहोक्ति और विनोक्ति।

(४) विशेषणवैचित्र्यगम्यसादृश्यमूलक—(१) समासोक्ति और (२) परिकर।

(५) विशेषणविशेष्यवैचित्र्यगम्यसादृश्यमूलक—(१) श्लेष (२) अप्रस्तुतप्रशंसा (३) अर्थान्तरन्यास (४) पर्यायोक्ति (५) व्याजस्तुति और (६) आक्षेप।

वाक्य अर्थ-प्रतीति की दृष्टि से स्वयं में एक इकाई होते हुए भी शब्द, शब्दार्थ तथा शब्दावयव—स्वर या व्यञ्जन आदि अंगों में विभक्त होता है। अर्थ से लेकर इन शब्दावयवों अर्थात् वर्णों तक यदि हम प्रत्येक का पृथक्-पृथक् रूप से अथवा मिश्र (सम्मिलित) रूप से साम्य देखना चाहें, तो विदित होगा कि इस अंगभेद के आधार पर भी सादृश्य अनेक प्रकार का हो जाता है। इसके अतिरिक्त वाक्यों की रचना, संघटना आदि की दृष्टि से भी यदि सादृश्य का परिगणन किया जाए, तो वह अनेक प्रकार का सिद्ध होता है। अलंकारसर्वस्य के रचयिता आचार्य रुय्यक ने इसी सादृश्य को पौनरुक्त्य नाम देकर उसके शब्दपौनरुक्त्य, अर्थपौनरुक्त्य, स्वर-पौनरुक्त्य, व्यञ्जन-पौनरुक्त्य और स्वर-व्यञ्जन-पौनरुक्त्य भेद करते हुए उसे अनेक अलंकारों का मूल माना है।[१]

अनुप्रास क्या है, केवल कुछ ध्वनियों का समान होना ही तो है।[४] इसीप्रकार यमक भी स्वर और व्यञ्जन समुदाय की पुनरुक्ति मात्र ही तो है।[५] पुनरुक्तवदाभास अलंकार का वैचित्र्य क्या है, केवल वही समानता, जिसे पूर्व कहा जा चुका हो।[६] आरभटी, कैशिकी आदि वृत्तियों में जो चारुत्व है, क्या वह समान कोमल वर्णों का या समान परुष वर्णों का प्रयोग नहीं है।[७] माधुर्य और ओज आदि गुण क्या हैं, अक्लिष्ट (मृदु) और क्लिष्ट वर्णों से युक्त समान प्रयोग ही तो है।[८]

इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि काव्य में सौंदर्य या आह्लादकता के हेतु के रूप में स्वीकार किये गये अनेक तत्त्व इसी सादृश्य पर आधारित हैं। अनुप्रास, यमक, लाटानुप्रास और पुनरुक्तवदाभास अलंकारों के मूल में ध्वनि-सादृश्य और उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों के मूल में अर्थसादृश्य को देखा जा सकता है।

भाषा के वैचित्र्य का अधिकांश भाग केवल साम्य पर आधारित है। काव्य में सौंदर्याधायक तत्त्वों के अनुसंधान के प्रसंग में सर्वप्रथम इसी साम्यमूलक सौन्दर्य को ही स्वीकार किया गया है। अर्थ में प्राप्त होने वाले इसी साम्य के प्रकार-भेद को लेकर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि विविध अलंकारों का प्रादुर्भाव हुआ है। अप्पयदीक्षित ने इसी तथ्य को प्रमाणित करने के लिये केवल मुख और चन्द्र को आधार बनाकर बाईस अलंकारों को समझने की चेष्टा की है। तद्यथा—

'चन्द्र की तरह मुख' इस कथन में चन्द्र और मुख में सौन्दर्य और माधुर्य का जो सादृश्य है, उसका वर्णन होने के कारण उपमालंकार हुआ। 'चन्द्र की तरह मुख' इसी भाव को व्यक्त करने के लिये विचित्र वचनभगिमा-भेद के कारण उपमा के स्थान पर अन्यान्य अनेक प्रकार के अलंकारों की उत्पत्ति होती है। यथा 'चन्द्र की तरह मुख है', 'मुख की तरह चन्द्र है,', ऐसा वाक्य-प्रयोग होने पर पूर्व वाक्य का उपमान (चन्द्र) और उपमेय (मुख) दूसरे वाक्य में विपरीत भाव से वर्णित होने के कारण उपमेयोपमा हुई। 'मुख मुख की तरह है,' ऐसा कहने पर एक ही वस्तु में उपमानत्व और उपमेयत्व दोनों धर्मों के पर्यवसान के कारण अनन्वय अलंकार हुआ। यदि यह कहा जाए कि 'मुख की तरह चन्द्र है' तो प्रसिद्ध उपमान चन्द्र का उपमेय (मुख) रूप में निर्देश करने के कारण प्रतीप अलंकार हुआ। 'मुख ही चन्द्र है,' ऐसा कहने पर उपमान और उपमेय के अभेदत्व के कारण रूपक अलंकार होगा। 'मुख-चन्द्र के द्वारा ताप का उपशमन होता है,' ऐसा कहने पर परिणाम अलंकार हुआ। 'यह मुख है या चन्द्र है', यहाँ संदेह अलंकार है। 'चन्द्र समझकर चकोरगण तुम्हारे मुख की ओर आकृष्ट होते हैं,' यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार है। 'चकोर चन्द्र समझकर एवं मधुकर कमल समझकर तुम्हारे मुख के प्रति अनुरक्त होते हैं,' यहाँ उल्लेख अलंकार हुआ। 'यह चन्द्र है, मुख नहीं' में अपह्नुति अलंकार है। 'मुख मानों चन्द्र है' यहाँ उत्प्रेक्षालंकार हुआ। 'यह रहा चन्द्र'—यहाँ उपमेय का उल्लेख न करके उपमान का ही उपमेय के रूप में निर्देश करने के कारण अतिशयोक्ति अलंकार हुआ। 'मुख द्वारा चन्द्र और कमल दोनों ही विजित हुए'—यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार है। 'रात्रि में चन्द्र और तुम्हारा मुख दोनों हर्षित होते हैं,' यहाँ दीपक अलंकार है।[९] तुम्हारा मुख है, यह समझकर मैं आनन्दित होता हूँ और चन्द्र है, यह समझकर चकोर आनन्दित होता है, यहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार है। आकाश में चन्द्र, पृथ्वी पर तुम्हारा मुख यहाँ दृष्टान्त अलंकार है। मुख-चन्द्र श्री धारण करता है, यहाँ निदर्शना अलंकार है। निष्कलंक मुख चन्द्र से भी बढ़ गया है, यहाँ व्यतिरेक अलंकार है। तुम्हारे मुख के साथ-साथ चन्द्र रात्रि में हर्षित होता है, यहाँ सहोक्ति अलंकार है। नेत्रांकरुचिर मुख स्मित-ज्योत्स्ना से उपशोभित है, यहाँ चन्द्र ही मुख है, चन्द्र के अन्तर्गत कृष्ण चिह्न समूह मानों नेत्रांक है, ज्योत्स्ना स्मित की छटा है। इस प्रतीति के कारण यहाँ समासोक्ति

अलंकार हुआ । 'अब्जेन सदृशं वक्त्रं हरिणाहितशक्तिना वाक्य में 'अब्ज' शब्द का अर्थ 'अब्भ्यो जातः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार चन्द्र भी किया जा सकता है और कमल भी किया जा सकता है। 'हरिणाहित-शक्तिना' शब्द का अन्तद हरिण + आहित + शक्तिना अथवा 'हरिणा + आहित + शक्तिना' दोनों प्रकार से किया जा सकता है। इसलिए यहाँ श्लेष अलंकार हुआ। मुख के सामने चन्द्र निष्प्रभ है, यहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार है।[10]

इसप्रकार हम देखते हैं कि अप्पयदीक्षित ने मुख एवं चन्द्र का अवलम्बन कर बाईस अलंकारों के दृष्टान्त दिये हैं। इन बाईस अलंकारों के मूल में विद्यमान सादृश्य के अन्दर, जो केवल मुख और चन्द्र के पारस्परिक सादृश्य पर आधारित है, किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। इसीलिये अप्पयदीक्षित ने इन पूर्वोक्त बाईस अलंकारों को उपमा का विवर्त मात्र कहा है। इसप्रकार यह स्वीकार किया जा सकता है कि यह सादृश्य ही चाहे वर्णगत हो या पदगत या वस्तुगत, अधिकांश अलंकारों के मूल में स्फुट अथवा अस्फुट रूप में रहा करता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि सादृश्य प्रतीति की अवस्था में जिस अलंकार की अभिव्यक्ति होती है, वह उपमा है; 'चन्द्र इव मुखम्' इसका उदाहरण है। इस अवस्था में उपमेय तथा उपमान के कतिपय तत्त्वों में ऐक्य और कतिपय में अनैक्य प्रतीत होता है, अतः यह भेदाभेदप्रतीति की अवस्था होती है। उपमालकार की सादृश्य प्रतीति उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते तादूप्यप्रतीति तक पहुँचती है, इसे अभेद प्रधान आरोप की अवस्था कहते हैं, क्योंकि इसमें आरोप विषय पर आरोप्य-माण का आरोप किया जाता है। सादृश्यप्रतीति में तो कुछ अवयवों में भिन्नता बनी रहती है, परन्तु तादूप्यप्रतीति में वह सर्वथा लुप्त हो जाती है। उपमेय तथा उपमान सर्वथा समान हो जाते हैं। इस अवस्था में रूपकालंकार की अभिव्यक्ति होती है। 'मुखमेव चन्द्रः' इसका उदाहरण है। यहाँ मुख चन्द्र के समान ही नहीं अपितु अभेदारोप के कारण तदाकार बन गया है। इस अवस्था में यद्यपि अवयवों (धर्मों) की भेद-प्रतीति लुप्त हो जाती है किन्तु अवयवियों (धर्मियों) की भेद-प्रतीति बनी रहती है। यद्यपि मुख का चन्द्र से तादूप्य स्थापित हो जाता है, परन्तु दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् बनी रहती है। यदि समानता केवल अभेद-प्रतीति में ही न रहकर व्यवहार में भी आ जाए, तो उस स्थिति में परिणाम अलंकार की अभिव्यक्ति होती है। 'मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति' इसका उदाहरण है। इसमें रूप समारोप के साथ-साथ व्यवहार-समारोप भी किया गया है।

उपमा रूपक आदि अलंकारों में मुख की सत्ता चन्द्र में विलीन नहीं होती। अतः सादृश्य की प्रक्रिया और आगे बढ़ती है तथा उपमेय (धर्मी, अवयवी) का निगरण प्रारम्भ होता है। उपमेय की इस निगरण प्रक्रिया में उत्प्रेक्षालंकार की अभिव्यक्ति होती है। इस अवस्था को अध्यवसाय की साध्यावस्था कहा जाता है। इस अवस्था में विषय का निगरण होकर विषय तथा विषयी की सर्वथा अभेद प्रतिपत्ति नहीं होती, अपितु इस अभेद प्रतिपत्ति की ओर हमारी मानसिक प्रक्रिया उन्मुख हो जाती है। 'नूनं मुखं चन्द्रः' अथवा 'मुख चन्द्रः मन्ये' के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है। इसमें मुख तथा चन्द्र की पृथक् सत्ता बनी रहती है। निगरण की यह प्रक्रिया उपमेय के निगीर्ण होने पर तथा उपमान का अध्यवसाय होने पर समाप्त हो जाती है। उत्प्रेक्षा में जो अध्यवसाय साध्य था, वह अब सिद्ध हो जाता है। इस अवस्था में व्यापार की प्रधानता न होकर अध्यवसित उपमान की प्रधानता हो जाती है, व्यापार तो सर्वथा समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में अभिव्यक्त अलंकार अतिशयोक्ति कहलाता है। 'अयं चन्द्रः' इस उदाहरण में मुख की सत्ता चन्द्र में विलीन हो गई है और एक चन्द्र ही अवशिष्ट रह गया है।

इसप्रकार यहाँ मुख की प्रतीति का ही नहीं, उसके स्वरूप का भी निगरण हो गया है। उत्प्रेक्षा अलंकार में तो प्रतीति-निगरण होता है, जबकि अतिशयोक्ति में स्वरूप-निगरण हो जाता है।

इसप्रकार जो सादृश्य-विधान मुख तथा चन्द्र के सादृश्य से आरम्भ हुआ था, वह उनके सादृश्य-प्रतीति, तादृप्य-प्रतीति तथा मुख के निगरण की प्रक्रिया में से होता हुआ उनके सर्वथा ऐक्य में समाप्त हो जाता है और केवल 'चन्द्र' अवशिष्ट रह जाता है। कवि की कल्पना-बुद्धि सादृश्यमूलक तादृप्य; निगरण-प्रक्रिया आदि विभिन्न अवस्थाओं में से होती हुई ऐक्य तक पहुँच जाती है। इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न अलंकारों की अभिव्यक्ति होती है। यथा सादृश्य-प्रतीति की स्थिति में उपमा, उपमेयोपमा तथा अनन्वय की, तादृप्यावस्था (अभेदारोपावस्था) में रूपक, परिणाम, उल्लेख एवं अपह्नुति की निगरण-प्रक्रिया की अवस्था में उत्प्रेक्षा की तथा ऐक्यावस्था में अतिशयोक्ति की। इसप्रकार स्पष्ट है कि अधिकांश अलंकारों के मूल में सादृश्य निहित रहता है।

निष्कर्ष यह है कि वस्तु की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिये कवि जब सादृश्य विधान करता है, तब उसका कल्पनाजन्य सादृश्यज्ञान भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है और उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न अलकारों की अभिव्यक्ति होती है। सादृश्यविधान एक माध्यम है, जो पाठक को या श्रोता को कवि की मनोभूमि तक पहुँचाता है। सादृश्य एक ऐसा तत्त्व है, जिसके कारण वर्ण्यविषय चारुत्व से युक्त होकर चमत्कृत हो उठता है। सादृश्य चाहे स्फुट हो या अस्फुट, वाच्य हो या व्यंग्य, वहचारुत्व का हेतु अवश्य होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वाच्य सादृश्य की अपेक्षा व्यंग्य सादृश्य चारुतर प्रतीत होता है। सम्भवतः इसीलिये आचार्य महिमभट्ट ने उपमा आदि अलंकारों की अपेक्षा रूपक आदि अलंकारों को अधिक श्रेष्ठ स्वीकार किया है।[११]

संदर्भ संकेत

१. द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजायते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।। ऋग्वेद १।१६४।२० ।।
अथर्ववेद ६।६।२६, श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।६, मुण्डकोपनिषद् ३।१।१

२. उतत्वः पश्यन्नददर्श वाचम्, उतत्व श्रृण्वन्नश्रृणोत्येनाम्।
उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे, जायेव पत्यै उषती सुवासा ।। ऋग्वेद १०।७१।४ ।।

३. (क) इहार्थपौनरुक्तयं शब्दपौनरुक्तयं शब्दार्थपौनरुक्तयं चेति त्रयः पौनरुक्तयप्रकाराः—
अलंकार सर्वस्व पृ० २३

(ख)··· अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारत्वंज्ञेयम्। वही पृ० २५

(ग) शब्दपौनरुक्त्यं व्यञ्नमात्रपौनरुत्क्यं स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्तयं च। वही, पृ० २८

४. (क) सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते। भामह काव्यालंकार १।५
(ख) वर्ण साम्यमनुप्रासः। काव्यप्रकाश, नवम उल्लास पृ० ४०४

५. स्वरण्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम्। अलंकार सर्वस्व, सूत्र ६, पृ० ३३

६. पुनरुक्तवदाभासमभिन्तवस्त्विवोद्भासिरूपपदम्। काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० २

७. (क)········· । अंगंः सहास्य निर्हास्यैरेभिरेवात्र कैशिकी ।। दशरूपक २।५२
(ख)·········आरभटीपुनः। मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादि चेष्टितैः ।। वही २।५६

८. (क) चित्तद्रवीभामयो हलादोमाधुर्यमुच्यते। संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्
—साहित्यदर्पण ८।२

मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना ।
रणौ लघु च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः । वही ८।३
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा । वही ८।४
(ख) ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।। वही ८।४
वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिकमस्य तु । वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ।।
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढैः सह । शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गता ।। —वही ८।५–६

९. चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा । सैवोक्तिभङ्गीभेदेनानेकालंकारभावं भजते । तथाहि— 'चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्रः इत्युपमेयोपमा । मुखं मुखमिव इत्यनन्वयः । 'मुखमिव चन्द्रः' इति प्रतीपम् । चन्द्रं दृष्टवा मुखं स्मरामि इति स्मरणम । मुखमेवचन्द्रः इति रूपकम् । मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति इति परिणामः । किमिदं मुखमुताहो चन्द्रः इति संदेहः । चन्द्र इति चकोरस्त्वन्मुखमनुधावन्ति इति भ्रातिमान् । चन्द्र इति चकोराः कमलमिति चञ्चरीकास्त्वन्मुखे रज्यन्ति इत्युल्लेखः । चन्द्रोऽयं न मुखम्' इत्यपह्नवः । नूनं चन्द्रः इत्युत्प्रेक्षा । चन्द्रोऽयम् इत्यतिशयोक्तिः । मुखेन चन्द्रकमले निर्जिते इति तुल्ययोगिता । निशि चन्द्रस्त्वन्मुखं च हृष्यति इति दीपकम् ।

—चित्रमीमांसा पृ० ४२, संस्करण १९६५ ।

१०. त्वन्मुखं एवाहं रज्यामि चन्द्र एव चकोरो रज्यते इति प्रतिवस्तूपमा । दिवि चन्द्रो भुवि त्वन्मुखम् इति दृष्टान्तः । मुखं चन्द्रश्रियं विभर्ति इति निदर्शना । निष्कलंकं मुखं चन्द्रादतिरिच्यते इति व्यतिरेकः । त्वन्मुखेन समं चन्द्रो निशासु दृष्यति इति सहोक्तिः । मुखं नेत्रांकरुचिरं स्मितज्योत्स्नोपशोभितम् इति समासोक्तिः । अब्जेन सदृशं वक्त्रं हरिणाहितशक्तिना इति श्लेषः । मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः इत्यप्रस्तुतप्रशंसा । एवमुक्तानेकालंकारविवर्तवतीयमुपमा । —चित्रमीमांसा पृ० ४३, संस्करण १९६५ ।

११. वाच्यात्प्रतीयमानोऽर्थस्तद्विदां स्वदतेऽधिकम् ।
रूपकादिरतः श्रेयानलंकारेषु नोपमा ।। व्यक्तिविवेक २/३९

———

प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
एस० डी० कालिज
मुजफ्फरनगर

□ डॉ० विष्णुदत्त राकेश

अलंकार और काव्य-भाषा

साधारण व्यवहार की भाषा से काव्य-भाषा में अन्तर होता है। कवि विषय और अभिव्यक्ति की दृष्टि से वस्तु के मूर्तीकरण में सहज व्यक्त उपादानों में परिवर्तन करता है तथा वास्तविक रोज मर्रा की अभिव्यक्ति को जन्म देता है। इस अन्यथाकृत अभिव्यक्ति में शब्द नई अर्थ भूमि को प्रकाशित करने लगते हैं जो संदर्भ विशेष के दबाव से भावपरम्परा को उद्बुद्ध करते हैं। कोश संकेतित अर्थ के अतिरिक्त अपेक्षाकृत अधिक से अधिक अर्थ प्रकाशित करने के उद्देश्य से कवि चेष्टापूर्वक शब्दार्थ-योजना को नई दिशा में मोड़ता है। गद्यबन्ध की अपेक्षा काव्यबन्ध शब्द विन्यास परम्परित ढाँचे से हटकर प्रस्तुत किया जाता है। अतः काव्यशास्त्री इस ढाँचे को विचलन की संज्ञा देने लगे हैं। कुप्पू स्वामी जैसे भारतीय विचारक इसे 'टर्न ऑफ एक्सप्रेशन' या अभिव्यक्ति की वक्रता कहते हैं जो अलङ्कार की मूल चेतना है। इससे स्पष्ट होता है कि काव्य-भाषा सामान्य भाषिक अभिव्यक्ति तथा व्याकरणिक साँचे में ढली हुई दैनन्दिन प्रयोग की भाषा से हटी हुई, सोद्देश्य मोड़ी हुई अभिव्यक्ति है। व्याकरणिक दृष्टि से इस विचलन को सदोष माना जा सकता है पर काव्यात्मक दृष्टि से इसे भाषिक सर्जना की अपूर्व क्षमता कहा जा सकता है। कविता में शब्द-योजना या भाषा इकाइयों का बिखराव भी अर्थ सहभाव की दृष्टि से संगत होता है क्योंकि अन्वात्मिका बुद्धि समग्र के प्रत्यक्षीकरण सिद्धान्त के आधार पर भाव परम्परागत बोध को उस बिखराव में भी अन्वित कर देती है। अतः कविता के परस्पर सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण अन्वय से होता है। अन्वय का प्रयोजन भाषिक इकाइयों का सगत तथा सदर्भानुकूल चयन ही नहीं है अपितु छन्दानुरोध, लयसृष्टि तथा प्रभावसिद्धि के लिये सम्बद्ध अर्थ का बोध भी है जो वस्तु के याथातथ्य चित्रण की अपेक्षा वास्तविक से अतिरिक्त गुण वाले रसात्मक चित्रण का परिणाम है।

विशेष प्रयोजन युक्त होने से काव्य-भाषा असाधारण प्रयोग ग्रथित होती है। इन असाधारण भाषिक प्रयोगों से भाषा की संवर्द्धित शक्ति का बोध होता है। अलङ्कार भाव विशेष की भाषिक अभिव्यक्ति के अन्यथाकृत प्रयोग हैं जो रूपक आदि के मध्यम से समग्र काव्य-सर्जना को घेरे रहते हैं। लक्षणात्मक प्रयोगों का बाहुल्य संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, हिन्दी काव्य में मिलता है जो अलंकृत चेतना की अनिवार्य शर्त है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अलङ्कारों को वर्णन-प्रणाली तथा भावाभिव्यंजन शैली कहा है। डॉ० भगीरथ मिश्र जी अलङ्कार को साधारण कथन न मान कर चमत्कार पूर्ण उक्ति मानते हैं। अलङ्कार कथन की ललित भंगिमा हैं, जिस उक्ति में कोई बाँकपन मिलता है वहीं उक्ति अलङ्कार है। उक्ति वैचित्र्य के अनेक रूप हो सकते हैं वे ही विभिन्न अलङ्कार हैं। डॉ नगेन्द्र ने भी अलङ्कार को उसके सीमित अर्थ में उक्ति चमत्कार ही माना है और आई० ए० रिचर्ड्स भी प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म में रूपक या मेटाफर के व्याज से समग्र काव्याभिव्यक्ति की मूल चेतना को स्पष्ट करते हैं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि अलङ्कार का सम्बन्ध शब्द और अर्थ से ही है काव्य के प्रतिपाद्य से नहीं। कुन्तक ने कहा भी है—

'उभौ द्वावप्येतौ शब्दार्थावलंकार्यावलंकरणीयौ केनापि शोभातिशयकारिणालंकारेण योजनीयौ।'

काव्य-भाषा भी वक्र शब्द और अर्थ का विन्यास है। वक्रशब्देतर शब्दार्थ काव्येतर भाषिक अभिव्यक्ति के साधन है। अतः काव्य-भाषा का अनिवार्य गुण शब्दार्थ की वक्रता अथवा अलंकृत चेतना

है। सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये उसकी पर्याप्त अर्थ बोधकता के लिये ही अलङ्कार शब्द में अलम् पद का प्रयोग किया गया है। उसकी पर्याप्ता इस अर्थ में भी है कि अलङ्कार जन्य चमत्कार उसी रूप और मात्रा में इतर भाषा में पुनः प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। डॉ० सियाराम तिवारी ने 'साहित्यशास्त्र और काव्य-भाषा' में यहीं धारणा व्यक्त की है। भोज ने तो वक्रत्व को ही अलङ्कार कहा है, अवक्र शब्दार्थ तो वचन या वार्ता मात्र हैं—

वक्रत्वं च अलङ्कारत्वम्—अवक्रयोः शब्दार्थयोः वचनमात्रत्वात्।

रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु 'अर्थ प्रकारास्तावन्तोऽलङ्काराः' कहकर कथनशैली को अलङ्कार कहते हैं। आनन्दवर्धन भी 'अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः' कहकर कथन की अनन्त भंगिमाओं को अलङ्कार बताते हैं, उनका आशय भी यही है कि काव्याभिव्यक्ति के मूल में अलङ्कृत चेतना रहती है तथा काव्य-भाषा के विधान के रूप में अलङ्कारों का अध्ययन किया जाना चाहिये।

भाषिक विश्लेषण का अर्थ होता है, वर्ण, पद, वाक्य और प्रबन्ध का अध्ययन। ध्वनि, वक्रोक्ति वादी आचार्यों ने इन की अपने ढग से विवेचना की है। अलङ्कारवादी वर्ण सौन्दर्य का विवेचन करते हुये अनुप्रास, यमक तथा चित्र का स्वरूप निर्धारण करते हैं। पद सौन्दर्य का विश्लेषण श्लेष, पुनरुक्ति, परिकर, परिकरांकुर तथा वक्रोक्ति के विवेचन में करते हैं। उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, निदर्शना प्रतिवस्तूपमा, असंगति, उल्लेख, दीपक, अर्थान्तरन्यास का विवेचन करते हुये वाक्यगत प्रयोगों की चर्चा होती है तथा प्रबन्ध अलङ्कृति में एक-एक वाक्य समग्र घटना की सूचना देने वाला सिद्ध हो जाता है। वर्ण, पद, वाक्याश्रित अलङ्कारों को समानार्थी पदों के विन्यास मात्र से चमत्कारी नहीं बनाया जा सकता। उचित शब्द प्रयोग की अनिवार्यता पर एफ० एल० लुकास, रैनवेलेक तथा रावर्टमिलर जैसे पाश्चात्य विचारकों ने भी बड़ा बल दिया है। उदाहरण के लिए कुमारसंभव का एक श्लोकार्ध लें—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागम प्रार्थनया कपालिनः।

यहाँ आभिजात्य की प्रतीक पार्वती का वनवासी शिव के साथ समागम अशोभनीय बताना कवि का उद्देश्य है। पार्वती लोकनेत्र कौमुदी है और शिव कपाली, अमंगलवेशधारी, शिव का समागम कुत्सा-जनक होगा, इस बेमेल परिणय की व्यञ्जना के लिये कपाली शब्द का प्रयोग कवि ने किया है। छन्दानुरोध और समान अर्थ बोध की दृष्टि से यदि कपाली का समानार्थी पिनाकी शब्द यहाँ रख दिया जाय तो व्याकरणिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं होगा पर काव्य-भाषा की दृष्टि से कपाली शब्द में जो सौन्दर्य है वह शौर्य व्यजक पिनाकी शब्द में नहीं। अतः स्पष्ट कहा जायगा कि यहाँ सौन्दर्य अर्थगत न होकर रूप गत ही है। श्लेष का सौन्दर्य भी पदगत ही होता है, यहाँ श्लिष्ट पद के समानार्थी पद को रख देने से चमत्कार समाप्त हो जाता है। विहारी के प्रसिद्ध दोहे 'को घटि हैं वृषभानुजा वे हलधर के बीर' में वृषभानुजा के स्थान पर श्री राधिका तथा हलधर के स्थान पर दाऊ शब्द रख देने से गाय और बैल के अन्वय सम्बन्ध बोधक अर्थ के निष्पन्न न होने के कारण कवि विवक्षित चमत्कार नष्ट हो जायगा। अतः यहाँ भी पदगत सौन्दर्य है अर्थगत नहीं। परिकर में साभिप्रायः विशेषण तथा परिकरांकुर में साभिप्राय विशेष्य का प्रयोग होता है, अतः उक्त दोनों अलङ्कारों में पदाश्रित सौन्दर्य रहता है।

भामह ने वक्रता समन्वित शब्दार्थ को काव्य कहा है—

वक्राभिधेय शब्दोक्तिः इष्टावाचामलंकृतिः।

वक्रता का तात्पर्य है लोकातिक्रान्त गोचर वचन। लाक्षणिक शब्द योजना की मूल चेतना इसी कोश वृद्ध अर्थ बोध में निहित रहती है। पाश्चात्य समीक्षकों ने उपयुक्तता के ब्याज से इस सौन्दु

विधान पर विचार किया है । परिकरांकुर, परिकर तथा श्लेष में मूल उचित स्थान पर उचित शब्द का प्रयोग सिद्धान्त विद्यमान है । एफ० एल० लूकास ने शैली का विवेचन करते हुये स्विफ्ट के मतोद्धरण के प्रसंग में इसका प्रतिपादन किया है । जब हम वन के समय सीता के धैर्य धारण की प्रशंसा के लिये उनके पर्याय रूप में धरणिसुता का प्रयोग करते हैं तब उपयुक्त शब्दयोजना की सार्थकता सिद्ध हो जाती है । शब्दों के प्रकरण सापेक्ष प्रयोग की गहराई तथा अतिरिक्त अर्थवत्ता काव्य-भाषा को अलग कर देती है—

धरणिसुता धीरज धर्यो असमय समय विचार ।

यह चमत्कार सृजन कवि चेतना का अनिवार्य गुण है । शब्दार्थ की संदर्भोचित गुण व्यञ्जकता काव्य-बन्ध का आधार है जो बिम्बों द्वारा सुनिश्चित भाव को उद्‌बुद्ध करती है । पात्र, भाव, स्थिति और अवसर के अनुकूल उक्ति का अर्थ सौन्दर्य पाठक की चेतना पर छा जाता है और काव्यात्मक तीव्रता के क्षणों में स्वर, लय आदि का संयोजन व्याकरणिक अपेक्षाओं के अभाव में भी पाठक और श्रोता को अभिभूत कर लेता है । वाक्यगठन के तत्त्वों वचन, पुरुष, लिंग, कारक तथा काल की अन्विति और क्रम भंग होने पर भी गहरे अर्थबोध में अन्तर नहीं आता । काव्य की तीव्रता और बढ़ जाती है । उदाहरण के लिये उत्तररामचरित का यह श्लोकार्ध लें ।

न किल भवतां देव्याः स्थानं गृहेऽभिमतं ततः
तृणमिव वने शून्ये त्यक्ता न चाप्यनु शोचिता ।

यहाँ राम का उपालंभ है नगर और देश में रहने वाले महात्माओं के प्रति, सीता का घर में रहना आप लोगों को सहन न हुआ । इसीलिये उस उपेक्षिता को तृण की तरह असार समझकर वन में छोड़ दिया और शोक भी नहीं किया । यहाँ अनुशोचिता और त्यक्ता के कर्त्तावाचक पद छोड़ दिये गये हैं । राम और नागरिक दोनों की समान धर्मिता क्रूरता की अभिव्यक्ति के लिये ही कर्त्ता का त्याग हुआ है । इस विचलन से कवि निरपराध के साथ हुये अन्याय तथा अंधे जनमत की भर्त्सना करना चाहता था । अतः विशेषोक्ति के माध्यम से कवि ने कर्त्ता का विपथन कराया । भावावेश में वाक्यगत तत्त्वों का शैथिल्य होना स्वाभाविक भी है । उत्तररामचरित में ही अन्यत्र तमसा तथा वासन्ती जब एक साथ सीता-राम को सम्बोधित करते हुये कहती हैं—

त्वयि वितरतु भद्रं भूयसे मंगलाय ।

तब वियोग में पृथक्-पृथक् रह रहे दो हृदयों और शरीरों के पुनः एक स्थान पर मिल जाने की भावी संभावना की व्यञ्जना करना चाहती हैं । यहाँ त्वयि का एकवचन में प्रयोग यह लक्षित करता है कि पति पत्नी एक व्यक्तित्त्व के ही दो रूप हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता । विशेष परिस्थिति में वे अलग हो गये हैं, कवि उनका एकत्व पुनः चाहता है क्योंकि दोनों का अनुराग अविच्छेद्य है । नाटक के सम्पूर्ण सुखान्त होने की संभावना को तीव्र करने के लिये ही कवि ने यहाँ दोनों के लिये त्वयि शब्द का एकवचन में प्रयोग किया है । शब्दगुण की काव्य-शास्त्रीय धारणा के मूल में यही भावना सन्निहित है । भावात्मक तीव्रता में वर्ण, पद, वाक्य का विचलन बड़ा महत्त्व रखता है । काव्य-प्रयोगों में इसके अनेक रूप मिल जाते हैं । डॉ० नगेन्द्र ने कहा है कि भाषा का कलाकार व्याकरण सम्मत क्रम से विपथन कर यानी उसमें व्यवधान उत्पन्न कर चमत्कार की सृष्टि करता है । इस विपथन या प्रसिद्ध व्यतिरेकी प्रयोग के अनेक प्रकार हो सकते हैं जिनकी गणना करना या संख्या में बांधना संभव नहीं है । भारतीय काव्य-शास्त्र में कर्त्ता क्रिया के सम्बन्ध परिवर्तन, कारक रूपों तथा विशेषण-विशेष्य आदि के प्रयोग व्यतिक्रम के भाषिक चमत्कार का विश्लेषण उपग्रह वक्रता के अन्तर्गत (जहाँ परस्मैपद और आत्मनेपद—कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य का विपर्यय हो जाता है) कारक वक्रता (जहाँ कारक रूपों में फेर बदल हो जाता है)

तथा विशेषण वक्रता के अन्तर्गत् (जहाँ विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध अथवा प्रयोग क्रम बदल जाता है) हुआ है। दीपक अलङ्कार के आवृत्ति दीपक भेद में आवृत्ति का चमत्कार है, उपमा के रसनोपमा, मालोपमा आदि भेदों का सौन्दर्य समानान्तर प्रयोगों पर आधृत है। विरोधमूलक अलङ्कारों में शब्दार्थ के विषम प्रयोगों के तनाव द्वारा आकर्षण की सृष्टि की जाती है। इसके अतिरिक्त शृंखला मूलक अलङ्कारों में भाषिक चमत्कार सम-विषम प्रयोगों के विविध क्रम बन्धों पर आश्रित रहता है।[1] कुन्तक ने तो सम्पूर्ण अलङ्कार विधान को वर्ण, पद् तथा वाक्य वक्रता का प्रपंच मात्र माना है। बौद्धिक और भावात्मक मनोग्रन्थियों के अभिव्यञ्जन में सामान्य भाषिक संरचना से अतिरिक्त सरचना की अपेक्षा की जाती है जहाँ वर्ण, शब्द, वाक्य से भावों की तीव्रता के प्रति संगति उत्पन्न होती है। बालरामायण से कुन्तक ने एक वाक्य उद्धृत किया है—

मैथिली तस्य दारा: ।

यहाँ भावावेग के कारण व्याकरणिक क्रम में शैथिल्य आया है। मैथिली एकवचन और दारा: बहुवचन का प्रयोग है, मैथिली पद स्त्री लिंग में है और दारा: पद पुल्लिग में प्रयुक्त हुआ है। उक्ति वैचित्र्य पैदा करने के लिये ही यहाँ भाषिक गठन लचीला बनाया गया है। इसप्रकार अलंकृत चेतना के कारण ही काव्य-भाषा में विचलन की व्यापकता है। काव्य-भाषा कलात्मक प्रयोजन की संवाहिका है। अत: आधुनिक विचारक उसे व्याकरणशास्त्र अथवा भाषाविज्ञान से सम्बद्ध न मानकर स्वतन्त्र शास्त्र का विषय मानते हैं। डॉ० विद्यानिवास मिश्र डॉ० सियाराम तिवारी तथा राबर्टमिलर जैसे विद्वानों ने काव्य-भाषाविज्ञान को स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने की सलाह दी है। अलंकृत चेतना सार्वकालिक और सार्वदेशिक है। केवल वैचित्र्य के स्वरूप में अन्तर रहता है। अतः अलंकृत चेतना और काव्य-भाषा के मूल में भी सार्वभौम एकता देखी जा सकती है तभी लय, बलाघात तथा पद प्रयोगों की भिन्नता के रहते हुए भी काव्य-भाषा की अतिरिक्त गुणवत्ता अथवा अन्यथाकृत प्रभाव सर्वत्र विद्यमान रहते हैं।

सन्दर्भ-संकेत

१. शैली विज्ञान—पृ० ७१ ।

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

□ डॉ॰ सत्यप्रकाश शर्मा

किन्नामाश्लीलत्वम्

शिष्टजनानुमोदिते व्यवहारे सर्वत्रैवाश्लीलतायाः निषेधो दृश्यते । तद्यथा—याज्ञवल्क्यः ब्रह्मचारिणं मधुमांसादिसहैवाश्लीलभाषणादपि निवारयति[1], मनुः शिष्टान् अश्लीलयज्ञे गमनान्निषेधयति[2], अग्निपुराणञ्चाश्लीलत्वं वर्ज्यमुद्घोषयति ।[3] विष्णुधर्मोत्तरपुराणे तु न केवलमश्लीलदर्शनस्या[4]श्लीलोच्चारणस्यै[5]वाऽऽपितु अश्लीलबन्धस्यापि[6] निषेधो विहितः । विष्णुपुराणमपि अश्लीलवाक्यान्वितं काव्यं न कर्तुमुपदिशति ।[7] दैनिक व्यवहारेऽप्यश्लीलभाषणमपराधकोटौ समायातीति पद्मपुराणम् ।[8] रहसि परिहासेऽपि वाक्षन्तव्यमेवाश्लीलभाषणमिति मार्कण्डेयमतम् ।[9] पाञ्चरात्रागमेऽप्यश्लीलभाषणमपराधत्वेन स्वीकृतम् वर्तते ।[10] कृतेऽश्लीलभाषणे प्रायश्चित्तत्वेन प्रद्युम्नस्मरणायादिशाति जयाख्यसंहिता ।[11] अश्लीलाक्षेपेतु पञ्चविंशतिपणैर्दण्डय इतियाज्ञवल्क्यः ।[12] विष्णुस्मृतिः कार्षापणशतं दण्डत्वेन विनिश्चिनोति ।[13] नारदोऽप्यश्लीलाक्षेपं दण्डार्हमुद्घोषयति ।[14]

तत्र किन्नामाश्लीलत्वं यस्यैताद्दश्यवमानना सर्वत्रैव प्रतिपादिताऽऽस्ति ? प्रथमं तावदस्य शब्दस्य व्युत्पत्तिलभ्येऽर्थे दृष्टिर्निक्षिप्यताम् । "अनर्शरातिम्" ।[15] इत्यदादिऋङ्मन्त्रव्याख्यानावसरे "अनर्शरातिमनश्लीलदानमश्लीलं पापकम् अश्रिमद् विषमम्" इत्युक्तवान्महर्षियास्कः ।[16] तत्र भाष्यकृता दुर्गाचार्येण "अश्लीलं पापकम् इति ।············शब्दसारूप्यप्रसक्तमाह—अश्लीलम् = अश्रिमद्विषमम्. तत्सारूप्योपपत्तितोऽश्लीलमित्युच्यते" इति स्पष्टीकृतम् । एव नैरुक्ताः अश्रिमत् इत्यस्माद् अश्लीलेति शब्दं स्वीकुर्वन्ति ।

वैयाकरणास्तु शब्दमिमन्यथैव साधयन्ति । "कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपा परिवडवातैतिलकद्रुः पण्यकम्बलो दासीभाराणां चे"[17] तिपाणिनीये सूत्रे पतितेऽश्लीलशब्दे कारीकाकारौ "अश्लीलशब्दो नञ्समासत्वादाद्युदात्तः । श्रीर्यस्यास्ति तत् श्लीलम् । सिध्मादेराकृतिगणत्वाल्लच् । कपिलकादित्वाच्च । लत्वम् । अश्लीलदृढरूपेति हि संस्थानमात्रेण शोभना निःश्रीका लावण्यविरहितोच्यते[18] इत्युक्तवन्तौ । एवं तेषां मतेन श्रीशब्दात्" सिध्मादिभ्यश्च' [19] इतिसूत्रेण लच्प्रत्यये कृते श्रीलः, पृषोदरानि यथोपदिष्टम्'[20] इत्यनेन च रेफस्य स्थाने लत्वे कृते 'श्लील' इति सिद्धयति, नञ्समासे च नश्लीलमित्यश्लीलं 'निःश्रीकम्' इत्यर्थो भवति ।

वेदभाष्यकाराः सायणाचार्यास्तु न श्रीरश्रीः । तदस्यास्तीत्यश्री रः, मत्वर्थीयो रः"[21] इत्युक्त्वा 'श्री + रः' = श्रीरः, न श्रीरः = अश्रीरः (= अश्लीलः) इति साधयन्ति । श्रियं राति ददाति श्रीरः, न श्रीर इत्युश्लील इत्यपि व्युत्पत्तिर्विद्वद्भिः परिकल्पिताऽऽस्ति । वाचस्पत्यमित्यभिधाने "श्रियं लाति गृह्णाति, श्री + ला, आतोऽनुपसर्गे कः, कपिलकादित्वाल्लत्वम्, श्लीलम्, न श्लीलमश्लीलमिति"[22] निगदितम् ।

इत्थं सुस्पष्टं यद् वैयाकरणैर्नैरुक्तश्चापि शब्दस्यास्य व्युत्पत्तिः श्रीशब्दात् रप्रत्यये लप्रत्यये वा कृते नञसमासे विनिश्चिता । उपरिनिर्दिष्टासु व्युत्पत्तिषु रप्रत्ययान्ता व्युत्पत्तिः प्राचीनतमा प्रतीयते यतो ह्यश्लीलशब्दस्य प्राचीनतमं रूपम् 'अश्रीर' इत्येव प्राप्तम्भवति । ऋग्वेदस्याधस्तनेषु मन्त्रेष्वयं शब्दो विशेषणत्वाल्लिङ्गबन्धनं परित्यज्य विभिन्नेष्वर्थेषु प्रयुक्तः सन् दृक्पथे समायाति—

(क) यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वोवय उच्चते समासु ॥[23]

(ख) माष्वाद्य दुर्हणावान्त्सायं करदोर अस्मत् । अश्रीर इव जामाता ।[24]

(ग) अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापममुया ।
पतिर्यद्वध्वो३वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते ।।[३५]

अत्र प्रथमे मन्त्रे "अश्रीरममङ्गलम्"[३६] द्वितीये मन्त्रे "अश्रीरः गुणैर्विहीनः कुत्सिता"[३७] तृतीये च मन्त्रे "अपवि[३८]त्रा" इत्यर्थेऽस्य प्रयोगो दृश्यते । "यूयं गावो मेदयथा[३९]" इत्याथर्वणे मन्त्रे 'अश्रीरम्' इत्यत्र अश्रीरं चित् अशोभनाङ्गमपि पुरुषम् "[४०] इत्युक्तवान् भाष्यकारः ।

एवमश्रीरशब्दस्यामङ्गलमपवित्रमशोभनं गुणैर्विहीनत्वात्कुत्सितञ्चेत्यर्थाः संहितासु दृश्यन्ते ते च सर्वेऽपि मानवस्वभावस्य शरीरस्य वा दोषधर्मत्वेन प्रयुक्ता वर्तन्ते ।

सर्वप्रथममथर्वणि[४१] ध्वनिपरिवर्तनं प्राप्यायमश्रीरशब्दोऽश्लीलेति रूपेण सम्प्राप्यते, यद्यपि मन्त्रोऽयं ऋग्वेदेऽपि[४२] वर्तते परे तत्र "अश्रीरा" इतिपाठः, अथर्वणः पैप्पलादसंहितायामपि[४३] अश्रीरा" इत्येव पाठोऽस्ति ।

उत्तरवर्तिनि वैदिकवाङ्मये तु 'अश्लील' इत्येव रूपमवाप्यते । ऐतरेयब्राह्मणं यावदस्यार्थे न किमपि परिवर्तनं लक्ष्यते । तत्राप्यनेन शब्देन शारीरदोषा एव सूचयन्ते स्म ।[३४] परं तैत्तिरीये ब्राह्मणे तु अश्लील-शब्दो ग्राम[५] नक्षत्र[३६]–जीवनया[३७]त्राणां विशेषणत्वेनानार्यम्शुभदुःखपूर्णेष्वर्थेषु प्रयुक्तो वर्तते । अश्लील-शब्दस्यार्थविस्तारस्येमानि प्रथमान्युदाहरणानि सन्ति । सामवेदीये पञ्चविंशब्राह्मणे वाचो विशेषणत्वेना-श्लीलशब्दस्य प्रथमः प्रयोगो दृश्यते तत्र अपवित्रा[३८], अमङ्गला[३९] गति सहिता[४०] चेति वाचो विशेषणार्था प्रतीयन्ते ।

श्रीतारानाथभट्टाचार्यस्तु सन्दर्भनिर्देशनमकृत्वैव ताण्ड्यब्राह्मणात् (पञ्चविंशेत्यपरनाम्नः) "यमश्रु त्याश्लीला वागृच्छतीति", यैवैनमत्तावश्लीलं वाग् वदति" इतिवाक्यद्वयं समुद्धृत्य तत्र क्रमेण "अश्लीला निन्दारूपा वाक्", "अश्लीलमश्रीकरम्" इति भाष्यवचनद्वयं समुद्धरति ।[४१] अनेनाश्लीलशब्दस्य निन्दा अश्रीकरञ्चेति द्वावर्थौ भवतः ।

अश्लीलेत्यर्थे संस्कृतेऽन्ये च केचन शब्दाः प्रयुक्ताः प्राप्यन्ते । ऋग्वे[४२]देऽत्र "अर्श" शब्दो दृश्यते तत्र च निरुक्तकृतः मतन्तु पूर्वमेव प्रदर्शितमस्माभिः । वाचस्पत्यमित्यभिधानेऽपि" अश्लीले पापिष्ठे" इत्युक्त्वाऽऽस्य निर्वचन ऋश्+अच् इति प्रदर्शितम् ।[४३] गौतमीये धर्मसूत्रे तु "शुक्लावाक्"[४४] इतिशब्दो वर्तते तत्र मिताक्षराकारः "शुक्ला अश्लीला"[४५] इति प्रतिपादयति । शुक्ल शब्दस्यायमर्थविपर्ययः कथं सञ्जात इत्यन्वेषणीयो विषयः । यथा हिन्द्यां 'सफेद झूठ' इति वाग्व्यवहारे' सफेद' शब्दः 'झूठ' इत्यस्य विशेषणत्वेन समाविष्ठस्तथैव 'शुक्लावाक' इत्यत्रापि भवेदथवा "देवानां प्रियः" इतिवत् किमप्यैतिहासिकं कारणमपि सम्भावितम् । विष्णुस्मृतौ[४६] "न्यङ्ग०" इति शब्दः कमपि गर्हितमर्थं व्यनक्ति । तत्र टीकाकारः केशवपण्डितः" न्यङ्गमश्लीलम्'[४७] इत्यवोचत् । परं मिताक्षराकारो विज्ञानेश्वरस्तु " न्यङ्गमित्यसभ्यम्, अवद्यं भगिन्यादिगमनं तद्युक्तमश्लीलमि"[४८] तिस्फोरयति । अन्यत्र तु सः 'न्यङ्गमवद्यम्' इत्येव कथयति ।[४९] अपरार्कः "न्यङ्गमसभ्यम्[५०] इत्यवोचत् । परं कात्यायनस्तु "न्यङ्गावगूरणं वाचा क्रोधात्तु कुरुते यदा । वृत्तदेशकुलानां तु अश्लीला सा बुधैः स्मृता ।।" इति स्मरति ।[५१]

श्रेण्यसंस्कृतसाहित्येऽयमश्लीलशब्दः अश्लीलपदप्रबन्ध[५२] अश्लीलप्रायगीयमानगीतानि[५३]-अश्लील-रासकपद[५४]—अश्लीलाख्यान[५५]—अश्लीलाचरण[५६]-अश्लीलसल्लाप[५७]- अश्लीलभावना[५८]प्रभृतिसन्दर्भेषु बहुधा प्रयुक्तः सँल्लक्ष्यते । तत्राश्लीलशब्दस्य कोऽर्थः ग्राह्यः ? अमरकोषे तु 'ग्राम्यमश्लीलम्'[५९] इति निगदितम् । अश्लीलमप्रियम्[६०], अश्लीलमश्लाघ्यम्,[६१], अश्लील पापकरम्[६२], अश्लीकं अश्रीकं श्रीघ्नम्[६३], अश्रीकम् अमङ्गलम्[६४], अश्लीकमयुक्तम्[६५] इति वदन्ति विद्वान्सः । अनेन विवेचनेन सुस्पष्टं भवति यद् ये शब्दाः

श्रोतृभ्योऽप्रियाः प्रतीयन्ते, शिष्टैरश्लाघ्या अयुक्ता वा मन्यन्ते, धार्मिकैः पापकराः श्रीघ्ना अमङ्गलोत्पादका-
श्चेति स्त्रीक्रियन्ते तेऽश्लीलपदवाच्याः भवन्ति ।

काव्यशास्त्रे त्वश्लीलत्वं काव्यदोषत्वेन वर्णितमस्ति । तत्र का परिभाषाऽऽश्लीलदोषस्य ? काव्येऽयं
दोषो नित्योऽनित्यो वा ? अनित्यश्चेत्कुत्राऽऽस्य गुणत्वम् ! इत्यनेके प्रश्नाः मस्तिष्कपटले सकृदेवायान्ति ।
वामनाचार्यः असभ्यमर्थं[६६] वाग्भटश्च व्रीडाव्यञ्जक[६७]मश्लीलत्वमिति स्वीकुरुतः । तत्र कोऽसभ्यः कश्च
व्रीडाव्यञ्जकः ? इति न सम्यग्व्यख्यातः । केशवमिश्र औज्ज्वल्याभाव एवाश्लीलत्वमित्युद्घोषयति[६८] परं
तेनापि औज्ज्वल्यस्य व्याख्या न समुपस्थापिता । अन्यत्र त्वौज्ज्वल्यनाम काव्यगुणैकभेदस्य वर्णितम् ।
भोजो[६९] वैद्यनाथश्चोभा[७०]वपि अश्लीलशब्देनैवाश्लीलं व्याख्यातवन्तौ । हेमचन्द्रेणाश्लीलशब्दस्य न कापि
व्याख्या कृता । मम्मटोऽप्यस्मिन्विषये मौनमेवावलम्बते, यद्यपि तेनोदाहरणैरिमं विषयं स्पष्टायितुं
प्रयासोऽपि विहितः । स व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वादश्लीलत्वस्य त्रैविध्यं स्वीकरोति । [७१] पुनः वाक्य-
पदपदांशसन्ध्यर्थगतत्वात्तस्य पञ्चविधत्वं प्रतिपाद्य वाक्यपदपदांशगतानां त्रीणि त्रीणि, अर्थगतस्य विसन्धि-
गतस्य चैकमेकमित्येकादशपद्यान्युदाहरणत्वेन तेन प्रस्तुतानि । तत्र पदगतस्याश्लीलस्योदाहरणत्वेनोदाहृतेषु
पद्येषु साधन-वायु-विनाशशब्दा व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वेन लेन प्रदर्शिताः सान्ति ।[७२] एवमेव वाक्य-
गताश्लीलस्योदाहरणेषु उपसर्पण-प्रहरण--मोहनशब्दा प्रीडदायित्याद्[७३], वान्तोत्सर्गप्रवर्तनशब्दाः
जुगुप्सोत्पादकत्वात्[७४], पितृवसति शब्दश्च श्मशानादिप्रतीतावमङ्गलार्थकत्वाश्लीलव्यञ्जक[७५] इति मम्मट-
मतम् । सः पदांशगताश्लीलस्योदाहरणरूपेण पेलव-पूयते ऽभीप्रेत शब्दान्[७६] विसन्धिगतस्य चोदाहरणत्वेन
"चलण्डारुचिङ्कुरु[७७]" इति शब्दद्वयमुदाहरति । अर्थाश्लीलस्योदाहरणन्तु—

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।
यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥

अत्र हनम्=निर्घातादि, स्तब्धस्य=अदृढलिङ्गस्य, विवरम्=योनिच्छिद्रं तद्गामिनः । पातो रत्युत्तरं
नम्रता, उन्नतिः=पुनरुद्गमः । अत्रादृढलिङ्गरूपद्वितीयार्थस्त्वर्थवशादेनावगम्यते ।

अश्लीलविवेचनप्रसङ्गे विश्वनाथस्तु प्रायेण मम्मटमेवानुसरति । तत्प्रदत्तान्युदाहरणान्यपि साधन–
वायु–विनाश–वान्त–पेलव–लण्डा–चिङ्कु प्रभृतिशब्दमयान्येव सन्ति ।

एषु सर्वेष्वप्युदाहरणेषु सूक्ष्मेक्षिकया वीक्षितेषु ज्ञायते यदश्लीलत्वावाप्तिर्व्यञ्जन यैव सम्भवति,
स्वयं काव्यप्रकाशकारोऽपि "व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वाद्" इति स्वीकरोति । केवलं सन्धिगतमश्लीलं
तु श्रवणमात्रेणैव श्रोतुरन्तः करणे कामप्यश्लीलप्रतीतिं समुत्पादयति, यथा 'चलण्डामर' इत्यत्र 'लण्डा'
शब्दः । वरं संस्कृतकाव्यशास्त्रिणां मतमिदं न समीचीनं प्रतिभाति । मन्मते त्वत्रापि संस्कृतज्ञैर्न स्वीकरणी-
यमश्लीलत्वम् । यतो हि 'लण्डा' शब्दः केवलं लाटभाषायामपभ्रंशभाषायामेव वा शिश्नार्थवाचकः, न तु
संस्कृते । अतः लण्डाशब्देनाश्लीलत्वप्रतीतिर्लाट भाषाविद्भ्य एव भवेन्न केवलं संस्कृतज्ञेभ्यः । चेत्संस्कृतज्ञा-
स्तत्राकृष्टा भवेयुस्तदापि ते तत्राप्रयुक्तत्वदोषमेव स्वीकरिष्यति तस्यैकदेशप्रयुक्तत्वात् । अथ च, लण्डाप्रभृति-
शब्दानाधारीकृत्याश्लीलत्वं स्वीक्रियते चेद् तर्हि आम्रापरपर्यायश्चूतशब्दोऽप्यश्लीलव्यञ्जकत्वेन स्वीकृतं
भवेत् ? परं कविकुलगुरुकालिदासादिभिर्बहुशः प्रयुक्तेऽस्मिश्चूतशब्दे न केनापि काव्यशास्त्राचार्येणाश्लील-
त्वस्योद्भावना कृता । एवमेव चुद् धातोः योनिच्छेदनार्थे प्रयोगः क्षेमेन्द्रयुगेऽपि अगौडात्कश्मीरं यावत्प्रच-
लितोऽभवत् ।[७८] परं क्षेमेन्द्रोत्तरवर्तिभिर्मम्मटविश्वनाथविद्याधर-प्रभृतिभिः काव्यशास्त्रिभिः चूत, चोदय,
चोदना प्रभृति शब्देषु न व्रीडाव्यञ्जकताऽऽङ्गीकृता न च तत्कारणादश्लीलत्वमेव स्वीकृतम् । औचित्य-

सिद्धान्तस्य प्रबलपोषकेन स्वयं क्षेमेन्द्रेणापि कानिचिदेताद्दशीनि पद्यानि विनिर्मितानि यानि श्रुत्वैव श्रोतुरन्तः करणे व्रीडा जुगुप्सा च जायेते । पश्यन्तु तावदधोऽङ्कितानि पद्यानि—

गौरः सुपीवरो धत्ते रण्डाया मुण्डितो भगः ।
मेरोरर्कहयोल्लीढशष्पहेमतटभ्रमम् ।। नर्ममाला ३/३३
परस्परप्रार्थनया सुमुण्डित भगध्वजौ ।
भूकम्पकारिणौ रात्रौ तौ रण्डाब्रह्मचारिणौ ।। तत्रैव ३/३९
खल्वाटो विरलश्मश्रुर्दीर्घवाक् प्रस्खलन् क्वचित्
विभ्राणोवदनं वृद्धमहिषीभगविभ्रमम् ।। तत्रैव, २/१०६

यद्यपि क्षेमेन्द्रेण एषां पद्यानां रचना छात्ररण्डागुरुब्रह्मचारिणां दुश्चरित्रोद्घाटनाय, सुजनविनोदाय, सर्वलोकोपदेशाय च कृता[७९] वर्तते तथापि किं दुष्टानां दुश्चरित्रवर्णनायैताद्दशा एवाश्लीला असंयताश्च शब्दाः केनापि महाकविना प्रयोक्तव्याः ? उत्तमोद्देश्यप्राप्तुमपि अधमशब्दानां प्रयोगो न शिष्टजनानुमोदितः । महाभारतीयां कथामाकर्ण्य देवर्षिनारदेनाऽऽपि महर्षिव्यासम्प्रति एताद्दशी एव टिप्पणी विहिताऽऽसीत् ।

संस्कृतकाव्यसाहित्येऽश्लीलसाहित्यस्य न विरलता । गाथासप्तशती–अमरुशतकप्रभृतीनि मुक्तकानि, समग्रमपि च भाणसाहित्यमश्लीलमेव वर्तते । काव्यशास्त्रीयलक्षणग्रन्थेष्वपि 'सम्भोगश्रृगारोऽत्रे' त्युक्त्वा नैकान्यश्लीलपदानि समुद्धृतानि । अनेन ज्ञायते यत्तेषामश्लीलविवेचने दृष्टिरेकाङ्गिनी आसीत् । महाकवीनां ऋषीणाञ्च काव्ये दोषोद्भावनं तेभ्यः न रोचते स्म । इदमेव कारणं यत्तेऽलीलत्वमनित्यदोषं स्वीकृत्य विशिष्टेषु स्थलेषु गुणमध्येऽपि तं गौरवेग सस्थापयन्ति । यथाह काव्यप्रकाशकारः "अश्लीलं क्वचिद्गुणः, यथा सुरतारम्भगोष्ठयाम[८०]······शमकथासु ।[८१] एवमेव—

"अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरूजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ।।"

सामान्यरूपेण सन्दर्भविरहितेऽस्मिञ्छ्लोकेऽश्लीलभावना बलवती वर्तते । परं प्रसङ्गेन संयोजिते सत्यत्र करुणश्रृंगारयोः समावेशेऽपि न रसदोषः, श्रृङ्गारस्य करुणरसपोषकपरत्वात् ।[८२] होलिकोत्सवेऽश्लीलभाषणं दोषाय न कल्प्यते, तत्र तु शास्त्रमप्यादिशति—"जुगुप्सितं च ब्रूयात्' [८३], तत्र न किमप्यशिष्टममङ्गलकरं पापकरं वा । कथम् ? कासु स्थितिषु शास्त्रेणाश्लील भाषणं विधितमा वर्णितमिति न ज्ञायते । जातकर्मविवाहकर्मणो स्त्रीभिरश्लीलप्रायगीतानि गीयन्ते[८४] यानि संस्कारस्य अनिवार्याणी लौकिककृत्यानि भवन्ति । कथासरित्सागरे 'अश्री' दुर्भाग्यदेवीरूपेण स्मृताऽऽस्ति । अतः प्रतीयते यदमङ्गलविनाशाय अस्या अपि प्रतिष्ठा जनसामान्ये तथैव जाता यथा पुरा विघ्नकरस्य गणेशस्य ।

यद्यपि शब्दा अनेकार्थाः भवन्ति, परं केचन शब्दाः कतिपयेषु विशिष्टष्वेवार्थेषु लोकप्रसिद्धाः जायन्ते यथा ब्रह्माण्ड-शिवलिङ्ग-हिरण्यरेतस्-अभिप्रेत-संस्थित-साधनचिकु-सुभगा-भगिनी-कुमारी-उपस्थान-वायु प्रभृतयः । एषां शब्दानां लोकप्रसिद्धोऽर्थोऽपि न वाच्यार्थः । चेदत्र वाच्यार्थ एव स्वीक्रियते तर्हि अश्लीलत्वं सभापतेत । अतः काव्यशास्त्रिभिरुद्घोषितामुक्तकण्ठैर्यत्सद्भावनया प्रयुक्तो रुढशब्दोऽपि नाश्लीलदोषयुक्तो भवति, यदाह भोजराजः सरस्वतीकण्ठाभरणे—

ग्राम्यं घृणावदश्लीला मङ्गलार्थं यदीप्सितम् ।
तत्सवीतेषु गुप्तेषु लक्षितेषु न दुष्यति ।।
संवीतस्य हि लोकेषु न दोषान्वेषणं क्षमम् ।
शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्याऽसभ्यत्वभावना ।।

काव्यशास्त्रजगति सिद्धान्तोऽयं संवीतसिद्धान्तेतिनाम्ना प्रथितोऽस्ति । काव्ये भवतु नाम लोकप्रसिद्धिः अश्लीलतायाः कारणमकारणं वा परं मानवान्तः करणे तु तदीया वासनात्मिका भावनैव श्लीलाश्लीला वा भवितुमर्हति । काव्यस्य लक्ष्यीभूतानां सहृदयानां सामाजिकानामन्तःकरणेषु विद्यमानाः जुगुप्सारतिनिर्वेद-हास्यादयः स्थायिभावा एव विभावानुभावादिभिः सम्पुष्टाः सन्तः रसत्वेनानुभूयन्ते । अतोऽस्माक मतमिदं सुसंस्थापितम्भवति यदश्लीलत्वोद्भावकाः जुगुप्साद यस्तु मामवान्तःकरणे तेषामश्लीलत्वेन प्रतीतिस्तु देशकालभावनासु निर्भरा भवति । अप्सरसां कामोद्दीपका विलासा अपि ऋषिभ्यः नालम्बभूवुः । आचार्यः यथा छात्रान् पाठयति तथैव बालिका अपि, परं तस्य हृदये बालिकाः प्रति न कापि वासनामयी भावना जायते । चिकित्सकः मूर्च्छितां निर्वस्त्रां युवतीमेकान्तेऽपि दृष्ट्वा स्वकर्तव्यं न विस्मरति । सभ्यतासंस्कृति-शून्येषु ग्रामीणेषु अश्लीलगालीनामुच्चारणसभ्यमयुक्तं पापकरं वा न मन्यते । मनुष्यो हि स्वभावेनैव सामा-जिकः प्राणी । सः सामाजिकैः स्वीकृतां व्यवहारपद्धतिमेवानुसरति—"यद्यदाचरति श्रेष्ठः लोकस्तदनु-वर्तते" इति नियमात् । शिष्टा अपि देशकालविशिष्टमान्यताबन्धनान्न विनिर्मुक्ता भवन्ति । अत एकस्मिन्ने-वाश्रये श्लीलमश्लीलमित्युभेऽपि भवितुमर्हतः रुचिर्वैमिन्यात् । न कोऽप्यश्लीलसम्यं वा व्यवहारं कर्तु-मिच्छति । एवमेव काव्येऽप्यश्लीलशब्दयोजनायां तन्नियत्वात् कवेः प्रवृत्तिर्न भवति । पण्डितराजोऽपि स्वी-करोति—'यत्राश्लीलं दोषस्तत्राप्यप्राकरणिकेऽर्थे सकलानुभवसिद्धे कवितात्पर्यस्यविरहात् ।" परं शमादि-कथाप्रसङ्गे तु कविः जुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकाञ्छब्दान् महता प्रयत्नेन प्रयुनक्ति यतो हि ताञ्छ्रुत्वैव श्रोता तेभ्यः विमुखो जायतेऽत्रैव च कवेस्तात्पर्योऽपि विलसति । यदा कदा स्वभावोक्तिपूर्णवर्णनेष्वपि समायाति अश्लीलता—यथा—

आघ्राय सुरभेर्योनिमुन्मुखैर्दीर्घमेहनः ।
महोक्षैर्लम्बिमानाण्डैर्विष्वग्व्याकुलितं वनम् ॥

अश्लीलोदाहरणत्वेनोद्धृतोऽयं श्लोकः प्रतापरुद्रीये । अत्राश्लीलवर्णने न प्रतिभाति कवेरुद्योगः । गोसमूहमध्ये विचरतां वन्यवृषभाणामिदं वर्णनं स्वाभाविकमेव । अतोऽत्र स्वभावोक्ति-रेखालंकारः स्वीकार्यो भवेत् ।

वस्तुतः कवेरवचेतनमनसि विद्यमानाः भावा एव विशिष्टशब्दयोजनायां कारणत्वमुपयान्ति । एवमेव श्रोतुः पाठकस्य वावचेतने मनसि वर्तमानाः भावा विशिष्टानुभूतेः कारणानि भवन्ति । अतोजानताऽजानता-ऽपि वा कविना द्वयर्थकाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते । सामाजिकोऽपि वासनावशाद् अन्यार्थलोके विचरन् कमप्यपूर्व-मानन्दमनुभवति । काव्ये हास्योत्पत्त्यै अश्लीलयोजना भरतेनापि स्वीकृता ।[५] परिहासार्थमपि कवयोऽश्लील-प्रायबन्धनिर्माणे तत्पराः दृश्यन्ते यथा—

विद्यामभ्यस्यतो रात्रावेति या भवतः प्रिया ।
वनिता गुह्यकेशानां कथं ते पेलबन्धनम् ॥

अनेन समग्रेण विवेचनेन ज्ञायते यदस्माकमाचार्यवर्य्यैरेकतस्तु अश्लीलं वर्ज्यं निन्द्यञ्चोद्घोषितम-परतश्च शास्त्रादिष्टमुद्घोष्य श्रृङ्गारादिरसपरिपोषकत्वेन तदीयां महत्तां स्वीकृत्य संवीतासिद्धान्तबलेन तस्य न केवलमनित्यत्वमपितु गुणत्वमपि सुप्रतिपादितम् ।

सन्दर्भ संकेत—

१. या० स्मृ० १।३३
२. मनु० स्मृ० ४।२०६ ।
४. अग्निपु० १५३।३; ३५६।६६ ।
४. विष्णुध० पु० २।८६।१५ ।

५. विष्णुध० पु० २।८६।५६।
६. तत्रैव, ३।१६।१५।
७. विष्णुपु० ३।१५।६।
८. पद्मपुराणम् ४।७६।४१।
९. मार्क० पु० ८।२३५–३६।
१०. पाञ्चरात्र० ४।११।१५।
११. जयाख्यसंहिता २५।१०६।
१२. या० स्मृ० २।२०५–६।
१३. विष्णु स्मृ० ५।३३।
१४. ना० स्मृ० १५।१–२।
१५. ऋ० ८।९९।४।
१६. निरुक्त ६।५।१।
१७. अष्टाध्यायी ६।२।४२।
१८. तत्रैव काशीका।
१९. अष्टा० ५।२।९७।
२०. तत्रैव, ६।३।१०९।
२१. ऋ० ८।२।२० सायणभाष्य।
२२. वाचस्पत्यम्, भाग १, पृ०।
२३. ऋ० ६।२८।६।
२४. तत्रैव ८।२।२०।
२५. तत्रैव १०।८५।३०।
२६. ऋ० ३।२८।६ सायणः।
२७. तत्रैव ८।२।२० सायणः।
२८. तत्रैव १०।८५।३० दयानन्दःसरस्वती
२९. अथर्व० ४।२१।६।
३०. तत्रैव सायणः।
३१. अथर्व० १४।१।२७।
३२. ऋ० १०।८५।३०।
३३. पैप्पलादसं० १८।३।६।
३४. ऐ० ब्रा० ४।८।१०८।
३५. तै० ब्र० १।५।२६।
३६. तत्रैव ५।३।२।
३७. तत्रैव २।४४।९।
३८. प० विं० ब्रा० १४।११।२७।
३९. तत्रैव १७।५।१।
४० तत्रैव २।१।७।
४१. वाचस्पत्यम्, प्रथमो भागः, पृ० ४९७ 'अश्लील'।
४२. ऋ० ८।९९।४।
४३. वाचस्पत्यम्, प्र० भा०, पृ० ४९६ 'अश्रीर'।
४४. शुक्लावाचो मद्यं नित्यं ब्राह्मणः—गौ० ध० सू० २।५५।
४५. तत्रैव मिताक्षरायाम्।
४६. न्यङ्गतायुक्ते क्षेपे कार्षोपणशतम्—वि० स्मृ० ५।३३।
४७. तत्रैव वैजयन्तीटीकाकारः केशवपण्डितः।
४८. या० स्मृतौ २।२०४ मिताक्षरा।
४९. या० स्मृ० २।२०५ मिताक्षरा।
५०. तत्रैव अपरार्कः
५१. या० स्मृ० २।२०४ अपरार्केणोद्धृतः। काव्यजगति असभ्यत्वमश्लीलत्वञ्चोभेऽपि स्वतन्त्ररूपेण स्वीकृते स्तः, लक्षणग्रन्थेषूभयोः स्वतन्त्रलक्षणोदाहरणैरिदं सुस्पष्टमेव।
५२. अवन्तिसुन्दरी १९३–२१।
५३. वासवदत्ता १३२–७।
५४. हर्षचरितम् १८८–६।
५५. कथासरि० ६।२।१७३।
५६. नैषधी० २०।१३९।
५७. राजतरंगिणी, ६।१५८।
५८. परमानन्दकाव्यम् ८०।१०।
५९. अमर० १।६।२९।
६०. या० स्मृ० १।३३ दीपकलिका।
६१. मनु० ४।२०६ मेधातिथिः।
६२. तत्रैव सर्वज्ञनारायणः।
६३ तत्रैव कुल्लूकभट्टः।
६४. तत्रैव नन्दनः।
६५. तत्रैव गोविन्दराजः।

६६. काव्यालंकारसूत्र २।१।१५।
६७. काव्यानु० २८।६।२।
६८. अलंकारशेखरः ४।१।१७।
६९. सरस्वती० ४४।१४।
७०. प्रतापरुद्रीये।
७१. त्रिधाऽश्लीलम् का० प्र० ७।२ तत्रैव च "त्रिधेति व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वात्। एषामुदाहरणानि तु तत्रैवावलोकनीयानि।
७२. एषामप्युदाहरणानि काव्यप्रकाश एव दृष्टव्यानि।
७३. भूपतेरुपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना।
तत्तत्प्रहरणोत्साहवती मोहनमादधौ।।
७४. तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति परोत्सर्गञ्च भुञ्जते।
इतरार्थग्रहे येषां कवीनां स्यात्प्रवर्तनम्।।
७५. पितृवसतिमहँ व्रजामि तां सह परिवारजनेन यत्र मे।
भवति सपदि पावकान्वये हृदयमशेषितशोकशल्यकम्।।
७६. पेलवस्यैकदशस्य पेलशब्दस्य लाटभाषायां वृषणवाचत्वात् 'पूयते' इत्यत्र 'पूय' इति शब्दः रक्तश्लेष्मापदस्य, 'अभिप्रेत' इत्यत्र 'प्रेत' इति च मृतकस्य वाचकत्वाद् अश्लीलत्वम्।
७७. चलण्डा (च+लण्डा=लाटभाषायां शिश्नवाचकाः), रुचिङ्कुर (रु+चिङ्कु+रु, चिङ्कु=योनिवाचकाः शब्दाः)।
७८. स्नाने दाने व्रते श्राद्धे निष्कारणरुषा ज्वलन्।
मातरं चोदयामीति वदन् सर्वं करोति सः।। देशोपदेशः ६।४४
७९. देशोपदेश-नर्ममाला-समयमातृका कृतीनां पुष्पिका अवलोकनीयाः।
८०. काव्य प्रकाश, पृ० ३५० (आ० विश्वेश्वर), तृतीय संस्करणम्।
८१. ,, ,, पृ० ३५१।
८२. ,, ,, पृ० ३७३–४।
८३. पारस्करः।
८४. बाणभट्टेनापि हर्षचरिते संकेतितम्।
८५. नाट्यशास्त्र, २२।१०१।

———

७. प्रोफेसर्स कालोनी
बदायूँ

□ डा० रमेशचन्द्रः शुक्लः

कला तन्महनीयता च

अस्ति कला सुन्दरतायाः मूलतत्त्वम् । ईश्वरेणमानवाय तदीयेन जीवनेनैव सह शक्ति स्वरूपा कला समर्पितास्ति । परमपुरातनकालादेव मनुष्यस्य कलाप्रियत्वं पश्यतो जगतोलक्षणो वर्षाणि व्यतीतानि सन्ति । पाषाणानेहसिसः कन्दराणां भित्तिपु चित्राण्यालिखन् प्रेक्षितोऽभवत् । धातुयुगेऽसौ पावायुचशकटा-दीनि धातुना कुर्वन् प्राप्तो बभूव । धातुरचितनर्तकी वृष प्रभृतिवस्तूनि प्राक्तन्याः अभ्यतायाः कलानुरागित्वं व्यक्तीकुर्वन्ति ।

मानव जीवनेऽस्ति कलायाः असाधारणं महत्त्वम् । एकतः जीवनमुपकुरुते, एकतश्च सा जीवनं निर्मिमीते । सा मानवं संस्कुरुते, तं यशस्विनञ्च विदधाति । सा या शक्ति र्या अनेकताम् एकतया निबध्नाति । समाजस्य जीवने तदीया यां गत्याज्य तस्याः प्रभावः सर्वत्र व्याप्तो भवन् विभाति ।

कल् धातोः अचि टापि च प्रत्यये कृते सति 'कला' इत्येतत् पदं सिद्ध्यति । कल् धातुर्यद्यपि बहु वर्थकः परमिह प्रमोदनमित्येपीऽर्थो ग्राह्यः । केचन विद्वांसः कलातीत्येष विग्रहः कला शब्दस्य विदधति । 'क' इत्यस्य सन्त्यनेकार्थाः । तेष्वर्थेपु सुखम् इत्येषोऽप्यन्यतमोऽस्त्यर्थः । तेन कला शब्दस्यार्थो भवति 'सुखदेति' । क्षेमेन्द्रः शिवसूत्रविमर्शिन्यां कलाया व्युत्पत्तिमधिकृत्य शंसति ।

"कलयति स्वरूपम् आवेशयति वस्तुनिवा ।"

कवेर्लास्यस्य च प्रथमाक्षरसंयोगेन 'कला' शब्दो निष्पद्यते इति डॉ० रामदत्त भारद्वाजो मन्यते । भोजराजः कर्तृत्व शक्तेरभिव्यक्तिः कलेति निगदति । विश्वकविः रवीन्द्रनाथटैगोरः स्वानुभूतेरभिव्यक्ति-मेव कलां मन्यते । मैथिलीशरणगुप्तस्य मतेन 'अभिव्यक्तेः कुशलशक्तिरेव कला' । प्रतीच्यः प्रधीरश्किमः ।

ईश्वरीयां कृतिं प्रति मानवो यमाह्लादमभिव्यनक्ति सः 'कला' इति कथयति । "स्वकीये मानसे उदितानां भावनाना मनुभूतेः क्रिया-रेखा-वर्ण-ध्वनि-शब्दादिभिः परकीयहृदयपर्य्यन्तमाहरणाय कृतां प्रक्रियां" 'कला' इत्येतया संज्ञया ब्रूते टालस्टायः । प्लेटो 'सत्यस्यानुकृतेरनुकृतिः कलेति' वदति । क्रोचे-मतेन ब्राह्यप्रभावस्याभिव्यक्तिः कलास्ति । आधिभौतिकी सत्तां प्रकटीकतु साधनं कलास्तीति हीगेल आमनति । शुक्रनीत्यां ४।६५। शुक्र आचार्य आमनति—

"शक्तो मूकोऽपि यत् कतु कलासंज्ञं तु तत्स्मृतम् ।"

गणकारिकायाः रत्नटीकाकारोमासर्वज्ञश्चेतनाश्रितं निश्चेतनं तत्त्वं कलां मनुते । मुनिर्भरतश्च नाट्यशास्त्रे उल्लिखति कलाम्—

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला' १।११३।

'कला' शब्दस्य प्रयोग ऋग्वेदे प्राप्यते

'यथा कलां यथा शफमथ ऋणं सनयामसि ।८।४७।१६।

अत्र व्याजार्थे तत्प्रयोगो दृश्यते । शतपथब्राह्मणे, तैत्तिरीयारण्यके च अन्यत्रापि वैदिकेषु ग्रन्थेषु अशनौकाव्याजार्थे तत्प्रयोगो विहितः । छान्दोग्योपनिषदि ब्रह्म पादार्थे कलाशब्दस्य प्रयोगः कृतो वर्तते ।

छान्दोग्ये कलामधिकृत्य पङ्क्तय इमाः वीक्ष्यन्ते—

(अ) ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राचीदिक् कला, प्रतीची दिक् कला, दक्षिणा दिक् कलोदीची दिक्कलैष वै सौम्य चतुष्कलः पादो ब्राह्मणः प्रकाशवान् नाम ।४।५।२।

(आ) ब्रह्मणः सौम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथ्वीकलान्तरिक्षं कला द्यौः समुद्रः कलैष वै सौम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ।

(इ) ब्रह्मणः सौम्य ते······तस्मै होवाच—(तत्रैव, ४।६।३।) अग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत् कलैष वै सौम्य चतुष्कलः पादो ब्राह्मणो ज्योतिष्मान् नाम । (तत्रैव, ४।७।३।)

(ई) ब्रह्मणः सौम्य······तस्मै होवाच प्राणः कला, चक्षुः कला, श्रोत्रं कला, मनः कलैष वै सौम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम । (तत्रैव, ४।८।३)

प्रश्नोपनिषदि—

'स प्राणमसृजत् प्राणच्छ्रद्धां खं वायु र्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद् वीर्यं तपोमन्त्राः कर्मलोकालोकेषु नाम च ।' इत्येताः षोडश कला उल्लिखिताः ।

पाशुपतशैवदर्शने कलाया इत्थं निर्देशो विहितः

'सङ्कुचितकर्तृत्वसामर्थ्यमयी क्रियाशक्तिः कला' ।

ज्यौतिषशास्त्रे आयुर्वेदशास्त्रे च कलाशब्दस्य प्रयोगो भिन्नभिन्नार्थे कृतः ।

सम्प्रतं हि कला शब्दतो ललितकलाः एव गृह्यन्ते ।

डॉ० सत्यप्रकाशः शर्मा स्वकीये 'प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता' इत्येतस्मिन् ग्रन्थे प्राह—

'वस्तुतस्तु मानवहृदयस्य अव्यक्ता भावनाः स्वव्यक्तरूपे कला एव सन्ति ।'

श्री भोलानाथ तिवारी कला का इत्यत्र स्वविचारमित्थमभिव्यनक्ति—

''मानवस्य कर्तृत्वशक्तेर्मनः शरीरञ्चोपकर्तुमानन्दञ्चोपभोक्तुं यस्यानिर्माणमनुष्ठितं सैव तत्वतः स्वव्यापकरूपमाधाय कलेति प्रोच्यते ।'

भारतीये साहित्ये चतुष्षष्ठिविधायाः कलायाः वर्णनमाप्यते ।

भारतीयकलायाः क्षेत्रं व्यापकं वर्तते, तत्परिधिर्वर्तते विशाल ।

भारतीयकला स्वकीयं वैशिष्ट्यं निदधाति । यस्या विश्रान्तिर्भोगेवर्तते, न सा कला, सा तु बन्धनम् । परं यदीयं चरमलक्ष्यं परमानन्द ब्रह्म अस्ति सैवकला । उक्तच

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता ।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ॥

भारतीयकलायां धर्मस्य परमाधिकता विद्यते । चित्रवस्तु-संगीत-काव्य-नाट्यादिषु धर्मपराणां विषयाणां यावच्चित्रणं चकास्ति न तावदन्यविषयाणाम् । अर्थः कामश्च भारतस्य कलाकरैर्धर्मत्वेनैव अतिविदग्धतापूर्वकं दर्शितः ।

सात्त्विकत्वमस्मद्देशस्य कलाया आभूषणम् । तन्नितान्तप्राचीनानेहसि या कला दरीषु आलिखिता तत्रापि तन्मर्यादायाः पूर्णतया आदरः कृतोऽस्ति । भारतीया कला यथार्थतायां प्रीयते परं न तस्यां यथार्थतायां नग्नता न च निर्लज्जतैव गृहीतास्ति ।

एतद्विद्यगुणशालित्वादु अस्मद्भारतस्य कला सर्वकाले सर्वजनानाञ्च कृते उपादेया सञ्जातास्ति ।

विलियम राय राथेन्सटाइनः—

वयं भारतस्योन्नत कलायां भारतौकसां धार्मिकभावनाः भगवन्तञ्च प्रति तद्गम्भीरचिन्तनस्य

वैभवोल्लसितं श्रेष्ठं च वर्णन पर्याप्तं लभामहे। सर्वासां पुरातनसंस्कृतीनां प्राधान्यं धर्मनिष्ठं यद्यपि प्राप्यते परं भारतस्य कलाया एषा हि विशिष्टता भृश स्पष्टा सती शोभते। व्यष्टेर्वा समष्टेः साधारणान् गुणान् भावांश्च गौणान् विधाय तदीयां विशिष्टां सामाजिकीमाध्यात्मिकीञ्च श्रियमालिङ्ग्य कला तं समाजं ताञ्च सभ्यतां प्रतिविम्बितामेव न कुरुतेऽपि त्वमतत्वमपि ददाति।

भावाभिव्यञ्जनायाः क्षमता भारतदेशस्य कलायाः असुत्वाय कल्पते। भारतीयकलाकारस्य मनो बाह्यसुन्दरत्वाभिव्यक्त्यां न तथा रुचिमाददाति ययाभ्यन्तरभावानां प्रकाशने तन्मनः स्वामभिरुचिं दर्शयति।

प्रतीकात्मकत्वं भारतीयकलायाः रहस्यवादः। भारतीयकलोररीकृत प्रतीकाणां रहस्यमविज्ञाय तन्मर्मोन्मीलनमसम्भवम्। तदुपादत्तप्रतीकता धर्म-दर्शनानेकविधशास्त्राणाञ्च रहस्यानि प्रतिपादयति। तदभावे शास्त्रीयज्ञानविषयिकाया भारतीयायाः कलाया अवगमनं न सम्भवम्। निदर्शनत्वेन त्रिमूर्ति-र्ब्रह्मणोविष्णोः शङ्करस्य च प्रतीको न, अपि तु धार्मिके क्षेत्रे सा विभिन्न धर्माणां त्रयाणां समन्वयश्च किञ्च दार्शनिके क्षेत्रे परब्रह्मणः सर्गस्थिति प्रत्यवहारात्मक शक्तीनां प्रतीकः।

लोकजीवनेन सह सामञ्जस्यं भारतीयकलायाः विचित्रैव विशिष्टता। न सा कदापि लोकजीवन-मुपेक्षते। 'प्रत्यक्षदर्शीलोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः' इत्येषोऽस्त्यादर्शो भारतीयकलाकारस्य। लोकमान्यो जनोऽत्रत्यस्य कलाकारस्य कलाया नायकोऽस्ति। देव-देवी-पशु-पक्षिविविध क्रीडा-भूषण-प्रकृति दृश्यादिकं सर्वं भारतीयकलाकारस्य कलायाः कृते ग्राह्यं वर्तते।

परम्परायाः पालनं भारतीयकलाया अभिमतम्। सा पुराणं नवीन ज्योभयमप्याद्रियते। 'पुराण-मित्येव न साधु......' इत्येषस्तस्या आदर्शः।

राजकीयसंरक्षणे प्राप्ते सत्यपि न सा राज्ञो वा राजसभाया निघ्नतायां कदापि पर्यलक्ष्यत।

एताः विशिष्टताः परिगृह्य भारतीयकला परिस्पन्दते।

वस्तुतः कलाया महत्त्वस्य तदुपादेयतायाश्च पूर्णतयोपश्लोकनं वर्णनं वा न कदापि भवितुमर्हति। नेह तस्या भेदोपभेदाः अत्र च ललितकलानां (स्थापत्य-मूर्ति-चित्र-संगीत-काव्यानाम्) परिचयोऽपि विस्तारभयान्न समुपस्थापितः। सौन्दर्यं सर्वेषामपि असुभृतां मनोरमयति। तस्यैव सौन्दर्यस्य, यत्र सत्यं शिवञ्च विराजेते, मूलतत्त्वं कलास्ति। सौन्दर्यं न केवलं प्राणिनां प्रियम्, तस्य साधनापि जीवनस्य प्रथममन्त्यज्योद्देश्यम्।

सौन्दर्यं यस्या आत्मा सुखप्रदत्वञ्च यस्याः कार्यं सा कला विजयते।

अव्यक्तभावततयो हृदयस्य पुंसो
व्यक्तं यदा दधति रूपमिह स्वकीयम्।
ता एव भावुकभवे हि कलेति संज्ञां
विन्दन्ति सुन्दरसुखप्रदमूलतत्त्वा॥
कला जयतु सा मान्या लोकरञ्जनकारिणी।
शिवे सत्ये रताजस्रं सौन्दर्यं प्राणपेशला॥

ए-१/२०३ जनकपुरी
नई दिल्ली. ५८

□ डॉ० भीष्मदत्त शर्मा

आद्य भगवान् (जगद्गुरु शंकराचार्य)— एक महान शिक्षाशास्त्री

भारत देश ऋषियों-मुनियों, सन्तों, विचारकों, विद्वानों, दार्शनिकों, मनीषियों एवं मूर्धन्य शिक्षा-विदों की भूमि है। इसी पुण्य भूमि पर अवतीर्ण होकर आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य ने अपने ज्ञानालोक से न केवल भारतवर्ष को आलोकित किया था वरन् उनके दिव्य प्रकाश से समस्त विश्व प्रकाशमान् हो उठा था। वह भारत की दिव्य विभूति हैं। जिस समय यह देश अवैदिकता तथा नास्तिकता में निमग्न हो रहा था, जब वैदिक क्रिया-कलापों तथा मान्यताओं का ह्रास हो रहा था, जब नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के ह्रास से मानव समाज किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा हो गया था, जब अनाचार तथा कुशिक्षा की काली घटायें चारों ओर छायी हुई थी, जब एक छोर से दूसरे छोर तक यह समस्त देश आलस्य, अकर्मण्यता एवं अशिक्षा तथा अज्ञान के चुंगुल में फंसा हुआ था, तब आचार्य शंकर का मङ्गलमय उदय इस देश में हुआ था।[1] उनका आविर्भावभारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में उन्होंने अपने अद्वैत सिद्धान्त, अध्यात्म प्रधान शिक्षा दर्शन तथा समतामूलक आचार पद्धति से राष्ट्र को जो सफल नेतृत्व प्रदान किया था, उसके फलस्वरूप भारतीय जनता ने आदरपूर्वक उन्हें 'जगद्गुरु' तथा 'लोकशंकर' की उपाधि से विभूषित किया था।[2] उनका यह महान् कार्य केवल दार्शनिक चिन्तन अथवा धार्मिक मीमांसा तक ही सीमित न था' वरन् वह दार्शनिक विचारक अथवा धर्ममीमांसक से बढ़कर अपने युग के महान् शिक्षाशास्त्री थे। वस्तुतः उनका कार्य इतना व्यापक, विशाल तथा सारगर्भित है कि उसमें समस्त धार्मिक सामाजिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक मूल्यों तथा धारणाओं और विचारों का समाहार हो जाता है। अतः उनको महान् शिक्षाशास्त्री के रूप में स्वीकार कर आधुनिक शिक्षा दर्शन को नयी दिशा मिल सकती है।

शिक्षा शास्त्री की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। शिक्षाशास्त्र की एक दो पुस्तकें लिख लेने से कोई शिक्षाशास्त्री नहीं होता है। शिक्षा की एक दो समस्या के निराकरण से भी कोई शिक्षाशास्त्री नहीं होता है। प्रथमतः शिक्षा शास्त्री मौलिक विचारक होता है। उसे शैक्षिक उद्देश्यों के प्रति अपनी दृढ़ आस्था रखनी चाहिये जो कि अन्ततः विधियों का चयन, संगठन की योजना, विषयवस्तु तथा विषय सामग्री के चुनाव का निर्धारण करते हैं।[3] पश्चिमी शिक्षा जगत् में सुकरात, प्लेटों, अरस्तू, रूसो, पेस्टालाजी तथा ड्यूवी इत्यादि विचारक उन शिक्षा शास्त्रियों में अग्रगण्य माने जाते हैं, जिनका दार्शनिक चिन्तन-मनन अत्यन्त सबल एवं प्रभावशाली था। इसीप्रकार भारत में शिक्षा शास्त्रियों की विशिष्ट परम्परा रही है। आधुनिक शिक्षा के निर्माताओं में विवेकानन्द, गांधी, टैगोर, अरविन्द तथा राधाकृष्णन् आदि के नाम मौलिक विचारकों में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने प्रखर चिन्तन का सम्बल प्रदान कर शिक्षा को नयी दिशा प्रदान की है।

स्वामी शंकराचार्य भारतीयदार्शनिक क्षेत्र के मौलिक विचारक, प्रखर चिन्तक तथा उत्कृष्ट समीक्षक माने जाते हैं।[4] उन्होंने ब्रह्मसूत्र, गीता तथा उपनिषदों पर अपने भाष्य ग्रन्थों का प्रणयन कर अपने दार्शनिक चिन्तन की अगाध सक्षमता का परिचय दिया था। उनकी दार्शनिक मीमांसा मे इतनी तेजस्विता, प्रखरता तथा गम्भीरता है कि उनके द्वारा प्रस्थापित अद्वैतवाद

भारतीय जन मानस में समाहित हो गया है। आज भारतीय जनता पर वेदान्त की जो अमिट छाप दिखायी पड़ती है, उसका श्रेय आचार्य शंकर के मौलिक चिन्तन को ही है।[५] जो न एकदम भौतिकवाद है न कोरा कर्मवाद और न शुष्क ज्ञानवाद।[६] इसी दार्शनिक प्रतिभा के कारण शिक्षा सम्बन्धी उनके विचारों में गाम्भीर्य, औदार्य तथा विलक्षणता के दर्शन होते हैं। उनके शैक्षिक विचारों, मान्यताओं तथा सिद्धान्तों में उनकी दार्शनिक प्रतिभा की छाप स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होती है। अतः दार्शनिक प्रतिभा एवं मौलिक चिन्तन के कारण उन्हें शिक्षाशास्त्री के रूप में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

उनके चिन्तन में धर्म, संस्कृति, समाज, आध्यात्म तथा शिक्षा आदि का एक साथ समावेश दृष्टि-गोचर होता है। वस्तुतः आचार्य शंकर को इतना महनीय एवं गुरुतम कार्य करना था कि वह जीवन के समस्त क्षेत्रों को एक साथ लेकर कार्य करने में प्रवृत्त हुए थे। इसीलिये पृथक रूप से शिक्षा पर उन्हें किसी पृथक् ग्रन्थ-रचना की आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई। इस पर हम देखते हैं कि आचार्य शंकर ने भले ही शिक्षाशास्त्र पर किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना न की हो किन्तु उनकी दार्शनिक प्रतिभा तथा मौलिक चिन्तन की सक्षमता इतनी उच्च कोटि की है कि उन्हें महान् शिक्षाशास्त्री के रूप में मान्यता देने में गौरव की अनुभूति होती है। आचार्य शकर की प्रसिद्धि शताब्दियां व्यतीत होने पर भी आज तक अक्षुण्ण है। इसमें कारण है उनके काल निरपेक्ष सिद्धान्तों की स्थापना। जो दार्शनिक ऐसे सिद्धान्त देता है, जिनका प्रभाव चिरस्थायी होता है तथा जो जनसामान्य को युग-युगों तक प्रेरणा देते रहते हैं, वह उच्च कोटि का शिक्षाशास्त्री होता है। आचार्य शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तों, मान्यताओं एवं आदर्शों का प्रभाव देश काल की सीमा का उल्लंघन कर सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक बन गया है। उनका अद्वैतवाद आज भी जन-जन का सम्बल बना हुआ है। उनका ब्रह्मात्मवाद इस युग में भी एकता, प्रेम, सहानुभूति एवं सौजन्य की स्थापना में मानवजाति को उत्प्रेरित कर रहा है। अतः यह कहना अतिश्योक्ति नहीं है कि विश्व में सम्भवतः इतना प्राचीन शिक्षा-दार्शनिक आचार्य शकर के अतिरिक्त अन्य न हो जिसने सहस्रों वर्षों के व्यतीत होने पर भी अगणित लोगों के जीवन दर्शन को प्रभावित किया हो।[७] उनके दार्शनिक चिन्तन एवं शिक्षा-दर्शन के चिरस्थायी प्रभाव की समीक्षा करते हुए डा० राधाकृष्णन् के ये उद्गार उल्लेखनीय हैं—एक दार्शनिक तथा तार्किक के रूप में सर्वश्रेष्ठ शान्त, निर्णय तक पहुँचने में तथा व्यापक सहिष्णुता में एक मनुष्य के रूप में महान् शंकर ने हमें सत्य से प्रेम करने, तर्क का आदर करने तथा जीवन के प्रयोजन को दिशा दी। बारह शताब्दियां व्यतीत हो गयी किन्तु आज भी उनका असर देखा जा सकता है।[८] इतना ही नहीं उनका अद्वैत सिद्धान्त आधुनिक युग के महान् विचारक विवेकानन्द, अरविन्द, टैगोर तथा गांधी[९] की विचारधारा का आधार रहा है।

शिक्षाशास्त्री शिक्षा के हर पहलू पर विचार करता है। उसके लिए शिक्षा पर समग्र रूप से विचार करना ही जीवन का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है। शिक्षा का स्वरूप, उसके उद्देश्य, उसका पाठ्य-क्रम, उसकी शिक्षण विधियाँ, शिक्षक-शिक्षार्थी संकल्पना, विद्यालय संगठन एवं प्रशासन तथा अनुशासन आदि ऐसे बहुत से शिक्षा के अंग हैं, जो शिक्षा शास्त्री की पैनी दृष्टि से अछूते नहीं रह पाते हैं। शिक्षा का कोई अंग आचार्य शंकर के चिन्तन से बचा नहीं है। उनके भाष्य ग्रन्थों प्रकरण ग्रन्थों, तथा स्तोत्रों के अध्ययन से स्पष्टतया विदित होता है कि शिक्षा के सम्बन्ध में उनके विचारों की स्पष्टता, सरलता तथा बोधगम्यता उच्चकोटि की है।[१०] उनके ग्रन्थों में शिक्षा का स्वरूप, शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षणविधियां, पाठ्यक्रम, गुरु-शिष्य-सम्बन्ध, अनुशासन, धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा इत्यादि सभी पर पर्याप्त समृद्ध

चिन्तन मिलता है। इस दृष्टि से वह विश्व के महान् शिक्षा दार्शनिक सिद्ध होते हैं।

शिक्षा शास्त्रियों ने मानवजाति को ऐसे विशिष्ट सन्देश दिये हैं, जिनका सम्बल पाकर निराशा एवं दुखस्था के गर्त में पतित हुई मानवता ने अपने कल्याणपथ का अनुसंधान किया है। नाना प्रकार के अत्याचारों, बलात्कारों तथा उत्पीड़नों से संत्रस्त मानव को भगवान् श्रीकृष्ण का यह आश्वासन कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की उन्नति होती है, तब-तब मैं अवतार रूप में प्रकट होता हूँ[११] इस बात का द्योतक है कि मानवता को आशा, उत्साह, प्रेम, सहानुभूति एवं सहयोग का सन्देश देने वाले महापुरुषों की परम्परा का विश्व इतिहास में विशिष्ट स्थान है। आचार्य शंकर ने एकता का सन्देश आज से हजारों वर्ष पूर्व मानव जाति को दिया था। उसे इन्होंने इतने प्रभावशाली एवं मनोवैज्ञानिक ढग से प्रस्तुत किया कि वह जन-जन के गले का हार बन गया है अतः वेदान्त के अन्य सिद्धान्तों को इतनी लोकप्रियता प्राप्त नहीं हैं, जितनी अद्वैतवाद को। उनके अनुसार समस्त जगत् में एक ही आत्मा (ब्रह्म) की सत्ता सर्वत्र विद्यमान है, जिसे मनुष्य भ्रमवश ऐक्य के रूप में न देखकर अनेक रूपों में देखता है।[१२] इस एकता की अनुभूति ही मुक्ति है। उनका यह ज्ञान-एकता-मुक्ति का सन्देश हर युग मे कमनीय रहा है। इसी से मानव समाज में सहयोग, सहानुभूति सामंजस्य एवं समता का विकास होता है। इसलिये वह ऐसे शिक्षाशास्त्री हैं जिन्होंने मानव की मूलभूत आवश्यकता एकता को पहचाना और उसी के लिए जीवन भर कार्य करते रहे।

शिक्षा शास्त्री शिक्षा की भावी योजना भी प्रस्तुत करता है। उन्होंने जो शिक्षा-योजना अपने जीवन काल में बनाई थी वह आज भी उसी रूप में कार्य कर रही हैं। उन्होंने अद्वैत वेदान्त की शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने के लिए देश में उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम (चारों दिशाओं) में चार मठों की स्थापना की। भूतपूर्व प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में "अपने मठों अथवा अपने सम्प्रदाय के सन्यासियों के प्रधान केन्द्रों के लिए भारत के चारी कोनों का शकर का चयन यह प्रकट करता है कि वह भारत को किसप्रकार एक सांस्कृतिक इकाई मानते थे।"[१३] ये चारों पीठ उनकी शिक्षा योजना के ही अंग है। इनके द्वारा वह वेदान्त की शिक्षा को जनशिक्षा का रूप देना चाहते थे और आधुनिक काल में स्थापित विश्वविद्यालयों की भांति युग-युगों तक शिक्षा केन्द्रों के रूप में इनका विकास करना चाहते थे। यही कारण है कि आज भी ये चारों पीठ अविच्छन्न आचार्य परम्परा के नेतृत्त में वेदान्त की शिक्षा का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं—"भारतीयदर्शन के अध्ययन एवं मनन के रूप में आज ये मठ पूर्ण रूप से सहायक हो रहे हैं। मेरा विचार तो यह है किसी दार्शनिक द्वारा अपने धर्म दर्शन के प्रचार के लिए ऐसा कार्य भारत ही नहीं विश्वभर में अद्वितीय है।[१४]

आचार्य शंकर प्रणीत 'महानुशासन' में वर्णित मठों की व्यवस्था देखने से पता चलता है कि उन्होंने वेदान्त की शिक्षा एवं वैदिक सनातन धर्म का प्रचार करने के लिके एक सुचारू योजना का निर्माण किया था। इसी कारण उन्होंने अपने समय में ही इन चारों पीठों ज्योतिष्पीठ, गोवर्धनपीठ, शारदपीठ और श्रृंगेरीपीठ–पर अपने चार प्रमुख शिष्यों—तोटक, पद्मपाद, हस्तामलक तथा सुरेश्वर को आसीन कर दिया था। तभी से यह आचार्य परम्परा अद्यपर्यन्त अक्षुण्य रूप में कार्य कर रही है।[१५] 'महानुशासन' में उल्लिखित पीठासीन आचार्य के कर्त्तव्यों एवं अधिकारों का निरूपण शिक्षाक्षेत्र में इनके अद्भुत योगदान का परिचायक है। अतः चारों पीठाधीश्वरों को आज तक शंकराचार्य कहा जाता है। अपनी शिक्षा योजना में उन्होंने संन्यासी समाज का भी निर्माण किया जिससे त्यागी-तपस्वी-वैरागी एवं सदाचारी व्यक्ति शिक्षा के कार्य के लिये मिल सके "आद्य शंकराचार्य ने जब सत्य सनातन धर्म के पुनरुद्धार का कार्य आरम्भ किया तब उन्होंने परमहंस दशनाम सन्यासी समाज का संगठन किया। इस समाज के त्यागी, तपस्वी, ध्येयनिष्ठ एवं कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों द्वारा उन्होंने लोगों में अच्छे

संस्कार डालने की परम्परा का श्रीगणेश किया।"[१६] इस प्रकार आचार्य शंकर ने जिस शिक्षा व्यवस्था को हजारों वर्ष पूर्व स्थापित किया था उसकी महान् आचार्य परम्परा का अद्यतन यथावत् रूप में चला आना ही उसको महान् शिक्षा शास्त्री सिद्ध करता है। आधुनिक शिक्षा में व्याप्त असन्तोष उत्पीडन, नैराश्य तथा जड़ता को दूर करने के लिये भगवान् शंकराचार्य के सिद्धान्तों पर आधारित शिक्षा-दर्शन का आश्रय लेकर हम राष्ट्र तथा विश्व को उन्नति के शिखर पर आरूढ़ करने में समर्थ हो सकते हैं।

संकेत-संदर्भ

१. श्रीशंकरदिग्विजय (माधवकृत २–९३)

२. श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करूणालयम्।
नमामि भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम्॥ —श्री स्वामी अमलानन्द सरस्वती

३. एम० एस० पटेल—दी एजुकेशनल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी

४. डा० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन, भाग–२

५. एस० एन० दासगुप्ता—इण्डियन फिलासफी, भाग–१

६. डा० राममूर्ति शर्मा—शंकराचार्य

७. आदि शंकराचार्य की कल्पना के अनुरूप इतिहास के एक लम्बे अन्तराल के बाद देश के विभिन्न भागों से भारी संख्या में जनसमुदाय कुम्भ नगर (प्रयाग) की ओर उमड़ता चला आ रहा है।
—नवभारत टाइम्स १२–१–१९७७

८. डा० राधाकृष्णन—भारतीय दर्शन, भाग—२

९. महात्मा गांधी—यंग इन्डिया, २५–९–१९२४

१०. आचार्यशंकर के सर्वांगीण शिक्षा-दर्शन के अध्ययन हेतु लेखक का शोध-प्रबन्ध 'शंकराचार्य का शिक्षा-दर्शन' द्रष्टव्य है।

११. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम॥ —श्रीमद्भगवद्गीता ४/७

१२. श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ संग्रह।

१३. जवाहरलाल नेहरू —ग्लिम्पसेज़ आफ वर्ल्ड हिस्ट्री।

१४. डा० राममूर्ति शर्मा —शंकराचार्य।

१५. 'चारों शंकराचार्यों के मठों की स्थापना आज से १२०० वर्ष आदि शंकराचार्य ने पूरे देश में हिन्दू धर्म के समुचित उत्थान के लिए की थी। —नवभारत टाइम्स, दिनाँक १२–१–१९७७

१६. हरिहर स्वरूप विनोद—'दशनाम नागा सन्यासियों की परम्परा'
—नवभारत टाइम्स, दिनांक १३–१–१९७७

———

प्राध्यापक, शिक्षाशास्त्र विभाग
एन० ए० एस० कालिज, मेरठ

□ प्रो० मुकेश बन्सल

साँची के अभिलेखों में विभिन्न धर्म और धार्मिक जीवन

साँची मध्यप्रदेश के रायसेन जिले में विदिशा से दक्षिण पश्चिम की ओर लगभग ६ मील की दूरी पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम 'काकनादवोट' अथवा 'काकनाद' था।[1] यह स्थान मुख्य रूप से पहाड़ी पर स्थित एक बौद्ध महा स्तूप तथा दो अन्य बौद्ध स्तूपों के लिये विख्यात है। ये बौद्ध स्मारक प्रारम्भिक बौद्ध धर्म द्वारा भारत को प्रदत्त सभी स्मारकों मे श्रेष्ठतम है।[2]

साँची में हमें अनेक शासकों तथा दान देने वाले सामान्य नागरिकों द्वारा उत्कीर्ण कराये गये अभिलेख बड़ी संख्या में प्राप्त हुये हैं। ये सभी अभिलेख किसी न किसी रूप में तात्कालिक राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक इतिहास के ज्ञान के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत करते हैं।

साँची के लगभग सभी अभिलेख किसी न किसी धार्मिक उद्देश्य के लिये ही उत्कीर्ण कराये गये थे, इसलिये इन अभिलेखों से उस समय के प्रचलित धर्मों तथा जनसामान्य के धार्मिक जीवन से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण बातों की जानकारी प्राप्त होती है। यह सत्य है कि साँचो एक बौद्ध तीर्थ स्थल था और यहाँ आने वाले अधिकांश तीर्थयात्री भी बौद्ध मतानुयायी ही होते थे, इसलिये इन अभिलेखों से उस समय के अन्य धर्मों के विषय में भी जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह उतना विशद् नहीं है जितना कि बौद्ध धर्म तथा उसके उपासकों के विषय में मिलता है।

बौद्ध धर्म

काकनादवोट श्रीमहाविहार—

बौद्ध ग्रन्थों में जिन महातीर्थों का उल्लेख है, उनमें साँची की गणना प्रायः नहीं की गई है, यह वस्तुतः एक आश्चर्यजनक बात है। परन्तु साँची से प्राप्त अभिलेखों की संख्या से अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीनकाल में साँची बौद्धों का एक महत्वपूर्ण तीर्थस्थल था जहाँ दूर-दूर से आकर बहुत सा दान देते थे।

साँची को एक अभिलेख में काकवादवोट श्रीमहाविहार कहा गया है और साथ ही इसकी अत्यधिक प्रंशसा भी की है। इस अभिलेख के विवरण से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में साँची के महाविहार में चारों दिशाओं के अनेक भिक्षुक आते थे जो चरित्र (शील), तपस्या (समाधि) तथा ज्ञान के लिये विख्यात थे।[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि इस महाविहार की व्यवस्था का भार ५ मुख्य भिक्षुओं पर था, इन भिक्षुओं को 'पंच-मण्डली' कहा गया है। आम्रकार्दव ने हंसुर नामक गाँव तथा पच्चीस दीनार का दान इस पंच मण्डली के सामने किया था।[4]

संघ में भेद तथा उसका एकीकरण—

सम्राट अशोक के समय में बौद्ध धर्मावलम्बियों में मतभेद हो गया था। 'दीयवंश' तथा 'महावंश' के आधार पर यह कहा जा सकता है उनमें दो मुख्य सम्प्रदाय हो गये थे—स्थाविरवाद तथा महासांधिक।

पुनः स्थाविरवाद के दो सम्प्रदाय महासांधिक में ४ सम्प्रदाय हो गये थे।[5]

वैराट अभिलेख के आधार पर (जो आजकल कलकत्ता के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित है) कुछ विद्वानों का यह अनुमान है बौद्धों के उपरोक्त मतभेदों को दूर करने के लिये अशोक ने पाटलीपुत्र में बौद्ध संगीति का आयोजन किया था। इस संगीति में भारत के अतिरिक्त संसार के अन्य देशों के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया था। इसलिये सम्राट अशोक ने अपना परिचय इस लेख में 'मगध का 'प्रियदर्शी राजा' (पियदशी भाजा मागधे) कह कर दिया है। यह इसलिये और भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि किसी भी अन्य अभिलेख में अशोक ने अपने को मगध का राजा नहीं कहा है।[६] सम्भवतः मतभेदों को मिटाने के लिये अशोक ने उन बौद्ध ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो सभी बौद्ध मतानुयायियों के द्वारा पढ़े जा सकते थे।

बौद्ध संघ में पुन फूट न पड़ जाये, इसी उद्देश्य से उसने एक आदेश प्रचारित किया। यह आदेश 'मधु स्तम्भ लेख के नाम से विख्यात है और इसकी प्रतियाँ हमें साँची के अतिरिक्त सारनाथ तथा कोशाम्बी (प्रयाग) के स्तम्भों पर भी उत्कीर्ण मिलती है। इस आदेश में उसने स्पष्टतः घोषणा की है कि संघ में एकता स्थापित कर दी गई है, जो कोई भी संघ में भेद डालने का प्रयत्न करेगा वह चाहे भिक्षु हो अथवा भिक्षुणी, उसे श्वेत कपड़े पहनने होंगे और ऐसे स्थान पर रहना होगा जो भिक्षुओं के रहने योग्य न हो।[७]

हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय—

साँची के अभिलेखों में बौद्ध मतानुयायियों के विभिन्न वर्गों का उल्लेख किया गया है। जो व्यक्ति गृह त्याग करके बौद्ध मत को स्वीकार कर लेते थे, वे भिक्षु तथा भिक्षुणी कहलाते थे।[८] जो व्यक्ति ग्रहस्थ आश्रम का पालन करते हुये बौद्ध मत का अनुसरण करते थे वे उपासक तथा उपासिका कहलाते थे।

साँची में जो बौद्ध स्मारक मिले हैं वे हीनयान तथा महायान दोनों ही सम्प्रदायों से सम्बन्धित है। हीनयान मतावलम्बी गौतम बुद्ध की मूर्ति बनाकर पूजा करते थे। उनका मुख्य आधार सम्भवतः बौद्ध ग्रन्थ 'दीर्घनिकाय के ब्रह्म जाल सुत्त' में प्राप्त महात्मा बुद्ध का वह कथन है, जिसमें उन्होंने कहा था कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शरीर का दर्शन न केवल मनुष्य को वरन् देवताओं को भी दुर्लभ हो जायेगा।[९] साँची के बौद्ध स्तूप हीनयान मत के द्योतक हैं। स्तूपों की उस समय पूजा होती थी, इस बात का प्रमाण महास्तूप के तोरण द्वारों पर बने वे अनेक दृश्य हैं जिनमें मानवों, पशुओं तथा देवताओं आदि को स्तूप की पूजा करते हुये प्रदर्शित किया गया है।[१०]

स्तूपों के अतिरिक्त जिन अन्य प्रतीकों की पूजा होती थी उनमें बौधिवृक्ष[११] तथा धर्मचक्र[१२] प्रमुख है।

बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ भी साँची से प्राप्त हुई हैं, ये मूर्तियाँ महायान मत के प्रसार की द्योतक है। इनमें से कुछ मूर्तियों पर अभिलेख भी प्राप्त होते हैं।[१३] इनमें उन व्यक्तियों के नामों का उल्लेख है जिनके द्वारा दिये गये दान से उन मूर्तियों का निर्माण किया गया था। इन प्राप्त मूर्तियों में से चार मूर्तियाँ विशेष महत्व की है जो साँची के तोरण द्वारों में प्रवेश करते ही प्रदक्षिणा पथ से प्राप्त होती है। हरिस्वामिनी के अभिलेख में इनके प्रति आदर भाव व्यक्त करते हुये, इनके पूजा को दिये गये दान का का उल्लेख है।[१४]

पंचमहापाप—

चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल के साँची के अभिलेखा में आम्रकार्दव ने कहा है कि जो कोई भी उसकी व्यवस्था में हस्तक्षेप करेगा वह उन पाँच पापों का भागी होगा जो व्यक्ति को तुरन्त पतित कर देते हैं।[१५] इस सन्दर्भ में यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि इन पापों का उल्लेख, गो तथा ब्राह्मण की

हत्या के पाप के साथ किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि ये पाप अत्यन्त गम्भीर माने जाते थे। साँची के एक अन्य अभिलेख में इन पापों के नामों का भी उल्लेख किया गया है।[१६] ये हैं—

१. मात्री घात (माता की हत्या करना)।
२. पृती घात (पिता की हत्या करना)।
३. अरहत घात (अरहत की हत्या करना)।
४. भौहित्पात (बुद्ध का रक्त बहाना)।
५. संघ भेद (संघ में भेद उत्पन्न करना)।

अशोक के साँची अभिलेख में संघ में भेद उत्पन्न करने को एक गम्भीर अपराध घोषित किया गया है, और इसके लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई है।

परन्तु इस अभिलेख में संघ भेद का उल्लेख महापाप के रूप में नहीं किया गया है, इससे यह ज्ञात होता है कि महापापों की कल्पना बौद्धों में प्रारम्भिक काल में नहीं थी तथा इस भावना का उदय बाद के कालों में हुआ होगा।

निर्वाण—

साँची के अभिलेख यह प्रमाणित करते हैं कि बौद्ध मतानुयायियों द्वारा जो दान दिये जाते थे, उनका मुख्य उद्देश्य निर्वाण प्राप्ति था। एक अभिलेख में निर्वाण प्राप्ति के उद्देश्य का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[१७]

बौद्धों की निर्वाण विषयक धारणा का वास्तविक स्वरूप क्या था, इस विषय में विद्वानों में आज भी मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि निर्वाण का अभिप्राय सांसारिक दुःखों से मुक्ति है, किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार निर्वाण का अर्थ है, स्वयं का शून्य में विलीन हो जाना। साँची के अभिलेख निर्वाण की विचारधारा के सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं डालते।

पूजा पद्धति—

हीनयान सम्प्रदाय में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित विभिन्न प्रतीकों की पूजा की जाती थी। इन प्रतीकों को तीन कोटियों में रखा जा सकता है।

१. **शारीरिक**—इसके अन्तर्गत बुद्ध के शारीरिक अवशेषों की पूजा की जाती थी। जैसे—बाल, दाँत, अस्थियाँ आदि। बुद्ध के अतिरिक्त उनके मुख्य शिष्यों के वारीटिक अवशेषों को भी पूजनीय माना गया है।

२. **उद्देशियक**—इन प्रतीकों के अन्तर्गत उन प्रतीकों की पूजा की जाती थी जिनका सम्बन्ध बुद्ध के जीवन की किसी न किसी महत्ताओं से होता था। उदाहरणार्थ, धर्म चक्र, सारनाथ में दिये गये बुद्ध के प्रथम भाषण का द्योतक है, इसी तरह स्तूप महापरि निर्वाण का परिचायक है।

पारिभोगिक—इस कोटि के अन्तर्गत प्रतीक रूप में उन वस्तुओं का पिडाया करके उनकी पूजा की जाती थी, जिनका उपभोग महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन काल में किया था इनमें से मुख्य थे—बुद्ध का आसन तथा उनके खडाऊ।

महायान सम्प्रदाय में बुद्ध की मूर्ति बनाकर पूजा की जाती थी जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि बुद्ध की अनेक मूर्तियां साँची से प्राप्त हुई हैं, इनमें से अनेक मूर्तियों का उल्लेख अभिलेखों में भी किया गया है।

तोरण द्वारों के दृश्यों से ज्ञात होता है पूजा की सामान्य पद्धति के अन्तर्गत लोग उपास्य प्रतीक अथवा मूर्ति के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े होकर स्तुति करते थे। अभिलेख इस बात के प्रमाण हैं कि उपासक उपास्य प्रतीकों अथवा मूर्तियों के सम्मुख दीप जलाकर अपनी श्रद्धा की अभिव्यक्ति करते थे।[१८] कभी-कभी रत्नक गृहों में तथा मूर्तियों के सम्मुख निरन्तर दीपक जलते रहने के उद्देश्य से दान दिये जाते थे।

पौराणिक धर्म—

पुराणों में ब्राह्मण धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों तथा देवताओं का उल्लेख मिलता है। जिन पञ्च महादेवों की उपासना पर इन ग्रन्थों में बल दिया गया है वे हैं—

१. विष्णु, २. शिव, ३. शक्ति, ४. सूर्य, ५. गणपति।

उपरोक्त देवताओं में से गुप्तकाल में वैष्णव धर्म की विशेष प्रतिष्ठा थी, साँची के एक अभिलेख में (अन्य अनेक अभिलेखों की भाँति) चन्द्रगुप्त द्वितीय को परम भागवत कहा गया है।[१९] इसी तरह साँची के निकट उदयगिरि गुहा लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय के मन्त्री वीरसेन 'साव' के द्वारा भगवान् शंकर के निमित्त गुफा निर्माण का उल्लेख है।[२०]

शिव के अतिरिक्त कार्तिकेय की पूजा का प्रचलन भी उस समय था। साँची के एक अभिलेख में शक सामन्त श्रीधर वर्मन ने महासेन के प्रति आदर प्रकट किया है और उन्हें देवताओं का सेनापति कहा है।[२१] कार्तिकेय को पुराणों में भी देवताओं का सेनापति तथा शिव का पुत्र बताया गया है, इसप्रकार उनकी पूजा को भी शैव मत के अन्तर्गत माना जाता है।

प्राचीन काल में जिन विदेशी शासकों ने भारत पर शासन किया, उनमें से अनेक शासकों ने बौद्ध धर्म अथवा पौराणिक धर्मों को अपनाया था। इन शासकों में से अनेक शासकों के सिक्कों पर हमें शिव का विभिन्न रूपों में चित्रण मिलता है। इन सिक्कों में प्रमुख हैं—उज्जयनी के सिक्के, औदुम्बरों के सिक्के, कुणिदो के सिक्के, शकों तथा कुशाणों शासकों के सिक्के।[२२]

ब्यूलर महोदय का यह मत ठीक ही प्रतीत होता है कि—साँची के अनेक अभिलेखों में जिन दान दाताओं के नाम आये हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिन युगों में इन अभिलेखों को उत्कीर्ण किया गया, उस युग में पौराणिक धर्म की पर्याप्त प्रतिष्ठा रही होगी।[२३] उदाहरण के लिये ऐसे नाम हैं जिनका सीधा सम्बन्ध पुराणों में उल्लखित देवताओं से है—अग्निदेवा, विश्वदेवा आदि का सम्बन्ध वैदिक धर्म तथा पौराणिक धर्म दोनों से है।

अन्य धार्मिक सम्प्रदाय—

साँची के अभिलेखों में उल्लखित नामों से कुछ अन्य धार्मिक सम्प्रदायों का अस्तित्व भी प्रमाणित होता है। नागा, नागिल, नागदत्त आदि ऐसे नाग हैं जिनसे नाग मत के अस्तित्व का पता लगता है। कुछ ऐसे नाम भी अभिलेखों में आये हैं जिनसे यक्षों की पूजा के प्रचलन का अनुमान लगाया जा सकता है। ये नाम है—यक्षदासी, यक्षदिन, यासि, यासिल आदि। ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी में यक्ष मत के प्रसार के उदाहरण यक्षों तथा यक्षणियों की वे मूर्तियाँ हैं जो साँची के तोरण द्वारों के अतिरिक्त भरहुत के स्तूपों की बाढ़ पर भी मिलती है।[२४]

धार्मिक जीवन के विशिष्ट लक्षण—

साँची के अभिलेख धार्मिक जीवन के ऐसे विशिष्ट लक्षणों का संकेत देते हैं जो महत्वपूर्ण होने के साथ ही रोचक भी हैं।

इन अभिलेखों से स्त्रियों की विशिष्ट धर्म परायणता का ज्ञान प्राप्त होता है। प्राचीन भारत में समय-समय पर स्त्रियों की दशा में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन होता रहा है, किन्तु धर्म का क्षेत्र ऐसा रहा है उससे उन्हें सदा सम्मानीय स्थान प्राप्त रहा है। प्राचीन नारी सहधर्म-चारणी थी और उसके धार्मिक अधिकार अक्षुण्य थे। साँची के अभिलेखों में जिन दान दाताओं का उल्लेख है उनमें अनेक नाम स्त्रियों के भी हैं। इससे कम से कम यह निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि बौद्ध धर्म के अन्दर भी भिक्षुणियों एवं उपासिकाओं का योगदान महत्वपूर्ण था। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस समय जनता में दान-शीलता की भावना बहुत अधिक थी। इसके अतिरिक्त पाप तथा पुण्य की भावना में भी लोगों का दृढ़ विश्वास था, और वे इस बात को मानते थे कि अच्छे कर्मों का प्रतिफल अच्छा तथा पापकर्मों का प्रतिफल बुरा होता है।

तीसरी महत्वपूर्ण बात जो हमें साँची के अभिलेखों से ज्ञात होती है, वह यह कि उस युग में यद्यपि अनेक धार्मिक सम्प्रदाय विद्यमान थे, फिर भी देश में धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण था। यह बात उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है, जब हम यह देखते हैं कि 'परम भागवत महाराजधिराज श्रीचन्द्रगुप्त' का एक अधिकारी बौद्ध भिक्षुओं को भोजन देने तथा रत्नगृह में दीप जलाने के लिये दान देता है।[२५] तथा उसका एक मन्त्री भगवान शिव के लिये एक गुफा का निर्माण कराता है।[२६] इसी धार्मिक सहिष्णुता के वातावरण का यह परिणाम है कि साँची के बौद्ध स्मारक तथा अभिलेख आज भी हमारी संस्कृति की अमूल्य निधि के रूप में विद्यमान है। ये बौद्ध स्मारक प्राचीन कला की दृष्टि से भारत में ही नहीं वरन् विश्व में अद्वितीय है एवं धार्मिक दृष्टि से आज भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने की प्राचीन काल में रहे होंगे।

सन्दर्भ-संकेत—

१. का० इ० इ० जिल्द ३ संख्या ५,
मार्शल-दी मानूमेण्टस आफ साँची जिल्द प्रथम, पृ० ३२८, ३९०।
२. मार्शल—ए गाईड टु साँची (तृतीय संस्करण) की भूमिका।
३. मार्शल—दी मानूमेण्ट्स आफ साँची जिल्द प्रथम, पृ० ८३३।
४. वही 'आभ्रकार्दवो हंसुर वासकं पंच मण्डल्या प्राणिपत्य ददाति पञ्चविशतिश्च दीनारान्।'
५. कृष्णदत्त वाजपेयी—भारत का इतिहास (१९६३) पृ० १५८।
६. भण्डारकर, अशोक (अंग्रेजी संस्करण, १९५५) पृ० ८९–९०।
७. मार्शल, वही, जिल्द १ अभिलेख संख्या (१)।
८. मार्शल, वही, जिल्द १ अभिलेख संख्या (१)।
९. जितेन्द्रनाथ बनर्जी, दी डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आईकानोग्रफी, अध्याय २।
१०. मार्शल, वही, जिल्द २, चित्रफलक (११–१२–२२–३२ आदि)।
११. मार्शल, वही, चित्रफलक संख्या (१७-५६)।
१२. " " " " (२६–२७)।
१३. " " जिल्द संख्या १ पृ० ८२८–८२९।
१४. " " अभिलेख संख्या ८३४।
१५. " " अभिलेख संख्या ८३३।

१६. मार्शल, वही, अभिलेख संख्या ३६६ ।

१७. वही—अभिलेख संख्या ८३१ ।

१८. मार्शल वही पृ० संख्या (८३३–८३४) ।

१९. " " अभिलेख संख्या ८३३ ।

२०. राजवली पाण्डेय, हिस्टरीकल एण्ड लिटरेरी इन्सक्रिप्सन पृ० ८० ।

२१. मार्शल—वही, जिल्द १ अभिलेख संख्या ८३९ ।

२२. बनर्जी, जितेन्द्रनाथ, डैवलपमैण्ट आफ हिन्दू आईकनोग्राकी अध्याय ४ ।

२३. एपी० इ० जिल्द २ पृ० ९५ ।

२४. अ० स० ई० संख्या ५ ।

२५. मार्शल—वही, जिल्द १ अभिलेख संख्या ८३३ ।

२६. राजवली पाण्डेय—वही, पृ० ८० ।

———

प्रवक्ता, इतिहास विभाग

सनातन धर्म कालिज

मुजफ्फरनगर

□ कु० हिमा कौल

क्षीर भवानी-एक काश्मीरी तीर्थ

संसार के प्रत्येक धर्म में कोई न कोई स्थान विशिष्ट प्रकार से चर्चा का विषय हो जाता है। इस प्रकार के स्थान विभिन्न धार्मिक संप्रदायों अथवा मतों के प्रवर्तकों के जन्म स्थान अथवा प्रचार स्थान भी रहे होते हैं। जिन स्थानों पर किसी प्राकृतिक दिव्य शक्ति का आभास होता है वे स्थान महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। ये स्थान अन्ततोगत्वा तीर्थस्थान कहलाये जाने लगते हैं। जिस प्रकार मुस्लिम धर्म के अन्तर्गत हज़रत मोहम्मद का जन्म स्थान तथा दफ़न करने का स्थान तीर्थ के रूप में स्वीकार कर लिया गया। परिणामतः मक्का और मदीना नामक स्थान मुस्लिम धर्म के पुण्यतीर्थ कहलाये जाने लगे। बौद्ध धर्म में भी इसीप्रकार चार तीर्थ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं—१. महात्मा बुद्ध की जन्म स्थली (लुम्बीनी) २. ज्ञान प्राप्ति स्थान (गया), ३. जहाँ से उन्होंने अपने मत के प्रचार के उद्देश्य से प्रथम भाषण दिया (सारनाथ) और ४. निर्वाण (कुशनार)। प्रागैतिहासिक काल से सेना को सामूहिक मार्च रूपी प्रार्थना के लिये प्रसिद्ध "जरोसलम" ईसाइयों का एक महत्त्वपूर्ण तीर्थ बन गया है।

भारत की जनता में अनादिकाल से अध्यात्म का उत्तरोत्तर विकास क्रमशः होता रहा है। आध्यात्मिक सफलता में तीर्थों का अपना एक सफल तथा सशक्त योगदान रहा है। वैदिक काल में मूर्ति पूजा की प्रथा नहीं थी तब प्रकृति के कुछ अनुपम सुन्दर स्थल नदियाँ पर्वत और वन आदि ही तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हो जाते थे। प्राकृतिक स्थानों में स्वभावतः ही पावनता की भावना का जन्म हो जाया करता है। मानव मन में सौन्दर्य बोध की शक्ति का ज्ञान इन प्राकृतिक पवित्र स्थानों की अर्चना द्वारा सहज ही प्राप्त होता है। कवीन्द्र-रवीन्द्र का कथन है—India chose her places of piligrimage where-ever there was in nature some special grandeur or beauty so that her mind could come out of its world of narrow necessities and realize its place in infinite"—

(Sadhna) page—9

प्रकृति के यही सुन्दरतम स्थल मनुष्य के कुण्ठित तथा सीमित मस्तिष्क में विकास तथा आत्मज्ञान कराने में सफल रहे हैं। भारतीयों के मन की यह मूल धार्मिक भावना आज भी उसीप्रकार बनी है, विनष्ट नहीं हुई है। प्राकृतिक दृष्टि से सुन्दर स्थान को देखने से उनके मन में आध्यात्मिक विचार उत्पन्न होता है और वे तीर्थ का निर्माण वहाँ करने लगते हैं, जबकि यही सुन्दरतम स्थान विदेशी के मन को बहुत कम प्रभावित करता है। वह भौतिक भावना से प्रेरित होकर ऐसे स्थल का पर्यटकों के लिये जलपान गृह जैसी सुविधा का निर्माण कर सकते हैं। दोनों देशों के प्राणियों के विचार भेद प्राचीनकाल से चले आ रहे संस्कारों के कारण हैं। भारतीय मन आज भी आध्यात्म की बु भुक्षा से पीड़ित है। पश्चिम के भौतिक विकास के प्रभाव द्वारा यद्यपि वह आज भी सुरक्षित नहीं है परन्तु कुछ विशेष तीर्थ अभी तक भारतवर्ष में ऐसे मनाये जाते हैं जब इन पुण्य तीर्थ के द्वारा मनुष्य पवित्र भावना का आस्वाद आज भी ले सकता है।

भारतीय धर्मसूत्रों में तीर्थों का अनुसरण करने के लिये विशेष आग्रह किया गया है। "विष्णु धर्मसूत्र" तीर्थों के विषय में इस प्रकार कहता है—

"क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः
अहिंसा गुरु शुश्रूषा तीर्थानुमरणं दया

आर्जवं लाभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्
अनभ्यासासूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ।।" पृ० १६.१७,

तीर्थ शब्द की प्राचीनता

तीर्थ शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही चला आ रहा है । ऋग्वेद में तीर्थ के विदय में लिखा गया है—"सुवास्तव अधितुगवान" । निरुक्त के अनुसार 'सुवास्तव' का अर्थ नदी तथा 'तुगवान' का अर्थ तीर्थ है । इन दोनों शब्दों द्वारा सामान्यतया यही अनुमान किया जा सकता है कि तीर्थ ऐसा स्थान होता है जहाँ जल अनिवार्य रूप से उपस्थित हो । तैत्तिरोयोपनिषद् में भी इसी भावना को व्यक्त किया गया है, "आप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी अवरुधे तीर्थे स्नाति" । अर्थात् यात्री को तीर्थ स्थान पर जाकर स्नान द्वारा शुद्ध होकर तपस्या के लिये दीक्षित होना चाहिये । तीर्थों की अनन्तता के विषय में ही शतपथ ब्राह्मण में लिखा गया है—"समुद्रो वा एष सर्वहरो यदहोरात्रे तस्य हैते अगाधे तीर्थे यत्सन्ध्ये तद्यथा अगाधाभ्यां तीर्थाभ्यां समुद्रमतीयाहृक् तत ।।" अर्थात् प्रत्येक वस्तु को स्वयं में निहित रखने में समर्थ दिवस तथा रात्रि एक विशाल समुद्र की भाँति हैं और सान्ध्यकालीन नक्षत्र तीर्थों की भाँति है ।

तीर्थ शब्द की व्युत्पत्ति—"जनाः यैस्तरन्ति तानि तीर्थानि इति ।" अर्थात् जिन पवित्र स्थानों पर जाने से संसारवासी इस लोक को पार हो सकते हैं वे ही तीर्थ हैं । इन अनेक परिभाषाओं द्वारा तीर्थ शब्द का अर्थ यही निश्चित हो जाता है कि तीर्थ ऐसा स्थल जल प्रवाह होता है जहाँ मानव बुद्धि सुपथ के लिये प्रेरित हो जाती है । ऐसा प्राकृतिक स्रोत जो स्थूल रूप की उपस्थिति के बिना ही मन को आकर्षित करता है तीर्थ कहलाता है । पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में इसे और अधिक स्पष्ट इसप्रकार किया गया है—

"यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः
तथा पृथिव्या उद्देशः केचित् पुण्यतमाः स्मृताः
प्रभावादद्भूताद्भूमेः सलिलस्य च तेजसा ।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता ।"

परन्तु स्कन्दपुराण का मत इससे भिन्न है । उसका कथन है—

"मुख्या पुरुषयात्रा हि तीर्थयात्रानुषङ्गतः ।
सद्भिः समाश्रितो भूयः भूमिभागस्तथोच्यते ।।"

अर्थात् जो स्थान महान् व्यक्तियों द्वारा आध्यात्मिक प्रयोग के लिये प्रयुक्त हो, वही तीर्थ कहलाता है । उस तीर्थ स्थान पर जाने का व्यक्ति का एक-मात्र उद्देश्य उस महान व्यक्तित्व के सम्पूर्ण गुणों को ग्रहण करना होता है और स्थान का महत्व द्वितीय स्तर पर ही महत्त्वपूर्ण होता है । तीर्थों से प्राप्त साधक के हृदय का विस्तार सर्वत्र उल्लिखित है । "पञ्चस्तवी" का यह श्लोक भी भक्त के हृदय की विशालता का ही निर्देश करता है—

"कणास्त्वद्दीप्तीनां रविशशिकृशानुप्रभृतयः
परं ब्रह्म क्षुद्रं तव नियमानन्दकणिका ।
शिवादिक्षत्यन्तं त्रिवलयतनोः सर्वमुदरे
तवास्ते भक्तस्य स्फुरसि हृदि चित्रं भगवति ।"

अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदि आपको अनन्त दीप्तियों के अत्यन्त छोटे अंश है । अति तुच्छ अपार स्वरूप की तुलना में परम ब्रह्म भी निश्चय ही तुम्हारे आनन्द का एक कण मात्र है । शिव से पृथ्वी

तक सारा विश्व तीन लपेट वाले—प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय स्वरूप तुम्हारे स्वरूप में ठहरा हुआ है। हे भगवति ! यह आश्चर्य की बात है कि भक्त के हृदय में तुम विकसित होती हो।

इसी तीर्थ परम्परा में क्षीर-भवानी काश्मीर का एक प्रसिद्ध पुण्यतम तीर्थ है। प्रत्येक ऋतु में दर्शकों की अपरिमित संख्या से भरा हुआ यह तीर्थ अपनी चमत्कारपूर्ण शक्ति के लिये काश्मीर में प्रसिद्ध है।

क्षीर-भवानी का भौगोलिक तथा ऐतिहासिक वर्णन—

काश्मीर की राजधानी श्रीनगर से क्षीर भवानी का पुण्य तीर्थ २८ किलोमीटर की दूरी पर तुलमुला नामक ग्राम में नगर की उत्तर दिशा में स्थित है। काश्मीर के प्रसिद्ध संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक काव्य राजतरंगिणी में इसका वर्णन उपलब्ध नहीं होता है। यह तीर्थ मुस्लिम शासकों के काल में ही अविष्कृत हुआ। अन्वेवेणकर्ता थे श्री कृष्णदेव जी। उनको अपनी भक्ति के वरदान स्वरूप देवी के इस रूप का साक्षात्कार हुआ था।

चौदहवीं शती में काश्मीर प्रदेश में लल्लेश्वरी नामक एक सूफी दार्शनिक का जन्म हुआ था। मूलरूप से वे भी देवी की शक्ति का ही एक रूप थी जो कि 'माधवदर' नामक एक भक्त के घर में कन्या के रूप में जन्मी थी। उसी प्रकार कृष्णदेव ने भी भगवती की अनन्य भक्ति के फलस्वरूप क्षीरभवानी नामक तीर्थ में देवी का दर्शनफल प्राप्त किया। यह तीर्थ १५वीं शती के पश्चात् प्रारम्भ कहा जाता है। इसके विषय में प्रचलित कथा इसप्रकार है—

श्रीकृष्णदेव काश्मीर के एक सत्यनिष्ठ भक्त दुर्गा के उपासक हुये हैं। यह कथा **"क्षीरभवानी"** नामक एक लघु पुस्तिका में दी गई है। कृष्णदेव जी की भक्ति से प्रसन्न हो देवि ने उसे स्वप्न में अपने स्वरूप को प्रदर्शित किया अपने भक्त को "तुलमुल" ग्राम में जाकर उत्खनन के द्वारा अपनी शक्ति को स्रोत रूप में स्थापित करने की आज्ञा दी। इस जलस्रोत का अन्वेषण संभवतः भक्त की उपासना की अन्तिम परीक्षा लेने के लिये निर्धारित किया गया था। भौगोलिक स्थिति समझाकर दुर्गम मार्गों में उस भक्त को देवी ने कृष्णसर्प के रूप में आकार युक्त स्थान तक पहुँचाने का वचन भी दिया था। कुछ समय के पश्चात् ही श्रीकृष्णदेव देवी के आदेशानुसार उस ग्राम में चला गया। यहाँ लिद्दर नदी के पश्चात् कोई भी मार्ग नहीं था निर्जन प्रदेश था। नौका द्वारा लिद्दर नदी को पार करके कृष्णदेव को आगे जाने का मार्ग कृष्ण-सर्प की सहायता द्वारा ही ज्ञात हुआ। एक निश्चित स्थान तक पहुँच कर सर्प रुक गया। उसी स्थान पर कृष्णदेव ने पृथ्वी खोदी वहाँ से एक जल स्रोत फूट निकला। उसी में वह कृष्णसर्प विलीन हो गया। फलतः वहाँ श्रीकृष्णदेव ने देवी के मन्दिर की स्थापना करने के लिये जनता को प्रेरित किया। उसी काल से यह एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान के रूप में विख्यात होने लगा।

जलस्रोत का जल दुग्ध वर्ण का था अतः क्षीरभवानी नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसी जल स्रोत के मध्य देवी का मन्दिर स्थित है। मन्दिर संगमरमर के पाषाणों द्वारा निर्मित है। देवी का दर्शन जलकुण्ड के बाहर से ही किया जाता है। मन्दिर के अन्दर तक यात्रियों के आने का मार्ग नहीं है। वहाँ तक एक सीढ़ी के द्वारा मात्र मन्दिर का पंडित देवी के वस्त्र धारण अथवा प्रसाद आदि का भोग लगाता है। मन्दिर के भीतर देवी की मूर्ति के साथ एक शिव-लिंग भी है इस प्रकार यह अर्धनारीश्वर का प्रतीक है जिसकी पूजा काश्मीर में प्राचीनकाल से ही प्रचलित है। देवी की मूर्ति श्यामवर्णा है। संभवतः यह उसी कृष्णसर्प के कारण श्याम वर्ण है। मन्दिर के सामने दर्शकों के दर्शन-पूजा इत्यादि करने का स्थान बनाया गया है। यहाँ प्रत्येक अष्टमी की रात्रि को देवी के भक्त जागरण करते हैं तथा देवी की प्रार्थना करते हैं।

पूरे वर्ष में विशेष रूप से जेष्ठ मास की शुक्ल पक्ष की अष्टमी को देवी का उत्सव आयोजित होता है। इस उत्सव पर काश्मीर निवासी सभी ब्राह्मण देवी के दर्शनार्थ जाते हैं। इस पुण्य दिवस पर राज्य की ओर से सभी विद्यालय तथा कार्यालय भी बन्द रहते हैं।

मन्दिर के साथ ही जल कुण्ड़ के चारों ओर एक विशाल प्राङ्गण है। इसमें कुञ्ज का सा निर्माण करते हुये चारों ओर वृहद् आकार के चिनार है। चिनारों को हरित दीवार से ढ़का हुआ मन्दिर केवल मध्य भाग में ही खुले आकाश से व्याप्त है। चिनारों का यह समूह द्वारपालों की भाँति ढुलाते हुये चामरों से युक्त लगते हैं। जलकुण्ड़ के बाहर से ही देवी की पूजा की जाती है। जल अथवा क्षीर रूपी देवी पर पष्प चन्दन फल धूप-दीप इत्यादि मिष्ठान अर्पित किया जाता है। सर्वप्रथम कुण्ड़ में जल तथा दुग्ध स्नान द्वारा देवी का अ ह्वान होता है देवी की स्तुति में अनेक मन्त्रों के अतिरिक्त आवश्यक रूप से एक स्तुति का पाठ होता है जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"लीलारब्धस्थापितलुप्ताखिललोक:
लोकातीतैर्योगिभिरन्त: हृदिमृग्याम्
बालादित्य श्रेणिसमान द्युति भाजां
गौरी अम्बाम्बरहाक्षीऽहमीड़े ॥
पूजाकाले भाक्तशब्द प्रदिदाना
भक्ता: नित्यं जलपति गौरी दशकंया:
वाचां सिदि: सम्पत वत्स्यत शिव भक्ति:
तस्यां वशे पर्वतपुत्री सिद्धधात्री ॥"

मन्दिर के बाहर-बाहर से "सोनामर्ग" नामक पर्वत माला से निकला हुआ जल प्रवाह बहता है। इस जल प्रवाह में देवी के भक्त मन्दिर में प्रवेश करने से पूर्व स्नान करते हैं। जलकुण्ड़, जिसमें देवी का श्रीनिवास है, का अमृतमय जल भी इसी प्रवाह के साथ मिलता है। इस तीर्थ में आने वाला प्रत्येक यात्री जल में अवश्य स्नान करता है। इस स्नान द्वारा भक्तजन अतीत के पापों का प्रायश्चित तथा भविष्य के सत्कर्मों की प्रेरणा लेकर जाता है। बाह्य जल प्रवाह में मत्स्य समूह दिखाई पडते हैं परन्तु इस स्थान की मच्छलियाँ पकड़ना निषिद्ध है।

जलकुण्ड़ का आकार प्राचीनकाल में प्रचलित शारदा भाषा के ओंकार की भाँति है। उपासकों की जल में देवी के दर्शन षटकोण, त्रिकोण, अष्टदल, बिन्दु आदि विभिन्न रूपों में होता है। वर्ष के सर्व-श्रेष्ठ जेष्ठ अष्टमी के उत्सव के दिन जल का जो वर्ण होता है वह भविष्य के वर्ष के विषय में शुभाशुभ का सूचक माना जाता है। प्राय: जल का वर्ण दुग्ध, कृष्ण, नील तथा हरित होता है। इनमें से दुग्धवर्ण शुभ, कृष्णवर्ण अशुभ शेष सामान्य कहे जाते हैं। संक्षेप में कुण्ड़ का जल अपने परिवर्तनशील वर्ण द्वारा उपासकों को दर्शन तथा विभिन्न संकेत देता है। मन्दिर के प्राङ्गण के साथ ही तीन बहुत बड़ी धर्मशालायें हैं तथा दो यज्ञ कुण्ड है। इनका उपयोग दूरागामी यात्री प्राय: करते हैं। मन्दिर की दक्षिण दिशा में हिमालय की नीलवर्ण पर्वतमाला के दर्शन होते हैं, जो अपनी गम्भीर नीलिमा द्वारा दर्शक को चिरकाल तक मोहित करती है। यही पर्वत प्रसिद्ध अमरनाथ नामक तीर्थ को जाते हुये मार्ग में पड़ता है। ऐसे नीलवर्ण उत्तुङ्ग पर्वतों के मध्य निवास करने वाली क्षीर-भवानी "अमरावती" (अमरनाथ गुफा के नीचे से बहने वाली) का स्मरण कराती है। जैसे उन्हीं उमा देवी ने लोककल्याण के लिये भक्तों के स्नेह के वशीभूत होकर अपना क्षीररूप प्रकट किया हो। ऐसी अनन्त वासिनी क्षीर-भवानी काश्मीर के गौरव को अपने वरद हस्त द्वारा सदा अनुगृहीत करती रहती है।

धार्मिक तथा सांस्कृतिक महत्व—

धर्मसूत्र ग्रन्थों में तीर्थों के महत्त्व को पर्याप्त मात्र में प्रतिपादित किया गया है । क्षीरभवानी हिन्दुओं की धार्मिक शक्ति का प्रभाव समय-समय पर प्रदर्शित कर चुकी है । भक्तों की श्रद्धा को बनाये रखने के उद्देश्य से देवी ने कई बार दिव्य चमत्कार प्रस्तुत किये हैं । पूर्वजों द्वारा श्रुत वचनानुसार १६६५ के प्रसिद्ध गुरिल्ला युद्ध में आक्रमणकारी यहाँ तक नहीं पहुँच सके थे । इस दिशा में आने से उन्हें देवी का भयंकर रूप (अग्नि आदि) दिखाई पड़ता था जिससे वे यहाँ आने से भयभीत होते थे । यहाँ प्रत्येक साधक को सफलता प्राप्त होती है इसीकारण से काश्मीर प्राचीनकाल से ही सिद्धपीठ कहलाता है । देवी के भक्तों ने उसका गान तथा महत्त्व का वर्णन प्रायः किया है अतः श्री धर्माचाय 'पञ्चस्तवी' में कहते हैं—

"किं दनुजदलिनि ! क्षीयते न स्मृतायां
का कीर्तिः कुलकमलिनि ! ख्याप्यते न स्तुतायाम्
का का सिद्धिः सुखरनुते ! प्राप्यते नार्चितायां
कं क योगं त्वयि न चिनुते चित्तमालम्बितायाम् ।।"

ऐसी सर्वफलदायिनी सर्वक्लेशहारिणी देवी की कृपा दृष्टि से अभिभूत हुआ भक्त उनके कई अभिधान बोलता है—

"देवि ! त्र्यम्बकपत्नि ! पार्वति ! सति ! त्रैलोक्यमातः ! शिवे !
शर्वाणि ! त्रिपुरे ! मृड़ानि ! वरदे ! रुद्राणि ! कात्यायिनि !
भीमे ! भैरवि ! चण्ड़ ! शर्वरि ! कले ! कालक्षये शूलिनि !
त्वत्पादप्रणतानऽनन्यमनसः पर्याकुलान्पाहि नः ।।"

सांस्कृतिक दृष्टि से क्षीर भवानी का तीर्थ अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । प्रत्येक वर्ष प्रसिद्ध एवं पवित्र जेष्ठ अष्टमी के दिन यहाँ प्रत्येक ग्रामवासी तथा नगरवासी देवी के दर्शन के लिये आते हैं । परस्पर सदभावना का सम्प्रेषण तथा धार्मिक एकता की वचनबद्धता करते । उत्सवों में आने वाले लोग उसी समय सजाये गये दुकानों से प्रसाधन इत्यादि खरीदते हैं । क्षीर-भवानी का तीर्थ पूर्ण करने पर सभी भक्त जगदम्बा से इसप्रकार अपनी मातृभाषा में याचना करते हुये लौटते हैं—

"मअजि बोजतय छिम्ये हाजथ अख भक्ति चअनिय ।
सरस्वती छन्द प्रसाद युथम्ये बनि न्येरि अमृथ वाअनी ।।

"अर्थात् हे माँ ! मुझे केवल आपकी अनन्य भक्ति चाहिये । यदि माँ सरस्वती की मुझ पर कृपा हो जाये तो मेरी वाणी में अमृतवचन ही निसृत हो जायेंगे ।" देवी का परम वात्सल्य भक्तो को समर्पित होने का उपदेश देकर अपनी छत्रछाया में सदा सुरक्षित रखता है ।

———

शोधच्छात्रा—संस्कृत विभाग
मेरठ कालिज, मेरठ